

ध्वन्यालोकः

[श्री आनन्दवर्धनाचार्य विरचित ध्वन्यालोककी हिन्दी व्याख्या]

व्याख्याकार

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

अध्यापक 'भीष्म-अनुसन्धान-विभाग' एवं 'श्री रामदास दशरथपीठ'

गुरुकुल विश्वविद्यालय इन्दावन तथा सम्मान्य

सदस्य 'हिन्दी अनुसन्धान-परिषद्'

दिल्ली-विश्वविद्यालय

सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र, एम ए, डी लिट्

वाराणसी

ज्ञानमण्डल लिमिटेड

मूल्प : वारुह रुपयं

प्रथम संस्करण, आक्षय, संवत् २०१९ वि

©। ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी १९९९

प्रकाशक—ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी (बनारस)

मुद्रक—श्रीशुभदा कपूर ज्ञानमण्डल लिमिटेड वाराणसी (बनारस) ५८५५-१८

स्वमर्षणा

दिनके चरणोमें बैठकर विविध शास्त्रोंके अध्ययन एवं सूक्ष्म विवेचनका
सौभाग्य प्राप्त हुआ
जिनके शुभ आशीर्वादमें इस पुरुष्ट्र ग्रन्थके परिष्कारकी
क्षमता प्रदान की
उन प्रातः स्मरणीय गुरुजनोके करुणामतोमें,
या पुष्प स्मृतिमें,
गुरुशुभिमा संवत् २००९ की यह
बिनम्र मेंट
सादर समर्पित

विषय-सूची

भूमिका

१-१६

प्रथम उद्योत

[पृ० १-६८]

विषय

महाकाव्य

- १ प्रन्धारम्भका प्रयोक्ता [का १]
- कारिकाकार और वृत्तिकारका अमेद
- प्वनिविषयक तीन विप्रतिपक्षियों
- 'समान्नातपूर्व' का समाधान
- विप्रतिपक्षियोंका निरूपण
- अमावसाही (प्रथम) पक्षके तीन भेद
- मङ्गलवादी (द्वितीय) पक्षका निरूपण
- अखण्डनीयतावादी (तृतीय) पक्ष
- प्वनिरूपणका प्रयोक्ता

- १ प्वनिसिद्धान्तकी भूमिका [का १]
- १ प्रन्वर्मे वाच्य (अलङ्कारदि) के प्रति
- पादनका अभाव १२
- ४ प्रतीयमान अर्थका वाच्यभक्तिरूप १३
- [का ४]
- बलुप्वनिका वाच्यार्थके स्वरूपद्वय भेद १३
- बलुप्वनिका वाच्यार्थके विषयद्वय
- भेदके भेद १७
- अलङ्कारप्वनिका वाच्यार्थके भेद १७
- रसप्वनिका वाच्यार्थके भेद १८

विषय

- १ अमिषा शक्तिसे व्यङ्ग्यार्थबोधका १४
- नियकरण
- २ 'ठात्पथा' शक्तिसे व्यङ्ग्यार्थबोधका १९
- नियकरण
- २ 'अन्वितामिषानवादा और व्यङ्ग्यार्थ
- बोध २
- ३ कुमारिकमह और प्रमाकर २१
- ४ महोदयके मठकी आलोचना २१
- ५ अन्वय तथा पनिकके मठकी आलोचना २४
- ६ व्यङ्ग्यार्थका नियकरण २५
- ७ विशिष्ट लक्षणावादका नियकरण २६
- ८ अलङ्कार्यतावादी भेदान्तमत्त २७
- ९ अलङ्कार्यतावादी पैसाकरण मठ २७
- १० वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थके भेदके द्वय १८
- ११ महिमभट्टका अनुमितवाद २९
- ५ प्रतीयमान रस ही काव्यका आत्मा २९
- [का ५]
- १ महाकवियोंकी प्रतिमाका शीतक ३१
- [का १]
- ७ प्रतीयमान अर्थका सङ्घटनविधत्त ३२
- [का ७]

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
८ स्वहृत्प-स्वहृत्करी पहचान आबन्धक [का ८]	२९	अलङ्कारोंमें ध्वनिके अन्तर्भाववादके लक्षणका उपर्यहार	५२
प्रत्यभिज्ञापरिचय	३१	ध्वनिसिद्धान्तका आदि मूल	५३
९ व्यङ्ग्यप्राधान्यमें वाच्यवाचकका उपादान कर्म [का ९]	३४	ध्वनिके अभाववादके लक्षणका उपर्यहार	५३
१ स्वहृत्पार्थक्य का वाच्यार्थ प्रतीतिपूर्वक रूपध्वनिकी असंख्यप्रत्ययस्वहृत्पता [का १]	३५	ध्वनिके दो मुख्य भेद	५५
११ १२ वाच्यकी प्रथमप्रतीति होनेपर भी स्वहृत्पापक प्राधान्यका उत्पादन [का ११, १२]	३६	बीधमें ध्वनिभेद दिल्खानेका प्रयाजन	५७
बोम्बता, भाकांथा, आद्यधिक कथन	३६	१४ मातृवादके द्वितीय विकल्प स्थाना वादका लक्षण [का १४]	५८
१३ ध्वनिकाव्यका लक्षण [का १३]	३७	१५ ध्वनित्वयका निर्देश [का १५]	६१
अलङ्कारोंमें ध्वनिके अन्तर्भावका लक्षण	३८	१६ कठि लक्षणात्मकमें भक्ति या लक्षणाक होते हुए भी स्वहृत्पप्रवाचनका अभावप्रदर्शन [का १६]	६२
लमावाकिकमें ध्वनिक अन्तर्भावका निषेध	३९	१७ प्रवाचनकरी लक्षणांम स्वहृत्प प्रवाचन होनेपर भी उस पदका लक्षणा स अगम्यत्वप्रदर्शन [का १७]	६२
आधेतालङ्कारमें ध्वनिक अन्तर्भावका निषेध	४	१८ भक्तिके ध्वनिका लक्षण भाननमें अस्माति चोप [का १८]	६५
पादलोक्त्य ही प्राधान्यका निवामक है	४२	स्थाना और गौणीवृत्तिका भेद	६५
पादलोक्त्यांमूलक दीपक और अपहृत्ति- व्यपहार	४२	१९ भक्तिके कहीं उपलक्षण होनेपर भी ध्वनि उठने अन्तर्गत नहीं [का १९]	६७
निष्प्रेणितम ध्वनिके अन्तर्भावका निषेध	४३	मातृवादक तृतीय विकल्प उपलक्षण पदका लक्षण	६७
पवावाकिकमें ध्वनिके अन्तर्भावका निषेध	४४	ध्वनिनिरोधी तृतीय पद अलक्षणी पदावादका लक्षण	६८
अपहृत्ति और दीपकमें अन्तर्भावका निषेध	४६		
सङ्गलङ्कारमें अन्तर्भावका निषेध	४६		
अप्रगुठप्रसंगामे अन्तर्भावका निषेध	४		

द्वितीय उद्योत

[पृ० ६९-१५३]

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१ अविबधितवाच्य [कृष्णामूल] ज्ञानिके अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और आत्मन्तरिरस्कृतवाच्य दो भेद [का १]	६९	१ महृषोस्वटका 'उत्पत्तिवाद' महृषोस्वटकी आलोचना	८
क—अविबधितवाच्य [कृष्णामूल] ज्ञानिके दो भेद	६९	२ श्री शङ्करका 'अनुमितिवाद' शङ्करके 'अनुमितिवाद'की आलोचना	८
इन भेदोंका आधार कृष्णा	६९	३ महृषोस्वटका 'सुक्तिवाद'	८१
१ अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यज्ञानिके दो उदाहरण	७१	४ अग्निवसुतपादाचार्यका 'अभि- व्यक्तिवाद'	८१
१ आत्मन्तरिरस्कृतवाच्यके दो उदाहरण	७२	५ अन्यथा	८१
२ विवक्षितवाच्य [अभिषामूल] ज्ञानिके असंख्यक्रम और संख्यक्रम व्यङ्ग्य दो भेद [का २]	७४	नात्वरस	८१
ख—विवक्षितवाच्यपरवाच्य [अभिषा मूल] ज्ञानिके दो भेद	७४	काभ्यरस	८१
१ असंख्यक्रमव्यङ्ग्यज्ञानि [का ३]	७५	भाव	८४
रसप्रक्रिया	७६	रसाभास और भाषाभास	८४
स्वाधिभाव	७६	४ रसवदलद्वारसे भिन्न ज्ञानिका विषय [का ४]	८४
आत्मभवन और उद्दीपनविभाष	७७	५ रसवदलद्वारोंका विषय [का ५]	८५
अनुभाव	७७	द्वय रसवदलद्वारका उदाहरण	८५
अभिन्नारिभाव	७७	सङ्गीत रसवदलद्वारका उदाहरण	८७
रसास्वाद और रसप्रथमा	७८	रसोक्त परस्परविरोधाविरोध	८९
रसानुभवकालीन अतुल्य विवक्षित	७९	विरोधी रसोंके अविरोधसम्बन्धनका उपाम	८९
रसप्रतुष्टिवाद	७९	अप्यरस या सञ्चारिरस	९
काम्य और नाटकसंज्ञोत्पत्तिविषयक विविध मत	८	रसवदलद्वारविषयक मतभेद	९

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
रसवदलद्वार तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यकी व्यवस्था	११	१६ अलङ्कारप्रयोगकी कसौटी [का १६]	१५
ध्वनि, उपमादि तथा रसवदलद्वार	११	१७ शृङ्गारादिम समीक्ष्य विनिर्दिष्ट रूप- कादि ही वस्तुतः अलङ्कार होते हैं [का १७]	१८
६ गुण और अलङ्कारका भेद [सिद्धांश- पद्य] [का ६]	१४	१८ १९. रूपकादि अलङ्कारोंके प्रयोगके स नियम [का १८, १९]	१९
वामनमत्त	१४	ससृष्टि वा नरसिंहवत् अलङ्कारान्तर	११३
भामहमत	१५	२ सल्लयकमव्यङ्ग्यक दो भेद [का २]	११८
नम्ममत	१५	२१ शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि [का २१]	११९
७ माधुर्य गुणका आभाव [का ७]	१५	२२ शब्दशक्तिमूल विरोधाभास अलङ्कार ध्वनि	१२८
'एककारस्त्रिंशत् मता'	१६	२२ अर्धशक्त्युत्प ध्वनि [का २२]	१११
८ सम्भोग विप्रलम्भशृङ्गार और कल्प रसमें माधुर्यका उचरोत्तर उत्कर्ष [का ८]	१७	२३ व्यङ्ग्यार्थकी स्वशब्दोक्ति होनेपर ध्वनि नहीं [का २३]	१३४
इस गुणोंका अन्तर्भाव	१७	२४ अर्धशक्त्युद्भव ध्वनिक भेद [का २४]	१३६
९ रीतिदि रसमें औद्यकी स्थिति [का ९]	१८	२५ अर्धशक्त्युद्भव अलङ्कारध्वनि [का २५]	१३९
औद्यो गुणक आभाव [क—शब्द] का उदाहरण	१८	२६ अलङ्कारध्वनिका विषय बहुत है [का २६]	१३९
औद्यो गुणके आभाव [व्य—अर्थ] का उदाहरण	१८	२७ अलङ्कारध्वनिम अलङ्कारकी प्रधानता [का २७]	१४
१ प्रगाढ़ गुणका आभाव [का १]	१	रूपकध्वनि	१४२
११ अनित्यशायीकी व्यवस्था [का ११]	१	२८ अलङ्कारध्वनिका प्रयोजन [का २८]	१४९
१२ अमलशब्दप्रमथनध्वनिक भव [का १२]	१ १	२९ वस्तुमें अलङ्कार व्यङ्ग्य होनेपर ध्वनित्व [का २९]	१४
१३ दिग्मात्र प्रवृत्त [का १३]	१ २	३ अलङ्कारस अलङ्कार व्यङ्ग्य होनेपर ध्वनित्व [का ३]	१५
१४ शृङ्गारमें शब्दालङ्कारोंका अधिक प्रपाग अनुचित [का १४]	१ ९	३१ अभिधामूल ध्वनिका गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व [का ३१]	१५१
१५ शृङ्गारमें और विद्यारतः विप्रलम्भ- शृङ्गारमें यमकादिका प्रतिरूप [का १५]	१ ३		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
३२ अक्षरामूल ध्वनिका गुणीभूतस्यङ्गप्रत्यय		३३ वेदक व्यङ्ग्यप्राधान्य ही ध्वनिका	
[का ३२]	१५३	अक्षर [का० ३३]	१५३

तृतीय उद्योत

[पृ० १५४-३३]

१ ध्वनिके परप्रकाश्य तथा वाक्यप्रकाश्य		१ १४ ५ प्रवन्धस्यङ्गकता	
मेद [का १]	१५४	[का १ -१४]	१८८
२ असंख्यप्रक्रमव्यङ्ग्यके चार मेद		१५ संख्यप्रक्रमव्यङ्ग्यमुक्त प्रवन्ध भी	
[का २]	१६४	रसात्म्यसङ्गक [का १५]	१९६
३४ १ कर्षोक्ती रसद्योतकता [का ३४]	१६४	१६ सुतिगादि पदांशोक्ती व्यङ्ग्यकता	
२ पन्थोल्य असंख्यप्रक्रमध्वनि	१६५	[का १६]	१९८
पदांशद्योत्य असंख्यप्रक्रमध्वनि	१६६	१७-१९ रसके विरोधी और उनका परि	
३ वाक्यद्योत्य असंख्यप्रक्रमध्वनि	१६६	हार [का १७-१९]	२१२
५ सङ्घटनस्यङ्गकत्वके प्रसङ्गमें सङ्घटनाके		२ विरोधी रसाङ्गोंके निबन्धनके नियम	
ठीन मेद [का ५]	१६८	[का २]	२१८
६ सङ्घटनाका व्यङ्ग्यकत्व [का ६]	१६९	१ विरोधी रसाङ्गोंके वाक्यत्वेन अवि	
गुण और सङ्घटनाके सम्बन्धविषयक		रोधके उदाहरण	२२२
ठीन पद्य	१७	२ विरोधी रसाङ्गोंकी अङ्गरूपताके	
गुणोंको सङ्घटनास्थित या सङ्घटनारूप		अविरोधके उदाहरण	२२३
माननेमें दोष	१७	२१ काम्यादिमें एक ही रसकी मुख्यता	
गुणोंका वास्तविक भाव	१७२	शोनी नादिये [का २१]	२३
सङ्घटनाका निबन्धक तत्व	१७८	२२ २३ एक रसकी मुख्यताका उपपादन	
७ काव्यप्रकारोंका [विषयगत] औचित्य		[का २२ २३]	२३१
सङ्घटनानियामक [का ७]	१८१	२४ बन्ध-भावक विरोधमें अङ्घटाका उप	
८ गद्यकाव्योंमें भी उक्त औचित्य भाव		पादन [का २४]	२३२
व्यक है [का ८]	१८६	२५ एकात्मके विरोधी रसोंका अविरोध	
९ रसवचका औचित्य मन्त्र भावपरक		सम्पादन [का २५]	२३६
[का ९]	१८६		

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
२६ नैरन्तकविरोधी रसोंका अविरोध- सम्पादन [का २६]	२३७	आश्रयभेदसे व्यञ्जकरवकी सिद्धि	२५९
शास्त्ररसकी स्थिति	२३८	मीमांसकमतमें व्यञ्जकरव अपरिहार्य	२७२
२७ विरोधी रसोंमें व्यवधान द्वारा अवि- रोधसम्पादन [का २७]	२४	वैयाकरणमत प्वनिसिद्धान्तके अनुकूल	२७६
२८ रसोंके विरोधाविरोधका उपसंहार [का २८]	२४१	न्यायमत व्यञ्जकरवके अनुकूल	२७६
२९ शृङ्गारमें विरोधपरिहार अनिवाच [का २९]	२४१	अनुभूतिपादका निराकरण	२७८
३ विरोधी रसोंमें भी शृङ्गारका पुट [का ३]	२४२	३४ प्वनिका उपसंहार [का ३४]	२८६
३१ विरोधाविरोधके जानसे म्यामोहाभाव [का ३१]	२४३	३५ गुणीभूतव्यङ्ग्यका निरूपण [का ३५]	२८७
३२ रसानुगुण शब्दावधारणा कविका मुग्य कर्म [का ३२]	२४४	३६ गुणीभूतव्यङ्ग्यकी उपादेयता [का ३६]	२८९
३३ वृत्तियोंका विवेचन [का ३३]	२४४	३७ व्यङ्ग्यके सस्पष्टसे वाच्यका चारुत्व [का ३७]	२९
रसकी आत्मरूपताका उपपादन	२४५	३८ प्रतीयमान काव्यका सृष्टि [का ३८]	२९७
रस अन्तस्ता नहीं, अन्तर्भवन्तव्यङ्ग्यता का उपपादन	२४६	३ काव्याभिन्न गुणीभूतव्यङ्ग्य [का ३९]	२९८
संलक्ष्यनम वाच्यशक्तिमूलमें मम	२५	४ गुणीभूतव्यङ्ग्यमें प्वनिकोजनाका निषेध [का ४]	३
संलक्ष्यनम अर्थशक्तिमूलमें मम	२५१	४१ गुणीभूतव्यङ्ग्यका प्वनिरूपमें पवकसान [का ४१]	३ २
अनियमितवाच्य [संलक्ष्यमूल प्वनि]में भी मम	२५७	४२ ४३ निष्कारकका निरूपण [का ४२ ४३]	३ ९
पुन व्यवधान-व्यञ्जकरवकी सिद्धि	२५३	४४ सद्पर तथा संसृष्टि [का ४४]	३१४
रूपकोर भी व्यवधानवाच्यक	२५५	स्थानकारके अनुसार प्वनिक ३५ मेंहीकी गणना	३१५
गद्गादिप्रकृत्यागद्गादिवाच्यका गणन	२५६	कार्यप्रकाशकृत ५१ प्वनिगे 'वाच्य' तथा 'कार्यप्रकाश'के मेंही की गणना	३१६
सिद्धांशमें ५२-प्रतीक-व्याप	२५७	संसृष्टि तथा लक्ष्यभेदमें आचनकारकी गणना	३१७
		आचन की एक और नित्य गणना	३१८

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
'काम्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' की गणना	३१८	४९ सत्काव्यके करने या समझनेके लिए ध्वनितत्वका परिज्ञान आवश्यक है [का ४६]	३१०
'काम्यप्रकाश'की गुणनप्रक्रिया	३१९	५० ध्वनितत्वको स्वरूपमें न समझनेके कारण ही पूनाचामेने 'रीतियों' प्रवृत्त कीं [का ४७]	३१२
'काम्यप्रकाश'में अन्यत्र सङ्कलनप्रक्रिया	३१९	ध्वनितत्वक बाद रीतियोंकी अनुप- योगिता	३११
'साहित्यदर्पण'की सङ्कलनप्रक्रियाकी शैली	३२	ध्वनितत्वके बाद वृत्तियोंकी अनुप- योगिता	३१२
सङ्कलनकी लघुप्रक्रिया	३२	५८ ध्वनिमें ही वृत्तियोंका अन्तर्भाव [का ४८]	३१२
'काम्यप्रकाश'की द्विविधशैलीका कारण	३२१		
४५ ध्वनिके भेद प्रमेयोंकी गणना अथवा होनेसे यह निष्कास प्रदर्शन है [का ४५]	३३		

चतुर्थ उद्योत

[पृ० ३३१-३३३]

१ ध्वनि तथा गुणीभूतम्बङ्गपद्यके प्रतिमाका आनन्द [का १]	३३५	७ वाक्यावधि भी अथका आनन्द [का ७]	३५१
२ ध्वनिमंथनसे पुरातन विषयोंमें वृद्धताका अन्वय [का २]	३३६	८१ अथवा, दश, कात्यादि भेदसे रसानुकूल रचनाका आनन्द [का ८१]	३५८
३ इली प्रकारसे रसादिका अनुसरण [का ३]	३४	११ अर्थोंक शाय विषयोंका सादर्य कविके लिए होयाभावक नहीं [का ११] ३५०	
४ रसक सत्यार्थसे अर्थोंकी अपूर्वता [का ४]	३४१	१२ प्रतिविम्बक, आवलम्बक, सुस्यरे विषय विषय सादर्य [का १२] ३५९	
५ अन्तक प्रकारके सम्बन्धोंमें रसकी प्रधानता [का ५]	३४४	१३ प्रथम दो सादर्य हेतु मूर्तिय उपादान [का १३]	३६
६ ध्वनि तथा गुणीभूतम्बङ्गपद्यके सम्बन्धसे काम्यप्रकाशकी अनन्तता [का ६]	३५	१४ अन्तके सादर्ययुक्त मुम्बके सौन्दर्यके समान सादर्य होनेसे भी काम्य सौन्दर्य सम्भव [का १४]	३६

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
१५ अक्षरसंज्ञनासे विविध वाक्यके समान परिमित अर्थोंसे अपरिमित कार्य [का १५]	१६१	१७ सर्व सरस्वती कविकी सहायक [का १७]	१६३
१६ पूषन्ठायाम अनुगत होनेपर मुन्तर वस्तुकी रचना अनुचित नहीं [का १६]	१६२	प्रथम परिशिष्ट—धम्म्यालोकाकी कारिकाइ सूची	१६५
		द्वितीय परिशिष्ट—धम्म्यालोकाकी उदा हरणादिसूची	१६९

श्रुतिका

ध्वनिसिद्धान्त

[लेखक—डा० गोन्द्र, एम्० ए० डी० लिट्]

पूर्ववृत्त—अन्य सम्प्रदायोंकी मूर्ति जनिसम्प्रदायका जन्म मी उसके प्रतिष्ठापकके जन्मसे बहुत पूर्व ही हुआ था। 'काम्मस्वात्मा ध्वनिरिति सुपैर्नः समाग्नात्पूर्वः' [ध्वन्यालोक १ १] अर्थात् "काम्मकी आत्मा ध्वनि है देखा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानोंका मी मत है। वास्तवमें इस सिद्धान्तके मूल सङ्केत ध्वनिकारके सम्भवसे बहुत पहले वैयाकरणोंके स्त्रोत्रोंमें स्पष्ट आदिके विवेचनमें मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शनमें भी स्पष्टता एवं अमिथ्याकि [दीपकते पर] की तथा बहुत प्राचीन है। ध्वनिकारके पूर्व रस अङ्गहार और रीतियादी आचार्य अपने-अपने सिद्धान्तोंका पुष्ट प्रतिपादन कर चुके थे और यद्यपि वे ध्वनिसिद्धान्तसे पूर्णतः परिचित नहीं थे फिर भी ध्यानन्दवचनका कहना है कि वे कमसे कम उसके सौमन्व्यक अवश्य पहुँच गये थे। अमिनवगुप्तने पूर्ववर्ती आचार्योंमें उन्नत और सामनको छाधी माना है। उन्नतका अर्थ भद्रहस्विकरण' यात्र उपक्रम नहीं है अतएव हमें सबसे प्रथम ध्वनिसङ्केत सामनके बन्नेकिविवेचनमें ही मिलता है। वहाँ 'साहस्यस्वच्छया बन्नेकिः' लक्ष्यार्थमें वहाँ साहस्य गर्मित होता है वहाँ वह बन्नेकि कहल्यती है। साहस्यकी वह स्पष्टता ध्वनिके अन्तगत आती है इतीस्मिन् सामनको छाधी माना गया है।

'ध्वन्यालोक' एक सुगमवर्तक ग्रन्थ था। उसके रचयिगाने अपनी अवाधारण मेधाके बलपर एक ऐसे शास्त्रीय सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा की जो सुग-सुगन्तक सर्वमान्य रहा। अथर्वक जो सिद्धान्त प्रचलित थे वे प्राय सभी एकजुड़ी थे। अङ्गहार और रीति तो काम्मके बहिरङ्गको ही बूझ रह जाते थे, रत्नसिद्धान्त मी ऐन्द्रिय ध्यानन्दकी ही सर्वस मानता हुआ बुद्धि और कल्पनाके ध्यानन्दके प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त स्वयं योग यह था कि प्रत्यक्षकाम्मके साथ तो उसका सम्बन्ध ठीक बैठ जाया था परन्तु स्वप्न-स्त्रोत्रोंके विषयमें विभाव अनुभाव ध्वनिकारी आदिका सङ्घटन स्वप्न न हो सकनेके कारण कठिनाई पड़ती थी और प्रायः अत्यन्त सुन्दर पद्योंको भी उचित गौरव न मिल पाया था। ध्वनिकारने इन सुधियोंको पहिचाना और सभीका उचित परिहार करते हुए ध्वन्यकी तीसरी शक्ति स्वप्नानपर आश्रित ध्वनिको काम्मकी आत्मा शोषित किया।

ध्वनिकारने अपने सामने दो निश्चित लक्ष्य रखे हैं—१. ध्वनिसिद्धान्तकी निम्नान्त सम्पूर्ण स्थापना करना तथा यह सिद्ध करना कि पूर्ववर्ती किसी मी सिद्धान्तके अन्तगत उसका समाहार नहीं हो सकता; २ रस अङ्गहार, रीति गुण और शोषविषयक सिद्धान्तोंका सम्पूर्ण परिभाव करते हुए ध्वनिके साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना और इस प्रकार काम्मके सर्वज्ञपूज सिद्धान्तकी एक कल्पना बौधना। करनेकी आवश्यकता नहीं कि इन दानों उदरेस्त्रोत्रोंकी पूर्तिमें ध्वनिकार सर्वथा सफल हुए हैं। वह सब होते हुए भी ध्वनिसम्प्रदाय इतना लोकप्रिय न होता यदि अमिनवगुप्तकी सफलता बरदान उसे न मिलता। उनके लेखन का बही गौरव है जो महामाध्यका। अमिनवने

अपनी तन्मस्पर्धिनी प्रहा और प्रौढ विवेचनके द्वारा ध्वनिकिरणक सम्मत् भ्रान्तिमें और आधेघोंघे निमग्न कर दिया और उपर रत्नकी प्रतिष्ठाको अकाम्य शब्दोंमें स्थिर किया ।

ध्वनिका अर्थ और परिमाण

ध्वनिकी व्याख्याके लिए निरसंगत सबसे उपयुक्त ध्वनिकारके ही शब्द हा सकते हैं :

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसङ्गनीहृतस्वार्थौ ।

व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूत्रिणि कथितः ॥

जहाँ अब स्वर्णको तथा शब्द अपने अभिप्रेय अर्थको गौण करके 'उस अर्थको' प्रकाशित करते हैं, उस काव्यविशेषको विश्रानोंने ध्वनि कहा है ।

उपयुक्त कारिकाकी स्वर्ण ध्वनिकारने ही और आगे व्याख्या करते हुए किया है : "यत्रार्थो वाक्यविशेषो वाचकविशेषो शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तं, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति ।"

अर्थात् जहाँ विशिष्ट वाक्यरूप अर्थ तथा विशिष्ट वाचकरूप शब्द 'उस अर्थको' प्रकाशित करते हैं वह काव्यविशेष ध्वनि कहा जाता है ।

यहाँ 'तमर्थम्' 'उस अर्थ का' शब्दन पूर्वकथित दो स्थोत्रोंमें किया गया है

प्रतीपमानं पुनरस्यदेशं यस्तथस्ति घाणीषु महाकथीनाम् ।

यत्तत्प्रतिष्ठावयवघातिरिक्तं यिमाति छाद्यव्यभिहाङ्गनासु ॥

प्रतीपमान कुछ और ही चीज है ज्ये रमणियोंके प्रतिष्ठ [गुण, नेत्र, भोज, नायिकादि] अवयवोंके भिन्न [उनके] आक्षेपके समान महाकथियोंकी सुविधोंमें [वाक्य अर्थके अन्वय ही] भाषित होता है ।

अर्थात् 'उस अर्थ'के आत्म्य है उस प्रतीपमान स्वाधु [वचनीय सरस] अथका जो प्रतिष्ठा अन्व है, और जो महाकथियोंकी वाणीमें वाक्याभित अलङ्कार आदिसे भिन्न, स्त्रियोंमें अवयवोंके अतिरिक्त आक्षेपकी भाँति कुछ और ही बस्तु है । अतएव यह विशिष्ट अर्थ प्रतिष्ठाअन्व है स्वाधु [सरस] है वाक्यके अतिरिक्त कुछ दूसरी ही बस्तु है और प्रतीपमान है ।

सरस्वती स्याधु तर्चयस्तु निःप्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।

अलोक्त्वामागम्यमभिध्वनक्ति परिष्कुर्यते प्रतिभाविशयम् ॥

उस स्वाधु अवयवको विनश्वती हुई बड़-बड़ कवियोंकी सरस्वती अमौलिक तथा अतिमान मान प्रतिभाविशेषको प्रकट करती है ।

इतएव ध्वनिकारकी दिग्गमी है—

सर्वत्र शब्दाधयोऽसमोर्ध्वं ध्वननव्यापारः । " । न [काव्यविशेषः] इति । अर्थो वा

शब्दो वा, व्यापारं वा । अर्थोऽपि वाक्या वा ध्वनतीति शब्दाःप्येवं व्याप्या वा ध्वन्यते इति ।

व्यापारं वा शब्दाधयोऽध्वननमिति । कारिकाया तु प्राप्तास्येन सुगुणाय एव वाक्यरूपमुपगतथा

ध्वनिरिति प्रतिपादितम् ।

अर्थात् सर्वत्र शब्द और अर्थ शान्तिका ही ध्वननव्यापार होता है । " यह 'काव्यविशेष' का अर्थ है : अर्थ या शब्द या व्यापार । वाक्य अर्थ भी ध्वनन करता है और शब्द भी इसी प्रकार अन्वय [अर्थ] भी ध्वनित होता है । अथवा शब्द अथका व्यापार भी ध्वनन है । इस प्रकार कारिका

के द्वारा प्रधानतया समुदाय शब्द, अर्थ—वाच्य [व्यञ्जक] अर्थ और स्वहृद्य अर्थ तथा शब्द के अर्थका व्यापार ही ध्वनि है।

अभिन्नवस्तुके कहनेका तात्पर्य यह है कि कारिकाके अनुसार ध्वनि सहा केवल कान्यको ही नहीं सी गयी वरन् शब्द, अर्थ और शब्द अर्थके व्यापार इन सबको ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि शब्दके व्युत्पत्ति-अपेक्षे भी ये पौनों मेव सिद्ध हो जाते हैं :

१ ध्वनिति वा स व्यञ्जक शब्द ध्वनिः—जो ध्वनित करे वा कराये वह व्यञ्जक शब्द ध्वनि है।

२ ध्वनिति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः—जो ध्वनित करे वा कराये वह व्यञ्जक अर्थ ध्वनि है।

३ ध्वन्यते इति ध्वनिः—जो ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इसमें रत्न, अरुह्यार और बलु—स्फुट्य अर्थके ये तीनों रूप आ जाते हैं।

४ ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः—जिसके द्वारा ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थके व्यापार—स्यञ्जना आदि शक्तिबोध बोध होता है।

५ ध्वन्यतेऽस्मिदिति ध्वनिः—जिसमें बलु, अरुह्यार इत्यादि ध्वनित हों उस काव्यको ध्वनि करते हैं।

इस प्रकार ध्वनिका प्रयोग पौंच विभक्तियों परन्तु परस्पर सम्बन्ध अर्थोंमें होता है : १ व्यञ्जक शब्द, २ व्यञ्जक अर्थ, ३ स्वहृद्य अर्थ, व्यञ्जना [स्यञ्जनाव्यापार], और स्वहृद्यप्रधान कान्य।

संक्षेपमें ध्वनिका अर्थ है स्वहृद्य परन्तु पारिभाषिक रूपमें वह स्वहृद्य वाच्यविधायी होना चाहिये वाच्यविधायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिः [साहित्यदर्पण]। इस आशयमें अम्मा प्राधान्यका आधार है वाच्य अथवा रसगीतवाका उत्कृष्ट, 'जादत्वात्कार्यनिवन्धना हि वाच्यव्यञ्जने प्राधान्य-विषया' [अभ्यासोक्त]। अतएव वाच्यविधायीका अर्थ हुआ वाच्यसे अधिक रसगीत—और ध्वनि का शक्ति सम्बन्ध हुआ : 'वाच्यसे अधिक रसगीत स्वहृद्यको ध्वनि करते हैं।'

ध्वनिकी प्रेरणा—संश्लेषसिद्धान्त

ध्वनिसिद्धान्तकी प्रेरणा ध्वनिकारको वैवाकर्योंके संश्लेषसिद्धान्तके सिद्धी है। उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'ध्वनिति कथितः' में ध्वनितिः [विद्यन्ते द्वारा] से अभिप्राय वैवाकर्योंसे है क्योंकि वैवाकरण ही पहले सिद्धान्त है और व्याकरण ही सब विद्याओंका मूल है। वे भूपमाण [तुने जाते हुए] कर्मोंमें ध्वनिका व्यवहार करते हैं।

व्योचनकारने इस प्रसंगका और स्पष्ट किया है। उन्होंने वैवाकर्योंके संश्लेषसिद्धान्तके साथ भावकारियोंके इस ध्वनिसिद्धान्तका पृथक् धर्मनत्व स्थापित करते हुए तत्त्ववैयक्य प्रथाधारकी साक्ष्योपाद्वा प्रामाण्य की है। ध्वनिके पौनों रूप—व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, स्वहृद्य अर्थ स्यञ्जना व्यापार तथा स्वहृद्यकान्य—सभीके लिए व्याकरणमें निश्चित एवं स्पष्ट उद्देश्य हैं।

व्योचनकारकी टिप्पणीका व्याख्यान करनेके लिए मैं अपने मित्र श्री विश्वम्भरप्रसाद शर्माकी ध्वन्याश्लोक टीकासे दो उद्धरण देता हूँ।

'अत्र मनुष्य किसी शब्दका उच्चारण करता है तो श्रोता उसी उच्चारित शब्दको नहीं सुनता। मान लीजिये, मैं आपसे १० गजकी दूरीपर खड़ा हूँ। आपने किसी शब्दका उच्चारण किया। मैं वही शब्दको नहीं सुन सकता तो आपने उच्चारित किया। आपका उच्चारित शब्द मुझके

पाठ ही अपने दूसरे ध्वन्यको उत्पन्न करता है। दूसरा ध्वन्य तीसरेको, तीसरा चौथेको और इस प्रकार क्रम बढता रहता है जबतक कि मेरे ज्ञानके पास ध्वन्य उत्पन्न न हो जान। इस प्रकार सम्बन्ध-रूपमें आये हुए ध्वन्यज ध्वन्यको ही मैं सुन सकता हूँ। वह ध्वन्यज ध्वन्य ध्वनि कहलाता है। भगवान् मरुहरिने भी कहा है "या संयोगवियोगाभ्यां करणैरपक्रियते। स स्त्रोटः ध्वन्यज ध्वन्यो ध्वनिरित्युच्यते इति ॥" करणों (vocal organs) के संयोग और वियोग [क्योंकि उनके जुड़ने और बन्द होनेसे ही आवाज पैदा होती है] से जो स्त्रोट उत्पन्नित होता है वह ध्वन्यज ध्वन्य विद्वानों द्वारा ध्वनि कहलाता है। बच्चक मुनसे उद्धरित ध्वन्योसे उत्पन्न ध्वन्य हमारे मस्तिष्कमें नित्यवर्तमान स्त्रोटको जग्य देते हैं। यही वैषाकरणोंकी ध्वनि है। इसी प्रकार आवाजकारियोंके अनुसार भी पद्यनादके समान अनुगणनरूप ध्वन्यसे उत्पन्न, ब्यङ्ग्य अथ ध्वनि है।

"वैषाकरणोंक अनुसार 'गौ' ध्वन्यका उच्चारण होनेपर हम 'गू, औ और : (विसर्ग) इनकी प्रकृष्ट प्रकृष्ट प्रतीति करते हैं। इनकी एक साथ ता स्थिति हो नहीं सकती। यदि ऐसा हो तो पीषा पपन्न अवकाश ही नहीं रहेगा। तीन भिन्न ध्वन्य एक साथ हो ही नहीं सकते। 'गौः ध्वन्यके मुननेपर हमारे मस्तिष्कमें नित्यवर्तमान स्त्रोटरूप 'गौ'की प्रतीति होती है। किन्तु इसके पहले ही कवच 'गू' ध्वन्यको मुनते ही इस प्रतीतिके साथ स्त्रोटरूप 'गौ'की असह्य प्रतीति भी होती है जो 'औ' और 'ः' तक आ जानेपर पूजतया स्थ हो जाती है। —श्री विश्वम्भरप्रसाद उबराल इसको आचार्य मम्मटकी व्याख्याके आधारपर और स्पष्ट रूपसे समझ लीजिये : गौः ध्वन्यमें 'गू', 'औ', और : वे तीन कव हैं। इन तीन कवोंमेंसे गौः का अर्थबोध किञ्चक द्वारा होता है। यदि यह कई कि प्रत्येकके उच्चारण द्वारा तो एक वर्ष ही पवास होगा, शेष दो वर्ष हैं। और यदि यह कई कि तीनों कवोंके समुदायके उच्चारण द्वारा तो वह असम्भाव्य है, क्योंकि कोर भी कर्षध्वनि से ध्वन्ये अधिक नहीं उदर सकती अर्थात् विघर्षतक आते आते 'गू'की ध्वनिका शेष हो जायगा जिसके कारण तीनों कवोंके समुदायकी ध्वनिका एक साथ होना सम्भव न हो सकेगा। अतएव असन्तत स्रम विवेचनके बाद वैषाकरणोंने स्थिर किया कि अर्थबोध ध्वन्यके 'स्त्रोट' द्वारा होता है अर्थात् पूष-पूष कवोंके उत्कार अन्तिम-अन्तिम कवोंके उच्चारणके साथ संयुक्त होकर ध्वन्यका अर्थबोध कराते हैं।

"मरुहरि भी यही करते हैं : 'प्रत्यपेरनुपास्मेवमह्वानुमहेत्सपा। ध्वनिप्रकाशिते ध्वन्ये स्वरूप मन्धयन्ते। प्रत्येके णि अनुगुण [अनुकृम], अनुपास्नेव [किन्हीं स्पष्ट ध्वन्योमें व्यक्त नहीं किया जा सकता] प्रत्ययों (cognitions) द्वारा ध्वनिरूपमें प्रकाशित ध्वन्य [स्त्रोट] में स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यहाँ वैषाकरणोंके अनुसार, नाद कहजानेवासे अन्त्यनुदिते प्राज्ञ स्त्रोटव्यञ्जक कव ध्वनि कहलाते हैं। इसक अनुसार स्पष्टक ध्वन्य और अण भी ध्वनि कहलाते हैं—वह आवाजकारियों का मत है।

'हम एक स्थाकका कई प्रकारसे पढ़ सकते हैं। कभी धीरे धीरे, कभी बहुत शीघ्र कभी मध्यम कभी गते हुए तथा कभी धींध-धींधे। किन्तु सभी समय यद्यपि हम भिन्न-भिन्न ध्वनियों का प्रयोग करते हैं अथ फरक एक ही प्रतीत होता है। यह क्यों ? वैषाकरणोंका कहना है कि ध्वन्य का प्रकारका होता है। एक ता स्त्रोटरूपमें कवम्यान प्राकृत ध्वन्य, दूसरा निवृत्त। हम जिन ध्वन्योका प्रयोग करने दे वे उस स्त्रोटरूप माहृतकी अनुश्रुतिमात्र हैं। प्राकृत ध्वन्यका एक नित्यस्वरूप होता है उसकी अनुश्रुतियों (models) में विभिन्नता हो सकती है। निवृत्त ध्वन्योका उच्चारणरूप यह विभिन्न व्यापार भी वैषाकरणोंक अनुसार ध्वनि है। आवाजकारियोंके अनुसार भी प्रविद्य ध्वन्य

व्यापारोंसे भिन्न व्यवहार नामका शब्दव्यवहार ध्वनि है। इस प्रकार व्यवहार अर्थ व्यवहार शब्द, व्यवहार अर्थ और व्यवहारव्यापार—यह चार तरहकी ध्वनि हुई। इन चारोंके साथ एक खनेपर अनुदायक काम भी ध्वनि है। इस प्रकार बोधनकारने व्याकरणोंका अनुसरण करके पौंचोंमे ध्वनित सिद्ध कर दिया।” —भी विद्यनाथप्रसाद बरवाळ

इस विवेचनका सारांश यह है—

१ जिसके द्वारा अर्थका प्रस्तुतन हो उसे स्त्रोट करते हैं।

२ शब्दके दो रूप होते हैं—एक व्यक्त अर्थात् विद्वत रूप दूसरा अव्यक्त अर्थात् प्राकृत [नियत] रूप। व्यक्तका सम्बन्ध बैन्वरी और अव्यक्तका सम्बन्ध मध्यमा बाधोते है जो बैन्वरीकी अनेका सुसुप्ता है। परन्तु स्त्रुं पेन्द्रव रूप है यह उपचारणकी विधिसे अनुसार बाल्वा रहता है। दूसरा सूक्ष्म मानस रूप है जो नियत तथा अव्यक्त है। यह हमारे मनमें सदैव वर्तमान रहता है और शब्द अर्थात् बर्णोंके लङ्घनविशेषको सुनकर उद्बुद्ध हो जाता है। इसको शब्दका स्त्रोट करते हैं। स्त्रोट का दूसरा नाम 'ध्वनि' ग्री है।

३ जिस प्रकार वृष्ण-शृष्ण बर्णोंको सुनकर भी शब्दका बोध नहीं होता है, वह केवल स्त्रोट या ध्वनिके द्वारा ही होता है, इसी तरह शब्दोंका वाक्याय प्रहणकर भी वाक्यके सौन्दर्यकी प्रतीति नहीं होती, वह केवल व्यवहार्य या ध्वनिके द्वारा ही होती है।

४ व्याकरणमें व्यवहार शब्द, व्यवहार अर्थ व्यवहार अर्थ, व्यवहाराव्यापार तथा व्यवहाराव्यक्त —इन्हींके इन पौंचों बर्णोंके क्रिये निश्चित सङ्गत मिलते हैं। यह स्त्रोट शब्द, वाक्य और प्रबन्ध एकका होता है।

इस प्रकार शब्दशास्त्र और व्यापारशास्त्रके आधारपर ध्वनिकारने व्याकरणके ध्वनि सिद्धान्तसे प्रेरणा प्राप्त कर अपने ध्वनिसिद्धान्तकी उद्घाटना की।

ध्वनिकी स्थापना

आगे चलकर ध्वनिका सिद्धान्त बचपि सक्षमात्मन्-सा हो गया परन्तु आरम्भमें इसे घोर विरोधका सामना करना पड़ा। एक तो ध्वनिकारने ही पहलेसे बहुत कुछ विरोधका निराकरण कर दिया था उसके बाद सम्मन्ने उसका अत्यन्त योग्यतापूर्वक समायन किया जिसके परिणामस्वरूप प्रायः सभी विरोध शान्त हो गया।

१ ध्वनिकारने तीन प्रकारके विरोधियोंकी कल्पना की थी—एक अभाववादी, दूसरे लक्षणांमे ध्वनि [व्यञ्जना] का अस्तभाव करनेवाले, और तीसरे वे अ ध्वनिका अनुभव तो करते हैं, परन्तु उसकी स्थापना असम्भव मानते हैं।^१

सबसे पहले अभाववादीयोंको शीघ्रिब । (अभाववादियोंके विरुद्ध इस प्रकार है : १ ध्वनिका साथ काव्यकी आत्म्य [सीद्ध्य] मानते हैं—पर काव्य शब्द और अपका सम्बन्ध शरीर ही तो है। स्वयं शब्द और अर्थ तो ध्वनि हो नहीं सकते। अब यदि उनके शीद्ध्य अथवा धारत्वको साथ

१ काव्यशास्त्रमा ध्वनिरिति तुषैका समाम्नापूर्व
 लक्षणात्मं बहुरूपे माक्षमातुल्यम्भे ।
 केचिन् वाचां विवक्षयित्त्वे वल्लभुल्लरीचं
 एव भूम उद्धारवगतप्रोत्तये पत्तवकपत्त ।—व्यञ्जनादौ
 मू० १-क

ध्वनि मानते हैं, तो वह पुनरावृत्तिमान है, क्योंकि शब्द और अर्थके वास्तवके दो सभी प्रकारोंका विवेचन किया जा चुका है।)

शब्दका चाकल्य तो धम्माकङ्कार तथा धम्मगुणके अन्तर्गत आ जाता है, और अथका चाकल्य अर्थाकङ्कार तथा अर्थगुणमें। इनके अतिरिक्त मैदमी आदि रीतियों और इनसे अभिन्न उप-नागरिका आदि वृत्तियों भी हैं जिनका सम्बन्ध शब्द अर्थके साहित्य [मिथ्य धरि] से है। सभी प्रकारके शब्द और अथगत सौन्दर्यका अन्तर्भाव इनमें हो जाता है। अतएव ध्वनिसे आद्यन यदि शब्द और अर्थगत चाकल्यसे है तो उसका तो सम्बन्ध विवेचन पहले ही किया जा चुका है—फिर ध्वनिकी क्या आवश्यकता है! यह वा तो पुनरावृत्ति वा अथिकसे अथिक एक नवीन नामकरण मात्र है, जिसका कोई महत्त्व नहीं।

२ (दूसरे विषयमें परम्पराकी सुधार दी गयी है। यदि प्रसिद्धपरम्परासे आये हुए मार्गसे भिन्न काम्यप्रकार माना जाय तो काम्यत्वकी ही हानि होती है।) इनकी युक्ति यह है कि आसिर ध्वनिकी चर्चासे पहले भी तो काम्यका आस्वादन होता रहा है, यदि काम्यकी आत्माका अन्वेषण आप अथ कर रहे हैं तो अवतक क्या श्रेय मूर्खोंकी भोंठि आभाषमें म्भावकी कल्पना करते रहे हैं (ध्वनि प्रसिद्ध काम्यपरम्परासे भिन्न कोई मार्ग है तो अवतकके काम्यके काम्यत्वका क्या हुआ! वह तो इस प्रकार रह ही नहीं जाता। इसके कहनेका तात्पर्य यह है कि ध्वनिसे पूर्व भी तो काम्य या और सद्वचन उसके काम्यत्वका आस्वादन करते थे। यदि काम्यकी आत्मा ध्वनि आपने अथ हुई निकाली है तो पूर्ववर्ती काम्यका काम्यत्व तो अस्ति हो जाता है।)

३ कुछ जग ध्वनिके अभावका एक और रीतिसे प्रतिपादित करते हैं। वे कहते हैं कि यदि ध्वनि कमनीयताका ही कोई रूप है तो वह कथित चाकल्यकारणोंमें ही अन्तर्भूत हो जाता है।) जहाँ, वह हो सकता है कि चाकल्यके भेद प्रमेयोंकी अनन्तताके कारण दृष्टकर्मोंने किसी प्रमेदविशेषकी समाप्ता न की हो और उरीको आप शोक निकालकर ध्वनि नाम से रहे हों। परन्तु वह तो कोई बड़ी बात न हुई। यह तो बड़ी सङ्कल्यतामात्र है।

४ ध्वनिके अस्तित्वका निवेश करनेवालोंकी युक्तियोंका शरण्य परी है। वे एक प्रकारसे अभिधा वा वाच्यार्थमें ही स्पष्टना या ध्वनिकी अन्तर्भाव करते हैं।)

ध्वनिविराधियोंका दृष्टय वर्ग उसको लक्षणाक अन्तर्गत मानता है; इन शर्तोंको भाङ्ककारी करा गया है।

तीनय वर्ग ऐसे शर्तोंका है जो ध्वनिको सद्वचनसंबन्ध मानत हुए भी उसे वाणीके लिए अगोचर मानते हैं अथवा उसकी परिभाषाको अगम्य मानते हैं। इनको ध्वनिकारने 'लक्षण करनेमें अग्रगम्भ' करा है।)

इन विराधियोंकी कल्पना तो ध्वनिकारने स्वयं कर ही थी—परन्तु उनका बाद भी ता इन विद्वान्धका विशेष हुआ। परवर्ती विराधियोंमें सबसे अधिक पराजयी थे—महनायक मर्दममर्द तथा कुन्तक। मर्दनायकने रगाम्बाहनक हेतुरूप शब्दकी भावकत्व और भाङ्कत्व दो ध्वनियोंकी उद्भावना की और परजनाका निराय किया। मर्दममर्द ध्वनिकी अनुमिल्यमान मानत हुए परजनाका निराय किया और अभिधाको ही पयात माना। कुन्तकन ध्वनिको वार्तिक अन्तर्गत माना। महनायकका उत्तर अभिलक्षणगुणने तथा अम्यवा सम्मदने किया, और परजनाको अतकवता निरुद्ध करत हुए ध्वनिको अङ्कल्य माना।

वास्तवमें ध्वनिका विद्यालय मन्त्र स्मृतिनाके आधारपर ही बड़ा हुआ है और ध्वनिकी स्थापनाका अथ स्मृतिनाकी ही स्थापना है।

सबसे पहले अभाववादिपक्षोंके विकल्प कीजिये। उनका एक उक्त यह है कि ध्वनिप्रतिपादनके पूर्व भी तो काष्ममें काष्मत्व था, और सङ्घटन निर्वाण उसका आस्थापन करते थे। यदि ध्वनि काष्म की आत्मा है तो पूर्ववर्ती काष्ममें काष्मत्वकी हानि हो जाती है। इसका उत्तर ध्वनिकारने ही दिया है—और वह यह है कि ध्वनिछ नामकरण उस समय नहीं हुआ था, परन्तु उसकी स्थिति तो उस समय भी थी। उदाहरणके लिये पत्रापोषक आदि अलङ्कारोंमें व्यङ्ग्य ध्वनि अत्यन्त स्पष्ट रूपसे वर्तमान रहता है—उसका महत्त्व गौण है, परन्तु उसका अस्तित्व तो असन्दिग्ध है। इस व्यङ्ग्यार्थके लिये केवल स्मृतिना ही उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त रस आदिकी स्वीकृतिमें भी स्पष्टता व्यङ्ग्यपक्षी स्वीकृति है क्योंकि रस आदि अस्मिन्वैव तो होते नहीं। उत्तर अल्प प्रश्नोंमें भी काष्मके विषयक इस उक्तकी प्रतीति निरिच्छ है, चाहे निरूपण न हो।

अभाववादिपक्षोंकी सबसे प्रकृत मुक्ति यह है कि स्मृतिनाका पूर्व अस्तित्व मन्त्रनेकी आवश्यकता नहीं है। यह अस्मिन्वैवके वा पितृ अस्मिन्वैवके अन्तर्गत आ जाती है।

इसका एक अभाववात्मक उत्तर तो यह है कि ध्वनिके दो दो प्रमुख भेद किये गये हैं उन दोनोंका अन्तर्भाव अस्मिन्वैव या अस्मिन्वैवमें नहीं किया जा सकता। अस्मिन्वैवत्ववाच्यध्वनि अस्मिन्वैवके आश्रित नहीं है। अस्मिन्वैवके विरुद्ध हो जानेके बाद स्मृतिनाकी सामर्थ्यपर ही उसका अस्तित्व अवलम्बित है। उत्तर विवक्षितवाच्यपरवाच्यमें अस्मिन्वैवकी भी नहीं आती ही नहीं। अतएव यह सिद्ध हुआ कि ध्वनिका एक प्रमुख भेद तथा उसके उपभेद अस्मिन्वैवके अन्तर्गत नहीं समा सकते और दूसरा भेद तथा उसके अनेक प्रभेद अस्मिन्वैवसे बहिर्गत हैं। अर्थात् ध्वनि अस्मिन्वैव और अस्मिन्वैवमें नहीं समा सकती। भावात्मक उत्तर यह है कि अस्मिन्वैव और अस्मिन्वैवका ध्वन्वैवसे पार्यन्त प्रकट करनेवाले अनेक अतर्क तथा स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं।

अस्मिन्वैव और ध्वन्वैवका पार्यन्तः
 ✕ बोधा, स्वरूप संख्या, निमित्त, कार्य, काल आभय और विषय आदिके अनुसार व्यङ्ग्यार्थ प्रायः वाच्यार्थसे भिन्न हो जाता है—

बाह्यरूपरूपसंख्यामिच्छकार्यप्रतीतिकारणानाम् ।
 आभयविषयवादीनां भेदादिनाऽभिधेयतो व्यङ्ग्यार्थः ॥—वा ए

बोधाके अनुसार पार्यन्तः—वाच्यार्थकी प्रतीति बोधाध्याकरणादिके प्रत्येक भावाको हो सकती है परन्तु ध्वन्वैवकी प्रतीति केवल उदाहरणको ही हो सकती है।

स्वरूप—कही वाच्यार्थ विधिरूप है तो व्यङ्ग्यार्थ नियेधरूप है, कही वाच्यार्थ नियेधरूप है, पर व्यङ्ग्यार्थ विधिरूप है या कही वाच्यार्थ विधिरूप है, पर व्यङ्ग्यार्थ अनुभवरूप है। कही वाच्यार्थ संख्यात्मक है पर व्यङ्ग्यार्थ निश्चयपरमक है।

संख्या—संख्याके अन्तर्गत प्रकरण बन्धा और श्रोताका भेद भी आ जाता है। उदाहरणके लिये 'सूयास्त हो गया' इत वाक्यका वाच्यार्थ तो श्रुतिके लिये एक है, पर व्यङ्ग्यार्थ बन्धा, श्रोता तथा प्रकरणके भेदसे अनेक होये।

निमित्त—वाच्यार्थका बोध घटातामात्रसे हो जाता है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति प्रतिभा द्वारा ही सम्भव है। वास्तवमें निमित्त और बोधाका पार्यन्त बहुत-कुछ एक ही है।

कार्य—वाच्यार्थसे व्युत्पन्नमात्र होता है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थसे चमत्कार—आनन्दका आस्वादन होय है।

काल—वाच्यार्थकी प्रतीति पहले और व्यङ्ग्यार्थकी उसके बाद होती है। यह कम अधिक हो या न हो, परन्तु इसका अस्तित्व असन्दिग्ध है।

आश्रय—वाच्यार्थ केवल शब्द या पदक आश्रित रहता है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ शब्दमें, शब्दके अर्थमें, शब्दके एक अर्थमें, पद या चरणवत्ता आदिमें भी रहता है।

विषय—कहीं वाच्य और व्यङ्ग्यका विषय ही मिला होता है :

वाच्यार्थ एक व्यक्ति के लिए अभिप्रेत होता है, और व्यङ्ग्यार्थ दूसरेके लिए।

पयाय—इसके अतिरिक्त, पयाय शब्दोंके भी व्यङ्ग्यार्थमें अन्तर होता है। स्वल्पः सभी पयायोंका वाच्यार्थ एक-सा होता है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ भिन्न हो सकता है। उपयुक्त विशेषणका अर्थन बहुत-कुछ इसी पापक्यपर निर्भर रहता है।

आधुनिक हिन्दी काव्यमें तथा विदेशके साहित्यशास्त्रमें विशेषणवचन काम्यविषयका विशेष गुण माना गया है और उसका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन भी किया गया है।

अनन्वित अर्थकी व्यवहारा—अभिधा चकस अन्वित अर्थका ही बोध कर सकती है, परन्तु कहीं-कहीं अन्वित अर्थके अतिरिक्त किसी अनन्वित अर्थकी भी व्यवहारा होती है। इस प्रकारमें मम्मटने 'कुच रचि' और 'रचि कुच'का उदाहरण दिया है। अन्वित अर्थकी दृष्टिसे 'रचि कुच' सबका निर्दोष है, परन्तु इसमें 'चि'के द्वारा, जो सर्वथा अनन्वित है, अस्वीकृत अर्थका बोध होता है। चि'कु' कम्पनीरकी भाषामें अस्वीकृत अर्थका बोधक है। पण्डित रामवर्धन मिश्रने पन्तकी निम्नलिखित पंक्तियोंमें भी वही उदाहरण पटाया है—

'सरस्वती ही या उसका मन'स 'सरस पनरी (गूता) या उसका मन' इस अनन्वित अर्थकी व्यवहारा भी हो जाती है।

यह अनन्वित अर्थ अभिधाका व्यापार तो हो नहीं सकता। ऐसे भी यह वाच्य न होकर व्यङ्ग्य ही है, अतएव व्यवहाराका ही व्यापार सिद्ध हुआ।

रगादि भी अभिधाभित ध्वनिभेदके अन्तगत आते हैं। ये विवक्षितान्वयवाच्यके अर्थव्यप-
क्रम भेदके अन्तगत हैं। य रगादि भी व्यवहाराक अन्वितका प्रबल प्रमाण हैं। क्योंकि य कहीं भी वाच्य नहीं होते सदा वाच्य द्वारा आश्रित व्यङ्ग्य होते हैं। गृहकार शब्दके अभिधेयार्थके द्वारा गृहकार रमणी प्रतीति भगमव है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि कम्पन कम रगादिकी प्रतीति अभिधाकी सामर्थ्यसे साह्य है। इस प्रसङ्गको लेकर संस्कृतके भाषाशास्त्रमें बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है। मदन परने तो मरुतापकने व्यवहाराका नियम करते हुए शब्दकी मात्रकत्व और मात्रकत्व दो शक्तियों मानी और शब्द अर्थका भ्रमन तथा रगाका आम्बान् उन्हींके द्वारा माना। परन्तु अमिनपगुप्तने मात्रकत्व और मात्रकत्वकी कम्पनाका नियम और अनात्मक माना, तथा व्याकरण आदिके आधारपर व्यवहाराकी ही व्यापना की।

काव्यमें मरुतापक अल्प विज्ञानको अधिक वैज्ञानिक रूप नहीं दे गये। शब्दकी मात्रकत्व और मात्रकत्व जैसी शक्तियों के लिए न तो व्याकरणमें और न मीमांसा आदिमें ही कहीं कोई व्यापार मिलता है और एकर मनविज्ञान तथा भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे भी इनकी सिद्धि नहीं हो सकती। मात्रकत्वका कार्य भाषन करनेमें सहायक होता है, और मात्रकत्व बहुत-कुछ कम्पनाकी क्रिया है। अतएव मात्रकत्वका कार्य हुआ कम्पनाको उत्पन्न करना। उधर मात्रकत्वका कार्य है वाच्यार्थके

अपके मावन द्वारा रखी चर्चता करना। मनुनायकके कहनेका तात्पर्य आधुनिक धन्दाबन्धीमें यह है कि काव्यगत धर्म पहले तो पात्रको अर्पणोप करवा है, फिर उसकी कल्पनाको जायत करवा है और तदनन्तर उसके मनमें वासनारूपसे स्थित स्थयी मनोविकारोंको उत्पन्न करता हुआ उसको आनन्दमग्न कर देता है। उनका यह सम्पूर्ण प्रकलन इस तत्त्वको स्पष्ट करनेके लिए है कि धर्म और अर्थके द्वारा काव्यगत 'उत्तम विचित्र आनन्द'की प्राप्ति कैसे होती है। अर्थात् काव्यानन्दके स्वरूपका प्रश्न है, मनुनायकको उसके विषयमें कोई भ्रान्ति नहीं है। वे जानते हैं कि यह आनन्द वासनामूलक तो अवश्य है परन्तु कतक वासनामूलक आनन्दके अन्य रूपसे इसका वैचित्र्य स्पष्ट है। वास्तवमें ऐसा कि मैंने अन्वय स्पष्ट किया है काव्यानन्द एक मिश्र आनन्द है—जमें वासनाजन्य आनन्द और बौद्धिक आनन्द दोनोंका सम्मिश्रण रहता है। उसके मिश्र स्वरूपको एकीकरणने कल्पनाका आनन्द कहा है जो मनोविज्ञानकी दृष्टिसे ठीक भी है क्योंकि कल्पना चित्त और बुद्धिकी मिश्रित क्रिया ही हो है। इसी मिश्र रूपकी व्याख्यामें [बचपि मनुनायकने स्वयं इसको अपने शब्दोंमें व्यक्त नहीं किया है और इसका कारण परम्परासे पका आया हुआ 'अनिश्चयनीय धर्म वा'] मनुनायकने मावकत्व और मोक्षकत्वकी कल्पना की है—भावकत्व उसके बौद्धिक अंगका देव है और मोक्षकत्व उसके वासनाजन्य रूपका व्याख्यान करता है। अभिनवने ये दोनों विरोधपूर्ण अकेली स्पष्टनामें मानी हैं। स्पष्टना ही हमारी कल्पनाको जगाकर हमारे वासनारूप स्थित मनोविकारोंकी परम परिप्रतिके आनन्दका व्याख्यान करवाती है। इस प्रकार मूल्य-मावकत्व और मोक्षकत्व दोनोंका उद्वेग भी बरी उदरता है जो अकेली स्पष्टनाका। व्याकरण और भीमात्मा आदिके सहारे स्पष्टनाका आधार चूँकि अधिक पुर है इसलिये अन्ततोगत्वा परी स्वमान्य हुई। मनुनायककी दोनों शक्तियाँ निरुपचार पोषित कर दी गयीं।

इस प्रकार अभिवादादिकोंका यह एक सन्निहित हो जाता है कि अभिवादा अथ ही सीरकी तरह उत्तरोत्तर शक्ति प्राप्त करता जाता है।

बादमें महिमामन्त्रे स्पष्टनाका प्रतिपेय किया और कहा कि अभिवादा ही धर्मकी एकमात्र शक्ति है, जिसे स्पष्टना कहा जाता है वह अनुमेयमात्र है, तथा स्पष्टना पूर्वसिद्ध अनुमानके अतिरिक्त और कुछ नहीं। वे वाच्यार्थ और स्पष्टनापथमें स्पष्टक-व्यङ्ग्यसम्बन्ध न मानकर सिद्ध सिद्धी सम्बन्ध ही मानते हैं। परन्तु उनके धर्मोंका मम्मन्त्रे अत्यन्त मुक्तिपूर्वक स्पष्टन किया है। उनकी मुक्ति है कि सर्वत्र ही वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थमें सिद्ध-सिद्धीसम्बन्ध होना अनिवार्य नहीं है। सिद्ध-सिद्धीसम्बन्ध निरवधारक है अथवा धर्मों सिद्ध [साधन या देव] निश्चय रूपसे वर्तमान होगा, परी सिद्धी [अनुमेय वस्तु] का अनुमान किया जा सकता है। परन्तु अनिश्चयमें वाच्यार्थ सदा ही निश्चयवाचक देव नहीं हो सकता—यह प्रायः अनीकादिक होता है। ऐसी स्थितिमें उसे व्यङ्ग्यवाचक कल्पनाके अनुमानका देव कैसे माना जा सकता है? मनोविज्ञानकी दृष्टिसे भी महिमामन्त्रेका तर्क अधिक सज्जत नहीं है क्योंकि अनुमानमें साधनसे साधकी सिद्धि तक या बुद्धिके द्वारा होती है, पर अनिश्चय वाच्यार्थसे व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति तर्कके सहारे न होकर सहस्यता [समुच्चता, कल्पनाओं व्याप्ति] के द्वारा होती है।

[अथ मातृ [संज्ञा] आदिकोंको धीप्रिये। उनका करना है कि वाच्यार्थके अतिरिक्त यदि कोई दूसरा अर्थ होता है तो वह अर्थार्थके ही अन्तर्गत आ जाता है। व्यङ्ग्यार्थ कल्पनाका ही एक रूप है, अतएव कल्पनासे भिन्न स्पष्टना किसी कार्य शक्ति नहीं है। इस मतका स्पष्टन अधिक सरल है।

इसके विरुद्ध पक्षी प्रकृत मुक्ति तो स्वयं ध्वनिकारने प्रस्तुत की है। वह यह कि बाष्पायकी तरह कक्षार्थ भी नियत ही होता है और वह बाष्पायके वृत्तमें ही होता चाहिये, अर्थात् कक्षाय बाष्पायके नियम ही सम्बद्ध होगा। “गङ्गापर पर’ वाक्स्वर्मे गङ्गाका जो प्रवाहरूप अर्थ है वह तटको ही लक्षित कर सकता है, सड़कको नहीं, क्योंकि प्रवाहका तटके साथ ही नियत सम्बन्ध है।” [—कालाशोक]। इसके विपरीत व्यङ्ग्यार्थका बाष्पायके साथ नियतसम्बन्ध अनिवार्य नहीं है—इन दोनोंका नियतसम्बन्ध अनियतसम्बन्ध और सम्बन्धसम्बन्ध भी होता है। ध्वनिकारने इसकी विलुप्त व्याख्या की है। करनेका वास्तव यह है कि कक्षाय एक ही हो सकता है और वह भी कक्षा सम्बद्ध होगा परन्तु व्यङ्ग्यार्थ अनेक हो सकते हैं और उनका सम्बन्ध अनियत भी हो सकता है।

दूसरी प्रकृत मुक्ति यह है कि प्रयोजनबन्दी कक्षयाका प्रयोग उपरा किंसी प्रयोजनसे किया जाता है। उदाहरणके लिये ‘गङ्गाक किनारे पर’के स्थानपर ‘गङ्गापर पर’ कहनेका एक निमित्त प्रयोजन है और वह यह है कि ‘पर’क द्वारा अति-नैकट्य और लक्ष्य्य शैत्य और पावनत्व आदिकी सूचना अभिप्रेत है। कक्षयाका यह प्रयोग सर्वत्र सप्रयोजन होगा अन्वया यह केवल विलम्बाम्यत्र एव व्याप्य। यह प्रयोजन सर्वत्र व्यङ्ग्य रहता है और इसकी सिद्धि व्यङ्ग्यनाके द्वारा ही हो सकती है।

तीसरा तर्क पहले ही उपरिष्ठ किया जा चुका है और यह यह है कि रसादि सीधे बाष्पायके व्यङ्ग्य होते हैं, कक्षार्थके माध्यमसे उनकी प्रतीत नहीं होती। अतएव उनका कक्षार्थके कोर सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार कक्षयामे व्यङ्ग्यनाका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी प्रमाण हैं जिनसे ध्वनिकी सिद्धि होती है। उदाहरणके लिये, शेष दो प्रकारके होते हैं : नित्यदोष जो कक्ष ही कामकी हानि करते हैं और अनित्यदोष जो प्रसङ्गमेदोष कामके साधक भी हो जाते हैं—ये भुक्तिदुःखादि जो शृङ्गारमें बाधक होते हैं वे भी शीघ्र तथा रोदके साधक हो जाते हैं। शेषोंकी वह नित्यानित्यता व्यङ्ग्यार्थकी स्वीकृतिपर ही अवलम्बित है। भुक्तिदुःख शीघ्र अपना रोदक साधक इसीलिये हैं कि वे कर्कशताकी व्यञ्जना कर उस्साह और शोषकी कक्षयाराममें योग देते हैं। इनके द्वारा कर्कशता व्यङ्ग्य रहती है, वाक्च नहीं, इत्यादि। ध्वनिके अन्वय विरोधियोंमें कुन्तककी गणना की जा सकती है। कुन्तकने ध्वनिकी वक्रोक्तिसे अन्तगत ही माना, और प्रतिशोभामुद्यमने उसे अक्षय्योत्स रूष्क मानना अनाशरक सम्भव।

काल्यत्वका अविवास बाष्पायमें या व्यङ्ग्यार्थमें ?

आचार्य ध्रुवने इस प्रसङ्गसे सम्बद्ध एक अत्यन्त महत्वपूर्ण तथा रोचक प्रश्न उठाया है : काल्यत्व बाष्पायमें रहता है या व्यङ्ग्यार्थमें ? अपने हृद्दीर्घ माध्यममें उन्होंने कहा है :

‘बाष्पायके अयोग्य और अनुपपन्न होकर योग्य और उपपन्न अर्थ प्राप्त करनेके लिये कक्षया और व्यङ्ग्यनाका लक्षण दिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि कामकी रमणोत्पत्ति किसमें रहती है ? बाष्पायमें अथवा कक्षयार्थमें या व्यङ्ग्यार्थमें ? इसका स्पष्ट उत्तर यही है : बाष्पायमें, चाहे वह योग्य हो या अयोग्य अथवा अयोग्य और अनुपपन्न।

इसके भाग उन्होंने साक्षेपत हो उदाहरण दिये हैं—

१ “जाकर दाय पक्ष पर क्या ? इतमें भी यही बात है। जो कुछ वैयर्थ्य या सम्बन्ध है वह इस अयोग्य और अनुपपन्न बाधक या उसके बाष्पायमें ही है। इतएव स्थानपर यदि

इसका यह अर्थ है कि 'जीकर पतल क्यों कल मोगे' तो कार्र वैचिन्म वा चमत्कार नहीं रह जायगा ।"

अथवा

२ 'आप अवधि पल सक्के कहीं तो क्या कुछ देर छगाऊँ ।
मैं अपनेको आप मिटाकर जाकर उतको छाऊँ ॥'

इसका बाधार्थ बहुत ही अत्युक्त म्वाहत तथा बुद्धिको सर्वथा अप्राप्त है । उर्मिन्म आप ही मिट जायगी, सब अपने प्रियतम लक्ष्यको बनस श्येगी क्या ? पर सारा सब सारी रमणीयता इसी म्वाहत और बुद्धिको अप्राप्त बाधार्थमें ही है । इस योग्य और बुद्धिप्राप्त म्वाहार्थमें नहीं कि उर्मिन्म को अत्यन्त औत्सुक्य है । इससे स्पष्ट है कि बाधार्थ ही काम्य होता है म्वाहार्थ वा लक्ष्यार्थ नहीं ।

द्वन्द्वीके मुल्लसे यह उक्ति सुनकर साधारणः हिन्दीका विद्यार्थी आश्चर्यचकित हो सकता है । ऐसा कहना है मानो जीवनभर चमत्कारका उग्र विरोध करनेके बाद अन्तमें बाधार्थमें उससे समझौता कर लिया हो ।

रव्यं द्वन्द्वीके ही अपने खेलेसे अनेक ऐसे वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं है जिनमें इसके विपरीत मन्तव्य प्रकृत किया गया है । पण्डित रामदीन मिश्रने उनका इलाका देते हुए, तथा अनेक शास्त्रसम्मत उक्तिओंके द्वारा द्वन्द्वीके अभिमतका निषेध किया है, और अन्तमें इस द्वन्द्वीके मतकी ही स्थापना की है कि काम्यत्व म्वाहार्थमें है—बाधार्थमें नहीं ।

परन्तु द्वन्द्वी द्वारा उठया गया यह प्रश्न इतना सरल नहीं है । वास्तवमें द्वन्द्वीकी प्रतिमाका सबसे बड़ा गुण यही था कि उन्होंने परम शास्त्रनिष्ठ होते हुए भी प्रमाण सदा अपनी बुद्धि और अनुभूतिको ही माना । वे किसी प्राप्ति अथवा पाश्चात् सिद्धान्तको स्वीकार करनेसे पूर्व उसे अपने विवेक और अनुभूतिकी कसौटीपर कसकर देख लेते थे । किसी रसात्मक वाक्यको पढ़कर हमें जो आनन्दानुभूति होती है उसके लिये उस वाक्यका कौन-सा तत्व उत्तरदायी है ? उस वाक्यका बाधार्थ, जिसमें शब्दार्थगत चमत्कार रहता है ? अथवा म्वाहार्थ, जिसमें प्रत्यक्ष वा अत्यन्त रूपसे ग्राह्य रमणीयता रहती है ? उदाहरणके लिये उपयुक्त दोनों उत्तरोंको ही लीजिये । उनसे प्राप्त आनन्दके लिये उनका कौन-सा तत्व उत्तरदायी है ? 'जीकर हाय पतल भरे क्या ?' 'समें 'भरे' शब्दका आसक्ति प्रयोग 'जी कर के हाय बैठकर विरोधामासका चमत्कार उत्पन्न करता है । अतएव अर्थात् इस चमत्कारका सम्बन्ध है उसका अधिवास बाधार्थमें ही है । अतएव उत्पन्न करके इस चमत्कारकी विधि अवलम्ब करती है, परन्तु उसका कारण बाधार्थ ही है, अर्थार्थ के सेनेसे चमत्कार ही नहीं रह जाता । परन्तु यह प्रश्न यह है कि क्या उक्तिका सम्पूर्ण उद्देश्य इस 'भरे' और 'जी कर के उत्पन्न वा अनुत्पन्न अथवा ही आश्रित है ? यदि ऐसा है तो इस उक्तिमें रमणीयता नहीं है क्योंकि वह विरोधामास अपने आपमें कोई सुख या गहरी आनन्दानुभूति उत्पन्न नहीं करता । इसमें जो रमणीयता है [और यह यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिये कि इसमें रमणीयता वास्तवमें पर्याप्त मात्रामें नहीं है] वह प्रेमकी उत्कृष्टता [आसक्ति] पर निर्भर है जो यहाँ अर्थार्थका प्रयोजनरूप म्वाहार्थ है, और जो अन्तमें अथवा बच्चा, बौद्धा आदिके प्रकरणसे उर्मिन्मकी अपनी रतिभ्य व्यपगतकी अभिप्रायति करती है । इस प्रकार यह उक्तिकी वास्तविक रमणीयताका सम्बन्ध रतिभ्य व्यपगता ही है जो म्वाहार्थ है—और स्पष्ट उद्योगोंमें जो उपयुक्त अर्थार्थके प्रयोजनरूप म्वाहार्थ ही म्वाहार्थ है ।

हूरे उदरमें वह लय और भी स्पष्ट हो जायगा क्योंकि इसमें रमणीयता वास्तवमें अधिक है।

आप अवधि यम सङ्घै कहीं तो फया कुछ देर छगाऊँ ।
मैं अपनेको आप मिटाकर जाकर उनको छाऊँ ॥

उत्सिखा और रमणीयक बीच अवधि का व्यवधान है। मिकन्दके लिए इस व्यवधान अर्थात् अवधि का मिटाना आवश्यक है। अवधि साधारणतः तो अपने समयपर ही मिटती, तुरन्त मिटना उसका सम्भव नहीं। उत्सिखा उसके एक उपायकी कल्पना करती है—वह स्वयं यदि अवधि यम प्राय तो उसका अन्त करना उसका अपने अधिकारकी बात ही जाय। अपनेको तो वह तुरन्त मिटा ही सकती है और जब अवधि उसका अपना रूप हो जायगी तो उसके अन्तके साथ अवधि का अन्त भी हो जायगा। इस तरह व्यवधान मित्र ध्वन्या और अरमयधे मिलन हो जायगा। परन्तु जब उत्सिखा ही मित्र जायगी तो फिर मिकन्दमुक्तका मोक्ष कौन होगा अतएव अपनेको मिटानेका अर्थ यहाँ अपने जीवनका अन्त कर लेना न हाकर लक्ष्मणाकी सहायतासे 'बड़े बड़ा कष्ट मोगना वा 'बड़े बड़ा बन्धन ब्रह्मज्ञान करना' आदि ही हो सकता है। परन्तु यह कल्पना ही उत्सिखे को चमत्कार नहीं रह जाता। चमत्कार तो अथकी बाह्य अनुभवप्रदा परन्तु आन्तरिक उपसमात्ताके विरोधाभासमें है। किन्तु क्या उत्सिखी रमणीयता इती चमत्कारतक सीमित है? वास्तवमें बात इतनी नहीं है जैसा कि शुक्लजीने स्वयं किया है इसमें उत्सिखाका 'अत्यन्त औत्सुक्य' स्पष्टित होता है। इस 'अत्यन्त औत्सुक्य'की स्पष्टता ही उत्सिखी रमणीयताका कारण है—यही पाठकके मनका इस 'अत्यन्त औत्सुक्य'के साथ तादात्म्य कर उसमें एक मगुर अनुभूति आगती है। यही उत्सिखी रमणीयता है जो महारयको आनन्द देती है। शुक्लजीका यह एक बड़ा विषय लगता है कि सारी रमणीयता इती स्वारस्य और बुद्धिको असाध्य साम्यायमें है "य योग्य और बुद्धिमात्र स्वहृद्ययमें नहीं कि उत्सिखाका अत्यन्त औत्सुक्य है। इसमें वा बुद्धि ही एक तो उत्सिखाका 'अत्यन्त औत्सुक्य' है यह स्वहृद्यय नहीं रहा—वाप्याय हो गया। औत्सुक्यकी स्पष्टता ही चित्तकी चमत्कृतिका कारण है उसका कथन नहीं। वृत्त जिन अनुभवप्रदापर च इतना रूप दे रहे हैं वह रमणीयताका कारण नहीं है उतका एक साधनमात्र है। उतका यही योग्य है वा उसकी प्रतीतिमें आनन्दारका। उपयुक्त विषयसे देना प्रतीत हाय है मानो विरोध करते-करते अनायास ही किसी बुद्धक धारमें शुक्लजीपर अथके आनन्द पन गया हो। जोनेका यह मत अवश्य है कि उत्सिखा ही काम्य है, और इसके प्रतिपादनमें उनकी बुद्धि यह है कि स्वहृद्यय और वाप्याय साम्यता पारम्यक भगम्भ है—एक प्रतिक्रियाकी केवल एक ही अभिव्यक्ति सम्भव है। जोनेके अनुसार 'आप अवधि यम सङ्घै' आदि उत्सिखा और उत्सिखाके अत्यन्त औत्सुक्य है यह उत्सिखा स्वयं वृत्त है—य वा स्वयं मिकन्द प्रतिक्रियाओंकी अभिव्यक्तिनापै है। अतएव आप अवधि यम सङ्घै आदि का अत्यन्त [काम्यत्व] उसका अना है वा चमत्कार ज्ञान द्वारा अभिव्यक्ति हो सकता है 'उत्सिखाका अत्यन्त औत्सुक्य' है यह एक वृत्त ही बात है

वास्तवमें रमणीयताका अर्थ है हृदयका रमानेकी वाप्यता और हृदयका सम्भव भावने है—यह भावने ही रमणता है क्योंकि उतका सम्भव ध्यायार भावोंके द्वारा ही होता है। अतएव यही उत्सिखा वास्तवमें रमणीय हो सकती है वा हृदयमें बार रम्य भाव उद्बुद्ध करे, और यह तभी हो सकता है जब वह स्वयं ही प्रसारक भावकी वादिका हो। यदि उसमें वह शक्ति नहीं है तो यह बुद्धिको

चमत्कृत कर सकती है जिससे नहीं, और इसमें रमणीय नहीं करी जा सकती। स्वयं शुद्धबोने अत्यन्त सबल शक्तियोंमें इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है और चमत्कार शम्भुकी भाँतिको दूर करनेके लिए ही रमणीयता शब्दके प्रयोगपर जोर दिया है।

निष्कप यह है कि यदि शुद्धबोनेके सिद्धान्त स्वीकार कर लेते तब तो स्थिति बदल जाती है। तब तो भगिना, कस्तुरा, म्यङ्गना, वाक्यार्थ, अस्वभाव, व्यङ्ग्यार्थ आदिका प्रपञ्च ही नहीं रहता है। शार्थक उक्ति केवल एक ही हो सकती है। उसके अर्थको उसके रूपमें करना सम्भव नहीं है। परन्तु यदि वे उसके स्वीकार नहीं करते हैं,—और वे वास्तवमें उसे स्वीकार नहीं करते—तो वाक्यार्थ में रमणीयताका अविनाश नहीं माना जा सकता, व्यङ्ग्यार्थमें ही माना जावेगा—अस्वभावमें भी नहीं क्योंकि वह भी वाक्यार्थकी तरह मध्यममात्र है। रमणीयताका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अत्यन्त अनिवार्यता उसके साथ है और उस कथित नहीं हो सकता स्पष्टित ही हो सकता है। शुद्धबोनेके शब्दोंसे ऐसा मालूम होता है कि वे अस्वभाव और व्यङ्ग्यार्थको अनुपपन्न अर्थको उपपन्न करनेका साधन मानते हैं। परन्तु वास्तवमें स्थिति इसके विपरीत है। वाक्यार्थ स्वयं ही अपने चमत्कारोंके साथ व्यङ्ग्य [रस] का साधन या माध्यम है। मैं उपपन्न विवेचनको शुद्धबोनेका एक हकका-या विद्वान्तरभ्रमण मानता हूँ, यह उनके अपने कारकसिद्धान्तके ही विरुद्ध है।

ध्वनिके मेद

ध्वनिके मुख्य दो मेद हैं—१ कल्पनामूल्य ध्वनि और २ भगिनामूला ध्वनि।

कल्पनामूला ध्वनि—कल्पनामूल्य ध्वनि स्पष्ट कल्पनाके भाँति होती है, इसे अथि व क्षित्वाप्यध्वनि भी कहते हैं। इसमें वाक्यार्थकी शिवदा नहीं रहती, अर्थात् वाक्यार्थ बाँधित रहता है, उसके द्वारा अर्थकी प्रतीत नहीं होती। कल्पनामूल्य ध्वनिके दो मेद हैं—(अ) अर्थान्तरसङ्घटित वाक्य और (आ) अत्यन्तसङ्घटित वाक्य। अर्थान्तरसङ्घटितवाक्यसे अभिप्राय है 'जहाँ वाक्यार्थ दूसरे अर्थमें सङ्घटित हो जाये' अर्थात् जहाँ वाक्यार्थ बाँधित होकर दूसरे अर्थमें परिणत हो जाय। ध्वनिकार ने इसके उदाहरणस्वरूप अपना एक उदाहरण दिया है जिसका स्वप्न हिन्दी-रूपान्तर इस प्रकार है—

तब ही गुन सोमा छई, सहस्य अर्थाई सराहि ।

कमल कमल हैं तयाहि जब रथिकर सौ विकसाहि ॥'

यहाँ कमलकमल अर्थ हो जायगा 'मकरलभी एवं विकसता आदिसे युक्त'—अन्यथा वह निरर्थक ही नहीं बरन् पुनरुक्त्युपेक्षा मांगी भी होगी। इस प्रकार कमलका साधारण अर्थ उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थमें सङ्घटित हो जाता है।

अत्यन्तविरसङ्घटितवाक्य—अत्यन्तविरसङ्घटितवाक्यमें वाक्यार्थ अत्यन्त विरसङ्घटित रहता है—उससे अर्थमात्र छोड़ ही दिया जाय है। वह ध्वनि पदगत और वाक्यगत दोनों ही प्रकारकी होती है। ध्वनिकारने पदगत ध्वनिका उदाहरण दिया है—

रथिसङ्घटित सौभाग्यस्तुपाराशूतमण्डलः ।

निःश्यासाप्य दशादर्शदसम्भ्रमा न प्रकाशते ॥

"छाँस सौ आँचर दर्पण है अस बाँवर भोट छमात है चम्पा ।"

१. वाक्य बाँधित गुणा जला है अथिअथि वैपथि ।
२. निरानुसंधिवाय होथि कमलर कमलर ।

यहाँ अन्य या औपर शब्दका अर्थ नेत्रहीन न होकर रक्षणाकी सहायतासे 'पदापोंको सुन करनेमें अशक्त' होता है। इस प्रकार बाष्पापका सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। इसका व्यङ्ग्यार्थ है "अगाधारण विच्छिन्नस्य, अनुस्योगित्य तथा "ही प्रकारके अन्य धर्म ।"

वाक्यगत ध्वनिका उदाहरण 'ध्वन्यालोक'में यह दिया गया है—

सुघर्णपुष्पां पृथ्वीं धिम्वन्ति पुरुपाश्रयाः ।

शूरक इत्यदिघट्टय यत्न जानाति सेयितुम् ॥

"सुघरन-पुष्पा भूमि काँ सुनत अतुर नर तीन ।

सूर और घिटा निपुन, सेया मँदि प्रधीन ॥"

('काम्यकल्पद्रुम'की सहायतासे)

यहाँ सम्पूर्ण वाक्यका ही मुख्यार्थ सर्वथा असम्भव है क्योंकि न तो पृष्ठी सुक्वपुष्पा होती है और न उसका ध्वन सम्भव है। अतएव रक्षणाकी सहायतासे इसका अर्थ यह होगा कि तीन प्रकारके नरभेद पृष्ठीकी समृद्धिका अङ्गन करते हैं।

इस ध्वनिमें रक्षककक्षणा रहती है।

अध्यात्मला ध्वनि अनिवार्यतः प्रयोजनवती रक्षणाके ही आश्रित रहती है क्योंकि क्वि रक्षणामें ही व्यङ्ग्य होता ही नहीं।

अभिधामूला ध्वनि—जैसा कि नामसे ही स्पष्ट है, यह ध्वनि अभिधापर आश्रित है। इसे विशिष्टान्यपरवाच्य भी कहते हैं। विशिष्टान्यपरवाच्यका अर्थ है : जिसमें बाष्पार्थ विशिष्ट होनेपर भी ध्वन्यपरक अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ हो। अर्थात् यहाँ बाष्पापका अन्ना अस्तित्व अवलंब होता है, परन्तु वह अन्ततः व्यङ्ग्यार्थका माध्यम ही होता है। अभिधामूला ध्वनिके दो भेद हैं : अलंकारधर्म और संस्कारधर्म। अलंकारधर्ममें पूर्वापरका क्रम सम्बन्ध रूपसे सञ्चित नहीं होता, यह क्रम होता अवश्य है और उसका आमास भी निश्चय ही होता है परन्तु पूर्वापर अर्थात् बाष्पार्थ और व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिका अन्तर अल्पस्थालम्ब स्वस्य होनेके कारण 'उत्पन्न-भेदध्वन्या'से स्पष्टता सञ्चित नहीं होता। समस्त रसप्रपञ्च एतक अन्तर्गत आता है। संस्कारधर्ममें यह पूर्वापरधर्म सम्बन्ध रूपसे सञ्चित होता है। कहीं यह शब्द आश्रित होता है, कहीं अर्थके आश्रित और कहीं शब्द और अर्थ दोनोंके आश्रित। इस प्रकार इसका तीन भेद है—

शब्दार्थिक उद्भव, अर्थार्थिक उद्भव और शब्दाथ-उत्पन्नार्थिक-उद्भव। कस्तुध्वनि और अन्तर्द्वारध्वनि संस्कारधर्मके अन्तर्गत ही आती हैं क्योंकि इनमें बाष्पार्थ और व्यङ्ग्यार्थका पूर्वापर क्रम स्पष्ट सञ्चित रहता है।

ध्वनिके मुख्य भेद ये ही हैं। इनके अगान्तर भेदोंकी संख्याका टीक नहीं। मम्मटके अनुसार कुल संख्या १ ८५ तक पहुँचती है : ५१ उद्भव और १ ४ ४ विध। इन्हें पण्डित रामरदिन विभवे '५१' २ का हिमावण दिया है।

ध्वनिकी व्यापकता

उत्पन्न प्रकारमें ही ध्वनिकी व्यापकता सिद्ध हो जाती है। बस भी काम्यका कोई भी ऐसा रूप नहीं है जो ध्वनिक बाहर पड़ता हो। ध्वनिकी व्यापकताका वृत्त प्रमाण यह है कि उत्पत्ती तथा उत्पन्न और प्रपञ्चसे लेकर लक्षण महाकाव्यतक है। पद्यवैयक्तिक, त्रियावैयक्तिक, वचन, सम्बन्ध,

कारक, कृत् प्रत्यय वदित प्रत्यय, समास, उपसर्गनिपाठ, काव आदिसंकेतक षण, पद, वाक्य, मुक्तक पद्य और महाकाव्यतक उसके अधिकारक्षेत्रका विस्तार है। जिस प्रकार एक उपसर्ग या प्रत्यय या पदविभक्तिमात्रसे एक विशिष्ट रमणीय अर्थका ध्वनन होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण महाकाव्यसे भी एक विशिष्ट अर्थका ध्वनन या स्फोट होता है। प्र, परि, कु वा डा आदि जहाँ एक रमणीय अर्थको व्यक्त करते हैं, वहाँ 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे विशालकाय ग्रन्थका भी एक ध्वन्य होना है जिसे आधुनिक शब्दावलीमें सङ्केत मूलाय आदि अनेक नाम दिये गये हैं।

— ध्वनि और रस

भरतने रसकी परिभाषा की है : विभाव, अनुभाव, सञ्चारी आदिके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। रससे स्पष्ट है कि काव्यमें केवल विभाव अनुभाव आदिका ही कथन होता है—उनके संयोगके परिपाकरूप रसका नहीं अर्थात् रस वाच्य नहीं होता। इतना ही नहीं, रसका वाचक शब्दों द्वारा कथन एक रसबोध भी माना जाता है—रस केवल प्रतीत होता है। दूसरे, जैसा कि अमी स्पञ्जनाके विषयमें कहा गया है, किसी उक्तिका वाच्यार्थ रसप्रतीति नहीं करता केवल अर्थबोध करता है। रस सहृदयकी हृदयस्थित वासनाकी आनन्दमय परिणति है जो अप्सोपसे मिन है अतएव उक्ति द्वारा रसका प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दोंमें स्पञ्जना या ध्वनन होता है। इसी उक्तसे ध्वनिकारने उसे केवल रस न मानकर रसध्वनि माना है।

ध्वनिके अनुसार काव्यके भेद

ध्वनिवाहियोंने काव्यके तीन भेद किये हैं—उत्तम मध्यम और अधम। इस बगलमका आधार स्पष्ट ध्वनि अथवा व्यङ्ग्यकी सापेक्षिक प्रधानता है। उत्तम काव्यमें व्यङ्ग्यकी प्रधानता रहती है अर्थात् उसमें वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ प्रधान रहता है उचीको ध्वनि कहा गया है। ध्वनिके भी अर्थात् उत्तम काव्यके भी तीन भेदक्रम हैं : रसध्वनि, अलङ्कारध्वनि और बलध्वनि। इनमें रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। मध्यम काव्यको गुणीभूतत्वरूप भी कहते हैं। इसमें व्यङ्ग्यार्थका अमिश्रण ठा अशुद्ध होता है परन्तु वह वाच्यार्थकी अपेक्षा अधिक रमणीय नहीं होता—वरन् समान रमणीय या कम रमणीय होता है, अर्थात् उसकी प्रधानता नहीं रहती। अधम काव्यक अन्तर्गत चित्र आता है जो वास्तवमें काव्य है भी नहीं। उसमें व्यङ्ग्यार्थका अस्तित्व ही नहीं होता वरन् न अशुद्ध वास्तव ही होता है। ध्वनिकारने उसकी अधमता स्वीकार करते हुए भी काव्यकी कोटिमें उसे स्थान दे दिया है—परन्तु रसका सर्वथा अभाव होनेके कारण अमिश्रण और उनसे बाद विस्मयाने उसको काव्यकी श्रेणीसे पूणतः बहिर्गत कर दिया है। इस प्रकार ध्वनिके अनुसार काव्य का उत्तम रूप है ध्वनि और ध्वनिमें भी सर्वोत्तम है रसध्वनि। पण्डितराज जगन्नाथने इसे उत्तमोत्तम भेद कहा है, अर्थात् रस या रसध्वनि ही काव्यका सर्वोत्तम रूप है। दूसरे शब्दोंमें रस ही काव्यका सर्वश्रेष्ठ तत्व है। शास्त्रीय दृष्टिसे रस और ध्वनिका यही सम्बन्ध एवं तादात्म्य है।

ध्वनिमें अन्य सिद्धान्तोंका समाहार

ध्वनिकार अपने सम्मुख दो उद्देश्य रखकर चले थे : एक ध्वनिसिद्धान्तकी निम्नान्त स्थापना दूसरा अन्य सभी प्रचलित सिद्धान्तोंका ध्वनिमें समाहार। वास्तवमें ध्वनिसिद्धान्तकी सफलताका मुख्य कारण भी यही हुआ। ध्वनिको उन्होंने इतना स्थापक बना दिया कि उसमें न केवल उनक

पूज्यवी रस, गुण, रीति, अलङ्कार आदिका ही समाहार हो जाता था वरन् उनके परकीय कथोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नहीं जा सकते थे। इसकी छिद्रि दो प्रकारसे हुई—एक तो यह कि रसकी मौलि गुण, रीति, अलङ्कार, वक्रता आदि भी स्पष्ट ही करते हैं। वाचक शब्द द्वारा न तो मायुर्न आदि गुणोंका कथन होता है, न वैदमी आदि रीतियोंका, न उपम्य आदिक अलङ्कारोंका और न वक्रताका ही। ये सब ध्वनिस्वयमे ही उपरिष्ठ करते हैं। वृत्ते गुण, रीति, अलङ्कार आदि तत्त्व प्रत्यक्षत अथात् धीमे वाच्यार्थ द्वारा मनको आह्लाद नहीं देते। अतएव वे सब ध्वन्यर्थके सम्बन्धसे, उरीका उपकार करते हुए, अपना अस्तित्व धार्यक करते हैं। इसक अतिरिक्त इन सबका महत्त्व भी अपन प्रत्यक्ष रूपक कारण नहीं है वरन् ध्वन्यर्थके ही कारण है। क्योंकि वहाँ ध्वन्यर्थ नहीं होगा वहाँ वे आत्मविहीन पद्यतत्त्वों अपना आभूषणों आदिके समान ही निरर्थक होंगे। इसीछिये ध्वनिकारने उन्हें ध्वन्यर्थरूप आह्वीके अङ्ग ही माना है। इनमें गुणोंका सम्बन्ध चित्तकी द्रुति, वीरि आदिस है, अतएव वे ध्वन्यर्थके साथ [जो सुखप्रदता रस ही होता है] अन्तरङ्ग रूपसे सम्बद्ध हैं जैसे कि शीपादि आत्माक साथ। रीति अथात् पदसङ्घटनाका सम्बन्ध शब्द-अर्थस है इसीछिये यह काव्यके शरीरसे सम्बद्ध है। परन्तु फिर भी जिस प्रकार कि सुन्दर शरीरसंस्थान मनुष्यक बाह्य व्यक्तित्वकी शोभा बढ़ाता हुआ वास्तवमें उसकी आत्माका ही उपकार करता है इसी प्रकार रीति भी अन्तः काव्यको आत्माका ही उपकार करती है। अलङ्कारोंका सम्बन्ध भी शब्द-अर्थसे ही है। परन्तु रीतिका सम्बन्ध शिष्य है अलङ्कारोंका अस्मिन्—अथात् यह वास्तवक नहीं है कि सभी काव्यशब्दोंमें अनुमास या किसी अन्य शब्दाङ्कारका और सभी प्रकारक काव्याश्वोंमें उपमा वा किसी अन्य अर्थाङ्कारका समन्वय नित्यरूपसे वर्तमान ही हो। अलङ्कारोंकी स्थिति आभूषणोंकी थी है जो अनित्यरूपसे शरीरकी शोभा बढ़ाते हुए अन्तः आत्माक शौन्दर्यमें ही श्रुति करते हैं। क्योंकि शरीरशौन्दर्यकी स्थिति आत्माक बिना सम्भव नहीं है—वाचक छिये सभी आभूषण व्यर्थ शत हैं। [यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ध्वनिकारने अलङ्कारको अत्यन्त संकुचित अर्थमें प्रवृत्त किया है। अलङ्कारको व्यापक रूपमें प्रवृत्त करनेपर, अथात् उसक अन्तगत सभी प्रकारक त्रिक पम्पकारका प्रवृत्त करनेपर बाद उसका नामकरण हुआ था नहीं चाहे वह रूपकाका पम्पकार हो अथवा व्यङ्गनाका, किता कि सुश्रुतन कथोक्तिक विपर्यय किया है, उसका न वा शब्द-अर्थका अन्वित धम निद करना ही सरल है और न अलङ्कार अलङ्कारमें इतना स्पष्ट भेद ही किया जा सकता है।]

ध्वनि और पादचात्य साहित्यशास्त्र

मकते परम मनाविगानकी दृष्टिसे ध्वनिक आधार और स्वरूपपर विचार कीजिये। मनाविगान के अनुसार कविता यह लाभन है जिनक द्वारा कवि अपनी रगात्मक अनुभूतिका सद्दत्तक प्रति संवेद्य बनाता है। संवेद्य बनानेका अर्थ यह है कि उसको इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सद्दत्तक को पश्य उसका अर्थरूप ही नहीं होता वरन् उसक हृदयमें समान रगात्मक अनुभूतिका संचार भी हो जाता है। इस रीतिसे कवि सद्दत्तकका अपने हृदयपरक वाच न करार संवेदन करता है। इसका कारण यह हुआ कि सद्दत्तककी दृष्टि रस संवेद्य है शेषन अथात् वाच्य नहीं। यह निद ही जानेक बाद भव प्रमन उठता है कि कवि अपने हृदयपरक सद्दत्तक छिये संवेद्य किस प्रकार बनाता है? इसका उत्तर है : मायके द्वारा। परन्तु उस मायाका ताकारण प्रयोग न कर [क्योंकि रस रस कुक है कि ताकारण प्रयोग तो वचन अर्थरूप ही करता है] विशेष प्रयोग करना पड़ता है अथात् शब्दोंका ताकारण वाच्यरूपमें प्रयुक्त न कर विशेष 'विपर्यय'में प्रयुक्त करना पड़ता है।

वित्ररूपसे तात्पर्य यह है कि वे श्रोताके मनमें माकनाका जो चित्र जगामे वह धीरे धीरे और भूमिस्त-न होकर पुष्ट और मास्वर हा और यह कार्य कविकी कल्पनाशक्तिकी अपेक्षा करता है क्योंकि कवि कल्पनाकी सहायताके बिना सद्ब्रह्मकी कल्पनामें वह चित्र साकार कैसे होगा ! उसके लिए कविको निरन्तर ही अपने शब्दोंको कल्पनागर्भित करना पड़ेगा । दूसरे शब्दोंमें हम यह कह सकते हैं कि यह 'विशेष प्रयोग' मायाका कल्पनात्मक प्रयोग है । अपनी कल्पनाशक्तिका नियोजन करके कवि माया शब्दोंको एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उन्हें सुनकर सद्ब्रह्मका कल्पक अर्थगोचर ही नहीं होकर बल्कि उसके मनमें एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है जो परिवर्तित अवस्थामें पहुँचकर स्वसंबेदनम विशेषतया तहावक होती है । शब्दकी इस अतिरिक्त कल्पना जमानेवाली शक्तिको ही प्वनिकारने 'प्यञ्जना' और उसके इस संघेच रूपको ही 'रसप्वनि' कहा है । प्वनित्वापनाके द्वारा वास्तवमें प्वनिकारने काममें कल्पनात्मकके महत्वकी ही प्रतिष्ठा की है ।

पारस्वात्य शास्त्रिणाश्रममें प्वनिका लीला विवेचन हुँदना तो असंभव होगा क्योंकि पश्चिमकी अपनी पूरक लीकनदृष्टि एवं संतुष्टि और उसके अनुसार शास्त्रिणा कला, दर्शन, विज्ञान आदिके प्रति अपना दृष्टिकोण रहा है । परन्तु मानवजीवनकी मूलभूत एकताके कारण कित्त प्रकार जीवनके अन्तर्गामीक शक्तियोंमें अनेक प्रकारकी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष समानताएँ मिलती हैं, इसी प्रकार शास्त्रिणा और कलाक क्षेत्रमें भी मूल रूप अत्यन्त मिला नहीं हैं ।

जैसा कि उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है, प्वनिका सिद्धान्त मूलतः कल्पनाकी महत्वस्वीकृति ही है और कल्पनाका प्रमुख पश्चिमी कामशास्त्रमें आरम्भ ही रहा है । पश्चिमके आशाचार्य प्लेटो हैं उन्होंने आत्मावस्था विभिन्न काममें उसके आधारकी प्रतिष्ठा की । परन्तु वे विज्ञानके सत्य और काम्यके सत्यका अन्तर स्पष्ट नहीं कर सके—उन्होंने बुद्धिके [दर्शनके] सत्य और कल्पनाक सत्यको एक मानते हुए काम्य और कविके साथ ही व्यवहार किया । प्लेटोने काम्यका अनुकूलि माना—वह मौलिक पदार्थों वा घटनाओंका अनुकरण करता है और मौलिक पदार्थ एवं घटनाएँ आध्यात्मिक (ideal) पदार्थों और घटनाओंकी प्रतिरूपित्यार्थ हैं । और क्योंकि वास्तविक सत्य आध्यात्मिक घटनाएँ ही हैं, अतएव कविकी रचना सत्यकी मौलिक प्रतिरूपित्यकी प्रतिरूपित है । और प्रतिरूपित्यरूपमें भी वह सत्य ही नहीं है, क्योंकि उसमें अनेक विरूपित्य हैं । अतएव निष्कर्ष यह निकला कि काम्य सत्यते मूल है । एक तो वह सत्यकी प्रतिरूपित्यकी प्रतिरूपित है और उसपर भी विरूपित है । भारतीय काम्यशास्त्रकी सम्प्रादायोंमें उन्होंने वास्तविक ही काम्यमें मुख्य मान लिया, व्यवहार्यकी प्रतीति वे नहीं कर सके । और, इसीलिए वे काम्यकी आत्माका श्लोक नहीं कर पाए । दार्शनिक पराशरकर प्लेटोके उपर्युक्त सिद्धान्तमें बहुत-बहुत भारतीय दर्शनके आत्मव्यक्तिवाद और प्यञ्जनाक स्पष्टबोधका आत्माव मिला है जिनसे भारतीय आचार्योंको प्वनित्विज्ञानकी प्रेरणा मिली थी । यह एक विविध संयोग है कि इनकी दार्शनिक अनुभूति शान्तेर भी प्लेटो काम्यका सत्य समझनेमें अथमयं रहे ।

प्लेटोकी बुद्धिका समाधान भरलून किया । उन्होंने भी प्लेटोकी मूर्ति काम्यको अनुकूलि ही माना । परन्तु उन्होंने अनुकूलिका अर्थ प्रतिरूपित न करते हुए पुनर्निर्माण अथवा पुनः सृजन किया । प्लेटोकी धारणा थी कि काम्य बलुकी विपरीत प्रतिरूपित है, परन्तु भरलूने उस बलुका कल्पनात्मक पुनर्निर्माण अथवा पुनःसृजन माना । कवि कथन नहीं करता प्रस्तुत करता है और श्रोता या पाठक उपर्युक्त बलुके प्रपञ्चरूपको ग्रहण नहीं करता, बल्कि कविमानवजात रूपको ही ग्रहण करता है श्रवणशक्तिके शब्दोंमें वह कविकी बुद्धिका अर्थ ग्रहण नहीं करता, किन्तु ग्रहण करता

१। इस प्रकार भरलूने ज्वनि वा व्यङ्ग्य आदि शब्दोंका प्रयोग न करते हुए भी काव्यार्थको वाच्य मानकर व्यङ्ग्य ही माना है। उनकी 'मिमेसिस'—अनुकरणकी व्याख्यामें "वस्तुके कल्पनात्मक पुनःसूचन"का अर्थ विमिश्र अनुभाव, आदिके द्वारा [बलसे उद्युक्त] भावकी व्यञ्जना ही है। इस प्रकार भरलूके सिद्धान्तमें प्रकारान्तरसे ज्वनिकी स्वीकृति असन्दिग्ध है।

भरलूके उपरान्त यूनान, रोम तथा मध्य यूरोपके आलोचकोंने काव्यके स्वरूप और उपायोंका विवेचन किया। इन आलोचकोंमेंसे प्रायः एक बात ही समीको स्पष्ट थी कि काव्यमें शब्द अपने साधारण—कोष्ठ और व्यवहारगत—अर्थके अतिरिक्त असाधारण अथवा विशेष अर्थको व्यक्त करते हैं। इस तत्त्वको अनेक प्राचीन आचार्योंने स्पष्ट-स्थानपर व्यक्त किया है। रोमन आलोचक क्वि होरेसने शब्दोंके प्रयोगपर प्रकाश डालते हुए एक स्थानपर लिखा है, 'कविको अपने शब्दोंके संगुणनमें अत्यन्त सावधानी और सूक्ष्म कांशरुते काम लेना चाहिये। 'यदि आप किसी विरहप्रसङ्गको उद्गायना कर किसी प्राचीन शब्दको नवीन अर्थ दे सकें, तो आप पूर्णतः लज्ज होंगे।' प्रसङ्गके द्वारा साधारण [प्राचीन] शब्दमें विशेष [नवीन] अर्थका उद्गायन ज्वनिवाकियोंकी अत्यन्त परिचित मुक्ति है। इसी प्रकार किन्ट्रियनने वाणीमें चमत्कार स्वयंके स्थिर कल्पका गोपन आवश्यक माना है। वे कलाका मूल रहस्य यह मानते हैं कि वह "अपने कर्ताके अतिरिक्त और समीके लिए अस्मत् रहे।" कल्पके अत्यन्त रूपकी यह व्यापना भी ज्वनिकी प्रकारान्तरमें स्वीकृति है।

यूनान और रोमके साहित्यिक ऐश्वर्यके अनन्तर यूरोपमें अभ्यन्तरीय युग आया जो ज्ञान विज्ञान और कला-साहित्यके चरम द्वारा युग था। इस अभ्यन्तरीय युग ही उच्चतम नक्षत्र है और वह है दिति। दितिनै विपय और भाषा दोनोंकी गरिमापर बल दिया। भाषाके विपयमें उन्होंने प्राथमिक शब्दोंको बचाने और औत्सुक्यसम्पन्नी मानुभाषाके प्रयोगका समर्पण किया है। उन्होंने शब्दोंके विपयमें विस्तारसे लिखा है। उदात्त दीर्घीक स्थिर उन्होंने औच्चारनसकी मूर्ति उदात्त शब्दोंके प्रयोगको अनिवार्य माना है। शब्दोंको उन्होंने अनेक वर्गोंमें विभक्त किया है—कुछ शब्द बच्चीकी तरह (childish) हुनुवाते हैं—वे अत्यन्त सरल-सामान्य निम्न प्रतिक हल्क-फुल्के शब्द होते हैं। कुछ शब्दोंमें शक्तिका अमिश्र और केवल स्त्रियो जैसी (womanish) स्वेच-सचकमात्र होती है उनका विरहित कुछ शब्दोंमें वीर्य होता है। इस वीर्य वर्गमें भी दो प्रकारके शब्द होते हैं—प्राथमिक और नागरिक नागरिक शब्दोंमें भी कुछ मसृज (combed) और चिक्कण (slippery) होते हैं और कुछ मूठ (shaggy) और अनगद (rumpled) हैं। इनमें चिक्कण और अनगदमें चमत्कार प्रभावमात्र हाता है। उदात्त दीर्घीक अथवा केवल मसृज और मूठ शब्द ही हैं। शब्दोंमें इन प्रकारके गुणोंकी कल्पना अश्विनिक्य शब्दोंमें उनकी व्यञ्जकताकी स्वीकृति है—व्यञ्जनाशक्तिका स्वीकार किये बिना शब्दोंको उपयुक्त विशेषताओं और वर्गोंकी उद्गायना सम्भव ही नहीं हो सकती।

अभ्यन्तरीययुगके अनन्तर यूरोपमें पुनःसागर्य कालका आरम्भ हुआ। यह काव्य और कलाके स्थिर मध्ययुगीन चमत्कारों की मुक्तिका युग था। इस युगके काव्य आर साहित्यमें जहाँ जीवनके निकटतम और उनकी पूर्णताकी अभिव्यक्ति मिलती है वहाँ काव्यशास्त्रमें प्रायः प्राचीन आदर्शोंकी ही व्यापना है। परन्तु धीरे धीरे नवीन जीवन आदत्त उसमें भी प्रतिबलित होना लग आर सर विविध विद्वानोंका स्वीकार करना पना कि ज्ञान और प्रसादनके अतिरिक्त काव्यका एक और महत्तर प्रसादन है आम्बोलित करना। इसका नाम ही प्राचीन काव्यकला में शब्दोंमें ही परिवर्तन होना था—गरिमा और निपटारा स्थानपर कल्पना और मूठ भाषाधारका महत्त्व बढ़ने लगा। जैसा

कि मैंने आरम्भमें ही कहा है कल्पनाका व्यञ्जनासे अनिवार्य सम्बन्ध है, और वह बात निरङ्कुल स्पष्ट है। कल्पनाका कार्य है मूर्ति-विधान या चित्र-विधान और कवि अपने मनकी इन मूर्तियों या चित्रों को पाठकके मनतक प्रेषित करनेके लिए निरर्गल चित्रभाषाका ही प्रयोग करता है। चित्रभाषाका कलेवर साहित्यिक तथा प्रतीकात्मक शब्दोंसे बनता है और ये दोनों व्यञ्जनाकी विभूतियाँ हैं। अठारहवीं शताब्दीमें ड्राइडनने अपनी स्वच्छ-प्रकार दृष्टिसे इस रहस्यका निर्गन्त रूपसे उद्घाटन कर दिया था : "कविके लिए विवेक आवश्यक है, परन्तु कल्पना [अर्थात् मूर्तिविधायिनी शक्ति] ही उसकी कविताको जीवन-रस और अत्यन्त कवियों प्रदान करती है।" कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ये अत्यन्त कवियों व्यञ्जनाकी ही कवियों हैं। पोपके 'एसे आन क्रिटिसिस्म'में कुछ पंक्तियाँ हैं किनाका आनन्दवचनके प्थनिययक श्लोकके साथ विचित्र साम्य है—

In wit, as nature, what affects our hearts
Is not the exactness of peculiar parts
It is not a lip or eye, we beauty call
But the joint force and full result of all

अर्थात् प्रकृतिकी मूर्ति काश्यमें भी अंगोंका समुचित अनुक्रम एवं अनुपात हमारे मनका अनुखन नहीं करता। नारीके धरीरमें अक्षर अथवा नेत्रको हम सौन्दर्य नहीं करते परन्तु सभी अंगोंके संयुक्त और सम्पूर्ण प्रभावका नाम ही सौन्दर्य है। दुखना कीजिये :

प्रतीयमानं पुनरल्पवेक्ष घस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत्तत्प्रसिद्धाययथातिरिक्तं विभाति छावण्यमिषाङ्गनासु ॥

अर्थात् महाकवियोंकी वाणीमें प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है ज्ये किन्हींमें उनके प्रसिद्ध [अक्षर नेत्र आदि] अवयवोंसे अतिरिक्त स्वभावके समान घोषित होता है—अथवा जो अङ्गधारिक काव्य-अवयवोंसे भिन्न उसी प्रकार घोषित होता है भिन्न प्रकार किन्हींमें प्रसिद्ध [नेत्रादि] अवयवोंसे भिन्न स्वभाव ।

उपयुक्त उद्धरणोंका मूल भाव तो स्पष्ट एक ही है, केवल अवधानका अन्तर है। आनन्द वर्धनने काव्य शब्दके द्वारा इस सौन्दर्यकी व्यक्तता अथवा अव्यक्ततापर बोधा अधिक बल दिया है। पोपने इसको रचना स्पष्ट नहीं किया परन्तु वह उनकी अपनी परिचीमा थी। सौन्दर्यकी इस अनिश्चयनीयताका पूज उत्कर्ष रोमानी युगमें हुआ। अर्मेनीके १८ १९ वीं शताब्दीके दाद्यनिकोंने और इतर इर्मैडेमे ब्लेक, बहंसवर्च रोषी आदिने काव्यमें देसी प्रेरणा और कल्पनाके रहस्य शब्दोंका मुक्त हृदयसे गुञ्जान किया है। वास्तवमें रोमानी काव्य मूलतः प्थनिकाव्य ही है। उसकी सौन्दर्य-चिन्तनामें रहस्य-भावनाका अनिवार्य बोग है और इस रहस्य भावनाकी अभिव्यक्तिके लिए यथाकी साहित्यिकता [व्यञ्जना]की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है। बर्दस्वर्चके लिए सामान्य वस्तुओंमें आध्यात्मिक अवकी प्रतीति करना काव्यानुमूर्तिकी गरम साधकता थी; ब्लेक और रोषीके लिए मी, प्रकाशान्तरसे, सामान्यमें असामान्यकी प्रतीति ही काव्यसर्वस्व थी। रोमानी कवि आल्फोन्सोने कवितामें जिस 'रहस्यमय अनिर्बचनीय वस्तु' (Mysterious Something) को काव्यसर्वस्व माना वह आनन्दवचनके 'प्रतीयमानं पुनरल्पवेक्ष वस्तु'से भिन्न नहीं है।

षीसवीं शताब्दीमें यूरोपमें आन्वेषनाधारपर मनोविज्ञानका आक्रमण हुआ। इटलीके दाद्यनिक श्रेनेने अभिव्यञ्जनाधारका प्रकटन किया और इतर अर्मेनीसे प्रतीकवादका उद्भव हुआ।

श्रोत्रेके अनुसार कस्य सहजानुभूति है और सहजानुभूति अनिर्वाच्यतः अभिव्यञ्जना है—अतएव काव्य मूलतः अभिव्यञ्जना है। श्रोत्रेके अभिव्यञ्जनाको असम्बद्धरूपिणी मानते हैं—अभिव्यञ्जनाका एक ही रूप होता है; उसमें अभिधा, व्यञ्जना, व्यञ्जना अथवा वाच्य और व्यङ्ग्यका भेद नहीं होता। परन्तु फिर भी श्रोत्रेकी सहजानुभूति कल्पनाकी क्रिया है। श्रोत्रेके ही अनुसार वह चेतनाकी अरूप शब्दरूपिणीका एक सम्मिश्रित चित्ररूप होती है। स्पष्ट ही यह चित्ररूप सहजानुभूति कथित नहीं हो सकती, प्पनिता ही हो सकती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि श्रोत्रेके लिए वाच्य-व्यङ्ग्यका भेद तो सर्वथा अनवकाश है, परन्तु उन्होंने व्यङ्ग्यका कहीं निषेध नहीं किया। उन्होंने अभिव्यञ्जनाको असम्बद्ध और एकरूप माना है उसके प्रकार और अवयव भेद नहीं माने वह ठीक है। परन्तु चित्ररूप सहजानुभूति की वह अभिव्यञ्जना कथनरूप तो हो नहीं सकती, होगी तो वह प्पनिरूप ही। श्रोत्रेके लिए सिद्धान्तरूपमें प्पनि अभाषाशुद्धि भी—परन्तु व्यवहाररूपमें तो वे भी इसको बचा नहीं सके। वास्तवमें श्रोत्रेके आत्मबारी दार्शनिक थे। उन्होंने अभिव्यञ्जनाका आत्मबारी किनाके रूपमें विवेचन किया है उसके मूल शब्द अर्थरूपमें उन्हें अमिथि नहीं थी। परन्तु श्रोत्रेके बाद उनका अनुगामियों अभिव्यञ्जनाके स्पष्ट रूपको अधिक ग्रहण किया है और अभिव्यञ्जनाके चमत्कारको ही कलाका चार-तत्व माना है। स्वभाव ही इन लोगोंका प्पनिसे निकटतर सम्बन्ध है। प्रतिक्रियावाद तो स्वीकृत रूपसे प्रतीकात्मक तथा सांकेतिक अभिव्यञ्जिके ही आश्रित है। उसकी तो सम्पूर्ण क्रिया प्रक्रिया प्पनि [सांकेतिक अर्थ]को लेकर ही होती है।

इस शताब्दीके काव्य और कला सम्बन्धी विचारोंपर काव्यका गहरा प्रभाव है परन्तु काव्यके कलाके मूल दर्शनका ही विवेचन किया है—उसकी मूल अभिव्यञ्जिके लिए उन्होंने चिन्ता नहीं की। वे काव्य और कलाको स्वप्नका सगोत्री मानते हुए उसे मूलतः स्वप्नचित्र (Phantasy) रूप मानते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि वे स्वप्नचित्र भी अनिर्वाच्यतः व्यङ्ग्यके ही आश्रयसे स्पष्ट हो सकते हैं। कवि अपने मनका कुच्छाब्द स्वप्नचित्रकी स्पष्ट व्यञ्जना ही कर सकता है, कथन नहीं। श्रोत्रे और काव्यका उल्लेख मीने केवल इसलिये किया है कि आधुनिक कला-विचयन पर इनका गहरा और शाश्वत प्रभाव है तथा किसी भी काव्य-सिद्धान्तकी समीक्षामें इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वेसे इनका सीधे सम्बन्ध प्रस्तुत विवरणसे नहीं है [बचपि इनके सिद्धान्तोंमें प्पनिकी अवलोकन स्वीकृत सर्वथा असम्भव है]। इनकी अपेक्षा या प्रेरणसे जैसे कलाकारी (Aesthetes) तथा भी गीह जैसे अतिवस्तुकारी (Surrealist) आत्यन्तिकोंका प्पनिसिद्धान्तसे अधिक कत्रु सम्भव है। कलाकारोंका 'कलात्मक अनुभवकी अनिर्वाचनीयता'का सिद्धान्त भी आनन्दबर्धनके "प्रतीयमान पुरन्दर"का ही रूपांतर है। प्रायःके अतिवस्तुकारी और उनके अंग्रेज प्रवक्तृ भी गीह और उभर सिगाने जैसे प्रभावकारी (Impressionists) से व्यङ्ग्यके ही नहीं, गूढ़ व्यङ्ग्यके भी समर्थक हैं। प्रभावकारी या एक शब्दसे केवल एक अर्थका ही नहीं, सारे प्रकृतकी व्यञ्जनाका कुच्छर काव्य भेदे हैं। दर्शनसे सिगानेकी कविताका एकजमी-नृत विच्छेदण [चिन्तामार्ग भाग २]।

उपरोक्त प्रायः सभी काव्यसिद्धान्तोंमें अतिवाद है। इन्मेंके प्रेषणी आत्मबारी विवरणन मनोविज्ञानकी वैज्ञानिक कमीटीपर कवचक इन लक्षों गोया उद्योग और काव्यानुभूतिकी वैज्ञानिक विवरणना प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया। उन्होंने 'अज्ञ प्रिगिपियल आर निर्येरी रिस्टिसन' [काव्या भोजनक सिद्धान्त] और 'मीनिग आर मीनिग' [अर्थका अर्थ] नामक प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें शब्दोंकी स्पष्टक शक्ति और कविताकी प्पन्तामकताके विवरणमें कई स्थानोंपर बहुमूल्य विचार प्रकट किये

हैं। काव्यानुभूतिकी प्रक्रियामें ये छ सस्त्रान मानते हैं—^१ शब्दको पढ़कर या सुनकर उत्पन्न होने वाले दृष्टिगोचर संवेदन अथवा कल्पगोचर संवेदन, २ सम्बद्ध मूर्तिविधान, ३ स्वतंत्र मूर्तिविधान, ४ विचार, ५ भाव और ६ रागात्मक दृष्टिकोण।

काव्यको पढ़कर या सुनकर पहले तो सबथा मौखिक, दृष्टिगोचर या कल्पगोचर संवेदन उत्पन्न होते हैं उनके बाद उनसे सम्बद्ध वाक्चित्र (Verbal images) उत्पन्न हो जाते हैं, फिर यह प्रक्रिया और आगे बढ़ती है और एक स्वतंत्र चित्रबाल मनकी ओलोंके सम्मुख बना आता है। तदनन्तर उनसे सम्बद्ध विचार और फिर भाव और अन्तमें इस क्रियाके परस्पररूप विशेष रागात्मक दृष्टिकोण बन जाता है। जैसा कि स्वयं रिचर्ड्सने ही स्पष्ट किया है, इनमेंसे २ अथवा वाक्चित्रोंका सम्बन्ध शब्दसे है और ३ का शब्दके अर्थसे।^१ कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस विस्तरेष्वन्य ध्वनि सिद्धान्तका स्पष्ट आभास है। २ में रिचर्ड्स प्रकाशितरते बगलनिधी जना कर रहे हैं और ३ और उसके आगे ४, ५, ६ में शब्द और कार्यजनिधी (of things words stand for)। आगे बढ़कर भाषाके विवेचनमें उन्होंने अपना मन्तव्य और स्पष्ट किया है। भाषाके ये दो प्रयोग मानत हैं : एक वैज्ञानिक (Scientific) प्रयोग, दूसरा रागात्मक (Emotive) प्रयोग। वैज्ञानिक प्रयोग किसी बस्तुका ज्ञानमर कथ देनेके लिए किया जाता है रागात्मक प्रयोग भाव बगानके लिए किया जाता है। दृष्टकधीके शब्दोंमें पहलेसे अर्थका प्रश्न होता है दूसरेसे विभक्त।—भाषीय काव्यशास्त्री धन्दाबुद्धीमें, पहले प्रयोगका आधार शब्दकी अमिषाशक्ति है, और दूसरेका आधार व्यञ्जना अथवा कल्पना-आमिष व्यञ्जना।

अन्ततः मैंने जिन पश्चिमीय भाषायोंका उल्लेख किया है उनमेंसे प्रायः अधिकांशमें प्रकाशितरते ही ध्वनिसिद्धान्तकी स्वीकृति मिली है। अब अन्तमें मैं एक ऐसे पश्चिमीय आलोचकका उद्धरण देकर इस प्रश्नको समाप्त करता हूँ जिन्होंने काव्यमें ध्वनिसिद्धान्तका टीका प्रतिपादन किया है। वे हैं अंग्रेजीके कवि-आलोचक एवरस्ट्रेमी। उनका मत है, "साहित्यका काम है अनुभूतिका प्रेषण—परन्तु अनुभूति भाषामें तो घटित होती नहीं। [अतएव] कविकी अनुभूति दस प्रकारकी प्रतीक भाषामें अनुदित होनी चाहिये जिसका सहजदम फिर अपनी अनुभूतिमें अनुवाद कर सकें—दोनों अवस्थाओंमें ही अनुभूति भाषित हो होगी ही।

"इस प्रकार, अनुभूति जैसी अत्यन्त तरल [परिवर्तनीय] बस्तुका अनुवाद भाषामें करना पड़ता है जिसकी शक्ति स्वभावसे ही अत्यन्त सीमित है। अतएव काव्यकला सदा ही किसी न-किसी अंशमें ध्वनिकय होती है और काव्यकल्पका परम उत्कर्ष है भाषाकी इस व्यञ्जनाशक्तिको अधिकतरे अधिक व्यापक, प्रभावपूर्ण प्रसन्न स्पष्ट तथा सूत्र बनाना। यह व्यञ्जनाशक्ति भाषाकी साधारण अमिषाशक्ति [अमिषा] शक्तिकी उदात्तक होती है।

"भाषाकी इसी शक्तिका परिहान कविको सामान्य व्यक्तितरे पृथक् करता है। इसी व्यञ्जना शक्तिके प्रति संवेदनशीलता सहजदमकी परधान है। [अतएव] कव्यामें प्रेरक और माध्यामें प्रेरक समरे कथमान बरी यह विशेष गुण है जिसे कि काव्यकी आत्मा मानना चाहिये।"

उपयुक्त उद्धरणपर प्रकाश दाखनेकी आवश्यकता नहीं। इसे पढ़कर ऐसा लगता है मानते प्रो एवरस्ट्रेमी भारतीय ध्वनिसिद्धान्तका अंग्रेजीमें स्थापन कर रहे हैं।

परन्तु काव्यशास्त्रके अङ्गुलिनिधानमें ध्वनिकी स्वीकृति और भी प्रसन्न है। हमारे यहाँ

^१ They differ from those to which we are now proceeding (1 e 3) in being images of words not of things words stand for

श्रोत्रेके अनुसारा काव्य सृजानुमृति है और सृजानुमृति अनिवायत अमिम्यजना है—अथवा काव्य मूलतः अमिम्यजना है। श्रोत्रेके अमिम्यजनाको अलङ्काररूपी मानते हैं—अमिम्यजनाका एक ही रूप होता है उसमें अविधा, कल्पना, म्यजना अथवा वाच्य और म्यज्यपका भेद नहीं होता। परन्तु त्रि भी श्रोत्रेकी सृजानुमृति कल्पनाकी क्रिया है। श्रोत्रेके ही अनुसारा वह चतुर्नाकी अरूप सत्सृष्टियोंका एक समन्वित विम्बरूप होती है। स्पष्ट ही यह विम्बरूप सृजानुमृति कथित नहीं हो सकती, अनिध ही हो सकती है। करनेका अमिप्राय यह है कि श्रोत्रेके लिए वाच्य-म्यज्यपका भेद तो सवया अनयक है, परन्तु उन्होंने म्यज्यपका कहीं निवेश नहीं किया। उन्होंने अमिम्यजनाको अलङ्कार और एक रूप माना है उसके प्रकार और अवयव में नहीं माने यह ठीक है। परन्तु विम्बरूप सृजानुमृति की यह अमिम्यजना कथनरूप तो हो नहीं सकती होगी तो वह अनिरूप ही। श्रोत्रेके लिए सिद्धान्तरूपमें अनि अप्रासङ्गिक थे—परन्तु म्यज्यशररूपमें तो वे भी इसको बधा नहीं सके। वास्तवमें श्रोत्रे आत्मवादी दार्शनिक थे। उन्होंने अमिम्यजनाका आत्म्यकी क्रियाके रूपमें विवेचन किया है, उसके मूल शब्द अयरूपमें उन्हें अमिसृति नहीं थी। परन्तु श्रोत्रक बाद उनका अनुगामिपोंने अमिम्यजनाक स्वरूप रूपको अधिक प्रहण किया है और अमिम्यजनाक चमत्कारको ही कलाका सार-तत्व माना है। न्यायवत् ही इन श्रोत्रेका अनिसे निकटतर सम्बन्ध है। प्रतिक्रियावाद को स्वीकृत रूपसे प्रतीकारमक तथा साङ्केतिक अमिम्यकिके ही आभित है। उसकी तो सम्युच क्रिया-प्रक्रिया अनि [साङ्केतिक अर्थ]को लेकर ही होती है।

इस शताब्दीके काव्य और कला सम्बन्धी विचारोंपर म्यज्यपका गहरा प्रभाव है परन्तु म्यज्यपके कलाके मूल प्रधानका ही विवेचन किया है—उसकी मूल अमिम्यकिके लिए उन्होंने चिन्ता नहीं की। वे काव्य और कलाको स्वप्नका सयोत्री मानते हुए उसे मूलतः स्वप्नचित्र (Phantasy) रूप मानते हैं। करनेकी आवश्यकता नहीं कि ये स्वप्नचित्र भी अनिवायत वाच्यके ही आश्रयसे अस्त हो सकते हैं। कवि अपने मनके कुच्छाक्य स्वप्नचित्रकी स्पष्ट म्यजना ही कर सकता है कथन नहीं। श्रोत्रे और म्यज्यपका उन्मेष में केवल इसलिए किया है कि आधुनिक कला-विवेचन-पर इनका गहरा और सारगम्य प्रभाव है तथा किसी भी काव्य-सिद्धान्तकी समीक्षामें इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। जैसे इनका सीधा सम्बन्ध प्रलुत विषयसे नहीं है [यद्यपि इनका सिद्धान्तोंमें अनिकी व्यपस्य सवीकृति सर्वथा असम्भिय है]। इनकी उपेक्षा या श्रेष्ठसे जैसे कलावादी (Aesthetes) तथा भी रीठ जैसे अतिवस्तुवादी (Surrealist) आश्वेचकोंका अनिसिद्धान्तसे अधिक कत्रु सम्बन्ध है। कथ्यवादियोंका “कलात्मक अनुभवकी अनिबचनीयता”का सिद्धान्त भी आनन्दबर्नके “प्रतीयमान पुरस्करेव”का ही समान्तर है। प्रलुते अतिवस्तुवादी और उनके अनेक प्रवक्ता भी रीठ और उपर सिग्गनै जैसे प्रभाववादी (Impressionists) तो म्यज्यपके ही नहीं गुरु म्यज्यपक भी समर्थक हैं। प्रभाववादी या एक शब्दसे कथन एक समयका ही नहीं, सारे प्रकृतकी म्यजनाका बुद्धर काय सेते हैं। देखिये सिग्गनैकी कविताका शुक्लनी-हठ किष्केरव [चिन्तामणि भाग २]।

उपर्युक्त प्रायः सभी काव्यसिद्धान्तोंमें अतिवाद है। रम्येके मेषानी आश्वेचक रिचर्डसन मनोविज्ञानकी वैज्ञानिक कथोटीपर कसकर इन सवको सोटा टहरया और काव्यानुमृतिकी वैज्ञानिक विवेचना प्रलुत करनेका प्रयत्न किया। उन्होंने ‘अपने प्रिसिप्लिस आण्ड क्विटररी प्रिंटिसिगम’ [काव्या श्रोत्रके सिद्धान्त] और ‘मीनिस आण्ड मीनिंग’ [अपका अर्थ] नामक प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें शब्दोंकी म्यज्यक शक्ति और कविताकी प्वात्म्यकताके विषयमें कर रथानोंपर बहुमूल्य विचार प्रकट किये

हैं। काम्बानुभूतिकी प्रक्रियामें वे छ छस्सान मानते हैं—१ शब्दको पढ़कर वा सुनकर उत्पन्न होन-
वाले दृष्टिगोचर संवेदन अपना कर्णगोचर संवेदन, २ सम्बद्ध मूर्तिविधान, ३ स्वतंत्र मूर्तिविधान
४ विचार, ५ भाव और ६ रागात्मक दृष्टिकोष।

काम्बको पढ़कर वा सुनकर पढ़ते तो सचचा मौक्तिक, दृष्टिगोचर वा कर्णगोचर संवेदन उत्पन्न
होते हैं, उनके बाद उनके सम्बद्ध वाच्यविचित्र (Verbal images) उत्पन्न हो जाते हैं फिर
यह प्रक्रिया और आगे बढ़ती है और एक स्वतंत्र चित्रवाचक मनकी भाँतियों सम्मुख अग आता है।
उदन्तर उनसे सम्बद्ध विचार और फिर भाव और अन्तमें इस क्रियाके पुरुस्वरूप विशेष रागात्मक
दृष्टिकोष बन जाता है। जैसा कि स्वर्ण रिचर्ड्सने ही स्पष्ट किया है इनमें २ अलग वाच्यविचित्रोंका
सम्बन्ध शब्दसे है और १ का शब्दके अर्थसे। कहनकी आवश्यकता नहीं कि इत विस्फेयम ध्वनि
विज्ञानका सय आभास है। १ में रिचर्डस प्रकारगतरसे वाच्यविचित्रकी लपका कर रहे हैं और २ और
उसके आगे ४, ५, ६ में शब्द और अण्वणिकी (of things words stand for)। आगे
बाककर मायाक विवेचनमें उन्होंने अपना मन्तव्य और स्पष्ट किया है। मायाके दो प्रयोग मानते
हैं : एक वैज्ञानिक (Scientific) प्रयोग, दूसरा रागात्मक (Emotive) प्रयोग। वैज्ञानिक प्रयोग
किसी वस्तुका ज्ञानभर कर देनेके लिये किया जाता है रागात्मक प्रयोग भाव अगानेके लिए किया
जाता है। दृष्टिकोषके अर्थमें पहलेसे अयका मध्य होता है, दूसरेसे विम्वका।—भारतीय काव्यशास्त्र
की शास्त्राचार्योंमें, पहले प्रयोगका आधार शब्दकी अभिप्रायिक है, और दूसरेका आधार मञ्जना
अथवा कल्पना-आभित मञ्जना।

अन्यक मने जिन पश्चिमीय भाषायोंका उल्लेख किया है उनमेंसे प्रायः कविकीयोंमें
प्रकारगतरसे ही ध्वनिसिद्धान्तकी स्वीकृति मिलती है। अब अन्तमें मैं एक ऐसे पश्चिमीय आलोचकका
उद्धरण देकर इस प्रसङ्गको समाप्त करता हूँ जिन्होंने काम्बमें ध्वनिसिद्धान्तका सीधा प्रतिपादन किया
है। ये हैं अंग्रेजीके कवि-आलोचक एब्रहमिमी। उनका मत है “साहित्यका काव है अनुभूतिकी
प्रेषण—परन्तु अनुभूति भाषामें तो घटित होती नहीं। [अतएव] कविकी अनुभूति इस प्रकारकी
प्रतीक मध्यमें अन्वित होनी चाहिये जिसका सङ्घट्ट फिर अपनी अनुभूतिमें अनुवाद कर सकें—
दोनों अर्थगामोंमें ही अनुभूति भावित या होगी ही।

“ इस प्रकार, अनुभूति जैसी अत्यन्त तरल [परिचलनशील] वस्तुका अनुवाद भाषाम
करना पड़ता है जिसकी शक्ति स्वभावसे ही अत्यन्त सीमित है। अतएव काव्यकला सदा ही कित्ती-
न-कित्ती अर्थमें ध्वनिस्य होती है और काम्बकलाका चरम उत्कृष्ट है भाषाकी इन मञ्जनाशक्तिका
अधिकसे अधिक व्यापक प्रमावपूर्व, प्रसन्न सय तथा सुरम बनाना। यह मञ्जनाशक्ति भाषाकी
साधारण अयविचारिणी [अभिप्रा] शक्तिकी उदात्त होती है।

‘भाषाकी इसी शक्तिका परिज्ञान कविकी सामान्य म्कितसे दृष्ट करता है। इसी मञ्जना
शक्तिके प्रति संवेदनशीलता सङ्घट्टकी पहचान है। [अतएव] कतामें प्रेरक, और म्जनामें प्रादक
रूपत वर्तमान परी यह विशेष गुण है जिसे कि कावकी आत्मा मानना चाहिय।”

उत्सुक उद्धरणप्र प्रकार हासनकी आवश्यकता नहीं। इसे पढ़कर एसा लगता है मानो
ये एब्रहमिमी भारतीय ध्वनिसिद्धान्तका अंग्रेजीमें व्याख्यान कर रहे हों।

पारसाय काम्बशास्त्रके अङ्गुलविधानमें ध्वनिकी स्वीकृति और भी प्रत्यक्ष है। हमारे यहाँ

१ They differ from those to which we are now proceeding (L. e. 3) in being images of words not of things words stand for

लक्षणा-स्यञ्जनाको शब्दकी शक्तिमें मानकर उनके चमत्कारका पृथक् विवेचन किया गया है, परन्तु पश्चिममें उनके चमत्कार अलङ्काररूपमें ग्रहण किये गये हैं। उदाहरणके लिये कश्चित्मूलक इत्यर्थमें और भावनीमें स्यञ्जनाका प्रत्यय आभार है। इन दोनोंके अनेक उदाहरण छद्म पत्रिके उदाहरण-रूपमें प्रस्तुत किये जा सकते हैं। भारतीय काव्यशास्त्रके अनुसार उनका सम्प्रवेश अलङ्कारिके अन्तर्गत नहीं किया जा सकता क्योंकि उनमें वाच्यका चमत्कार नहीं प्रायः स्यञ्जनाका ही चमत्कार होता है। मूल्यमिदममें कट्टाको बचानेके लिये अप्रिय बातको प्रिय शब्दोंमें लपेटकर कहा जाता है—संस्कृतके पद्यावली मौलिक उसका भी आभार निरन्तर ही स्यञ्जना है।—इत्यादि।

हिन्दीमें च्वनि

साधारणतः हिन्दीका आधिक्यि चन्द और आदिकारण 'वृत्तीरुज' रहने माना जाता है, परन्तु इसके पूर्ववर्ती पुरानी हिन्दीका काव्य भी आज उपलब्ध हो गया है—जिसके अन्तर्गत अनेक प्रकृतकाव्य तथा सूत्र नीतिसहित मिलता है। प्रकृतकाव्यकारोंमें सबसे प्रसिद्ध थे स्वर्णभुवनेश कविराज, जिनका समय चन्दसँ दारै शताब्दी पूज सन् ७९ ई. के आस-पास था। उनका समान्य ग्रन्थ अनेक रूपोंमें तुलसीके रामचरित मानसका प्रेरणास्रोत था। स्वर्णभुवनेश तुलसीदासकी तरह ही अपनी विनम्रताका वर्णन किया है अथवा यों कहिये कि तुलसीदासने ही उनसे प्रेरणा ग्रहण करते हुए अपनी शीतला आदिका वर्णन किया है। स्वर्णभुवनेश कुछ सत्संग पर काव्यविद्वान्त-सम्प्रदायी हो-एक सङ्केत दिने हैं।

बुद्धयज सयंमु परै विणयई । महू सरिसठ अण्ण पाहि कुकरै ॥
 बायरणु क्यारण ज्ञियठ । सठ यिष्ठि सुचं बक्खाणियठ ॥
 पा जित्तुण्णियठ पंच महायकम्पु । णठ भरहण छक्खणु छंनु सम्पु ॥
 णठ बुज्जवं विगळ पच्छाठ । णठ मामह वैडियळकाठ ॥

कुक्कनोंक प्रति स्वर्णभुवनेश कीर्ता है कि मेरे सरिस अन्य कुक्कन नहीं है। मैं व्याकरण किष्किर भी नहीं जानता। वृत्तिसूत्रका वर्णन भी नहीं कर सकता। मैंने पञ्च महाकाव्य नहीं सुने हैं और न मरठ [के नाट्यशास्त्र] का अध्ययन किया है, मैं सब छन्दोंके कवय भी नहीं जानता। न मैं विगळ-प्रकारसे अभिज्ञ हूँ और न मैंने मामह तथा दम्बीके अलङ्कारग्रन्थ ही पढ़े हैं।

इसके अतिरिक्त एक और स्थानपर स्वर्णभुवनेश लिखा है—

अफखर वास जलोह मण्णोहर । सुपळहार छन्द मच्छाहर ॥
 दीह-समासा पधाहा वैकिय । सफकय पायय पुडिण्णोहकिय ॥
 देसी-मासा उभय शङ्खजळ । कथि-बुक्कर प्रण-सह-सिलायळ ॥
 अफ्य वहुळ कस्सेळ णिट्ठिय । मासा-सय-सम-उज्ज परिट्ठिय ॥

इसमें [रामकथामें]

अफर मनोहर कथेक हैं सु अलङ्कार और छन्द मच्छिप्यो हैं। दीर्घ समास बहिम प्रवाह है। संस्कृत-शास्त्र पुक्ति हैं। देसी भाषाके उभय उक्तक ठट हैं। कथियोंके लिये बुक्कर पने शब्द विगतक हैं। अय-बहुधा कस्सेलें हैं। छट-छट आधारे तरहे हैं। आदि।

प्रकृतकाव्यकार होनेके नाते स्वर्णभुवनेशकी रसके प्रति आग्रह होना चाहिये था। परन्तु उपर्युक्त सङ्केतमें रसक उल्लेख नहीं है, पत्रिका से प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि स्वर्णभुवनेश आनन्द

पद्यनके पूर्ववर्ती कवि थे। वास्तव में उनपर पूर्ववर्तिकालीन प्रभाव था, इसीलिए उन्होंने मामूह और दण्डीके अलङ्कारनियम और वाग्भटीके सूत्ररूपि [रीतिनिबन्ध]का ही उल्लेख किया है। उन्होंने वीरसमाप्त और पत्नी शम्भुवती [रीति, वृत्ति], अलङ्कार, छन्दप्रत्यारको अधिक महत्त्व दिया है। 'अर्चबहुमता'में भी रसवारी कवियोंको छोड़ मारुति और माघ आवि शम्भु-अर्च-शिखरी कवियोंकी ओर ही उल्लेख है। परन्तु यह समझना प्रमाण था।

हिन्दीके आरम्भिक काव्य—वीरगाथाकाव्य—में मुख्यतः वीरगाथाओं और वीरगीतों तथा साधारणतः नीतिपरक कुटुम्ब कविताओंकी रचना हुई थी। इनके अतिरिक्त सम्भव है कुछ पण्डितगोष्ठियोंमें शास्त्रशास्त्रकी भी चर्चा होती रही हो जिसमें रस ध्वनि, अलङ्कार आदि शास्त्रशास्त्रोंका लक्षण मन्थन, अभ्यसन अभ्यास होता रहा होगा। परन्तु उसका कोई क्लिप्त प्रमाण या परिणाम आज उपलब्ध नहीं है। वीरगाथाकार कवि विशेषतः चन्द निबन्ध ही शास्त्रमन्त्र कवि थे। उन्होंने छ म्पाओंका तथा विभिन्न शास्त्र-पुराण आदिका विधिकत् अभ्यसन किया था।

उनके काव्यमें व्यापक धर्मनीति और राजनीतिका समन्वय तथा नमस्कृत परिपाक है :

उक्ति धर्म विस्तारस्य । राजनीति नर्ष रत्नं ॥
पद्माया पुरार्थं च । कुपार्थं कथितं मया ॥

'दृष्टीराज रत्न'में जिस मञ्जुरताके साथ अलङ्कार, गुण रीति तथा रससाम्मी आदिका प्रयोग किया गया है उससे स्पष्ट है कि कवि चन्दने काव्यशास्त्रके अङ्ग उपाङ्गोंका सम्यक् अभ्यसन किया था। परन्तु यह सब होते हुए भी शिष्टास्वविवेचन उनके काव्यके लिए अप्रासङ्गिक था। जैसे इनके काव्यका अभ्यसन करनेके उपरान्त यही निकर्ष निकलता है कि वीर और शृङ्गारका परिपाक करनेवाले ये कवि रसवादी ही थे। प्रबन्धकाव्यकार होनेके नाते भी ध्वनिकी अपेक्षा रससम्पदावसे ही इनका अनिश्चर सम्बन्ध था। चन्दन लिखा भी है, " 'राजनीति नर्ष रत्न' ।"

वीरगाथाकाव्यके अनन्तर निर्गुण काव्यप्राय प्रसारित हुईं। ये कवि शिष्टान्त और व्यवहार, दोनोंकी दृष्टि शास्त्रीय परम्परासे दूर थे। इनके तो काव्यके लिए भी अलङ्कारशास्त्रोंका ज्ञान भी अप्रासङ्गिक था, विवेचन तो दूरकी बात रही। फिर भी इनके काव्यका ध्वनि शिष्टास्वसे अनिर्धार्य तथा प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। जैसा कि मैंने पाश्चात्य काव्यशास्त्रके प्रसङ्गमें स्पष्ट किया है, रहस्यवादका ध्वनिते अनिर्धार्य सम्बन्ध है क्योंकि रहस्यानुभूतियोंका कल्पन नहीं हो सकता, स्पष्टना ही हो सकती है। इसीलिए कवीने अपने रहस्यानुभवको सूक्ष्म गुड़ बताते हुए घेना-बैनाके हाथ ही उसकी अमिम्बाकि सम्भव मानी है। घेना-बैनाका स्पष्ट अर्थ है धार्ष्टिक भाषा अथात् स्पष्टनाप्रधान भाषा। इसी प्रकार प्रेमाश्रयी कवियोंकी रचनाएँ भी ध्वनिकाव्यके अन्तगत ही आती हैं। जायसीने अपने काव्यको अन्धोक्ति कहा है। प्रबन्धगत अन्धोक्ति अथवा समासोक्ति या रूपक गूढ स्पष्टपर आश्रित रहता है। उसका मूलार्थ सदा ध्वनित होता है। परन्तु क्योंकि इस प्रकारके अन्धोक्ति या रूपककाव्यके हाथ उसकी स्पष्टना न होकर अन्ध शिष्टान्त [बल] की ही स्पष्टना होती है इसीलिए वह उद्यमोत्तम [रसध्वनि] काव्यके अन्तगत नहीं आता। रूपककाव्य अन्धोक्ति कि उसके अन्तगतका सम्बन्ध है मूलतः बलध्वनिके ही अन्तगत आता है और वह बल भी गूढ स्पष्टप होती है, अतएव इसकी भेगी रसध्वनिते निम्नतर टकरती है। वही कारण है कि शुक्लध्वनि पद्यावतको मूलतः प्रबन्धकाव्य ही मना है, उसके अन्धोक्तिरूपको आनुगविक माना है।

और यह टीका भी है। इसमें सन्देह नहीं कि बायसीने अपने काममें सूधी सिद्धान्त [बलुकी] म्यञ्जना की है, परन्तु वे प्रकृत रसविद्य कवि थे। अतएव उनका सिद्धान्त पीछे रह गया है और प्रीतिमें दूबा हुआ रसमय काम्य ही प्रमुख हो गया है। बायसीने स्वयं कहा भी है—

जोरी खाह एक की छेईं। गाड़ि प्रीति नयनहि उख मेईं ॥
 मैं शिव्य जानि शीत बस कीन्हा। मफुः यह रही जगत माईं खीन्हा ॥

प्राणोंक रक्तये किम्बी हुए और गाड़ी प्रीतिसे उवसूत, मननोंके कथये मीमी दुईं कबिता बलु [सिद्धान्त] की ही म्यञ्जना करके कैये रह जाती ? उसमें रसकी म्यञ्जना निस्सन्देह है।

कबीर-बायसीके युगक बाद सूर-तुलसीका युग आता है। राममठ और कृष्णमठ कवि प्रायः सभी शास्त्रनिष्ठ थे उनका दर्शन और काम्य दोनोंका धार्योसे सम्पर्क था, परन्तु फिर भी सिद्धान्तसममें वे मक्तिसे धार्यसे अथात् मायनाको बुझिते व्यक्ति महत्त्व रते थे। तुलसीने काम्यके दो तद्देश्य माने हैं। प्रत्यक्ष रूपसे तो स्वान्त-सुखाय खुनायगायाका कथन करना, और अप्रत्यक्ष रूपसे उसके द्वारा श्लेषभर्मकी प्रतिष्ठा करना। दूसरे शब्दोंमें तुलसीके काम्यमें आत्म-रक्षण और बाक्यरक्षणका पूर्ण सम्बन्ध है, व्यक्तिपरक और बस्तुपरक दृष्टिकोणोंका समन्वय है। उभर मायतत्त्वके साम ही उनमें बुद्धितत्त्व और कस्मनात्त्वका भी उचित सम्बन्ध है फिर भी कुछ मित्राकर तुलसी और उनके अनुयायी राममठोंको रससम्पदावक अन्तगत ही मानना पड़ेगा। काव्यरचनाके अतिरिक्त तुलसीके वैदान्तिक सङ्केतोंसे भी इस तथ्यकी पुष्टि हो जाती है। काम्यके उपकरणोंके विषयमें उन्होंने लिखा है—

भाखर अरथ अर्द्धकृति नाता। छन्द प्रबन्ध अनेक विधामा ॥

भाव भेद रस भेद अपारा। कवित वाप गुण विविध प्रकारा ॥

उपसुक्त उद्धरणमें उन्होंने शब्दार्थ अक्षरार, छन्द, शेष और रस और भावको काव्यके उपकरण माना है—ध्वनिका उल्लेख भी नहीं किया।

परन्तु ये उपकरण तो साधनमात्र हैं—साध्य है राममठि।

मगिति विविध सुकविहृत जोक।

राम नाम बिनु सोह न सोक ॥

अतएव तुलसीके मतम मक्ति रस ही काम्यका माण है। और तब शब्दोंमें—

हृदय छिन्नु मति सीप समाना। स्वाति सारखा कहहिं सुजाना ॥

जो वरसह पर-वारि बिचारु। होइ कवित मुकुतामनि चारु ॥

छुगुति बेधि पुनि पोहिहहिं, रामचरित वर ताग।

परिहहिं सज्जन विमल उर, सोमा अति अनुपग ॥

काम्यकी मूळ सामग्री है भाव [हृदय-छिन्नु], उनकी शयोत्रिका है मति [कारयित्री प्रतिभा] अथवा चरस्वरीसे प्रेरणा प्राप्त होती है—अर्थात् यह प्रतिभा ईश्वरप्रदत्त है। भेद विचार बर्णनाका ज्ञान अथात् पोषक तत्व है। परन्तु इस प्रकार उद्भूत काम्यमयिषों लक्षकोंका हृदयहार सभी यन्त्री हैं जब रामचरितके सुन्दर तारमें पुष्टिपूर्वक उगईं शिरो दिया जाये। अर्थात् भेद काम्यके विषय निम्नांकित उपकरणों और तत्त्वोंकी आवश्यकता होती है—भाव-समृद्धि, कारयित्री ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा, भेद विचार [उत्कृष्ट जीवन्दधन] और राममठि अथवा इन तत्त्वका प्राकृतत्व है।

उन्होंने आरम्भमें ही कहा है : “कथानां अर्थसङ्गानाम् रसानां छन्दसामपि । मङ्गलानाम् च कर्तारो बन्धे बाणीभिरापको ।”

कृष्णमठ कवियोंमें तो रागद्वयका और भी अधिक प्राधान्य है। इसका अतिप्राय यह नहीं है कि इन कवियोंके काव्योंमें प्वनिकी किसी प्रकार उपेक्षा की गयी है। भास्करमें दुख्खी सुर और अन्य सगुण मठ कवियोंकी रचनाओंमें रसप्वनि बस्तुप्वनि तथा अलङ्कारप्वनिके अगणित उक्त्य उदाहरण मिलते हैं। सुर तथा अन्य कृष्णमठ कवियोंका भ्रमरगीतकाव्य जो मूढतः उपाधम्मकाव्य है, रसप्वनिका उदाह्य नमूना है। फिर भी इन अतिघम रागी कवियोंको रसवादी न मानना इनके काव्यकी आत्माके प्रति अन्याय करना होगा।

इन कवियोंके मनस्तर हिन्दी-साहित्यमें रीतिकवियोंका आविर्भाव हुआ। ये सभी कवि मूढतः काव्यसिद्धान्तके प्रति अगारूढ थे। इन्होंने काव्यशास्त्र और उसके विभिन्न सङ्ग्रहोंका विचिन्त अन्वयन किया था, और अनेकने अपने काव्यमें उनका विवेचन भी किया। व्यवहाररूपसे भी यह युग मुक्तक-काव्यका युग था—और जैसा कि अन्यत्र कहा गया है, प्वनिसिद्धान्तका आविष्कार ही भास्करमें मुक्तक-काव्यको उचित स्वीकृति देनेके लिए हुआ था। अतएव हिन्दी साहित्यके इतिहासमें प्वनिसिद्धान्तकी भास्करविक महत्वस्वीकृति इसी युगमें हुई। वैसे तो इसमें सन्देहके लिए अवकाश नहीं है कि रीतियुगपर स्वभाव और उसमें भी अङ्कारवादका ही आविष्कार रहा, फिर भी अन्य भावोंकी भी पूर्णतः उपेक्षा नहीं की गयी—अलङ्कार और प्वनिके समथकोंका स्तर भी अन्व नहीं रहा। सबसे पहले तो सेनापतिने ही अपने काव्यकी सिद्धारिषा करते हुए उसकी प्वन्यात्मकतापर विशेष बल दिया है—‘सरस बनूँ रस-रस मामें धुनि है।’ उनका रीतिमन्व ‘काव्य कर्मधुम’ आज अमाप्य है अतएव इसके विपक्षमें कुछ कहना असङ्गत होगा। उनके बाद हिन्दी के अनेक आचार्योंने मम्मठके अनुसरणपर काव्यका सवाङ्ग-विवेचन किया है किन्तमेंसे मुख्य हैं—कुञ्जपति, भीपति, शस और प्रतापसाहि। इन कवियोंकी प्रवृत्ति अपेक्षाकृत बौद्धिक थी और ये मम्मठकी ही मूर्ति प्वनि अथवा रसप्वनिवादी थे। इनके काव्यकी पद्धति और रीतिसिद्धान्त दोनों ही इसके प्रमाण हैं। कुञ्जपतिने स्वतः ही प्वनिको काव्यकी आत्मा माना है—

ध्वंम्य जीय ताको कहत शब्ध अर्थ है देह ।

शुन शुन भूपन भूपमें, वूपन वूपम वेद ॥ (रस-रहस्य)

दासने अपि आरम्भमें रसको कविताका अङ्ग अथात् प्रधान अङ्ग माना है—

रस कथिता को अंग भूपन हैं भूपन सफळ

शुन सरूप और रग वूपन करै कुरूपता । (काव्य-निषय)

परन्तु फिर भी उनके ग्रन्थमें इस प्रकारके स्पष्ट सङ्गत हैं कि रससे उनका तात्पर्य रसप्वनिका ही है।

भिन्न भिन्न यद्यपि सफळ रस भाषाविक दाम

रसै ध्वंगि सयको कहवी प्वनि को अहाँ प्रकास । (काव्य निषय)

इसके अतिरिक्त मम्मठकी ही तरह इन्होंने अलङ्कारको भी बहुत महत्व दिया है—

अलङ्कार पितु रसदु है रसों अलङ्कति छंडि

सुकपि पचन रचनात सीं देत दुदम पो मंडि । (काव्य-निषय)

प्रतापसाहि तो स्वीकृत रूपमें 'ध्वनिवादी' थे ही—

प्यंग जीव है कवित में, राष्ट्र अर्थ गति भग ।

सोई उत्तम काव्य है, धरती ध्यंग्य प्रसंग ॥ (महापारमहंसजी)

उन्होंने महापारमहंस पर एक स्वच्छन्द प्रशंसा ही रचा है जिसमें सारे रघुपरायणका व्यङ्ग्य [ध्वनि]के द्वारा कथन किया गया है ।

हिन्दी रीतिकाम्पमें ध्वनिवादका सर्वोत्कृष्ट रूप बिहारी और प्रतापसाहिमें मिलता है । बिहारीने यद्यपि अष्टप्रश्नोंकी रचना नहीं की परन्तु उनके कामकी प्रवृत्ति सर्वथा ध्वनिवादके ही अनुकूल थी । उनके दोहोंके कामगुणका विश्लेषण करनेपर यह स्पष्ट नहीं रह जाता कि वे रसवादके शुद्ध मानसिक-प्राज्ञसिद्धिमानन्दकी अपेक्षा ध्वनिवादके बौद्धिक मानस्यको ही अधिक महत्त्व देते थे । उन्होंने [अथवा उनके किसी अनुयायीने] 'ध्वनि'की ध्वन्यात्मकतापर ही बह दिया है—

सतसैयाके दोहरे, ज्यों माधकके तीर ।

देखगमें छोटे झरो, घाय करे गम्भीर ॥

यह निस्सन्देह ही उसके महापारमहंसकी प्रशंसा है ।

इस युगमें ध्वनिका प्रबल विरोध दो आचार्योंने किया—कमलदास और देवने । केवलदास ने अठारवाककी निभान्त स्थापना की, साथ ही 'रसिकप्रिया'में अठारवाकको भी मान्यता दी परन्तु ध्वनिका उन्होंने सर्वथा बहिष्कार किया । उन्होंने भगवद्-दशमीकी ध्वनिपूज अठारवाकदी परम्पराको तो मूलतः अपनाया ही, इसके साथ ही ध्वनि-उत्तर अठारवाकको भी ग्रहण किया परन्तु ध्वनिकी उन्होंने सर्वथा उपेक्षा की । वृत्ते आचार्य रसमूर्ति देव रसवादके प्रबल पृष्ठोपक थे । उन्होंने दो व्यञ्जनाको अथवा ही बह दिया :

अभिधा उत्तम काव्य है मध्य अलक्षणा-जीत ।

अधम ध्यञ्जना रस-कुटिल उच्छटी कहत नहीं ॥

उपसुक्त दोहोंको मूल-प्रसङ्गसे विच्छिन्न कर आचार्य हुसने अपनी अगोचर शैलीमें उसकी भावस्यकतासे अधिक धीमत्सेदर कर शाही है और वृत्ते अंग भी मूल-प्रसङ्गको देखे बिना ही उनका अनुकरण करते गये हैं । उपसुक्त दोहा पाषवगनप्रसङ्गका है देखने शुद्धस्वभावा स्वकीयाको वाच्य-वाचक पात्र माना है गर्वस्वभावा स्वकीयाको उच्च-आत्मिक पात्र, और शुद्ध-परकीयाको व्यङ्ग्य-व्यञ्जक पात्र । इस प्रकार शुद्धस्वभावा मुग्धा स्वकीयाका सम्पन्न अभिधासे है अर्थात् वह शुद्धस्वभावा होनेके कारण अभिधाका प्रयोग करती हुई शीघ्र-सादी वात करती है । गर्वस्वभावा प्रीठा स्वकीयाके स्वभाव और बाणीमें मुग्ध धारस्वकी कमी हो जाती है, और उसकी अभिव्यक्तिका धारण बल्यता हो जाती है । परकीयाके स्वभाव और बाणीमें बल्यता होना अनिर्वाच्य है, अतएव उसकी अभिव्यक्तिका माध्यम होती है व्यञ्जना । इसी कारण देवका मत है कि

स्वीय मुग्ध मूर्ति सुधा प्रीड़ मिता पय सिद्ध ।

परकीया करकस सिता, मरिष परिषयनि सिद्ध ॥

करनेका तात्पर्य यह है कि देवने अभिधाका शुद्धस्वभावा स्वकीयासे और व्यञ्जनाको परकीयासे एकरूप कर देना है अतएव उपसुक्त दोहोंमें व्यञ्जनाकी धर्तनाका उच्च बहुत-बहुत परकीयाकी रघुमिश्रित ही है । उपसुक्त व्याख्याके बाद भी देवके काव्य-विवरणका उपाह्वानसे पूर्ववत्

करनेपर इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि देवको उसके प्रति अत्यन्त प्रवक्त आग्रह या और उन्होंने प्बनिका यहि प्रकार ही किया है। उन्होंने काम्यके सभी अर्थोंका—यहाँतक कि पिहृष्टका भी बतिकाइयु विस्तारसे विवेचन किया है परन्तु प्बनिका उल्लेखमात्र भी नहीं किया। वास्तवमें देव इन्द्रकी रगारमक अनुमूर्तिमेंसे ही काम्यका धर्मत्व मानते थे अतएव उन्हें स्वभावोक्ति और अग्निभासे ही ममता थी—भ्यञ्जनाको परेधी-कुशीबल माननेकी मूढ़ता तो उन्होंने नहीं की, परन्तु उनकी रसयोजनामें उसका स्थान गौण ही है।

संस्कृतमें प्बनिके समर्थ प्रवक्ता मम्मटने प्बनिको काम्यकी आत्मा मानते हुए रस आदिका असंख्यप्रमत्तप्बनिके अन्तर्गत कथन करनेकी परिपाटी चला दी थी, जिसका पण्डितराज जगन्नाथने भी अनुसरण किया। परन्तु विश्वनाथने रसको बाह्यी घोषित करते हुए मम्मटकी पद्धतिमें संशोधन किया। उन्होंने रसका स्वतन्त्र विवेचन करते हुए प्बनिकी एक दृश्य परिच्छेदमें व्याख्या की। रीतिकालीन आचार्योंने रस और प्बनिके सम्बन्धमें प्रायः विश्वनाथका ही मार्ग ग्रहण किया है।

रीतियुगक अनन्तर आधुनिक युगका आरम्भ होता है। इस युगके तीन लण्ड किये जा सकते हैं—भास्कर-काल, शिवेदी-काल वतमान-काल। इनमेंसे भास्कर-काल प्रयोगकाल था, उसमें मुख्यतः गद्यकी रूपरेखाका निमाण हुआ। कवित्तके प्रति दृष्टिकोण भी बहलना आरम्भ हो गया था और वह कभी पीछे भट्टियुगकी ओर देखती हुई और कभी आगे जीवनकी वास्तविकताओंपर दृष्टि डालती हुई अपने नूतन पथका निमाण कर रही थी। वह दृष्टिकोण शिवेदी-कालतक आते-आते स्थिर हो गया। हिन्दी कवित्ताने अपना मार्ग चुन लिया था—उसने जीवनकी वास्तविकताको अपना संवेद्य मान लिया था। व्यवहाररूपमें हिन्दीक किसी युगमें प्बनिका इतना स्थिरकार नहीं हुआ। इस दृष्टिसे वह प्बनिके चरम परामर्शका समर्थ था। इस काललण्डकी कविता-शैलीको आचार्य शुक्लने इतीक्ष्ण इतिवृत्त कहा है। इतिवृत्तशैली प्बनिका एकान्त विपरीत रूप है। भ्यञ्जनाका वैरोल इतिवृत्तकथन अथवा बाबन है और शिवेदी-युगकी कवित्तामें शैलीका प्राधान्य था।

शिवेदी-युगकी कविता और आलोचनानमें एक विशिष्ट व्यवधान मिलता है। कवित्तामें वहाँ नये युगकी इतिवृत्तात्मकता और गद्यमयता है, वहाँ काम्यसिद्धान्तोंमें प्रायः परम्पराका ही प्रवक्त आग्रह है। नए युगके प्रतिनिधि आभ्योचकोंमें मिश्रबन्धु-पण्डित कृष्णबिहारी मिश्र सहित का भगवान धीन तथा पण्डित पदसिंह शर्माका नाम उल्लेख्य है। इनमें मिश्रबन्धुओंके काम्यसिद्धान्तोंकी परिधि व्यापक है—उनमें पूब और पश्चिमके सिद्धान्तोंका मिश्रण है। पण्डित कृष्णबिहारी मिश्रकी दृष्टि अधिक स्थिर है उन्होंने भारतीय काम्यसिद्धान्तोंको अधिक स्पष्ट रूपमें ग्रहण किया है और स्थान-स्थानपर रस अलङ्कार, प्बन आदिकी चर्चा की है। परन्तु सब मिलाकर ये रचनादी ही हैं—कृष्णबिहारीकी ही रसदृष्टि बिहारी और के.ए.के. काम्योंकी अपेक्षा देव, मठिराम और बेनी प्रवीणके सरस काव्योंमें ही अधिक रही है। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें रससिद्धान्तकी मान्यता घोषित की है।

“वास्तवमें रसात्मक काव्य ही लक्ष्य है।

“रसात्मक वाक्यमें वही ही सुन्दर कविताका प्रादुर्भाव होता है। नीरस एवं अलङ्कारप्रधान कवित्तामें बहुत थोड़ी रमणीयता पायी जाती है। शब्दचित्रण पूब वाक्य का प्रवक्त करनेभरका कवित्तके अन्तर्गत मान लिया गया है।”

“रमणीय वह है जिसमें वित्त रमय करे—जो वित्तको अपने आपमें लया है। रमणीयता आनन्दकी उत्पत्ति करती है। कविताकी रमणीयतासे जो आनन्द उत्पन्न होता है, वह जोकोत्तर है।”

“कविता कर प्रयोजनोंसे की जाती है। एक प्रयोजन आनन्द भी माना गया है। यह आनन्द

कोकोत्तर होता है। कविताको छोड़कर अन्यत्र इस आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती। वैसे तो भूतमात्रकी उत्पत्ति आनन्दसे है, जीवनकी स्थिति भी आनन्दसे ही है तथा उसकी प्रगति और निरूपण भी आनन्दमें ही है, फिर भी कविताका आनन्द निराशा है। आनन्दके आनन्दका प्रकाश कसा छाया ही होता है।”

“कवितामें सौन्दर्यकी उपासना है। सौन्दर्यसे आनन्दकी प्राप्ति है। कविताके लिए रमणीयता परमव्यक्त है। आनन्दके अभावमें रमणीयताका प्राबुधांश बहुत कटिन है। जो कविताके सभी प्रयोजनोंमें आनन्दका ही बोधभाषा है। —मठिराम-ग्रन्थावलीकी भूमिका

एक भगवानदीनक इस कवि से कहा। निदान उनकी प्रवृत्ति अलङ्कारवादकी ओर ही थी, उधर बिहारीकी कविताको उत्तम काव्यका भाव्य माननेवासे पण्डित पद्मसिंह शर्माकी हस्तानुस्मरणः पञ्चिचम्पकारकी ओर अधिक थी। इन आलोचकोंने सिद्धान्तविवेचन विशेष करते नहीं किया है आलोच्य काव्यकी व्याख्या ही प्रसङ्गगत सिद्धान्तकथनमात्र किया है। फिर भी काव्यकी अपनी अलङ्कारप्रियताके कारण अलङ्कारवादियोंकी भेगीमें और शर्माकी व्यङ्ग्यचम्पकारके प्रति आग्रह तथा कान्ठोपन और बौद्धिकताके हामी होनेके कारण पञ्चिचम्पकारके अन्तर्गत आते हैं। शर्माकीन स्वान-स्वानपर बिहारीके दाहोंके पञ्चिसान्दर्भपर बत दिया है—

१ “इस प्रकारके न्यस्तोंमें [जहाँ बिहारीपर पूर्ववर्ती महाकवियोंकी छाया है] ऐसा कोई अवसर नहीं जहाँ इन्होंने ‘बातमें बात’ पैदा न कर दी हो।’ (बिहारी सत्सर पृ २५)

करनेकी आकांक्षकता नहीं कि वह ‘बातमें बात’ पैदा करना आनन्दवचनका ‘रम्य स्फुरित’ [ध्वम्बालोक ४।१६] का ही अनुवाद है जिसमें वे वह पोषण करते हैं कि “जिस कवितामें सद्बुद्ध मातृकाको वह एतद् पद कि ‘हाँ, इसमें कुछ नूतन चम्पकार है’ [जो कविता पञ्चि-आभित ही होगा], फिर उसमें पूर्वकवियोंकी छाया ही क्यों न झलकती हो तो भी कोई हानि नहीं।”

२ ‘‘बिहारीकाव्य’ पर जहाँ बड़ा पञ्चिपूर्ण है।’ (पृ ६७)

३ “इनके इस वर्णनमें [त्रिदशवर्णनमें] एक निरात्म बौद्धिकता है कुछ विशेष कठता है, व्यङ्ग्यका प्राबल्य है। (पृ २६)

४ ‘कविताकी उत्पत्ति और भी कुछ नीचे देखी है जहाँ कठता [बौद्धिकता, बंकर] ही कठर और कीमत् पायी है। बिहारीने कहा है—

गह-रचना वहनी अलक वितयति भौह कमाल ।

मातृ बंकर ही व(स) है तयति तुरंगमि तामि ॥ (पृ २१९)

और सिद्धान्तकथनमें—

‘युक्तकमें अलौकिकता जानक लिए कविता अभिप्राय बहुत कम और पञ्चि, स्वच्छनासे अधिक काम देना पड़ता है। यही उससे चम्पकारका मुख्य हेतु है। इस प्रकारके पञ्चिवादी काव्यक निर्माता ही वास्तवमें ‘महाकवि’ पदके समुचित अधिकारी हैं।’

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी इन्हींके सम-सामयिक थे—परन्तु सिद्धान्तविवेचनकी दृष्टिसे वे अपने समयसे बहुत आगे थे। बालकम से भी मैथिलीधरन गुप्तकी मौलिक विवेकी-युग और वर्तमान युगक सङ्गमस्थलपर खड़े थे। उन्होंने भारतके प्राचीन काव्यशास्त्र और यूरोपके नवीन आधुनिक विद्वान्त्वैका समकालीन अध्ययन कर दोनोंका साधु समन्वय करनेका सद्यः प्रयत्न किया। मौलिक सिद्धान्तविवेचनकी दृष्टिसे प्राचीन आचार्योंकी भेगीमें केवल उन्हें ही प्रतिष्ठित किया था सङ्गता है। भारतीय काव्यशास्त्रक विभिन्न सम्प्रदाय शुक्लकी मर्मभेदी दृष्टिकी परिधिमें आने और उन्होंने

रानी अनुभूति और विवेकके प्रकाशमें उनका परीक्षण किया। जबिकी महत्तासे वे परिचित थे—
;क मिलकर अनिसिद्धान्तका आधार इतना पुष्ट है कि दुस्सखी जैसे मूढ विचारक उसकी उपेक्षा
से कर सकते थे। परन्तु फिर भी वे अनिवादिमीकी भेगीमें नहीं आते। अनि [स्वजना] के निम्न
।उनका मन्तव्य इस प्रकार है—

‘स्वजनाके सम्बन्धमें कुछ विचार करनेकी आवश्यकता है। स्वजना दो प्रकारकी मानी गयी
—वस्तुस्वजना और भावस्वजना। किसी तप्य या वृत्तकी स्वजना वस्तुस्वजना कहलाती है और
किसी मापकी स्वजना भावस्वजना। (मापकी स्वजना ही सब रसके सब अवयवोंके सहित होती है
स रसस्वजना कहलाती है।) यदि श्रेया भ्रान लेकर विचार किया जाय तो दोनों मिश्र प्रकारकी
दिवों ठहरती हैं। वस्तुस्वजना किसी तप्य या वृत्तका बोध कराती है, पर भावस्वजना किस रूपमें
यानी गयी है उस रूपमें किसी भावका सञ्चार करती है। उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है। बोध या
धन करना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात। दोनों मिश्र कोटिकी सिद्धाएँ हैं। पर
शिक्षकके प्रयोज्यमें दोनोंमें केवल इतना ही भेद स्वीकार किया गया है कि एकमें वाच्यार्थसे व्याख्यान
र आनेका पूर्वापर क्रम होता या पाठकको अक्षित नहीं होता। पर बात इतनी ही नहीं धन
रहती। रति श्रेय आवि मापोंका अनुभव करना एक अर्थसे दूसरे अर्थपर जाना नहीं है अतः किसी
भाषकी अनुभूतिको व्याख्यान कहना बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। यदि व्याख्यान कोई अर्थ होगा
तो वस्तु या तप्य ही होगा और उस रूपमें होगा कि अनुक प्रेम कर रहा है अनुक श्रेय कर रहा
है। पर केवल इस बातका ज्ञान करना कि अनुक श्रेय वा प्रेम कर रहा है स्वयं श्रेय वा प्रतिभाषका
साम्य अनुभव करना नहीं है। रसस्वजना इस रूपमें मानी भी नहीं गयी है। अतः भावस्वजना,
वा रसस्वजना वस्तुस्वजनासे सर्वथा भिन्न कोटिकी वृत्ति है।

‘रसस्वजनाकी इसी मिश्रता या विविधताके कारण व्यक्तिविवेककार महिममहका
धमना किया गया या जिनाका कहना या कि स्वजना अनुमानसे भिन्न कोई वस्तु नहीं। विचार
करनेपर वस्तुस्वजनाके सम्बन्धमें महत्त्वका पक्ष ठीक ठहरता है। स्वज्ञपवस्तु वा सप्ततक इस
वाच्यमें अनुमान श्राय ही पहुँचते हैं। पर रसस्वजना लेकर जहाँ वे लगे हैं वहाँ उनके मार्गमें
बाधा पड़ी है। अनुमान श्राय वेपक इस प्रकारके ज्ञानतक पहुँचकर कि ‘अनुकके मनमें प्रेम
है’ उन्हें फिर इस ज्ञानको ‘आस्था-पदवी’ तक पहुँचाना पड़ा है। इस आस्था-पदवी’ तक
रसादिका ज्ञान किस प्रक्रियासे पहुँचता है वह सवाक कर्तोंका ली रह गया है। बात इस विषयका
स्पष्ट कर देना चाहिये। या तो हम माप या तप्यके सम्बन्धमें ‘स्वजना’ शब्दका प्रयोग न करें,
अथवा वस्तु या तप्यके सम्बन्धमें। (चिन्तामणि भाग २, पृष्ठ १६३ १६४)

इससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :

१ दुस्सखी भावस्वजना [रसस्वजना] और वस्तुस्वजनाको दो भिन्न प्रकारकी वृत्तियाँ
मानते हैं।

२ इन दोनोंमें प्रकारका ही अन्तर है, ‘रस्यक्रम’की मापका नहीं।

३ भाषका बोध करना और अनुभूति करना दो अलग-अलग बातें हैं, और, किसी
भावका बोध करना वा किसी वस्तुका बोध करना एक ही बात है।

४ वस्तु और भाव दोनोंके सम्बन्धमें स्वजना शब्दका प्रयोग साम्य है। वस्तुस्वजनाके
सम्बन्धमें दुस्सखी महिममहकी अनुभूतिको ठीक माननेके लिए तैयार हैं।

अतएव मैं समझता हूँ जानाव धनका अभिप्राय यह है कि वस्तुस्वजनामें काम्यत्व नहीं

होता, परन्तु यह मावम्भञ्जनाकी सहायक अवस्था है। एही प्रसङ्गमें भगवत् उन्हींने लिखा है कि पल्लव्यञ्जनासे अग्निप्राय वास्तवमें 'उपान्त अर्घ'का है [जो म्भञ्जनाकी सहायतासे उपपन्न होता है] और इसे वे काव्य न मानते हुए 'काव्यको धारण करनेवाला सत्य मानते हैं'। [चिन्तामणि माग २, पृष्ठ १३७] काव्यत्वके विषयमें वे निम्नान्त रसवादी हैं। म्भञ्जना उन्हें वहीँतक मान्य है वहीँतक उसका समन्वय किसी-न-किसी प्रकार भावसे अवश्य हो : उन्हींने 'काव्यमें रहस्यवाद'में स्पष्ट लिखा है :

'हमारे यहाँके पुराने ध्वनिवादिपौंके समान आपुनिक 'व्यञ्जनावादी' भी मावम्भञ्जना और पल्लव्यञ्जना दोनोंमें काव्यत्व मानते हैं। उनके निकट मनुटे बहसे की हुई म्भञ्जना भी काव्य ही है। इस समन्वयमें हमारा यही वक्तव्य है कि मनुटीसे मनुटी तक काव्य तभी हो सकती है जब कि उसका समन्वय—कुछ दूरका सही—हृदयके किसी भाग या वृत्तिसे होगा। मान लीजिये कि अन्ते माह्वयन्तरसे कथित किसी वस्तुवाच्यपूर्ण उक्तिमें सौन्दर्यका धर्षण है। उस उक्तिमें चाहे कोई भाव सीधे-सीधे व्यङ्ग्य न हो, पर उसकी शरमें सौन्दर्यको ऐसे अन्ते ढंगसे करनेकी प्रेरणा करनेवाला प्रतिभाव वा प्रेम छिपा हुआ है। अिस पल्लुकी तुम्बरताके कर्णमें हम प्रवृत्त होंगे वह हमारे रति म्भक्त आश्चर्यजन होगी। आश्चर्यजनमात्रका वचन भी रसात्मक माना जाता है और पालनमें होता है।' (चिन्तामणि २, पृ १७-१८)

वह ध्वनिकी अनेधा रसकी अवस्थिति स्वीकृति है। और वास्तवमें आचार्यके सम्य काव्य वर्णन और जीवनवर्णनको देखते हुए इसमें सन्देह भी कौन कर सकता है ! वे जीवनमें श्लोकधर्म और काव्यमें प्रवचकाव्यको ही अधिक महत्त्व देते थे क्योंकि वे श्लोकधर्मकी पूर्ण अभिव्यक्ति प्रवचकाव्यमें ही पा सकते थे। मुक्तक और प्रगीतमें उनको कवि पूरी तरह नहीं रगती थी। अतएव ध्वनिकी अनेधा रसके प्रति उनका आग्रह स्वयम्भक्तः ही अधिक था, और वास्तवमें इस युगमें रसवाद का हटना प्रवच-प्रकाश व्याख्याता वृत्तय नहीं हुआ।

गुरुकुलीके अतिरिक्त केवल दो काव्यशास्त्रियोंके नाम ध्वनिके प्रसङ्गमें उल्लेखनीय हैं—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार तथा पण्डित रामदहिन मिश्र। सेठजीने मम्मटके 'काव्यप्रकाश'को अपना आधार ग्रन्थ मानते हुए ध्वनितिद्धान्तकी हिन्दीमें विस्तारसे व्याख्या की है। वह ठीक है कि उनके ग्रन्थमें शैक्षिक विवेचनका अभाव है। सेठजी उदाहरण भी हिन्दीसे नहीं थे एक हैं, उनके लिए भी उन्हें संस्कृत शब्दोंका ही अनुवाद करना पड़ा है। फिर भी ध्वनि जैसे कठिन विषयकी हिन्दीमें अवधारणा करना ही अपने आपमें एक बड़ा काम है और हिन्दी काव्यशास्त्रका अन्वेषण उनका सदैव आभारी रहेगा। इस दृष्टिसे पण्डित रामदहिन मिश्रका कार्य और भी अधिक लुब्ध है। उनका ज्ञान अधिक निम्नान्त तथा विवेचन अनेधाकृत शैक्षिक है। उन्होंने अपने विवेचनमें सैदान्तिक प्रेरणा जहाँ शब्द ही संकट काव्यशास्त्रसे प्राप्त की है, वहाँ व्यावहारिक आधार हिन्दी काव्यको ही माना है। इसलिये उनका विवेचन अधिक स्पष्ट और प्राज्ञ हो सका है। मिश्रजीने हिन्दी काव्यसे उदाहरण उद्धरणमें अत्युत्त सुसज्ज परिचय दिया है। साथ ही आपुनिक सिद्धान्तोंसे भी उनका अच्छा परिचय है, और उनके आग्रहसे वे अपने विवेचनको यत्किञ्चित् आपुनिक रूप भी दे सके हैं। विद्वत् ध्वनिवादिपौंकी परम्परामें मुख्यतः हिन्दीके वे दो विद्वान् ही आते हैं। वे लोग हैं कहर ध्वनिवादी—एन्होंने रसको स्वतन्त्र न मानकर ध्वनिके अन्तर्गत ही माना है। और असंस्कृतग्रन्थोंके प्रयोजनमें ही उसका वर्णन किया है।

द्विपदी-युगके इतिहासकाव्यकी मौलिक प्रतिप्रिया रूप छायावादका जन्म हुआ। द्विपदी

कविताकी इतिवृत्त शैलीके विपरीत छायावादकी शैली अतिशय स्पष्टनापूर्ण है। द्विभेदी-सुगता कवि जहाँ व्यञ्जनाके रससौन्दर्यसे अपरिचित रहा, वहाँ छायावादमें लक्षणा-व्यञ्जनाका आकषण इतना अधिक बढ़ गया कि अभिधाकी एक प्रकारसे उल्टा हो गयी। छायावादके प्रवर्तक प्रसादने छायावाद के म्युसासि-अर्थके मूळमें ही व्यञ्जनाका आधार माना। जिस प्रकार ग्योतीमें वास्तविक सौन्दर्य उसकी छाया है, जो दानेकी सारभूत छविके रूपमें पूयक्ष्मी शलकती है, इसी प्रकार काव्यमें वास्तविक सौन्दर्य उसकी ध्वनि है जो धर्मोंके वाक्यावृत्ते पूयक्ष्मी शलकती होती है। इसकी प्रेरणा प्रसादजीने स्पष्टतः सञ्जयके ध्वनिवादी आचार्योंसे ही प्राप्त की है। आनन्दवर्धनने ध्वनिको अज्ञानाधारीमें आत्मके सद्य कहा है। बादमें काव्यकी परिभाषा इस प्रकारकी गयी :

मुक्ताफलेषु यच्छ्रयायास्तरलस्यमिधाम्तरा ।
संलक्ष्यते यद्वहेषु तद्वाप्यमिहोच्यते ॥

मेखियोंमें कान्ठिकी तरबूटा [पानी] की तरह जो बस्तु अज्ञोके अन्दर दिखाई देती है उसे व्यक्त्य कहा जाता है।

इसी रसको और स्पष्ट करते हुए कवि पन्तने पस्कवकी भूमिकामें लिखा :

“कविताके सिद्ध चित्रमायाकी भावप्रकृता पदती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिये, जो जोड़ते हों, ऐवकी तरह जिनके रसकी मधुर अस्मिमा भीतर न समा सकनेके कारण बाहर शलक पड़े जो अपने भावको अपनी ही ध्वनिमें आँसुओंके सामने चित्रित कर सकें, जो सञ्चारमें चित्र, चित्रमें सञ्चार हो” ।

‘कवितामें शब्द तथा अर्थकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, वे दोनों भावकी अभिव्यक्तिमें डूब जाते हैं।’ किलीके कुशल करीब मायावी स्पष्ट उसकी निर्बीजतामें ध्वनि फूँक देता वे अहसाकी तरह घाय-मुक्त हो बग उठते हम उन्हें पापाय-सर्गोंका समुदाय न कह लाभमूल करने लगते, वाक्य न कह काव्य करने लगते हैं।”

इसी प्रसङ्गमें उन्होंने पर्याय-सम्बन्धोंके व्याख्यार्थभेदकी भी बड़ी ही मार्मिक व्याख्या की है : “मिथ-मिथ पर्यायवाची शब्द प्रायः सञ्चितभेदके कारण एक ही पदार्थके मिथ-मिथ स्वरूपोंको प्रकट करते हैं। जैसे, भू से शेषकी वनता, सञ्चितके कटासकी चञ्चलता, भीहोंसे स्वाभाविक प्रकृत्या, अज्ञताका इतरनमें अनुभव होता है। ऐसे ही हिस्सेमें उठान, सहरमें सञ्चितक वध-स्वका कोमल कम्पन, तरङ्गमें सहरोंक समूहका एक-दूसरेको पकड़ना उठकर गिर पड़ना बड़ा-बड़ी कहनेका शब्द मिलता है बीजते जैसे किरणोंमें पकड़ती, हवाक फलनमें होसे-होसे शलकती दुर हैंसमुल अस्मिमाका, उर्मिसे मधुर-मुनरित हिस्सेका, हिस्सेक-कम्पनसे ऊँची-ऊँची बाईं उठाती दुर उतावपूर्ण तरङ्गोंका भावमय मिलता है।”

उपयुक्त विवेचन ‘मिनाकिन’ और ‘क्यापिनः’ क ध्वन्यर्थभेद-विवेचनका नवीन कलात्मक संस्करणमात्र है।

इतर श्रीमती महादेवी बमाने भी छायावादकी अभिव्यक्तिमें व्यञ्जनाके महत्त्वपर प्रकाश डाला है “व्यापक अर्थमें तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौन्दर्य वा प्रत्येक सामञ्जस्यकी अनुभूति भी रसस्यानुभूति है।” (महादेवी बमाना विवेचनात्मक गद्य पृ २६)

“इस प्रकारकी अभिव्यक्तिमें मात्र रूप चाहता है, अतः टीकीका कुछ सङ्केतमयी हो

माना सहज सम्भव है। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँके सिद्ध एक सङ्केतात्मक शैली बहुत पहले बन चुकी थी। अरुणप्रधानसे लेकर कृष्णमठ काव्यकलातक अपने ऐसी शैलीका प्रयोग किया है जो परिचितके माध्यमसे अपरिचित और स्थूलके माध्यमसे सूक्ष्मतक पहुँचा सके।”

—म का वि ग, पृ १२

अन्तर्बाहसे आगेकी नयी प्रयोगवादी कवितामें व्यञ्जनाका आधार और मी अनिर्वाच्य हो गया है। प्रयोगवादी कविने जब शब्दमें साधारण अर्थसे अधिक अर्थ भरना चाहा तो स्वभावतः ही उसे व्यञ्जनाका आश्रय लेना पड़ा। वास्तवमें इस नयी कविताकी माया अल्पबिन्दु साङ्केतिक तथा प्रतीकात्मक है। यहाँ शब्दमें इतना अधिक अर्थ भरनेका प्रयत्न किया गया है कि उसकी व्यञ्जनाशक्ति जवाब द खाती है—यह व्यञ्जनाके साथ कल्पितकार है।

हिन्दीमें ध्वनिसिद्धान्तके विकासका यही संक्षिप्त इतिहास है।

उपसंहार

ध्वनिसिद्धान्तकी परीक्षा

अन्तमें, उपसंहाररूपमें, ध्वनिसिद्धान्तका एक सामान्य परीक्षण और आकलन है। क्या ध्वनिसिद्धान्त सर्वथा निर्गम्य और काव्यका एकमात्र स्वीकार्य सिद्धान्त है? क्या यह रससिद्धान्तसे भी अधिक मान्य है। इस प्रश्नका वृत्त रूप यह है : काव्यकी आत्मा ध्वनि है अथवा रस? जैसा कि प्रसङ्गमें कहा गया है अस्तित्वगत रस और ध्वनिमें कोई अन्तर नहीं रह गया था। यों तो आनन्दवर्धनने ही रसको ध्वनिक्रम अनिर्वाच्य ठहरा म्यना था, पर अभिनवने इसको और भी स्पष्ट करते हुए रस और ध्वनिसिद्धान्तोंको एकरूप कर दिया। फिर भी इन दोनोंमें सूत्र अन्तर न हो यह बात नहीं है—इस अन्तरकी खोजना अभिनवके बाद भी निरस्तवैह कनी रही। विद्यानाथका रसप्रतिपादन और उसके बाद पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उनकी आलोचना तथा ध्वनिका पुनःस्थापना इस सूत्र अन्तरक अस्तित्वका साक्षी है। अतएव दोनोंके महत्त्वका प्रश्न है, उद्यमें अन्तर नहीं किया जा सकता। ध्वनि रसक बिना काव्य नहीं बन सकती और रस ध्वनित हुए बिना कबल कथित होकर काव्य नहीं हो सकता। काव्यमें ध्वनिका सरस रमणीय होना पड़ेगा, और रसको स्पष्ट होना पड़ेगा। सूत्र अस्त हो यथासे एक ध्वनि यह निकलती है कि ‘अथ काम बन्द करो’—परन्तु ध्वनिकी स्थिति असन्दिग्ध होनेपर भी रसके अभावमें यह काव्य नहीं है। इसी प्रकार ‘तुल्यन्त शकुन्तलाके प्रेम करता है यह वाक्य रसका कथन करनेपर भी व्यञ्जनाके अभावमें काव्य नहीं है। अतएव दोनोंकी अनिर्वाच्यता असन्दिग्ध है परन्तु प्रश्न सापेक्षिक महत्त्वका है। विधि और तत्त्व दोनोंका ही महत्त्व है परन्तु फिर भी तत्त्व तत्त्व ही है। रस और ध्वनिमें तत्त्व परका अधिकारी कौन है? इसका उत्तर निश्चित है—रस। रस और ध्वनि दोनोंमें रस ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, उद्येक कारण ध्वनिमें रमणीयता आती है। पर रसको व्यापक अर्थमें ग्रहण करना चाहिये। रसको मूलतः परम्परागत साहित्य विभागातुभावाभावमिचारीके संयोगसे निष्पन्न रसके अर्थमें ग्रहण करना सहात नहीं। रसक अन्तर्गत समस्त भावविभूति अथवा अनुभूतिवैभव आ जाता है। अनुभूतिकी बाहक [व्यञ्जक] बनकर ही ध्वनि रमणीयता आती है अथवा यह काव्य नहीं बन सकती। अनुभूति ही

सहृदयक मनमें अनुभूति जगाती है। हाँ, कविजी अनुभूतिको सहृदयके मानसतक प्रेरित करनेके लिये कल्पनाका प्रयोग अनिवार्य है—उसीके द्वारा अनुभूतिका प्रेक्ष्य सम्भव है। और कल्पना द्वारा अनुभूतिका प्रेक्ष्य ही तो शास्त्रीय धम्प्रावर्द्धीमें उसकी व्यञ्जना या जनन है। इस प्रकार रस और ध्वनिका प्रतिद्वन्द्व अनुभूति और कल्पनाका ही प्रतिद्वन्द्व टकरता है। और, अन्तमें जाकर वह निश्चय करना रह जाता है कि इन दोनोंमेंसे कल्पके लिए कौन अधिक महत्वपूर्ण है? यह निर्णय भी अधिक कठिन नहीं है—अनुभूति और कल्पनामें अनुभूति ही अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि कल्पका संवेद्य वही है। कल्पना इस संबन्धका अनिधान साधन अवश्य है, परन्तु सर्वेष नहीं है। इसीलिए प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आल्ब्रेचत रिचर्ड्सने प्रत्येक कविताको मूळतः एक प्रकारकी अनुभूति ही माना है। और जैसे भी 'रसो मे सः' रस तो जीवन-वेदनाका प्राण है—कल्पके क्षेत्रमें या अन्यत्र उसको अपने पदसे कौन स्पृष्ट कर सकता है? ज्ञानिद्विद्वान्तका सबसे महत्वपूर्ण योग यह रहा कि उसने जीवनके प्रापञ्च रस और कल्पके माधित रसके बीचका अन्तर स्पष्ट कर दिया।

ग्रन्थकार

'ध्वन्यालोक'की रचनाक विषयमें संस्कृतक पण्डितोंमें तीव्र मतभेद है। ग्रन्थक तीन अङ्ग हैं : कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। कारिकामें विद्वान्तका सूत्ररूपमें प्रतिपादन है, वृत्तिमें कारिकाओंकी व्याख्या है, और फिर उदाहरण हैं। उदाहरण प्रायः संस्कृतक पूर्व ध्वनिकाधीन कवियोंसे दिये गये हैं पर अनेक स्वयं आनन्दबर्षनके अपने भी हैं। ज्योंतक वृत्तिका सम्बन्ध है, यह निर्दिष्टाव है कि उसके रचयिता आनन्दबर्षन ही थे। प्रकृत कारिकाओंकी रचनाका है। संस्कृतकी प्रचलित परम्पराके अनुसार कारिका तथा वृत्ति दोनोंकी रचना आनन्दबर्षनने ही की है। 'ध्वन्यालोक' एक ही ग्रन्थ है और उसका एक ही रचयिता है। उत्तर ध्वनिकाङ्के प्रायः सभी आचार्य आनन्दबर्षनको ही ध्वनिकार अर्थात् कारिका और वृत्ति दोनोंका रचयिता मानते हैं। प्रसिद्धार-नुपुत्रक, कुन्तक, महिममह, श्रेमेन्द्र मम्मट सभीक वाक्य इसके प्रमाण हैं। परन्तु शब्दाका बीज अभिनवगुप्तक 'लोचन'में है। कारिकाओं और वृत्तिकी व्याख्या करते हुए अभिनवन अनेक स्थलोंपर कारिकाकार और वृत्तिकारका पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। "सके अतिरिक्त कारिकाकारक लिए मूलग्रन्थ [कार] तथा वृत्तिकारक लिए ग्रन्थ [कार] शब्दका भी प्रयोग 'लोचन'में मिलता है। अतएव डा तुह्र और उनक पत्रपात् प्रो जेकोबी, प्रा फ्रीस और इन्फ डा डे तथा प्रो कापेका मत है कि कारिकाकार अर्थात् मूल-ध्वनिकार आर वृत्तिकार आनन्दबर्षनमें भेद है। इस भेदके पण्डितोंका अनुमान है कि कारिकाकारका नाम सहृदय था—उसीके आचारपर अभिनवन 'ध्वन्यालोक'को कर म्यानोंपर 'सहृदयालोक' भी लिखा है। मुकुल आदि कुछ कवि आचार्योंने भी ध्वनिकारक लिए सहृदय शब्दका प्रयोग किया है, "तथाहि सप्त विवक्षितान्वरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता। इसक अतिरिक्त प्रो कापेने प्रथम कारिकाके 'सहृदयमनः प्रीतये' श्लोककी वृत्तिमें सहृदयानामानन्दो मनसि हृमतां प्रतिश्राम्" आदि शब्दोंके आचारपर इत अनुमानको पुष्ट करनेकी चेष्टा की है। उनकी चारणा है कि आनन्दने जान-बूझकर श्रेयक आचारपर इत वृत्तिमें अपने गुरु मूल-ध्वनिकार सहृदय और अपने नामका समावेश किया है। परन्तु उत्तर इनक किस्तीत डा ठकरन्का मत है कि 'लोचन'में अभिनव गुप्तने कवत स्पष्टीकरणके उद्देशसे ही कारिकाकार और वृत्तिकारका पृथक् उल्लेख किया है। संस्कृतके

अनेक आचार्यों का रिकार और वृत्तिकी शैली अपनायी है। सूत्ररूपमें सिद्धान्त-कारिका देकर वे स्वयं ही फिर उसका वृत्ति द्वारा व्याख्यान करते हैं—बामन, मम्मट आदिने यही पद्धति प्रारंभ की है।

इसके अतिरिक्त स्वयं अभिनवने ही 'अभिनवभारती' में अनेक न्यूनोप-श्लोकों का अर्थ माना है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सम आसनेन्दुस आस' अद्वैती क्रिदितिसमा इन संस्कृत में डा० संकरने अभिनवके उद्धरणों द्वारा ही इस भेदसिद्धान्तका लक्षण किया है, और संस्कृतकी परम्पराका ही मान्य पोषित किया है।

डा संकरनेका लक्ष्य है कि यदि कारिकाकारका व्यक्तित्व पूरा या तो उनके व्यासगत एक शताब्दी पश्चात् कुन्तक महिमामह तथा अभिनवके शिष्य शेषेन्द्रके इस विषयमें आन्तिके लिए अधिक अवकाश नहीं था। इसका अतिरिक्त यह कथन सम्भव हो सकता है कि स्वयं आनन्द ही उनसे परिचित न हों वा उन्होंने जान-बूझकर अपने गुरुका नाम छिपाकर अपनेको ही ध्वनिकार पोषित कर दिया हो। आनन्दने स्पष्ट ही अपनेको ध्वनिका प्रतिष्ठता कहा है :

इति काव्यार्थविषयके याऽयं श्लोकसमस्तकृतिविभाषी ।

सुरिभिरसुसृतसारैरस्मदुपज्ञा ग विस्मार्थः ॥

[इस प्रकार वृत्तिको समझ कर लेना जो काव्यार्थविषय हमारे द्वारा प्रस्थापित किया गया वह सारग्राही विद्वानों द्वारा विस्मरण योग्य नहीं है।]

यहाँ 'अस्मदुपज्ञः'—'हमने उसकी प्रतिष्ठा की है स्वयं व्यक्त है।

इसके अतिरिक्त अन्तिम श्लोक—

सत्यकाम्यतस्वविषयं स्फुरितप्रसृतकस्य मनस्तु परिपक्वविषयां यथासीत् ।

तद्व्याकरोत्सहृदयोदयसामहेतोरगनन्दबधन इति प्रथितामिधाना ॥

[काव्य (रचना) का तल और नीतिका जो मार्ग परिपक्व बुद्धि (सहृदय विद्वानों) के मनमें प्रयुक्त-सा (अस्यक्त रूपमें) स्थित था, सहृदयोंकी अमिद्वि और धामके लिए, आनन्दबधन नामक (पविष्टने) उसको प्रकाशित किया।]

इस प्रकारकी स्पष्टिकीके रहते हुए भी यदि कारिकाकारका पूरा व्यक्तित्व माना जाय तो वह हमारे शब्दोंमें आनन्दबधनपर साहित्यिक चौर्यका अयोग्य समाना हागा जो सर्वथा अनुचित है। अतएव यही निष्कर्ष निकलता है कि आनन्दबधनने ही कारिका और वृत्ति दोनोंकी रचना की है और 'अध्यायः' एक ही ग्रन्थ है। किन्तु सहृदयशिरोमणि आनन्दबधनने पहली कारिकामें प्रसिद्ध की थी कि "तेन ह्यस्य सहृदयमन-पीठये कल्परूपम्" अर्थात् "मतिष्ठ अत्र सहृदयसमाजकी मन-पीठिके लिए उसका स्वरूप कल्पन करते हैं उन्होंने ही वृत्तिक अन्तमें 'तद्व्याकरोत्सहृदयोदयसामहेतोरगनन्दबधन इति प्रथितामिधाना' अर्थात् उसका सहृदयोंके उद्धरण (सुसृष्ट विचार) के लिए आनन्दबधनने व्याख्यान किया।

आनन्दबधनका समर्पणार्थक कर्तृत्व नहीं है। 'राजतरङ्गिणी' में स्पष्ट किया है कि वे अशक्ति-बन्धुके राजक स्यादित्यस्य कथिष्येति य ।

मुलाकषाः शिष्यामी कथिरगनन्दधर्षना ।

प्रयां ररनाकरद्वानारसात्त्राग्येऽवन्तिधर्मणः ॥

अशक्तिकर्षणं या बर्षणं करमीरके महाशय ये और उनका सम्बन्धक सन् ८५५ ई से ८८१ ई तक था। पहले श्लोकमें ही इस निषेधकी पुष्टि स्पष्ट ही हो जाती है। उदाहरणके लिए,

एक ओर आनन्दवर्धनने उद्भटका मूल उद्धृत किया है, और दूसरी ओर राजशेखरने आनन्दवर्धनका उद्धरण दिया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वे उद्भटके सम्यक् अर्थात् ८ ई के पश्चात् और राजशेखरके समय अर्थात् १० ई के पूर्व हुए थे। अतएव आनन्दवर्धनका समय ९वीं शताब्दी ईसाका मध्य भाग अर्थात् ८५ ई के आस-पास माना जा सकता है। इनके विषयमें और कोई उपादेय तथ्य उपलब्ध नहीं है। 'देवीशतक' श्लोकसंख्या ११ से यह सहज मिलता है कि इनके पिताका नाम गोप या षष्ठ।

आनन्दवर्धनकी प्रतिभा बहुमुत्पीयी थी। काम्यशास्त्रके अपूर्व मेधावी आधाव होनेके अतिरिक्त वे कवि और दार्शनिक भी थे। उन्होंने 'ध्वन्यालोक'के अतिरिक्त 'अर्जुनचरित विषयमहाजकीर्ण' 'देवीशतक' तथा 'तत्त्वालोके' आदि प्रयोगकी रचना की है। इनमें 'अर्जुनचरित' और 'विषयमहाज कीर्ण'के अनेक सख्त प्राकृत छन्द ध्वन्यालोक में उद्धृत हैं। 'देवीशतक'में समक श्लेष चित्रबन्ध आदिका बहुरूप दिखाया गया है—इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने विप्रको काम्यशैलीसे बहिष्कृत क्यों नहीं किया। 'तत्त्वालोके' दशमप्रश्न है। अभिनवने कोषनमें इन प्रयोगका उल्लेख किया है।

'ध्वन्यालोक'का प्रतिपाद्य विषय

ध्वन्यालोकका प्रतिपाद्य मूलतः ध्वनिसिद्धान्त है। आनन्दवर्धनने इस सिद्धान्तका अत्यन्त साक्षोपासन्न विवेचन करते हुए काम्यके एक साधुमौल सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। ध्वनिके विकल्प सम्प्राम्य आपत्तियोंका निराकरण करते हुए उन्होंने फिर प्रतीयमानकी स्थापना और 'बान्ध'से उसकी भेदताका निर्धारण किया है। इसके उपरान्त ध्वनिकाव्यकी भेदियों और ध्वनिके भेदोंका बहान है। फिर ध्वनिकी व्यापकता अर्थात् लघु, कृन्त, उपसर्ग प्रत्यय आदिसे लेकर महाकाव्य-तक उसकी सत्ताका प्रदर्शन किया गया है। और, अन्तमें काम्यके गुण, रीति अलङ्कारसिद्धान्तोंका ध्वनिमें समाहार किया गया है। यह तो हुआ 'ध्वन्यालोक'का मूल प्रतिपाद्य।

मूल प्रतिपाद्यके साथ-साथ प्रसङ्गरूपसे 'ध्वन्यालोक'में काम्यके कुछ अन्य महत्वपूर्ण सिद्धान्तोंका भी विवेचन मिलता है—उदाहरणके लिए गुण सङ्घटना और अलङ्कारका रसके साथ सम्बन्ध। ध्वनिकारने अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें गुण और रसका सहज सम्बन्ध माना है—कर्म और शृङ्गारका माधुर्यसे सहज सम्बन्ध है और रौद्रका ओजसे। पर सङ्घटनाका गुण और रसके साथ अनिश्चय सम्बन्ध नहीं है—साधारणतः माधुर्यके लिए असमाता और ओजके लिए मध्यमसमाता या दीर्घसमाता सङ्घटना अधिक उपयुक्त होती है परन्तु यह कोई अटक निबन्ध नहीं है। इसके विपरीत स्थिति भी हो सकती है—मध्यम या दीर्घसमाता सङ्घटनाके साथ भी माधुर्य गुण तथा शृङ्गार या कर्णरसकी स्थिति सम्भव है और असमाता सङ्घटना द्वारा भी ओज गुण और रौद्ररसका परिपाक हो सकता है। वही बात अलङ्कारके सम्बन्धमें भी है। अलङ्कारोंका भी रसका सहकारी होना चाहिये—उनकी स्वतन्त्र स्थिति जो रसमें क्षामक हो, स्वल्प नहीं है। शृङ्गार और कर्ण जैसे कोमल रसोंके लिए यमक आदि अनुकूल नहीं पड़ते, रसक, पर्यायोक्त आदिकी उनका साथ सङ्घति अच्छी तरहसे बैठ जाती है आदि-आदि।

आगे चलकर 'ध्वन्यालोक'में रसके परिपाककी चर्चा है : रसोंके विरोध आर अविरोधका उल्लेख है। ध्वनिकारने स्पष्ट लिखा है कि संस्कृतिका रसके परिपाकरण ही ध्यान केंद्रित करना चाहिये। प्रतिमाशास्त्री कवि अपने काम्यमें मिश्र-मिश्र रसोंका समावेश करता हुआ एक मूल रसका

सम्पत् परिपाक करता है। इसी प्रसङ्गमें आनन्दने छान्तरसको भी सदास शब्दोंमें मान्यता दी है। छान्तरका स्वामी है धाम, जो सांसारिक विषयोंका निषेध है। यह अपने आपमें परम सुख है। अन्व मार्गोंका आन्वाह इसकी तुलनामें नगण्य है। यह टीका है कि "सको समी प्राप्त नहीं कर सकते, परन्तु इससे छान्तरसकी अमान्यता सिद्ध नही होती।

अन्तमें, चौथे अधोत्वमें प्रतिमाक आनन्दन्यका वर्णन है। प्रतिमाद्याली कवि जिनके द्वारा प्राचीन भाष, अर्थ उक्ति आदिको नूतन चमत्कार प्रदान कर सकता है। इस प्रकार अनेक प्राचीन कान्तोंके रहते हुए भी काम्यधेन असीम है। प्रतिमाद्याली कवियोंमें माधसाम्य वा उक्तिवाम्यका पाया जाना कोई दोष नहीं है। यह साम्य तीन प्रकारका होता है—विम्वयत् चित्रवत् और देहवत्। इनमें विम्व और चित्रवाम्य स्वरूपीय नहीं हैं, परन्तु देहवाम्यमें कोई दोष नहीं है यह प्रतिमाका उपकार ही करता है।



अथ श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो

ध्वन्यालोकः

प्रथम उद्योत'

स्वरूपाकेसरिणाः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।

आयन्तां धो मधुरिपो प्रपन्नार्तिच्छिद्यो नत्वा' ॥

अथ श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिधिरचिता

'मालोक्यदीपिका' हिन्दीभाष्या

उपदृता वाचस्पतिक्यात्म्यन् वाचस्पतिर्ब्रह्मताम् ।

उ भुतेन गमेमहि मा भुतेन विरधिपि ॥ —अथर्ववेद

ध्वन्यमानं गुणीभूतस्वरूपाद् विस्वरूपकात् ।

रत्नं परं ब्रह्म शास्त्रं समुपात्महे ॥

ध्वयं ध्वयं निगमविदितं विश्वरूपं परं

स्मारं स्मारं परमधुरालं श्रीगुरोस्तत्त्वदीपम् ।

ध्वयं ध्वयं ध्वनिनवनयं वर्षनोपक्रमेन

ध्वन्यालोके विवृतिविद्यते माफ्या स्तनामि ॥

मङ्गलाचरण

समस्त शुभ कार्योंके प्रारम्भमें मंगलान्का स्मरण मागमें जानेवाली वाद्यधौपर विभव प्राप्त करनेकी शक्ति प्रदान करता है इति ध्वनि प्रारम्भमें बैठे महत्त्वपूर्ण कार्योंके प्रारम्भमें भी उतकी निर्विघ्न परिसमाप्तिकी भावनासे मंगलान्के स्मरणरूप मङ्गलाचरणकी परिपाटी सदाचारप्राप्त रही है। यद्यपि मंगलान्का स्मरण मानसिक ध्यापार है परन्तु मन्त्रकार विश्व रूपमें मंगलान्का स्मरण करता है उतको धिष्णोकी विज्ञानसे स्थिर मन्त्रक आरम्भमें अङ्कित कर देनेकी प्रथा भी संस्कृत साहित्यकी एक सदाचार प्राप्त परिपाटी है। अन्वय उक्तके प्रयोगमें प्रायः सदा मङ्गलाचरण पाया जाता है।

ध्वन्यालोककार श्री आनन्दवर्धनाचार्यने अपने प्राचीनतम मन्त्रकी निर्विघ्न समाप्ति और उतके मागमें जानेवासे धिष्णोपर विभव प्राप्त करनेके स्थिर आधीर्वाद, नमस्त्रिया तथा वस्तुनिर्देशरूप धिष्ण मङ्गल प्रारम्भमें आधीर्वादनरूप मङ्गलाचरण करते हुए नरसिंहाकारके प्रपन्नार्तिच्छिद्य नत्वाका स्मरण किया है।

स्वयं अपनी इच्छासे सिंह [सुसिंह] रूप धारण किये हुए [मधुरिपु] विष्णु मंगलान्के, अपनी निर्मल वास्तिसे अद्भुतमाकी शिष्य [सिद्धि] करनेवाले, शरणागतोंके शुभनाशममें समर्थ तब, तुम सब [ध्याय्यता तथा भोता] की रक्षा करें।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति ध्रुवैर्य समाम्नातपूर्व
 स्तस्यामार्थं जगत्पुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये ।
 केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूषुस्तवीर्यं
 तेन द्रूम सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ १ ॥

विष्णोः नाथ और उनपर विश्वप्रतिके लिए वीररूपके स्थापिभाव उसकाही विशेष उपयोगिताकी दृष्टिसे ही प्रत्यकारने अपन इष्टव्यक वीररसामिव्यञ्जक स्वरूपका स्मरण किया है।

यहाँ एकछोप म्याननेर 'वः' पद प्रत्यक्ता व्याख्याता और भोता भादि स्वरूप वाचक भी हो सकता है। परन्तु लक्षणकारने एकछोप न मानकर 'व' का सीधा 'सुमान्' अर्थ किया है और इस प्रकार स्वरं प्रत्यकारको इस आशीर्षचनसे अलग कर दिया है। इसका कारण बताते हुए उन्होंने "स्वयमभ्युच्छिन्नपरमेभरनमस्कारसमासिचरितायोऽपि व्याख्यातुभोक्तृगामविचोनाभीष्टव्याख्यामवयवस्य च लस्यचरं समुच्चितायोऽप्रकटनद्वारेण परमेभरसामुस्यं करोति वृत्तिकारः स्वेष्येति।" लिखा है। अर्थात् मङ्गलवाचनकार स्वयं तो निरन्तर ईश्वर नमस्कार करते रहनेक कारण ह्यार्थ ही हैं, अतः व्याख्याता और भोताओंके लिए ही आशीर्षचन द्वारा रखाकी प्रायना की है।

कारिकाकार और वृत्तिकारका अमेद

'अचन'की इस पंक्तिमें 'वृत्तिकारः' पदका तथा अन्यत्र 'कारिकाकारः' पदका उल्लेख होकर कुछ नवीन विद्वानोंने 'ध्वन्यालोक'के कारिकाभागका रचयिता सहृदय'को और वृत्तिभागका रचयिता आनन्दवर्णनाचार्यको माना है। किन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि यहाँपर वृत्तिभाग तथा कारिकाभाग दोनोंके आरम्भमें 'स्वेष्याकठरिणः' यह एक ही मङ्गलवाचनका श्लोक मिलता है। यदि इन दोनों भागोंके रचयिता भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते तो निश्चय ही दोनों भागोंके मङ्गलवाचनके श्लोक अलग-अलग होने चाहिये थे। फिर जो लोग सहृदय'का कारिकाभागका निर्माता मानते हैं वे ध्वन्यालोक'के वृत्तिभागक अन्तमें अन्तिम श्लोकमें आये हुए 'सहृदयोदयस्यमहेताः' पदक आधारपर ऐसा मानना चाहते हैं। परन्तु यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस श्लोकमें 'सहृदय' पद किसी व्यक्तिविशेषका वाचक न होकर काम्यमर्मोंका वाचक विशेषणपद है। आनन्दवर्णनाचार्यने मङ्गलवाचनक बाद सबसे पहिली कारिकामें 'तेन द्रूम सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्'में 'सहृदय' पदका प्रयोग किया है। प्रत्यका समास करते हुए वृत्तिभागके अन्तमें अन्तिम श्लोकमें भी उही 'सहृदय' पदसे प्रत्यका उपसंहार किया है। दोनों जगह 'सहृदय' पद काम्यमर्मोंका वाचक है। उपरम और उपसंहारका यह सामञ्जस्य कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनोंके एक ही कर्ताको सूचित करता है। इसलिए वा लोग 'सहृदय'को ध्वनि-कारिकाओंका रचयिता मानते हैं वे न्यायसङ्गत नहीं। यदि 'सहृदय' ही कारिकाकार होते तो वे प्रथम कारिका 'सहृदयमनःप्रीतये' जैसे शिब्य शक्य थे।

ध्वनिविषयक तीन विप्रतिपक्षियाँ

भोताओंके मनको प्रकृत विश्वमें एकत्र करनेके लिए प्रत्यके प्रतिपाद्य विषय और उतके प्रयोजनका प्रतिपादन करते हुए प्रत्यकार, प्रत्यका आरम्भ इन प्रकार करते हैं—

काव्यके आरम्भभूत मित तस्वको विद्वान् सोग ध्वनि नामसे कहते आये हैं कुछ लोग उसका अन्वय मानते हैं। वृत्त सोग उसे भाषा [गीण स्रष्टणागम्य] कहते हैं

और कुछ लोग उसके रहस्यको भाषीका अभिपय [अवर्णनीय अनिश्चयनीय] मतछाते हैं। मतपय [ध्वनिके विषयमें इन नाना विप्रतिपत्तियोंके होनेके कारण उनका निराकरण कर, ध्वनिस्थापना द्वारा] सहवर्षा [काव्यमर्मज्ञानों]की मनकी प्रसन्नता [इष्टपाह्लाव]के लिये हम उस [ध्वनि] के स्वरूपका निरूपण करते हैं। १।

‘सामान्नातपूर्वः’का समाधान

इस पदमें प्रत्यकारने ध्वनिविद्वान्तको ‘सामान्नातपूर्वः’ एक प्राचीन विद्वान्त माना है। परन्तु बहुतक लिखित वाक्यका सम्बन्ध है, संस्कृत साहित्यमें ध्वनिविद्वान्तके विषयमें ‘ध्वन्यालोक’से प्राचीन कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। उस आनन्दवर्षनाचानने इसको ‘सामान्नातपूर्व’ कैसे कहा है यह प्रश्न उपस्थित होता है। उसका समाधान यह है कि यद्यपि ‘ध्वन्यालोक’क पूर्व लिखित कम ध्वनि-विद्वान्तका प्रतिपादन नहीं हुआ था, किन्तु मौखिकरूपसे काव्यके आत्मतत्त्वविषयक विचारके प्रसङ्गमें शब्दादि प्रसिद्ध अथवायोंसे अतिरिक्त काव्यक जीवनाभाषक तत्त्वको लोग स्वीकार करते थे। काव्यके आत्मभूत तत्त्वके नामकरणके विषयमें वे साहित्यमन्त्र व्याकरणशास्त्रके ज्ञानी हैं। व्याकरणशास्त्रमें श्रोत्रप्राप्त शब्दके लिए ‘ध्वनि’ पदका प्रयोग होता है। श्रोत्रप्राप्त शब्द अपनेसे परे स्वेटरूप निरूप शब्दका व्यञ्जक होता है। वह स्वेटरूप शब्द ही प्रधान है। इसी प्रकार काव्यके शब्द अपने वाच्यार्थसे परे किसी अन्य अर्थको व्यञ्जक करते हैं। वह व्यञ्जक अर्थ ही प्रधान और काव्यका आत्मा होता है। इसी सादृश्यके आधारपर काव्यके आत्मभूत तत्त्वका ‘ध्वनि’ यह नामकरण किया गया। ‘ध्वन्यालोक’के ‘बुधैर्न’ सामान्नातपूर्व’ इन शब्दोंको छेड़कर ही काव्यप्रकाशकारने “बुधैर्न्याकरसैः प्रधानभूतस्वेटरूपव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः इतः ध्वन्यालोकानुसारिभिरन्यैरेषु न्यग्यावितवाभ्यव्यञ्जकान्यन्यस्य शब्दायैर्पुण्यस्य। [धृष २] यह पंक्ति लिखी है। स्वयं आनन्दवर्षनाचानने भी भागों पर वही बात लिखी है। इससे प्रतीत होता है ‘सामान्नातपूर्व’ यह मौखिक परम्पराका निर्देश है।

विप्रतिपत्तियोंका विश्लेषण

प्रत्यक्षमें ‘ध्वन्यालोक’ ध्वनिका प्रतिपादन करनेवाला प्रथम ग्रन्थ है। अष्टादशशताब्दीमें इसके पहिले मरुतमुनिका ‘नाट्यशास्त्र’, माम्नाका ‘काव्यालङ्कार’, उद्भटके इस ‘काव्यालङ्कार’पर ‘मामहविचरण’ नामक टीका, रामानुका ‘काव्यालङ्कारसूत्र’ और उद्भटका ‘काव्यालङ्कार’ यही पाँच मुख्य ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। इनमें भी ‘मामहविचरण’ असीतक उपलब्ध या प्रकाशित नहीं हुआ है। परन्तु ‘ध्वन्यालोक’की लेखन टीकामें उक्तका उल्लेख बहुत मिलता है। इन पाँचों आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें ध्वनि नामसे कहीं ध्वनिका प्रतिपादन नहीं किया और न उसका लक्षण ही किया है। इसलिए वह अनुमान किया जा सकता है कि वे ध्वनिको नहीं म्यनते थे। ध्वन्यालोककार आनन्दवर्षनाचानने उसीके ग्रन्थोंके आधारपर सम्पादित तीन ध्वनिकिरीची पत्र बनाये प्रतीत होते हैं। एक अमावसादी पत्र, दूसरा मक्षिवादी पत्र और तीसरा अक्षयणीपवावादी पत्र। इन तीनों पत्रोंका निर्देश इस कारिकामें ‘उत्सामाव’ ‘मात’ और ‘वाचा’ निम्नअभिपये शब्दोंने किया है। वे तीनों पत्र उच्चोत्तर भेद पत्र हैं। इनमें प्रथम अमावसादी पत्र विषयवस्तुपत्र दूसरा मक्षिपत्र तन्त्रेदमूत्र और तीसरा अक्षयणीपतापत्र अज्ञानमूत्र है। अथात् प्रथम अमावसादी पत्रने प्राचीन आचार्योंके ग्रन्थोंको जो ध्वनिका अक्षयणीपत्र समझा है वह उनका प्रथम या निरपेक्षग्रन्थ है। इसलिए वह सनपा है या निम्न पत्र है। दूसरा मक्षिवादी पत्रने आमहवे ‘काव्यालङ्कार’ और उद्भट उद्भटक विचरणमें

गुणवृत्ति शब्दका प्रयोग बेलकर ध्वनिको मक्तिमात्र कहा है। उनका यह पक्ष सन्देहमूलक होने और ध्वनिका स्पष्ट नियम न करनेसे मध्यम पक्ष है। ग्रामहने अपने 'काम्याखण्डार'में लिखा है कि—

“ध्वन्याखण्डोऽभिधानाया इतिहासाभयाः कथाः ।

श्लोको मुक्तिः ककारनेति मन्तव्याः काम्यदेतवः ॥”

इस कारिकामें ग्रामहने शब्द, छन्द, अभिधान, अर्थ, इतिहासाभित कथा श्लोक, मुक्ति और कल्प इन काम्यदेतुओंका सम्यक् किया है। इनमें शब्द और अभिधानका भेद प्रदर्शित करते हुए विवरणकार उद्धरणे लिखा है—

“ध्वन्यानामभिधानं अभिधान्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च ॥”

इस प्रकारका अभिप्राय यह है कि शब्द पदसे ठा शब्दका ग्रहण करना चाहिये और अर्थ पदसे अर्थका। शब्दका अर्थबोधनपरक श्लो व्यापार है उसे 'अभिधान' पदसे ग्रहण करना चाहिये। यह अभिधान या अभिधान्यापार मुख्य और गुणवृत्ति या श्लोक भेदसे दो प्रकारका है।

इस प्रकार ग्रामहने अभिधान पदसे उद्धरणे गुणवृत्ति शब्दसे और वामनने “साहस्यत् कथना बन्धोक्तिः” में 'कथना' शब्दसे उस ध्वनिमात्रका तनिक स्पष्ट तो किया है परन्तु उसका स्पष्ट व्यक्त नहीं किया है इसलिए यह सन्देहमूलक मक्तिवादी मध्यम पक्ष बना।

जब प्राचीन आचार्य ध्वनिमार्गका स्पष्टमात्र करके बिना छल्लव किये छोड़ गये तो उसका कोरं व्यक्त हो ही नहीं सकता। यह अभावकारका तृतीय अन्वयव्यतिरिक्तवाक्य पक्ष है। यह पक्ष प्रथम पक्षकी मूर्ति ध्वनिका न स्पष्ट नियम करता है और न द्वितीय पक्षकी भाँति सन्देहके कारण उसका अपह्नव ही करता है। केवल उसका उल्लेख करना नहीं जानता है। इसलिए यह पक्ष अश्वनमूलक और टीनोंमें सबसे कम वृत्ति पक्ष है।

ध्वनिके विशेषमें सम्भावित इन टीनों पक्षोंमें प्रथम अभाववादी पक्षके भी टीन निरुक्त प्रत्यकारने किये हैं। इनमें पहिले विकल्पका आशय यह है कि छन्द और अर्थ ही काम्यके शरीर हैं। उनमें शब्दके स्वरूपगत वास्तवहेतु अनुप्रासादि शब्दाखण्डार, अर्थके स्वरूपगत वास्तवहेतु उपमादि अर्थखण्डार और उनके सहजतयागत वास्तवहेतु माधुर्यादि गुण प्रसिद्ध ही हैं। इनसे भिन्न और कोरं काम्यका वास्तवहेतु नहीं हो सकता। उद्धरणे नागरिका उपनागरिका और ग्राम्या इन टीन वृत्तियोंको और वामनने वैदनी आदि चार वृत्तियोंको भी काम्यका वास्तवहेतु माना है। परन्तु उन दोनोंका अन्तर्भाव अखण्डार और गुण्यमें ही हो जाता है। उद्धरणे वृत्तियोंका निरूपण करते हुए स्वयं भी उनको अनुप्राससे अभिमत माना है। उन्होंने लिखा है

“सकृत्प्रवृत्तान्यासं शिव्येतासु वृत्तियुः ।

पृथक् पृथगनुप्रासमुद्यन्ति कथयाः स्या ॥”

'पर्यानुप्रासा नागरिका, मन्वयानुप्रासा उपनागरिका, मध्यमानुप्रासा ग्राम्या' ये जो वृत्तियोंके उल्लेख किये हैं वे भी उनकी अनुप्रासारमकराके सूचक हैं। उद्धरणे भी अपने 'काम्याखण्डार' प्रत्यमें अनुप्रास की पौष वृत्तियोंका वर्णन किया है। परन्तु यह सब अनुप्रासके ही रूप हैं। 'अनुप्रासस्य पञ्च इत्यथो मन्वितः। मन्वुत्त मीढा पर्या बन्धिता भवेति इत्यथा पञ्च' [इदत्त 'काम्याखण्डार' अ २, का १९] से भी वृत्तियोंकी अखण्डारमिपत्ता सिद्ध होती है। इसी प्रकार वामन द्वारा किन् वैदनी प्रवृत्ति वृत्तियोंको वास्तवहेतु कथावा गया है वे माधुर्यादि गुण्यमें व्यतिरिक्त हैं। इस प्रकार अखण्डार और गुण्यके व्यतिरिक्त और कोरं काम्यका वास्तवहेतु सम्भव नहीं है। यह अभावकारका प्रथम निरुक्त है। इसीको मागे मिलते हैं—

पुत्रैः काव्यतत्त्वविभिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समान्ना
तपुषः सन्मन्वासासमन्ताद् म्नातः, प्रकटितः, तस्य सङ्ख्यजननमतःप्रकाशमानस्या
ध्वभावमन्ये जगतुः ।

तद्भाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति । ... अमानवक्षीमत

तत्र कैश्चिदापधीरन्, शब्दार्थशरीरस्तावत् काव्यम् । तत्र शब्दगताआरुत्वहेतवो
ऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोपमादयः । वर्णसङ्घटनाबर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि
प्रतीयन्ते । तद्वनितिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि याः कैश्चित्तुपनागरिकायाः प्रकाशिताः वा अपि
गताः भवणगोचरम् । रीतयश्च वैदर्भीप्रसूतयः । तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति ?

अन्ये ब्रूयुः नास्त्येव ध्वनिः । प्रसिद्धप्रस्थानध्वतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्य
त्वहानेः । सङ्ख्यसङ्ख्यादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यसङ्गणम् । न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो

‘ध्वनि’ अर्थात् काव्यमर्मज्ञाने काव्यके आधारभूत जिस तत्त्वको ‘ध्वनि’ यह नाम
दिया, और [इसके पूर्व किसी विशेष पुस्तक भाषिमें विशेष किये गिना मी] परम्पराले
जिसको बार-बार प्रकाशित किया है । मछी प्रकार विशद रूपसे अनेक बार प्रकट किया
है, सङ्ख्य [काव्यमर्मज्ञ] जनोंके मनमें प्रकाशमान [सकळ सङ्ख्यसंबंध] उस
[व्यक्तप्रकृत काव्यारमभूत ध्वनि] तत्त्वका मी [मामद, मद्दोव्मट भादि] कुछ लोग
अमाय कहते हैं ।

उन अभाववादीयोके ये [निम्नलिखित तीन] विकल्प हो सकते हैं ।
१—कोई [अभाववादी] कह सकते हैं कि काव्य, शब्दार्थ शरीरवाला है ।
[अर्थात् शब्द और अर्थ काव्यके शरीर हैं] यह तो निर्विषय है । [तावत् शब्द ध्वनि
वादी सहित इस विषयमें सबकी सहमति सूचित करता है । काव्यके शरीरभूत उन
शब्द अर्थके वादत्वहेतु दो प्रकारके हो सकते हैं । एक स्वरूपगत और दूसरे सङ्घट
नागत] उनमें शब्दगत [शब्दके स्वरूपगत] आरुत्वहेतु अनुप्रासादि [शब्दाच्छब्द]
और अर्थगत [अर्थके स्वरूपगत] वादत्वहेतु उपमादि [अर्थाच्छब्द] प्रसिद्ध ही हैं ।
और [इन शब्द अर्थके सङ्घटनागत वादत्वहेतु] वर्णसङ्घटना धम जो माधुर्यादि [गुण]
हैं ये भी प्रतीत होते हैं । उन [अच्छब्द तथा गुणों]से अभिन्न जो उपमागरिकादि
वृत्तियाँ किन्हीं [मद्दोव्मट]में प्रकाशित की हैं ये भी भवणगोचर हुई हैं और [माधुर्यादि
गुणोंसे अभिन्न] वैदर्भी प्रसूति रीतियाँ मी । [परन्तु] उन सबसे भिन्न यह ध्वनि कीन
सा [नया] पदार्थ है ?

अभाववादका कृष्ण विकल्प निम्नलिखित प्रकार है—

२—दूसरे [अभाववादी] कह सकते हैं कि, ध्वनि [कुछ] है ही नहीं । प्रसिद्ध
प्रस्थान [प्रतिष्ठित परम्परया व्यवहारमिति येन मार्गेण तत् प्रस्थानम्] शब्द और अर्थ
जिनमें परम्पराले काव्यव्यवहार होता है उस प्रसिद्ध [मार्गका अतिक्रमण करनेवाले
[‘ध्वनि’ रूप किसी मयीन] काव्यप्रकार [को माननेसे उस] में काव्यत्वहानि होगी

१ तद्वनितिरिक्तवृत्तयोऽपि वि ।

मार्गस्य तत् सम्भवति । न च तत्समयान्तःपाठिनः सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य^१
तत्प्रसिद्धया ध्वनी काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोमाहितामवलम्ब्ये ।]

पुनरपरे उस्यामावमन्यथा कथयेयुः । न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित् ।
कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तव्येव पारुस्वहेतुष्वन्तर्मावात् । तेषामन्यतमस्यैव वा
अपूर्वसमारूपाभात्रकरणे^२ यत्किंचन कथनं स्मात् ।

किंच, वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कश्चिन्मन्त्रित काव्यलक्षणविधायिभिः
प्रसिद्धैरप्रवर्षिते प्रकारेणैव, ध्वनिर्ध्वनिरिति^३ यदेववृत्तीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचने
नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्याः । सहस्रशो हि महात्ममिरन्त्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः
प्रकाश्यन्ते च । न च तेषामेवा वशा भूयते । तस्मात् प्रवाहमात्रं ध्वनिः । न स्वस्य
क्षेत्रभ्रमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम् ।

[उत्तमं काव्यका लक्षण ही नहीं वनेगा । क्योंकि] सहृदय हृदयाह्लात्क शब्दार्थयुक्तत्व
ही काव्यका लक्षण है । और उक्त [शब्दार्थशरीरं काव्यं] वाले] मार्गका अतिक्रमण
करनेवाले [ध्वनिकाव्यके] मार्गमें यह [काव्यलक्षण] सम्भव नहीं है । और उस
[ध्वनि] सम्प्रदायके [माननेवालोंके] अन्तर्गत [ही] किन्हीं [व्यक्तियोंको स्वेच्छासे]
सहृदय मानकर, उनके कथनानुसार ही [किसी परिकल्पित नवीन] ध्वनिमें काव्य
नामका व्यपहार प्रचलित करनेपर भी यह सब विद्वानोंको स्वीकार्य [मनायाही]
नहीं हो सकता ।

अन्वयवार्थिका तीसरा विकल्प निम्नलिखित प्रकार हो सकता है—

३—तीसरे [अभाववादी] उस [ध्वनि] का अभाव अन्य प्रकारसे कह सकते
हैं । ध्वनि नामका कोई नया पदार्थ सम्भव ही नहीं है । [क्योंकि यदि यह] कमनीयता-
का अतिक्रमण नहीं करता है तो उसका उक्त [गुण अलङ्कारदि] आदत्तवहेतुमीमें ही
अन्तर्भाव हो जाएगा । मद्यथा यदि गुण, अलङ्कारादिमेंसे किसीका [ध्वनि] यह नया
नाम [मी] रख दिया जाय तो यह बड़ी तुच्छ-सी बात होगी ।

और [यकीवि वाक् शब्दः, उच्यते इति धारणः, उच्यतेऽनया इति वागभिधा
व्यापारः] अर्थात् शब्द अर्थ और शब्दशक्तिरूप वाणी द्वारा] कथनशैलियोंके अन्त
प्रकार होनेसे प्रसिद्ध काव्यलक्षणकारों द्वारा अप्रदर्शित कोई छटा मोटा प्रकार
सम्भव भी हो तो भी ध्वनि ध्वनि कहकर और मिथ्या सहृदयत्वकी भावनासे अर्थ
बन्द करके जो यह अकाण्डताण्डय [नर्तन] किया जाता है इसका [तो कोई उचित]
कारण प्रतीत नहीं होता । अन्य विद्वान् महारामाहोने [काव्यके शोभासम्पादक]
सहस्रों प्रकारके अलङ्कार प्रकाशित किये हैं और प्रकाशित कर रहे हैं । उनकी तो यह
[मिथ्या सहृदयत्वामिमानमूलक अकाण्डताण्डयकी] अवस्था सुननेमें नहीं आती ।

१ परिकल्पित वि ।

२ प्रकारसे वि ।

३ तद्वत् ही वि ।

तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः,—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनाप्रहादि घाञ्छक्ति,
 व्युत्पन्नै रचितं न वैव वचनै र्वन्द्रेकिशून्यं च यत् ।
 काव्यं तद् ध्वनिता समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसम् चण्डो,
 नो विदुमोऽभिदधाति किं सुमतिना वृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ॥

[फलतः ध्वनिघाटीका यह अकारणताण्डव सर्वथा व्यर्थ है।] इसलिय ध्वनि यह एक प्रवादमात्र है जिसका बिभारयोग्य तत्त्व कुछ भी नहीं बताया जा सकता है। इसी भाषायाका अन्य [ध्वन्यालोककार आनन्दधर्मनाथार्यके समझाईत मनोरथ कवि]का, श्लोक भी है—

जिसमें अलङ्कारयुक्त, अत एव मनको आहावित करनेवाला, कोई वर्णतीय अर्थ तत्त्व [वस्तु] नहीं है [इससे अर्थालङ्कारोंका समाप सूचित होता है], जो धातुर्यसे युक्त सुन्दर शब्दोंसे विरचित नहीं हुआ है [इससे शब्दालङ्कारशून्यता सूचित होती है], और जो सुन्दर उक्तियोंसे शून्य है [इससे गुणयहित्य सूचित होता है। इस प्रकार जो शब्दके आरम्भहेतु अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों, अर्थके आरम्भहेतु उपमादि अर्थालङ्कारों और शब्दार्थसङ्घटनाके आरम्भहेतु माधुर्यादि गुणोंसे सर्वथा शून्य है] उसकी यह ध्वनिसे युक्त [उत्तम] काव्य है यह कहकर [गठानुगतिक गण्डिकाप्रपादसे] प्रीतिपूर्वक प्रशंसा करनेवाला मूर्ख, किसी बुद्धिमानके पूछनेपर मान्द नहीं ध्वनिका क्या स्वरूप बतायेगा।

२ मक्तिवादी पक्ष

यह अमावादी पक्षका उल्लंघन हुआ। आगे ध्वनिधरोपी वृत्त मक्तिवादी-पक्ष आता है। प्रथम अमावादी और तृतीय अक्षरगीततावादी ये दोनों पक्ष सम्मिश्रित पक्ष हैं अथवा दोनोंका निर्देश 'आहु' तथा 'ऊपु' इन परोक्ष 'किट्' अकारक प्रयोगों द्वारा किया गया है। परन्तु बीचके मक्तिवादी पक्षका, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'मामह'क 'काम्पालङ्कार' और 'उमर'के 'मामहविरण' प्रत्ये द्वारा परिचय प्राप्त हो चुका है, इसलिये उनका निर्देश परोक्षतापूर्वक किट् अकारक द्वारा न करके, निम्नप्रवर्तमानस्वरक कट् अकारके 'आहु' परसे किया गया है।

'मक्तिवादी'में प्रयुक्त 'मक्ति' शब्दकी व्युत्पत्ति पार प्रकारसे की गयी है। मक्ति शब्दसे आङ्कारिकोंकी 'अलगा' और मीमांसकोंकी 'शैष्ठी' नामक दो प्रकारकी सम्प्रदायिकोंका ग्रहण होता है। आङ्कारिकोंकी लक्षणाके मुद्रनाथबाप, धामीप्यादिप्रकरण और शैष्ठीयिकोंके प्रयोगन के तीन बीज हैं। इन तीन लक्षणा-बीजोंके बोधन करनेके लिये मक्ति शब्दकी तीन प्रकारकी व्युत्पत्तियाँ की गयी हैं। 'मुद्रनार्थस्य मक्ति' अथ अङ्कारक व्याख्यानसे मुद्रनाथबाप 'ममते सेमते परार्थेन इति धामीप्यादिपर्यो मक्ति' इत लक्षणाक व्याख्यानसे धामीप्यादिप्रकरणपर निमित्तकी सिद्धि, और 'प्रतिपाद्ये शैष्ठीयपक्षत्वाद्दी अदातिपाद्यो मक्तिः इत अङ्कारिकप्रकरणक व्याख्यानसे मक्तिपर प्रयोगनका स्वरूप होता है। 'उत व्यगता भाक्तः—मुद्रनाथबापादि तीनों बीजोंसे जो अर्थ प्रतीय शब्द है उस लक्षणाका भाक्त कर्तव्य है।

भाक्तमाहुस्त्वमन्ये । अन्ये तं ध्वनिसंक्षिप्तं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः ।

यद्यपि च ध्वनिशब्दसङ्घीर्षनेन काव्यव्यञ्जनविधायिमिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित्

आलङ्कारिकों व्यञ्जका वे मे' किसे हैं, श्रद्धा और गौणी । ये सादरसेतर सम्बन्धसे श्रद्धा और सादर सम्बन्धसे गौणी व्यञ्जना मानते हैं । परन्तु मीमांसकोंने व्यञ्जनासे मिस 'गौणी'को अलग ही वृत्ति माना है, व्यञ्जनाका भेद नहीं । प्रकृत भाषा परसे मीमांसकोंकी उस गौणी वृत्तिका मी संग्रह होया है । उसके बोधनके लिये भक्तिपरकी चौथी म्युत्पत्ति 'गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्य अयमागस्तैरप्यादिः [श्रीश्रैयादिः] भक्ति उत आगतो गच्छ ।' तैस्व्य अयात् सिद्धो माणवक' आदि प्रयोगोंमें भी की गयी है । अर्थात् श्रीश्रैयादिगुणविशिष्टप्रभिविद्यपके वानक गुणसमुदायवृत्ति 'सिंह' शब्दसे उसके अधमाग शौकश्रैयादिका ग्रहण भक्ति है और उससे प्राप्त होनेवाला गौण अथ 'भाक्त' है । इस प्रकार 'भाक्त' शब्दके रूपाध और गौणार्थ वे दोनों अर्थ हैं । भागे इस भक्तिवादी पक्षसत्ता निरूपण करते हैं ।

४—दूसरे श्लोक उसको व्यञ्जय या गौण कहते हैं । अथ श्लोक उस ध्वनि नामक काव्यको गुणवृत्ति गौण कहते हैं ।

गुणवृत्ति च काव्यके शब्द और अर्थ दोनोंके लिये प्रसुक्त है । गुण अर्थात् सामीप्यादि और तैरप्यादि, उनके द्वारा किस शब्दका अन्तर्गत वृत्तिबोधकत्व होता है वह शब्द और उनके द्वारा शब्दकी वृत्ति नहीं होती है वह अर्थ उस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों ही गुणवृत्ति शब्दसे ग्रहीत हो सकते हैं । अथवा 'गुणद्वारेण वतनं गुणवृत्तिः' अर्थात् अमुक्य अमिभाव्यापार मी गुणवृत्ति शब्दसे श्रेष्ठित होता है । इसका आशय यह है कि दूसरे श्लोक ध्वनिको गुणवृत्ति करते हैं । ध्वनि शब्द 'ध्वनतीति ध्वनिः इस म्युत्पत्तिसे शब्दका ध्वन्यते इति ध्वनिः इस म्युत्पत्तिसे अर्थका और 'ध्वन्यतेऽप्रिमिति ध्वनिः' उस म्युत्पत्तिसे काव्यका बोधक होता है । इसी प्रकार गुणवृत्ति शब्द 'गुणैः सामीप्यादिमित्स्तेरप्यादिभिर्बोधकैरन्तरे वृत्तिर्बन्ध स गुणवृत्तिः शब्दः । तैरप्यादोः शब्दस्य वृत्तिर्बन्ध श्रेष्ठो गुणवृत्तिः । गुणद्वारेण वतनं वा गुणवृत्तिरमुस्मोऽप्रिमिभाव्यापारः' इस प्रकार ध्वनि शब्दके सम्बन्ध गुणवृत्ति शब्द मी शब्द अथ और व्यापार तीनोंका बोधक होया है ।

मूक कारिकामें 'तं शब्द' और उसकी वृत्ति 'तं ध्वनिसंक्षिप्तं काव्यात्मानं' इन पदोंका जो सामानाधिकरण-समानविमर्शिक-प्रयोग हुआ है उसका विशेष प्रयोजन है । पदोंके सामानाधिकरण्यका अर्थ एकवर्तित्वबोधकत्व अर्थात् उनके पदार्थोंका अभेदान्वय ही होता है । जैसे 'नीलमुत्पन्नम्' इस उदाहरणमें समानविमर्शकत्वं 'नीलं' और 'उत्पन्नं' पदोंसे नील और उत्पन्नका अभेद वा सादरत्व ही बोधित होता है । उसका अर्थ 'नीलान्निमुत्पन्नम्' ही होया है । इसी प्रकार यहाँ भक्ति और ध्वनिका जो सामानाधिकरण्य है उससे उन दोनोंका सादरत्व ही सूचित होता है । इन दोनोंके सादरत्वका ही लक्षण भागे सिद्धान्तपक्षमें करना है । जैसे अनेक शब्दोंपर लक्षणा और ध्वनि वा गौणी और ध्वनि दोनों काय पायी जाती हैं । परन्तु अनेक शब्दोंपर लक्षणा वा गौणीके अभावमें भी ध्वनि रहता है । इसलिये गौणी या लक्षणा और ध्वनिका सादरत्व या अभेद नहीं है । भागे शब्दपर ही सिद्धान्तपक्ष स्थिर करना है इसलिये पृथक्पक्षमें सामानाधिकरण्य द्वारा उन दोनोंका सादरत्व किया है ।

यद्यपि काव्यव्यञ्जनकारोंने ध्वनि शब्दका लक्षणेन कर्त्तव्ये [ध्वनि नाम श्लोक] गुणवृत्ति या अर्थ [गुण वज्रद्वारादि] कोई प्रकार प्रदर्शित नहीं किया है फिर मी

प्रकारः प्रकाशितः, यथापि अमुष्मयुत्या' काव्येषु व्यवहारं दृश्यता ध्वनिमार्गो मनाक् सूत्रोऽपि', न उचित इति परिकल्प्यैवमुक्तम् भाक्तमाहुस्तमस्ये इति ।

केचित् पुनरुद्योगकरणशास्त्रीनवुद्यो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सद्द्वयद्वयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः । ऐनेवविधासु विरतिपुस्तितसु सद्द्वयमनःप्रीत्ये तसुस्वरूपं भूसः ।

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतं, अतिरमणीयं, अणीयसी मिरपि धिरन्तनकाव्यस्रक्षणविधायिनां बुद्धिमिरनुन्नीकृतपूर्वम् । अथ च रामायणमहाभारतप्रसूतिनि कल्पे सर्वत्र प्रसिद्धम्यवहारं दृश्यतां सद्द्वयानां, आनन्दो मनसि समतां प्रतिष्ठामिति प्रकाशयते ॥ १ ॥

[मामहके 'शब्दाश्चन्द्रोऽमिधानार्था'के व्याख्यामसङ्गमें 'शब्दानामभिधानमभिधा व्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' लिखकर] काव्योंमें गुणवृत्तिले व्यवहार विज्ञानेवाले [महोद्गत या उमके उपजीव्य मामह] ने ध्वनिमार्गका थोड़ा-सा स्पर्श करके भी [उसका स्पष्ट] छद्मप नर्ही किया [इसलिये अर्थात् उमके मतमें गुणवृत्ति ही ध्वनि है] ऐसी कल्पना करके 'भाक्तमाहुस्तमस्ये' यह कहा गया है ।

५-छन्दोगनिर्माणमें अग्रगण्यबुद्धि किर्हीं [तीसरे पावी]ने ध्वनिके लक्षको ['न शक्यते वर्णयितुं गिरा तथा स्वर्यं तद्वन्तःकरणेन गृह्यते'के समान] केवल सद्द्वय द्वयसंवेद्य और पावीके परे [मन्त्रस्रणीय, अनिर्वेधनीय] कहा है । इसलिये इस प्रकारके मतमेंदोके होनेसे सद्द्वयोंके द्वायाह्वारके लिये हम उसका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं ।

काम्ये प्रशोकमें वद्य और अथकी प्राप्ति व्यवहारजन और सद्यपरिनिर्दिष्टि परमानन्द आदि अनेक फल माने गये हैं । परन्तु उन सबमें सद्यपरिनिर्दिष्टि या आनन्द ही सबसे प्रधान फल है । अन्य वद्य और अथ आदिकी चरम परिणति आनन्दमें ही होती है इसलिये यहाँ काम्यात्मभूत ध्वनि तत्क निस्सपका एकमात्र आनन्द फल मूक कारिकामें 'सद्द्वयमनाधीतयं' शब्दसे और उसकी वृत्तिमें 'आनन्द' शब्दसे दिखाया है ।

उस ध्वनिका स्वरूप समस्त सत्कवियोंके काव्योंका परम रहस्यभूत अत्यन्त सुन्दर, प्राचीन काव्यस्रक्षणकारोंकी सूक्ष्मतर बुद्धियोंसे भी प्रस्फुटित नहीं हुआ है । इसलिये, और रामायण महाभारत आदि छद्म ग्रन्थोंमें सर्वत्र उसके प्रसिद्ध व्यवहार को परिच्छिन्न करनेवाले सर्वस्योंके मनमें आनन्द [प्रव ध्वनि] प्रतिष्ठाको प्राप्त करे इसलिये उसको प्रकाशित किया जाता है ।

ऊपर जो ध्वनिकिरापी पद्य दिखाने हैं उनमें अमाकवादी पलके तीन विकल्प और अगठके दो पद्य मिश्रकर कुछ पद्य बन गये हैं । ऊपरकी इन पंक्तियोंमें ध्वनिध्व जो विच्छिन्न रूप प्रदर्शित किया है उसमें प्रयुक्त विज्ञेयन उन पूर्वपद्यके निराकरणको ध्वनित करनेवाले और सामिप्राय हैं ।

१ गुणवृत्तया वि ।

२ मनाक् सूत्रो कल्पते वि । सूत्र इति शी ।

३ अणीयसीमिभिरन्तन वि शी ।

सकल और कलकवि शब्दसे 'करिग्रन्थित्' प्रकारसेही वाक्ये पक्षका 'अतिरमणीयम्'से ग्राह्यपक्षका, 'उपनिष्कृतम्'से 'अपूवसमाप्त्यमात्रकरणे'वाक्ये पक्षका, 'अधीपतीमिभिरन्तनकाम्बल्यप्रविधानिनां मुद्रिमिरलुन्मीभित्पूर्णे' विशेषणसे गुणालङ्कार अन्तर्भूतत्ववादी पक्षका 'अथ न' इत्यादिसे 'उत्सम्मान्त पाणिनां कर्त्तव्यत्'वाक्ये पक्षका, रामायणके नामोक्तेससे आदिककृतिसे केन्द्र अपने उसका आवरण किया है इससे स्वकल्पितत्व बोधका 'कल्पयता' इस पक्षसे 'वाचां स्मितमविरये'का नियकरण ध्वनित होता है।

'आनन्दो मनासि रुग्णां प्रतिष्ठाम्' इस उक्तिसे साधारण अर्थके अतिरिक्त दो बातें और भी ध्वनित होती हैं। पहिली बात यह है कि आगे चक्रकर ध्वनिके वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि ये तीन भेद करेंगे। परन्तु इनमें आनन्दरूप रसध्वनि ही प्रधान है, यह बात इससे सूचित होती है।

दूसरी बात यह है कि इस 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थके रचयिता भी आनन्दवर्धनाचार्य हैं। यह न केवल इस ग्रन्थके रचयिता है अपितु बलुटा ध्वनिमागके संस्थापक भी हैं। इसलिये इस ध्वनिके स्वयं स्थापनरूप कार्त्तिके सहस्रवर्षोंके मनमें उनको प्रतिष्ठा प्राप्त हो यह भाव भी अपने नामके आदि भाग 'आनन्द' शब्द द्वारा यहाँ व्यक्त किया है।

'श्लेष्म' और 'वाक्प्रिया' दोनों टीकाओंके लेखकोंने 'कल्पयतां' पक्षकी व्याख्यामें 'अपवते अनेन इति लक्ष्यो कल्पयन्'। अर्थेण निरूपयन्ति कल्पयन्ति तेषां कल्पणद्वारेण निरूपयताम्' यह अर्थ किया है। और 'अपवतेऽनेन इति कल्पः' इस प्रकार करणमें धनु-प्राप्य करके कल्प शब्द बनाया है। साधारणतः सुन्द प्रत्ययसे बाधित होनेके कारण करणमें यञ् प्रत्यय सुसम नहीं है। परन्तु महामाप्य कारणे 'उपदेशोऽन्तनासिक दत्' इस सूत्रमें बाहुल्यकात् करण धञ्त् उपदेश शब्दका साधन किया है अतः बाहुल्यकात् करण धञ्त्वात्साधन भाग यहाँ भी निकाला जा सकता है। परन्तु यहाँ तो 'समवर्ता'का हीवा निरूपयतां' अर्थ करनेसे उक्त बाहुल्यकात्की श्रिय कल्पनासे बचा जा सकता है। निरूपणमें, कल्पणादिना निरूपण आत्मर्थात्तरगत हो जानेसे अर्थमें भी अन्तर नहीं होता तब उक्त अनातिक्रमि बाहुल्यकात् आत्म्य सेकर करण-अञ्त् कल्प पक्षके स्मृत्युपादनका प्रवास क्यों किया, यह विचारणीय है।

'ध्वने स्वरूपं न प्रमुक्त 'स्वरूपम्' पद, 'कल्पयतां'में कल्प आत्म्य और 'प्रकाशयते'में काश आत्म्य दोनोंमें आश्रयि द्वारा कल्पयता अन्वित होता है। और प्रधानमूत काश आत्म्यके अनुरोधसे उक्त प्रथमान्त समस्तना चाहिये गुणीभूत सम्बन्धितानुरोधसे द्वितीयान्त नहीं। इसमें 'स्वानुमि नमुक्त' [पा. सू. १.४-२९] इस सूत्रके माध्यमें स्थित निम्नलिखित कारिका प्रमाण है—

"प्रधानंतरयोयत्र इत्यस्य क्रिययोः पूषम्।

शक्तिर्गुणाभया तत्र प्रधानमनुकल्पते ॥"

प्रत्येक ध्वन्यके प्रारम्भमें प्रत्यक्षा [१] प्रबोधन, [२] विषय, [३] अधिकारी, [४] सम्पन्न इन अनुबन्धननुस्यको प्रदर्शित करनेकी व्यवस्था है।

"सिद्धार्थे सिद्धसम्बन्धं श्रेणुं शोता प्रवर्तते।

शाब्दादी तेन वक्तव्यं सम्बन्धाः सप्रबोधनः ॥" इति वा १।१७।

अनुबन्धननुस्यके अन्तरे ही ध्वन्यके अन्वयन अप्यापनादिमें प्राप्ति होती है। 'प्राप्तिप्रबोधक जानकियात्सं अनुकल्पयताम्' यही अनुबन्धनका लक्षण है। प्राप्तिप्रबोधक ज्ञानका स्वरूप 'इदं मयि च खड्गधनम्' वा 'इदं मङ्गलित्माप्यम्' है। इसमें इदं पक्षसे विषय, मय् पक्षसे अधिकारी इस पक्षसे प्रबोधन, और साधन पक्षसे साध्यसाधनमात्रसम्बन्ध सूचित होता है। तदनुसार विषय प्रबोधन,

‘तत्र प्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिका रक्षयितुमिवमुष्यते—

smile योऽर्थः सहृदयइलाच्यः कात्यात्मेति व्यपस्थितः ।

वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य नेदाबुभौ स्मृतौ ॥२॥

‘काव्यस्य हि लक्षितोपितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयइलाच्यो योऽर्थः, तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ॥२॥

अधिकारी और सम्बन्ध से पार अनुकल्पवस्तुस्य माने गये हैं और प्रत्येक प्रत्येक के आरम्भमें उनका निरूपण आबन्धक माना गया है ।

अतएव इस प्थ्याद्येक'क प्रारम्भमें भी प्रत्येकारण उन अनुकल्पवस्तुस्यको सूचित किया है । 'तत् स्वरूपं भूमः'से प्रत्येका प्रतिपाद्य विषय प्वनिका स्वरूप है, यह सूचित किया । विमर्श-निवृत्ति और उससे 'सहृदयमनभीतये'से मनभीतिरूप मुख्य प्रयोजन सूचित हुआ । प्वनिस्वरूपप्रज्ञानसु सहृदय उसका अधिकारी और धाम्नाका विषयके साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव तथा प्रयोजनक साथ धाम्य-साधनभाक्साध्म्य है । इस प्रकार अनुकल्पवस्तुस्यकी भी सूचना हुई ॥१॥

यहाँ 'तत्र ए' आबन्धक सप्तमीके वा सति सप्तमीके द्विवचनान्तसे अन्वय प्रत्यय करक बना है, इसलिए उसका अर्थ उन दोनों अर्थात् विषय और प्रयोजनक स्थित होनेपर होता है ।

विषय और प्रयोजनके स्थित हो जानेपर, जिस प्वनिका रक्षण करने जा रहे हैं उसकी आधारभूमि [भूमिरिव भूमिका] निर्माणके लिए यह कहते हैं—

सहृदयों द्वारा प्रशंसित जो अर्थ काव्यके आत्मारूपमें प्रतिष्ठित है उसका वाच्य और प्रतीयमान दो भेद कहे गये हैं । २ ।

शरीरमें आत्माके समान, सुन्दर [शुष्माच्छुष्कार्युक्त] उचित [रसादिके अनुरूप रचनाके कारण रमणीय काव्यके साररूपमें स्थित, सहृदयप्रशंसित जो अर्थ है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद हैं ।

'बोधः सहृदयइलाच्य' इत्यादि दूसरी कारिका जैसे शरक ज्ञान पढ़ती है परन्तु उसकी सहायि वनिक द्विप है । उसके आगतता प्रतीति होनेवाले अर्थने चारित्यदणकार भी विवचनायको भी भ्रममें डाल दिया, जिसके कारण उन्होंने प्रथममें इस कारिकाका लक्षण करनेकी आवश्यकता समझी । उन्होंने लिखा कि सहृदयइलाच्य अर्थ अर्थात् प्वनि तो सदा प्रतीयमान ही है, वाच्य कभी नहीं होता । फिर, प्वनिकारने जो उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद किये हैं वह उनका बदलोच्चापात—स्वप्नन विरोध है ।

इस सम्भासित भ्रान्तिको समझकर टीकाकारने इस कारिकाकी व्याख्या विशेष प्रकारसे की है । प्वनिके स्वरूप-निर्णयकी प्रतिष्ठा करके वाच्यका कथन करने लगना भ्रमन्तक हो सकता है शरीरके स्वरूप प्रत्येकारने भी इस कारिकाकी अवतरणिकामें सङ्केत कर दिया है कि यह प्वनिकी भूमिका [भूमिरिव भूमिका] है । आधारभूमिका निर्माण हो जानेपर ही उसक-ऊपर अर्थन-निर्माणका काव्य प्रारम्भ होता है उसी प्रकार वाच्यार्थ प्वनिकी आधारभूमि है उसीके आधारपर प्रतीयमान अर्थकी प्वति होती है ।

१ तत्र पुनर्चर्चः वि ।

२ अर्थः काव्यात्मा दो वि ।

तत्र वाच्य प्रसिद्धो य प्रकाररूपमादिभिः ।
 बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः, ^(१)

काम्यकर्मविधायिभिः ।

ततो नेह प्रतन्यते ॥३॥

केवलमनुद्यते पुनयधोपयोगम् ॥३॥

'वाच्य'से यहाँ अङ्कारोंका प्रश्न किया है वाच्यार्थका नहीं, अतः विधानापर्यन्त लक्षण उचित नहीं है। पूर्वपक्ष प्रदर्शित करते हुए शिखा या 'सम्प्रदायधरीर काम्यम्'। इनमेंसे शब्द धी धरीरके स्वच्छन्दिके समान सर्वजनसंबन्ध होनेसे धरीरभूत ही है। परन्तु अथ तो स्वच्छ धरीरकी मौलि सबजनसंबन्ध नहीं है। अङ्गपर्यन्त तो सहृदयैकवेध है ही पर उससे भिन्न वाच्यार्थ भी सहृदयपूर्वक व्युत्पन्न पुण्यको ही प्रतीय होता है अतएव अर्थ सर्वजनसंबन्ध न होनेसे स्वच्छधरीरस्थानीय नहीं है। अब शब्दको धरीर मान लिया तो फिर उसका अनुप्राणित करनेवाले आत्माका मानना भी आवश्यक है। और यह अर्थ उस आत्माका स्थान होता है। परन्तु शाय अथ नहीं कवल सहृदयव्युत्पन्न अर्थ काम्यात्मा है। इसलिये अर्थके वा मोद किये हैं, एक वाच्य आर वृत्त प्रतीयमान। सहृदयस्थाप्य या प्रतीयमान अथ काम्यका आत्मा है। वृत्त जो वाच्य अर्थ [वाच्यः प्रसिद्धो य प्रकाररूपमादिभिः] काव्यका आत्मा नहीं उसे हम इस रूपमें सूत्र धरीर या अन्तःकरण अथवा मनःस्थानीय मान सकते हैं। जिस प्रकार आत्मतत्त्वके विषयमें विप्रतिपत्त चार्वाकादि कोई स्वच्छ धरीरको और कोई सूत्र मन आदिको ही आत्मा समझते हैं इसी प्रकार यहाँ शब्द, अर्थ गुण अङ्कार, रीति आदिमेंसे किसी एक या उनमेंसे समझिको काम्य समझ लेना चार्वाकमतके सहज है।

कारिकाकारने 'वाच्यप्रतीयमानास्मौ' पदमें वाच्य और प्रतीयमान दोनोंका 'इन्द्र' सम्यक् किया है। 'उभयपदार्थप्रधानो इन्द्रः अर्थात् इन्द्र सम्यक्में इन्द्र पटक समस्तपदोंका सम प्राधान्य होता है। इसलिये यहाँ वाच्य और प्रतीयमान दोनोंका सम प्राधान्य सूचित होता है, शिखा भाव यह है कि जिस प्रकार वाच्य अर्थका अग्रहण नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ भी अनग्रहणीय है। उसका अग्रहण-निषेध नहीं किया जा सकता है। इस प्रतीयमान अर्थके विषयमें की अनेवाकी विप्रतिपत्ति आत्मतत्त्वके विषयमें की मानवाकी चार्वाककी विप्रतिपत्तिक समकक्ष ही है। अतएव अर्थका हेतु है ॥३॥

उनमेंसे वाच्य अर्थ यह है जो उपमादि [गुणालङ्कार] प्रकारोंसे प्रसिद्ध है और अर्थोंने [पूर्व काम्यकर्मव्युत्पन्न] अनेक प्रकारसे उनका प्रदर्शन किया है। इसलिये हम यहाँ अनेक विस्तारसे प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं।

केवल आवश्यकतानुसार उसका अनुधात्मात्र करेंगे।

'वाच्य-प्रतीयमानास्मौ'में 'वाच्य' पदसे पठ-पठ्यदिरूप अभिप्रेषणका प्रश्न व्यतीत नहीं है अपितु उपमादि अङ्कारोंका प्रश्न अपेक्षित है "सलिय वृत्त कारिकामें 'वाच्यपद'की व्याख्या करते हैं—उसका यहाँ अनुवाद करेंगे। अज्ञात अथका ज्ञान यहाँ 'प्रतनन' है और ज्ञातायका ज्ञान 'अनुवाद' करवाया है। महार्थिकमें करा है—

१ वि ही से काम्यकर्मविधायिभिः को कारिकाप्रथम और 'ततो नेह प्रतन्यते' को वृत्तिमाय मानत्र ज्ञाता है। परन्तु 'लोचन'के अनुसार हमारा पाठ ही ठीक है।

प्रतीयमान पुनरन्यदेव, वस्त्यस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवभक्तिरिक्तं, विभाति लाघण्यमिवाङ्गनाम् ॥२॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्यात् वस्त्यस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यन्
सहृदयसुप्रसिद्ध, प्रसिद्धेभ्योऽङ्गकुवेभ्यः प्रतीतेभ्यो वावयवेषु व्यतिरिक्तत्वेन प्रकृतं
लाघण्यमिवाङ्गनाम् । यथा अङ्गनाम् अत्राप्यं पृथक् निर्वर्ण्यमानं नितिलक्षण्यवयवभक्तिरिक्तं
किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामूर्धं, तत्त्वान्तरं, तद्देव सोऽर्थः ।

स इमो, वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रं, अङ्गद्वाररसावयवत्वेत्यनेकप्रसंगे
वर्णयिष्यते । सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यारन्यत्वम् । तथा हि, अत्र
प्रमेयो वाच्यात् दूरं विमेवयाम् । स हि कदाचिद् वाच्ये विभिरूपे प्रतिपेक्ष्यः । यत्—

मम भस्मिभ्य वीसत्यो सो सुनखो अञ्ज मारिभो देव ।
गोलाजङ्ग कुञ्जकुङ्गवासिणा वरिष्ठ सीहेण ॥
[अत्र धार्मिक विस्मय स सुनखोऽय मारितत्वेन ।
गोदानदीकञ्जकुञ्जवासिना वसतिहेन । इतिच्छाया]

‘यच्छब्दयोग’ प्राप्यं सिद्धत्वं चाप्नूष्या ।
तच्छब्दयोग औत्तरे चाप्नूष्यं च विषेष्टा ।’

श्लोकने पूनादमे ‘अनुवाच’ या उद्देश्यका मरण किमा है और उत्तरमें ‘विपरंर’ ।

प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियोंके प्रसिद्ध [मुद्र
मासिकादि] अथवासे मिथ [उभके] लाघण्यके समान महाकवियों
[वाच्य अर्थसे] अङ्ग ही मासित होता है । ४।

महाकवियोंकी वाणियोंमें वाच्यार्थसे मिथ प्रतीयमान कुछ भाग
जो प्रसिद्ध अङ्गद्वारों अथवा प्रतीत होनेवाले अथवासे मिथ, अङ्गनामोंके
लाघण्यके समान [अङ्ग ही] प्रकाशित होता है । जिस प्र
सौम्य पृथक् विचार देतेवाला समस्त अथवासे मिथ सहृदयमत्र
कुछ और ही तस्य है इसी प्रकार वह [प्रतीयमान] अर्थ है ।

वस्तुष्वनिका वाच्यार्थसे स्वरूपकृत् मेद्
वह [प्रतीयमान] अर्थ वाच्य सामर्थ्यसे भासित वस्तुमात्र,
मेद्से अनेक प्रकारका दिनाया आयगा । इन सभी में
है । जैसे पहला [वस्तुष्वनि] मेद् वाच्यसे अत्यन्त मिथ है ।
विधिरूप होनेपर [मी] वह [प्रतीयमान] निपेक्षरूप होता है ।

1 महाकवीनामसुप्रसिद्धं वि शी ।
2 अङ्गद्वारा रसावयव नि ।
3 विषयः मि ।
4 गोदानदीकञ्जकुञ्जवासिना वी

पण्डितजी महाराज । गोदावरीके किनारे कुड्डमें रहनेवासे मद्रमच सिंहने भास उस कुत्तेको मार डाला है, अथ आप निदिशस्त होकर घूमिये ।

गोदावरीतटका कोई सुन्दर स्थान किसी कुड्डका सङ्केतस्थान है । उस स्थानकी सुन्दरताके कारण कोई धार्मिक पण्डितजी—महात्मी—उन्प्योपासन वा भ्रमणके लिए उभर जा जाते हैं । इसके कारण उस कुट्टाके कार्यमें विघ्न पड़वा है और वह चाहती है कि वह इधर न आया करें । जैसे बिना बात उनको आनेका सीधा निषेध करना तो अनुचित और उठकी अनधिकार वेश होती इसलिये उसने सीधा निषेध न करके उस प्रदेशम मच सिंहकी उपस्थितिकी सूचना द्वारा पण्डितजीको भयभीत कर उसके रोक्नेका यह भाग निकाला है । प्रकृत स्थोकमें वह पण्डितजी महाराजको यही सूचना दे रही है । परन्तु उसके कहनेका एक विशेष तर्ग है । वह कहती है, 'पण्डितजी महाराज । वह कुत्ता जो आपको रोक् तर्ग किया करता या उसे गोदावरीके किनारे कुड्डम रहनेवासे मद्रमच सिंहने मार डाला है' अर्थात् प्रतिदिन आपके भ्रमणम बाधा डालनेवासे कुत्तेके मर जानसे आपके मागकी वह बाधा दूर हो गयी है और अब आप निभम होकर भ्रमण करें । कुड्डम जानती है कि पण्डितजी तो कुत्तेसे ही डरते हैं, अब उन्हें माखम होगा कि उसे सिंहने मार डाला और वह सिंह यही कुड्डमें रहता है तो निश्चय ही पण्डितजी भूङ्कर मी उभर आनेका साहय नहीं करेंगे । इसीलिए वह पण्डितजीको निश्चित होकर भ्रमण करनेका निमन्त्रण दे रही है । परन्तु उसका धायन यही है कि कमी भूङ्कर मी इधर फेर न रखना, नहीं तो फिर आपकी कुड्डम नहीं है । प्रकृतमें धार्मिक' पद पण्डितजी महाराजकी मीचताका, 'हम' पण्डितजी मीपकताके अधिकारका और 'बासिना पण्डितजी निरन्तर विद्यमानताका सूचक है । इस श्लोकका बाष्पार्थ तो विधिरूप है परन्तु जो उससे प्रतीयमान अर्थ [वस्तुस्थिति] है वह निषेधरूप है । इसलिये बाष्पार्थसे प्रतीयमान अर्थ अत्यन्त मित्र है ।

किह् लोद्, लम्पत् प्रत्यय 'विधि प्रत्यय' कहलाते हैं । विधिप्रत्ययान्त पदोंको सुननेसे यह प्रतीत होता है कि अर्थ मा प्रवतपति' । विधि प्रत्ययके प्रयोगको सुनकर सुननेवाला नियमसे यह समझता है कि वह कहनेवाला मुझे किसी विशेष कार्यमें प्रवृत्त कर रहा है । इसलिये विधि प्रत्ययका सामान्य अर्थ प्रवतना ही होता है । वह प्रवतना बलाका अभिप्रायरूप है । मीमांसकोंने विधार्थका विशेष रूपसे विचार किया है । उनके मतमें वेद आरीरूपेण है । वेदमें प्रयुक्त 'स्वर्गकामो यजेत्' आदि विधि प्रत्यय द्वारा अर्थ प्रवतना बोधित होती है वह धर्मनिष्ठ व्यापार होनेसे धार्म्यी भावना कहलाती है । बौद्धिक वाक्योंमें ता प्रवतकत्व पुरुषनिष्ठ अभिप्रायविशेषमें रहता है परन्तु वैदिक वाक्योंका बला पुरुष न होनेसे वहाँ यह प्रवर्तकत्वव्यापार केवल धर्मनिष्ठ होनेसे 'धार्म्यी भावना' कहलाता है । और उस वाक्यको सुनकर फलैरेफवेन पुरुषकी ओ प्रवृत्ति होती है उसे 'आर्थी भावना' कहते हैं । 'पुरुषप्रवृत्तनुकृत्ये भावयितुम्यापारविशेषः धार्म्यी भावना' प्रयोगनेष्ठाञ्जनितक्रियाविषयो व्यापार आर्थी भावना' साधारणतः विधि शब्दका अर्थ प्रवतकत्व वा भावना आदि रूप होता है परन्तु यहाँ 'वचनित्' बाष्पे विधिरूपे यथा'में यह अर्थ सङ्गत नहीं होगा । 'सकिये वहाँ विधिका अर्थ प्रतिप्रत्यय वा प्रतिषेधनिर्कर्तन म्यना गया है । कुत्तेकी उपस्थिति धार्मिकके भ्रमणमें प्रतिषेधार्थक वा बाधाकरणी । कुत्तेके मर जानेसे उठ बाधाकी निवृत्ति हो गयी । यही प्रतिषेधनिवृत्ति वा प्रतिप्रत्यय वहाँ 'विधि' शब्दका अर्थ है न कि निवृत्तगति । भ्रमणका जो लोद् लकार है वह प्रैयतिस्वर्गप्राप्तकामेषु कृत्यासन [पा २. ३३२ २] सूत्रसे अतिस्वर्ग अर्थात् कामना, स्वप्नविहार और प्राप्तकाम अर्थमें शुभा है । प्रैय [प्रम्यजान्तरप्रमिने'भे पुरुषनिष्ठ प्रवतना प्रैय] अर्थमें नहीं है ।

नियमशासनीय संस्कारकमें 'विधिरथा' पाठ है उठकी अन्वेष अर्थवृत्ति 'विस्मयः' पाठ अधिक

क्वचिद् वाच्ये प्रतिपेक्षरूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एत्थ विमञ्जइ एत्थ अइं दिवसअं पत्थपाइ ।

मा पइअ रत्ति अण्वअ सेज्जाए मह विमञ्जहिंसि ॥

✓ [इषभूरत्र निमञ्जति, अनाहं दिवसकं प्रलोक्य ।

मा पथिक रात्र्यन्वक शय्यायां मम मिमंक्ष्यसि] इतिच्छाया]

क्वचिद् वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा—

वस मह ठियअ एजे इहोन्तु णीसास राइअज्जाइं ।

मा मुज्ज वि सीअ विणा वक्खिस्सण्ण हणस्स जाअम्मु ॥

[प्रज ममेकस्या भवन्तु नि स्वासरोदितव्यानि ।

मा तथापि तथा विना दाक्षिण्यहृतस्य अनिपत ॥ इतिच्छाया]

उपयुक्त है। 'सम्मु विस्वासे', 'भम्मु प्रमाते' इत्यादि 'सम्मु' भातु विस्वासायक और तात्पर्यादि 'भम्मु' भातु प्रमादायक है। यहाँ विस्वासायक इत्यादि 'सम्मु' भातुका ही प्रयोग अधिक उपयुक्त है। इतिच्छाया 'विस्वस्य' पाठ अधिक अच्छा है।

कहाँ वाच्यार्थ प्रतिपेक्षरूप होनेपर [प्रतीयमानार्थ] विधिरूप होता है। जैसे—
हे पथिक ! विममें अच्छी तरह देख लो, यहाँ सासजी सोती है और यहाँ मैं सोती हूँ। [रातको] रतींघीप्रस्त [होकर] कहीं हमारी आटपर न गिर पड़ना।

यहाँ वाच्यार्थ निपेक्षरूप है परन्तु अज्ञात [प्रतीयमानार्थ] विधिरूप है। यहाँ भी विधिका अर्थ प्रकृतना नहीं अपितु प्रतिपक्ष अथात् निपेक्ष-निवर्तनरूप सेना आदिम। किन्ती प्राप्तिगतुंकाको देखकर मटनाइउरसम्पन्न पथिक पुरुषको इस निपेक्ष द्वारा उसको आरसे निपेक्ष-निवर्तनरूप स्वीकृति या अनुमति प्रदान की जा रही है। अग्रहण प्रकृतनरूप निमञ्जण नहीं। विधिका निमञ्जणरूप माननेपर तो प्रथम आनुप्राणप्रकाशनसे हीमात्रामिमान लपिडित शया। इसीकिण यहाँ विधि शब्द निपेक्षभावरूप अनुपगममात्रका सूत्रक है।

कहाँ वाच्य विधिरूप होनेपर [प्रतीयमान अर्थ] अनुभयारम्भक [विधि, निपेक्ष दोनोंसे मिला] होता है। जैसे—

[तुम] जाओ मैं अकेली ही इस निध्यास और रोनेको मोर्ने [लो अरुअ हूँ] कहीं दाक्षिण्य [मिर प्रति भी अनुप्राण अलकमहिंलासमरागो वसिणः कथिता] के पक्करमें पड़कर, उसके बिना तुमको भी यह सब न भोगना पड़े।

1 आचरोर्माही नि ही । 'गाथासहस्री में मूळ पाठ मिम्न है। उसका पाठ और छाया विम्बकिरित है—

एत्थ विमञ्जइ अत्ता एत्थ अइं परिज्जो सभक्को ।

एत्थिम एत्ती अण्वअ मा मह सभणे विमञ्जहिंसि ॥

छाया—अत्र विमञ्जति इषभूरत्राहमत्र परिज्जः सभक्कः ।

पथिक रात्र्यन्वक मा मम शयन विमंक्षसि ॥

कचिद् वाच्ये प्रतिपेक्षरूपेऽनुभवरूपो यथा—

दे वा पसिञ्ज गिवत्तसु मुहससि ओहाबिलुत्ततमणिवहे ।

अहिसारिआर्णे विण्णं करोपि अण्णार्णे वि ह्मासे ॥

[प्राथमे तावत् प्रतीव निवर्तस्व मुखशशिम्बोत्साविसुसतमोनिषहे ।

अभिसारिआर्णां विण्णं करोप्यन्यात्तामपि हताशे ॥ इतिच्छाया] ५

इस श्लोकमें लक्षिणा [प्राथमेति प्रियो यस्या अन्यसम्भारगन्विहृत । सा लक्षितेति कथिता पीरेरीप्याकपायिता ॥ सा य ३, ११७ ॥] नामिकाका प्रगाढ़ मन्वु [दुःख] प्रतीयमान है । वह न तो क्रमामावरूप निपेक्ष ही है और न अन्य निपेक्षामावरूप विधि ही है । इसलिये यहाँ प्रतीयमान अर्थ अनुभवरूप है ।

कहाँ वाक्यार्थ प्रतिपेक्षरूप होनेपर [भी प्रतीयमान अर्थ] अनुभवरूप होता है ।
 जैसे—

[मैं] प्रार्थना करता हूँ मान जाओ, लौट जाओ । अपने मुखचन्द्रकी ज्योत्स्नासे गाढ़ अन्धकारका नाश करके बरी हताशे ! तुम अन्य अभिसारिकाओं [के कार्य]का भी विण्ण कर रही हो ।

इस श्लोककी व्याख्या कई प्रकारसे की गयी है । पहिली व्याख्याके अनुसार नामकके परपर भावी परन्तु नायकके गोपस्वरूपान्तरि अपराधसे नाश होकर लौट जानेके लिये उक्त नामिका क प्रति नायककी उक्ति है । नायक पाटुक्रमपूर्वक उसको लौटानेका बल करता है । न केवल अन्त और हमारे मुहमें विण्ण डाल रही हो बरिन् अन्य अभिसारिकाओंके कार्यमें भी विण्ण बन रही हो तो फिर दुर्भे कभी मुक्त कैसे मिलेगा ? इस प्रकारका वक्ष्यमागिप्रायरूप पाटुविशेष स्पष्ट है ।

दूसरी व्याख्याके अनुसार शब्दोंके समझानपर भी उक्तकी बात न मान कर अभिसारोक्त नामिकाके प्रति सन्धीकी उक्ति है । अथवा प्रदर्शन द्वारा अपनेका अनादरस्वरूप करके ह हताशे ! तुम न केवल अपनी मनोरञ्जितमें विण्ण कर रही हो अपितु अपने मुखचन्द्रकी ज्योत्स्नासे अन्धकारका नाश करके अन्य अभिसारिकाओंके कार्यमें भी विण्ण डाल रही हो । इस प्रकार सन्धीका पाटुरूप अभिप्राय स्पष्ट है ।

इन व्याख्याओंमें एकमें नायकगत बाहु अभिप्राय और दूसरीमें सन्धीगत बाहु अभिप्राय स्पष्ट है । उल्लिखितमें नायिकाविपयक रतिरूप भाव [रतिर्वेवादिविपया भवौ, स्वमिचारी उपाश्रिताः, अथत् नायक नायिकासे मित्रविपयक रति और स्वज्जनागम्य स्वमिचारीको 'भाव' करते हैं] स्पष्ट है और वह अनुभावरूप 'अन्वासामपि विण्णं करोपि हताशे' आदि वाक्यार्थ द्वारा, 'निवर्तस्व' इस वाक्यार्थके प्रति स्पष्टरूप हो जानेसे बलुत गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण बन जाता है अनिका नहीं । इसी प्रकार जहाँ 'भाव' वृत्तेका अङ्ग हो उसे 'प्रेम' करते हैं वह भी गुणीभूतव्यङ्ग्य ही है । नायकोक्तिके पद्यमें उही प्रकारसे नायकगत रति उक्त अनुभावरूप अर्थ द्वारा 'निवर्तस्व' यह वाक्य अङ्ग हो जानेसे [रतवत्, जहाँ रत अन्यका अङ्ग हो वाच यहाँ 'रतवत्' अन्वयार होता है ।] यह भी गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप ही है । अतएव इन दोनों व्याख्याओंमें यह अनिकाव्यङ्ग्य उदाहरण न होकर गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण बन जाता है इसीलिये यह व्याख्या उचित नहीं है ।

अतएव इसकी तीसरी व्याख्या वह की गयी है कि शीघ्रतासे नायकक परको अभिप्राय करती

कषिद् वाच्याद् विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—

कस्य व ण होइ रोसो वड्ढण पियारिं सन्वणं अहरम् ।

सभमरपडमग्घाइणि वारितवामे सहसु पन्दिम् ॥

[कस्य वा ण भवति रोपो वट्ठ्ठा मिमाया सभमपधरम् ।

सभमर पदमाप्रापिणि वारितवामे सहसुवेदानीम् ॥ इतिच्छाया]

अन्ये चैवं प्रकाराः वाच्याद् विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति । तेषां विख्यात्र मेतत् प्रदर्शितम् । द्वितीयाऽपि प्रवेशे वाच्याद् विभिन्नः सप्रमञ्जममे वक्ष्यिष्यते ।

दुर नायिकाके प्रति रास्तेमें सिन्धे हुए और नायिकाके परकी ओर आते हुए नायककी यह उक्ति है । यहाँ 'निवतस्व' श्लोक पद्यो यह वाच्य है । परन्तु यह श्लोक पद्यना नायक, नायिका या क्विचीके परकी ओर भी हो हो सकता है अथ तुम मरी पर पक्षे या हम दोनों तुम्हारे पर चले यह तात्पर्य व्यङ्ग्य है । यह तात्पर्य न विधिरूप है और न निषेधरूप । अतएव वाच्य प्रतिषेधरूप होनेपर भी व्यङ्ग्य अनुभवरूप होनेसे प्रतीयमान अथ वाच्यार्थसे अत्यन्त भिन्न है ।

वस्तुध्वनिका वाच्यार्थसे विषयकृत् भेदसे भेद

अरके चारों उदाहरणोंमें धार्मिक, धर्म्य प्रियतम और अभिचारिका ही क्रमशः वाच्य और व्यङ्ग्य दोनोंके विषय हैं । इस प्रकार विषयका एक ही होनेपर भी वाच्य और व्यङ्ग्यका स्वरूपभेदसे भेद दिखाया है । अगले उदाहरणमें यह दिखाते हैं कि वाच्य और व्यङ्ग्यका विषयभेद भी हो सकता है और उक्त विषयभेदसे भी वाच्य और व्यङ्ग्य दोनोंको अलग मानना होगा ।

अथवा प्रियाके [इतरनिमित्तक] सम्पन्न अथरको देखकर किसको प्रीति नहीं आता । मना करनेपर भी न मानकर अमरसहित कमलको सूँघनेवाली तू अथ उसका फल भोग ।

द्विती अविनीताके अथरमें दयानन्द ब्रज कही चौर्यवृत्तिके समय हो गया है । उसका प्रति जब उसको देखेगा तो उसको दुस्चरित्रताको समझ जायगा और अग्रव्रत होगा । इतिवन्ति उसकी सली, उसका आल-यास कहीं विद्यमान पतिको रूपमें रत्नकर उसका मुनानके लिये, इस प्रकारन मानों उसने पतिको देखा ही नहीं है, उक्त अविनीतासे उपर्युक्त बचन कर रही है । यहाँ वाच्यवका विषय तो अविनीता है परन्तु उसका व्यङ्ग्य अर्थ है कि इसका ब्रज परपुरुषजन्य नहीं अपितु भ्रमर दयानन्द है अथ इसका अपराध नहीं है । इस व्यङ्ग्यका विषय नायक है । इतिवन्ति यहाँ वाच्य और व्यङ्ग्यका विषयभेद होनेसे व्यङ्ग्य अथ वाच्यार्थसे अत्यन्त भिन्न है ।

इसमें और भी अनेक विषय बन सकते हैं । वाच्यवका विषय तो प्रत्येक दशामें अविनीता नायिका ही रहेगी परन्तु व्यङ्ग्यक विषय अन्य भी हो सकते हैं जैसे आर्य ता इत प्रकारसे बच गयी, आये कमी इत प्रकारके प्रकट पिछोंका अथर न आने देना । इत व्यङ्ग्यमें प्रतिनायक ।

अलङ्कारध्वनिका वाच्यार्थसे भेद

इस प्रकार वाच्यार्थसे भिन्न प्रतीयमान [वस्तुध्वनि] के भीर भी भेद हो सकते हैं । यह तो उसका केवल विन्दुदानमात्र करायया है । दूसरा [अलङ्कारध्वनिकार] प्रकार

तृतीयस्तु रसादिष्वप्यः प्रमेदो वाच्यसामर्थ्याक्षितः प्रकाशते, न तु साम्बाध्यम्
 व्यापारविषय इति वाच्याद् विभिन्न एव । तथा हि, वाच्यत्वं तस्य स्वतन्त्रनिषेधितत्वेन
 वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा । पूर्वस्मिन् पक्षे स्वतन्त्रनिषेधितत्वाभावे
 रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्गः । न च सर्वत्र तेषां स्वतन्त्रनिषेधितत्वम् । यत्राप्यस्ति तत्,
 तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः । स्वतन्त्रेण सा केवलमनुष्यते, न तु
 तच्छ्रुता । विषयान्तरे तथा तस्या अवर्शनात् । न हि केवलं शृङ्गापदिशब्दमात्रमात्रि
 विभावादिप्रतिपादनरहिते काल्ये मनागपि रसेवत्त्वप्रतीतिरस्ति । यतश्च स्वामिधान
 मन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः । केवलस्य
 स्वामिधानात्प्रतीतिः । तस्मादन्वयव्यतिरेकान्यामभिधेयसामर्थ्याक्षितत्वमेव रसादीनाम् ।
 न स्वभिधेयत्वं कबन्धित् । इति तृतीयोऽपि प्रमेदो वाच्याद् भिन्न एवेति स्थितम् ।
 वाच्येन त्वस्य सहेव प्रतीतिरप्ये वर्स्यिष्यते ॥४॥

भी वाच्यार्थसे भिन्न है । उसे भागे [द्वितीय उद्योतमें] सविस्तर दिखलायेंगे ।

रसध्वनिका वाच्यार्थसे भेद

तीसरा [रसध्वनि] रसादिरूप भेद वाच्यकी सामर्थ्यसे आक्षिप्त होकर ही
 प्रकाशित होता है, साक्षात् वाच्यव्यापार [अभिधा शब्दवा तात्पर्या शक्तिव्यापार]
 का विषय नहीं होता इसलिये वाच्यार्थसे भिन्न ही है । क्योंकि [यदि उसको वाच्य
 माना जाय तो] उसकी वाच्यता [वो ही प्रकारसे हो सकती है] या तो स्वशब्द [अर्थात्
 रसादि शब्द अथवा शृङ्गापदि नामों] से हो सकती है अथवा विभावादि प्रतिपादन
 द्वारा । [इन दोनोंमेंसे] पहले पक्षमें [जहाँ रस शब्द अथवा शृङ्गारादि शब्दका प्रयोग
 नहीं किया गया है परन्तु विभावादिक प्रतिपादन किया गया है वहाँ] स्वशब्दसे
 निषेधित न होनेपर रसादिकी प्रतीतिकी अभाव प्राप्त होगा । [रसादिका अनुभव नहीं
 होगा] और सब जगह स्वशब्द [रसादि अथवा शृङ्गापदि संज्ञा शब्द] से उन [रसादि]
 का प्रतिपादन नहीं किया जाता । जहाँ कहीं [स्वशब्द रसादि अथवा शृङ्गारादि संज्ञा
 पदोंका प्रयोग] होता भी है वहाँ भी विशेष विभावादिके प्रतिपादन द्वारा ही उन
 [रसादि] की प्रतीति होती है । संज्ञा शब्दोंसे तो वह केवल अनूहित होती है । उनसे
 अन्य नहीं होती । क्योंकि दूसरे स्थानोंपर उस प्रकारसे [विमथादिके अभावमें केवल
 संज्ञा शब्दोंके प्रयोगसे] वह [रसादि प्रतीति] दिखाकार नहीं इती । विभावादिके प्रति
 पादनरहित केवल [रस वा] शृङ्गारादि शब्दके प्रयोगवाले काल्यमें तनिक भी रसयत्ता
 प्रतीत नहीं होती । क्योंकि [रसादि] संज्ञा शब्दोंके विना केवल विनिष्ट विभावादिने
 भी रसादिकी प्रतीति होती है और [विमथादिके विना] केवल [रसादि] संज्ञा शब्दोंने
 प्रतीति नहीं होती इसलिये अन्य-व्यतिरेकने रसादि वाच्यकी सामर्थ्यने आक्षिप्त ही

होते हैं, किसी भी वशमें वाच्य नहीं होते। इत्यर्थे तीसरा [रस, माध, रसामास
मात्सामास माधप्रशम, भावोदय, भावसन्धि माधवावृत्ता आदि रूप] मेदु मी वाच्यसे
भिन्न ही है यह निश्चित है। वाच्यके साध-सी [असंलक्ष्यक्रम] इसकी प्रतीति भागे
विस्तार्यायी जायगी।

ऊपर अन्वय-स्मृतिक छन्द आये हैं। साधारणतः 'तत् सत्ये तत् सत्ता अन्वय', 'उदभावे
उदभावो स्मृतिरेक' यह अन्वय-स्मृतिरेकका उदाहरण है। परन्तु इसके स्थानपर अन्वयपरममें 'तत् सत्ये
उदितरभरणसत्ये कावसत्यमन्वय', 'उदभावे कार्वाभावो स्मृतिरेकः उदय अर्थिक उपसुक्त है। अन्वयमें
सकल कारण सामग्री अपेक्षित है। स्मृतिरेक तो एकके अभावमें भी हो सकता है। प्रतीयमान वस्तु
अच्छा और रसादि रूप अथ, औक्तिक तथा अलौकिक दो मार्गोंमें निमक्त किये जा सकते हैं। वस्तु
और अच्छा करमी स्वयम्भवाच्य मी होते हैं। इत्यर्थे वे औक्तिकके अन्तर्गत आते हैं और रस
सदेव वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त ही होता है इत्यर्थे काव्य व्यापारेकगोचर होनेसे अलौकिक माना जाता
है। औक्तिकके वस्तु और अच्छा दो मेद-रस आधारपर किये हैं कि इनमें एक [अच्छा] मेद
ऐसा है जो करमी किसी अन्य प्रधानभूत अच्छा रसादिका शोभावाचक होनेसे उपमादि अच्छा
रूपमें मी व्यवहृत होता है। परन्तु यहाँ यह वाच्य नहीं अपितु वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त-व्यङ्ग्य है यहाँ यह
किसी वस्तुके अच्छा नहीं अपितु स्वयं प्रधानभूत अच्छा है। फिर मी उसको भूतपूर्वावस्थाके
कारण 'ब्राह्मणभ्रमणन्याय' अलक्षारण्यनि कहते हैं। 'ब्राह्मणभ्रमणन्याय'का अभिप्राय यह है कि कोई
पूर्वावस्थाका ब्राह्मण पीछे वीरु या जैन मिथु 'भ्रमण' बन गया। उस समय मी उसकी पूर्ववस्थाके
कारण उसे भ्रमण न कह कर 'ब्राह्मण-भ्रमण' ही कहा जाता है। इस प्रकार उपमादि अच्छा यहाँ
प्रतीयमान का व्यवहृत होते हैं यहाँ वे प्रधानताके कारण अच्छा नहीं अपितु अच्छा करे जाने
योग्य होते हैं फिर मी उनकी पूर्ववस्थाके आधारपर उनको अच्छा नामसे कहा जाता है। यह
अच्छाण्यनि प्रतीयमानका एक लौकिक मेद है। और जो अलक्षारण्य वस्तुमात्र प्रतीयमान है
उसको वस्तुण्यनि कहते हैं। प्रतीयमानका तीसरा मेद रसादि रूप ष्वनि करमी वाच्य नहीं होता
इत्यर्थे यह अलौकिक प्रतीयमान कहा जाता है। इन तीनोंमें रसादि रूप ष्वनिकी प्रधानता होते
हुए मी सबसे पहले वस्तुण्यनिका निष्पन्न इत्यर्थे किया जाता है कि अलौकिक और वस्तु
ज्ञानसे वाच्यते अतिरिक्त उसका अस्तित्व, अलौकिक रसादिके अस्तित्वकी अपेक्षा सरलतासे समझमें
आ सकता है।

'अभिधा' शक्तिसे व्यङ्ग्यार्थबोधका निराकरण

इस प्रतीयमान अथकी प्रतीति अभिधा उद्योता और तात्पर्याका तीनों प्रसिद्ध वृत्तियोंसे निम्न
व्यङ्गना नामक वृत्ति ही होती है। उसका अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थके बोधका और कोई प्रकार नहीं
है। व्येचनकारने 'भ्रम धार्मिक' आदि पद्यकी व्याख्यामें इस विषयपर विघट्ट रूपसे विवेचना की है।
उसका शारांश इस प्रकार है। घट्टये अथका बोध करानेवाली अभिधा, उद्योता आदि जो शब्द
शक्तिसे मानी गयी हैं उनमें सबसे प्रथम अभिधा शक्ति है। इस अभिधा शक्तिसे ही यदि प्रतीयमान
अर्थका बोध मनें तो उसके दो रूप हो सकते हैं—या तो वाच्यार्थके साथ ही व्यङ्ग्यार्थका मी
अभिधासे ही बोध माना जाय, या फिर धर्मसे वाच्यार्थका और पीछे प्रतीयमानका इस प्रकार क्रमशः
दोनों अर्थोंका अभिधासे ही बोध माना जाय। इनमेंसे वाच्य और प्रतीयमान दोनोंका साथ-साथ
बोध तो इत्यर्थे नहीं बनता कि ऊपरके उदाहरणोंमें विधिविधेयादि रूपसे वाच्य और प्रतीयमानका

मेद दिव्यभावा है उसके रहते हुए जो विचिन्तितरूप विशेषी अथ एक साथ एक ही व्यापारसे बोधित नहीं हो सकते। अब दूसरा पक्ष रह जाता है यह भी बुद्धिसङ्गत नहीं है। क्योंकि 'शब्द बुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापारमाकाः' अथवा 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेष्ये' आदि सिद्धान्तोंके अनुसार अमिधा शक्ति एक ही बार व्यापार कर सकती है और उस व्यापार द्वारा वह वाच्यार्थको उपस्थित कर चुकी है। अतएव वाच्यार्थबोधमें शक्तिका अथ हो जानेसे अमिधा शक्तिसे प्रतीयमान अर्थका बोध नहीं हो सकता। /दूसरी बात यह भी है कि अमिधा शक्ति सङ्केतित अर्थको ही बोधित कर सकती है। प्रतीयमान अथ ता सङ्केतित अर्थ है नहीं/इसलिये भी वह अमिधा द्वारा बोधित नहीं हो सकता है।

'वाच्यार्थ' शक्तिसे व्यङ्ग्य बोधका निराकरण

अमिधा शक्तिके द्वारा पदार्थोपस्थितिके बाद 'अभिहितान्वयवादी' उन पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धके [अन्वय] बोधके लिए 'वाच्यार्थ' नामकी एक शक्ति मानते हैं। इसके द्वारा पदार्थोंके संश्लेष रूप वाक्याथका बोध होता है। 'स [तत्] वाच्यार्थं परं प्रधानतया प्रतिपाद्यः येषां तानि उत्तराणि पदानि, तेषां मातः वाच्यार्थम्, तद्रूपा शक्तिः वाच्यार्थशक्तिः।' इस अभिहितान्वयवादियोंकी अमिधत् 'वाच्यार्थ' शक्तिका प्रतिपाद्य तो केवल पदार्थसंश्लेषरूप वाक्यार्थ ही है अतएव इस अति विशेषभूत प्रतीयमान अर्थको बोधन करनेकी क्षमता उसमें भी नहीं है।

'अन्वितामिधानवाद' और व्यङ्ग्यार्थबोध

इस 'वाच्यार्थ' शक्तिके गाननेवाले 'अभिहितान्वयवाद', मीमांसकोंमें कुमारिलमहका है। उसका विशेष प्रमाकरका 'अन्वितामिधानवाद' है। 'अभिहितान्वयवाद'के अनुसार पहिले पदोंसे अनन्वित पदार्थ उपस्थित होते हैं। पीछे 'वाच्यार्थ' शक्तिसे उनका परस्पर सम्बन्ध होनेसे वाक्याथ-बोध होता है। परन्तु प्रमाकरके अन्वितामिधानवाद में पदोंसे, अन्वित-पदार्थ ही उपस्थित होते हैं इसलिये उनके अन्वयके लिए 'वाच्यार्थ' शक्ति माननेको आवश्यकता नहीं है। इस 'अन्वित-अमिधानवाद'का प्रतिपादन प्रमाकरने इस आधारपर किया है कि पदोंसे जो अर्थकी प्रतीति होती है वह शक्तिग्रह वा सङ्केतग्रह होनेपर ही होती है। इस सङ्केतग्रहके अनेक उपाय हैं [शक्तिग्रह व्याकरणोपमानकोशात् वाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यत्व शेषाद् विवृतेर्वदन्ति साक्षिभ्यश्च सिद्धपरत्वं वृत्ताः] परन्तु इनमें सबसे प्रधान उपाय व्यवहार है। व्यवहारमें उच्यतेऽहं [स्मित्वादि] मय्यमहं [नीकर वा वाक्शब्दके माई आदि] का किसी गाय आदि पदार्थके अनेका आदेश होता है। पाठम बैठना वाक्शब्द उच्यतेऽहंके उन 'गामानव' आदि पदोंको सुनना है और मय्यमहंको शाल्वादिमान् गन्वादिरूप स्थिदको कान्ते हुए देखना है। इस प्रकार प्रारम्भमें 'गामानव' इस अस्त्वत् वाक्यमे शाल्वादिमान् पिण्डका आनयनरूप सम्पिण्डित अर्थ ग्रहण करता है। उसके बाद दूसरे वाक्यमें 'गा'के स्थानपर 'अश्व' या 'मानव'के स्थानपर 'वधान' आदि अन्वय-व्यङ्ग्य पदार्थोंका अर्थ समझने लगता है। इस प्रकार व्यवहारसे जो शक्तिग्रह होगा वह केवल पदार्थमें ही अल्पि अन्वित-पदार्थमें ही होगा। क्योंकि व्यवहार अन्वित पदार्थका ही सम्बन्ध है केवलक ही नहीं। "सन्धि प्रमाकर अन्वित-अर्थमें ही शक्ति गानते हैं।

इस 'अन्वितामिधानवाद'के अनुसार "तना तो क्या जा सकता है कि केवल-पदार्थमें शक्तिग्रह नहीं होता अल्पि अन्वित अर्थमें ही होता है। परन्तु अब यह प्रश्न होगा कि गाम् पदका व्यवहार तो 'आनव' पदके साथ भी हुआ और 'वधान' पदके साथ भी तो आनयनान्वित गौमें गो पदका

शक्तिग्रह होगा वा वाक्यान्वितमें। इसका निषेध किसी एक पक्षमें नहीं हो सकता क्योंकि वाक्यान्तरमें प्रयुक्त आनयनादि पद तो वही हैं। इसलिये सामान्यतः पदान्वितमें शक्तिग्रह होता है और अन्तर्गमें 'निर्विशेषं न सामान्यं'के अनुसार उस सामान्यान्वितका पर्यवसान अन्वित-विशेषमें होता है। यही 'अन्वितामिधानवाद'का धार है। इस मूलमें विशेषपर्यवसित सामान्यविशेषरूप पदाय सङ्घटनियम है परन्तु व्यवहार तो उसके भी बाद प्रतीत होनेसे 'अविशेष' रूप है। उस अविशेषरूप व्यवहारका ग्रहण अन्वितामिधानवादीके मतमें भी अमिथा द्वारा नहीं हो सकता है।

'अभिहितान्वयवाद'में अन्वित अर्थ और 'अन्वितामिधानवाद'में पदान्वित अर्थ वाच्यार्थ है। परन्तु वाक्याय तो अन्वितविशेषरूप है इसलिये वस्तुतः दोनों ही पक्षोंमें वाक्यार्थ अवाच्य ही है। और अब वाक्यार्थ ही अवाच्य है तो फिर प्रतिदम्य अर्थको वाच्यकोटिमें रखनेका प्रयत्न ही नहीं उठता।

कुमारिलमह और प्रभाकर

'अभिहितान्वयवाद'के आचार्य कुमारिलमह और 'अन्वितामिधानवाद'के संस्थापक प्रभाकर दोनों ही मीमांसक हैं। यौ तो प्रभाकर कुमारिलके शिष्य हैं परन्तु दार्शनिक साहित्यमें प्रभाकरका मत 'गुरुमत' नामसे और कुमारिलमहका 'तौतासिक' नामसे उल्लिखित हुआ है। "तथा कारण यह है कि प्रभाकर बड़े प्रतिमाध्यायी थे। अपने गुरुके सामने हर एक विषयपर वे अपना सर्वस्व नया मत उपस्थित करते थे। इसलिये इन दोनोंके दार्शनिक मतोंमें बहुत भेद पाया जाता है, किन्तुसे यह 'अभिहितान्वयवाद' और 'अन्वितामिधानवाद'का भेद एक प्रमुख वैज्ञानिक भेद है। एक बार कुमारिलमह अपने विचारार्थियोंको पढ़ा रहे थे। उसमें एक पंक्ति इस प्रकारकी आ गयी— 'अत्र तु नोक्तं तथापि नोक्तमिति यौनवक्तव्यम्। यहाँ तो नहीं कहा और वहाँ भी नहीं कहा इसलिये पुनरक्ति है। यह उस पंक्तिका अर्थ प्रतीत होता है। परन्तु वह तो पुनरक्ति नहीं हुए। पुनरक्ति तो वह होती जब दो अर्थ एक ही बात कही जाती। कुमारिलमह पढ़ाते-पढ़ाते रुक गये। यह पुनरक्ति उनकी समझमें नहीं आ रही थी। इसलिये पाठ अगले दिनके लिये रोक दिया और पुनरक्ति बन्द करके रुक ही। प्रभाकर भी पाठ हुन रहे थे। गुरुजीके जैसे जानेपर थोड़ी देर बाद प्रभाकर को यह पंक्ति समझमें आ गयी। प्रभाकरने गुरुजीकी पुस्तक उठायी और उस पाठकी सार्थ तोड़कर अक्षमा अक्षमा पदोंमें इस प्रकार भिन्न दिया। 'अत्र तुना उक्तम्, तत्र अपिना उक्तम्। यहाँ तु शब्दसे वही बात कही है और वहाँ अपि शब्दसे वही बात कही है इसलिये पुनरक्ति है। तुल्यी मूलमत गयी। गुरुजीको जब मासूम हुआ कि यह प्रभाकरने किया तो बहुत प्रसन्न हुए और उक्तको 'गुरु' की उपाधि प्रदान की। उस दिनसे उक्तका मत 'गुरुमत' नामसे प्रसिद्ध हुआ और कुमारिल मत 'तौतासिक' मतका नामसे। 'तौतासिक' शब्दका अर्थ है 'तु शब्द' तात् 'विशेष' मत्व स' इत्यात् 'वसेद' मतं तौतासिकं मतम्।

महोच्छ्रुतके मतकी आलोचना

'अभिहितान्वयवादी' महके मतानुवानी महोच्छ्रुत प्रशंसिते 'यत्पर शब्द स' शब्दाय' और 'सोऽप्यभियोरिव दीर्घदीर्घत्वोऽभिधन्वापार'की सुक्तिर्वा देकर व्यवहारको अमिथा द्वारा ही सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। ['ध्वन्यालोक'के टीकाकारने इस मतका 'सोऽप्यन्वितामिधानवादी यत्पर शब्दः सः शब्दायः इति इदमे परीत्या धरववमिवाध्यापारमेव दीपदीर्घमिच्छति' शिष्यकर इत मतकी

अन्वितामिषानवादीका मत्त विस्रजाया है परन्तु 'काम्यप्रकाश'के टीकाकारोंने इसे 'मद्भूमोपवीकिना लोहट्टप्रभृतीनां मत्तमाशङ्कते' लिखकर 'अभिहितान्वयवादी' मत्त बतलाया है।] इस मत्तका अभिप्राय यह है कि जैसे बलवान् ऐनिक द्वारा छोड़ा गया एक ही बाण एक ही व्यापारसे शत्रुके वर्म [कृत्स्न] का छेदन, मर्ममेहन और प्राणहरण तीनों काम करता है इसी प्रकार मुक्त्वियुक्त एक ही शब्द एक ही अभिवाच्यापापसे पञ्चार्थोपस्थिति, अन्वयबोध और स्वह्यप्रतीति तीनों कार्य कर सकता है। इसलिये प्रतीयमान अर्थ मो वाच्यार्थ ही है। उसकी उपस्थिति अभिवा द्वारा ही होती है, क्योंकि वही तो कविका तात्पर्यविषयीमूल अर्थ है—'वसरः शब्दः सः शब्दार्थः'।

इस मत्तकी आलोचना करत समय हम उसके ऊपर उद्धृत किन्ने हुए 'वसरः शब्दः सः शब्दार्थः' और 'सोऽप्यभियोरिव दीर्घदीर्घतपो अभिवाच्यापाप', इन दो भागोंमें विभक्त करेंगे। इस मत्तके प्रतिपादनमें मद्भूमोत्पत्तेने 'अभिहितान्वयवादी' मीमांसक होनेके कारण मीमांसके 'वसरः शब्दः सः शब्दार्थः' इस प्रसिद्ध नियमका आश्रय लिया है। परन्तु उन्होंने उसे ठीक अर्थमें प्रयुक्त नहीं किया है। इस नियमका प्रयोग मीमांसकोंने इस प्रकार किया है कि वाक्यके अन्तर्गत पदार्थोंकी उपस्थिति होनेपर उपस्थित पदार्थोंमें कुछ किञ्चास्म और कुछ सिद्धरूप पदार्थ होता है। उनमें धाप्परूप त्रिषापत्ताय ही 'विभेय' होता है। 'आम्नावस्य क्रियार्थत्वादानयक्यमत्तदर्शनान्' [मीमांसा ६ अ १ पा २ सू १] के अनुसार 'अग्निहोत्रं ब्रह्मवात् स्वर्गकाग' आदि विधिवाक्य क्रियात्मक होमका ही विधान करते हैं। जहाँ होमादि क्रिया किसी प्रमाणान्तरसे प्राप्त होती है वहाँ तदुद्देश्येन गुणमात्रका विधान भी करते हैं। जैसे 'दध्ना ब्रह्मोति' इस विधिमें होमरूप क्रियाका विधान नहीं है क्योंकि होम तो यहाँ 'अग्निहोत्रं ब्रह्मवात्' इस विधिवाक्यसे प्राप्त ही है। इसलिये यहाँ केवल दधि रूप गुणका विधान है। [त्रैलोक्यदर्शनकी परिभाषाके अनुसार दधि द्रव्य है गुण नहीं। किसी द्रव्यमें रहनेवाले रूप रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण आदि धर्मोंको 'गुण' कहते हैं और 'गुण्य भयो द्रव्यम्' गुणोंके आश्रयको 'द्रव्य' कहते हैं। इसलिये त्रैलोक्यकी परिभाषाके अनुसार तो दधि 'द्रव्य' है। परन्तु मीमांसामें जहाँ दधि आदि द्रव्योंका विधान होता है उसे 'गुणविधि' या गुणमात्रका विधान करते हैं। इसका कारण यह है कि यहाँ 'गुण' शब्दका अर्थ 'गौण' है। इनके यहाँ क्रिया ही प्रधान है और द्रव्यादि गौण हैं। इस गौणके अर्थमें 'गुणमात्र विद्यते'से द्रव्यादिके विधानको 'गुणविधि' कहा है।] जहाँ क्रिया और द्रव्य दोनों अ प्राप्त होते हैं वहाँ दोनोंका भी विधान होता है। जैसे 'सोमेन यजेत्'में सोम द्रव्य और याग दोनोंके अ प्राप्त होनेसे दोनोंका विधान है। इस प्रकार 'भूत' [सिद्ध] और 'मन्त्र' [वाच्य] के सहाचारणमें 'भूतं मन्त्रायां पश्यते' सिद्धपदाव क्रिया का अङ्ग हाता है। और जहाँ क्लिप्ता अर्थ अ प्राप्त होता है वहाँ उठना ही अर्थ 'अदृश्यदहनम्बाव'सं विहित होता है। वही उस वाक्यका तात्पर्यविषयीमूल अर्थ होता है। इस रूपमें मीमांसकोंने 'वसरः शब्दः सः शब्दार्थः' इस नियमका प्रयोग वा व्यवहार किया है। मद्भूमोत्पत्त उस नियमको प्रतीयमान स्वह्य अर्थको अभिवासे बोधित करनेके लिये जिस रूपमें प्रयुक्त करते हैं वह ठीक नहीं है। वे या तो उसके तात्पर्यको ठीक समझते ही नहीं या फिर जान-बूझकर उसकी अन्वया व्याख्या करते हैं। दोनों ही वधाओंमें उनकी यह सहाति ठीक नहीं है।

मद्भूमोत्पत्तेके मत्तका दूसरा भाग 'सोऽप्यभियोरिव दीर्घदीर्घतपोऽभिवाच्यापाप' बाला भाग है। इन वाक्यका अभिप्राय यह हुआ कि शब्दप्रयोगके बाद क्लिप्ता भी अर्थ प्रतीत होता है उसके बोधनमें शब्दका केवल एक अभिवाच्यापाप होता है। यदि वह ठीक है तो फिर न 'तात्पर्या' शक्ति भी आवश्यकता है और न 'सहजा'की। मद्भूमोत्पत्त यदि अभिहितान्वयवादी हैं तब

तो वह 'वात्स्याय' शक्तिको भी मानते हैं और 'मानान्तरविषये तु मुस्मात्प्रत्यय परिश्रमे । अमिष्या विनाभूतप्रदीतिरुपशोभ्यते ॥ इत्यमाजगुणैयोगाद् वृत्तेरिषा तु गौणता ।' इत्यादि मद्द शक्तिके अनुसार 'लक्षणा' शक्ति भी मानते हैं । अब दीपदीपतर अमिष्याम्पापारसे 'वात्स्याय' तथा 'लक्षणा'के भी यादमें होनेवाले प्रतीयमान अथवा ज्ञान हो सकता है उन उसके पूर्वकी वात्स्याय तथा लक्षणाका बोध भी उसी दीपदीपतर म्पापार द्वारा अमिष्यासे ही हो सकता है, फिर इन दोनोंको माननेकी क्या आवश्यकता है ? दीपदीपतर अमिष्याम्पापारके साथ 'वात्स्याय' और 'लक्षणा' शक्तिको भी मानना बहुत म्पाघात' है ।

इसी प्रकार 'ब्राह्मण पुत्रस्ते धातः' इस पुत्रात्यक्तिके सम्पापारको सुनकर हर शक्तिको प्रसन्नता होती है । और 'कन्या ते गर्मिणी धाता,' कन्या अथात् अविषादिता कन्या गर्मिणी हो गयी, इस वाक्यको सुनकर शोक होता है । इन शोक और हर्षके प्रति यह वाक्य कारण है । परन्तु यह कारणता उत्पत्तिके प्रति है, शक्तिके प्रति नहीं । वाक्य हर्ष-शोकका उत्पादक कारण है, ज्ञापक नहीं । यदि शब्द प्रयोगके बाद सभी अर्थ अमिष्या शक्तिके ही बोधित होता है तो ये हर्ष, शोकादि भी वाक्य मानने चाहिये । परन्तु सिद्धान्त यह है कि वाक्योंसे ये हर्ष-शोक पैदा होते हैं और मुक्तविकास आदिसे अनुमान द्वारा ज्ञात होते हैं । 'उत्पत्तिस्त्वित्यमिष्यविष्कारप्रत्ययात्तयः । वियोगान्यत्वपृथयः कारणं नञ्वा स्तुतम् ॥' [योग ४ ३, २८] के अनुसार उत्पात्ति, स्थिति आदिके भेदसे नौ प्रकारके कारण माने गये हैं । उपसृक्त 'ब्राह्मण पुत्रस्ते धातः' आदि वाक्य हर्ष-शोकादिसे उत्पत्तिमात्रके कारण है । परन्तु उनका ज्ञान शब्द द्वारा न होकर मुक्तविकासादिसे होता है । यदि शब्दम्पापारके बाद प्रतीय होनेवाला साथ अब अमिष्या शक्तिके उपस्थित माना जाय तो हर्ष-शोकादिको भी वाक्य मानना होगा, ज्ये कि मुक्तिरहित नहीं है और मीमांसक स्वयं भी नहीं मानते ।

एक बात और है । 'भुक्ति-किङ्क-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समन्वाये पारदौर्बन्ध अर्धथिय कपाल' यह मीमांसादर्शनका एक प्रमुख सिद्धान्त है । यदि उक्त दीपदीपतर अमिष्याम्पापारवाला सिद्धान्त मान लिया जाय तो यह भुक्तिकिङ्कादिका 'पारदौर्बन्ध'वाक्य सिद्धान्त नहीं बन सकता । मीमांसामें विविधात्मकोंके पार भेद मान गये हैं—उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि, प्रयोगविधि और अविष्कारविधि । इनमेंसे अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधि विनियोगविधिः यह विनियोगविधिकी लक्षण किया है । अथात् जिसके द्वारा गुण और प्रधानके सम्बन्धका बोध हो उसे विनियोगविधि कहते हैं । इस विनियोगविधिक सहकारी भुक्ति, किङ्क वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या नामक छ प्रमाण माने गये हैं । और जहाँ इनका समन्वाय हो वहाँ पारदौर्बन्ध अर्थात् उत्तरोत्तर प्रमाणको दुर्बल माना जाता है । इसका कारण यह है कि भुक्तिके अथवात्रसे अङ्गप्रधान मानका ज्ञान हो जाता है, परन्तु किङ्क आदिमें प्रसन्न विनियोजक शब्द नहीं होते अर्थात् उनकी कस्ना करनी होती है । जैसे 'श्रीदिमिबन्धे' यहाँ 'श्रीदिमि' इस श्रुतीया विभक्तिये तुरन्त ही श्रीदिकी मागके प्रति करणता रूप अङ्गता प्रतीय हो जाती है । परन्तु किङ्कादिमें विनियोजककी कस्ना करनी पड़ती है । जबतक उससे किङ्के आभारपर विनियोजक वाक्यकी कस्ना की जायगी उसके पूर ही भुक्तिये उसका साक्षात् विनियोग हो जानेसे किङ्ककी कम्पकत्वशक्ति स्थाय हो जाती है । अतएव किङ्कादिकी अनेका भुक्ति प्रक है । जैसे 'पेन्द्रया गादस्त्वमुपतिरते । यह किङ्ककी अनेका भुक्तिकी प्रकताका उदाहरण है । किन कथाओंका देवता इन्द्र है वे कथाएँ ऐन्दी श्रुता कहलाती हैं । ऐन्दी कथाओंमें इन्द्रका किङ्क होनेसे उनको इन्द्रलुप्तिका अङ्ग हान्य पारिय यह बात किङ्कसे बोधित होती है । परन्तु भुक्ति प्रकथ अपने 'पेन्द्रया गादस्त्वमुपतिरते' इस बचन द्वारा ऐन्दी कथाका गादस्त्व अर्थात् [प्राचीन कर्मकाण्डे

अनुसार विवाहके समयके बरुकी अग्नि] की स्तुतिके अङ्गरूपमें विनियोग करती है। स्तुतिके प्रवृत्त होनेके कारण ऐसी अग्निमें गार्हपत्यकी स्तुतिके अङ्ग होती हैं, किन्तु वे इन्द्रस्तुतिके अङ्ग नहीं होती।

यदि महाब्रह्मण्डके अनुसार 'दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापार' वाक्य सिद्धान्त माना ज्यम तो स्तुति, किन्तु आदिसे जो-जो अर्थ उपस्थित होना है वह सब एक ही दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापारसे बोधित हो जायगा। एवं फिर उनमें दुर्बल और प्रबलकी कोई बात ही नहीं रहेगी। इसलिये मद्र स्येष्टका वह दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापारवाक्य सिद्धान्त मीमांसाके सुप्रचलित स्तुतिमिथ्यादिके पार दीर्घत्वसिद्धान्तके विपरीत होनेसे भी अप्राप्त है। इस प्रकार महाब्रह्मण्डका धारा ही सिद्धान्त मीमांसाकी दार्शनिकपरम्परा और साहित्यकी शक्तिपरम्परा दोनोंके ही विरुद्ध और अमान्य है।

महाब्रह्मण्डक इस सिद्धान्तका ही पुष्कल मीमांसकका ही एकदोही सिद्धान्त 'नैमित्तिका नुसारेण निमित्तानि कल्पन्ते' भी है। इस सिद्धान्तका भाव यह है कि अङ्गण वा प्रतीयमान अर्थकी प्रतीति किसी निमित्तसे ही हो सकती है क्योंकि वह ज्यम वा नैमित्तिकी है। प्रकृतिमें उस प्रतीतिके निमित्त शब्दके अतिरिक्त और कुछ वन ही नहीं सकता इसलिये शब्द ही उसका निमित्त है और शब्द अभिधा द्वारा ही उस अर्थको बोधन कर सकता है, अन्य कोई मार्ग है ही नहीं, इसलिये अभिधा द्वारा ही प्रतीयमान अर्थकी प्रतीति हो सकती है। इस मतका समर्थन तो स्पष्ट ही है। अभिधा द्वारा 'सङ्केतित' अर्थ ही उपस्थित हो सकता है। यदि प्रतीयमानको अभिधा द्वारा उपस्थित मानना है तो उसको सङ्केतित अर्थ मानना होगा। यह युक्तिष्ठत नहीं है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि निमित्त-भूत शब्दोंमें तो सङ्केतकी आवश्यकता होती है किन्तु नैमित्तिक अङ्गणप्रतीतिके लिए सङ्केतप्रवृत्ति आवश्यकता नहीं है उसकी प्रतीति बिना सङ्केतप्रवृत्तिके ही हो जाती है। अतः यह मत भी युक्तिविरुद्ध होनेसे अप्राप्त है।

घनञ्जय तथा घनिकके मतकी आलोचना

आलोचकमें 'दशरूपक'के लेखक घनञ्जय और उसके टीकाकार घनिकने भी कल्पना अभिधा और तात्पर्य शक्तिये ही प्रतीयमान अर्थका बोध दिलानेका प्रयत्न किया है। घनञ्जयने दशरूपकके चतुर्थ प्रकाशमें 'वाच्या प्रकरणदिम्बो बुद्धित्वा वा यथा क्रिया। वाक्यायाः कारकैर्गुण्य, स्वाधीन्य स्वपेदेय ॥' यह कारिका लिखी है। इसका आशय यह है कि कित्त प्रकार वाक्यमें कहीं वाच्या अर्थात् भूयम्याका और कहीं 'द्वार द्वार' आदि अभूयम्याकर्मिणावासे वाक्योंमें प्रकरणशिवत्त बुद्धित्व क्रिया ही अर्थ कारकसे सम्बन्ध होकर वाक्याभरणमें प्रतीत होती है, उसी प्रकार विभाव, अनुभव, सम्प्रतिभाव आदिके साथ मिश्रकर रत्यादि स्वाधी मात्र ही वाक्याभरणसे प्रतीत होता है। विद्यावादि पञ्चपञ्चानीय और तत्सर्वेषु एवादि वाक्याभरणानीय हैं। अर्थात् पर्यायसंबन्धबोधके समान तात्पर्य शक्तिये ही उनका बोध हो जाता है। इसी कारिकाकी व्याख्यामें टीकाकार घनिकने लिखा है 'तात्पर्यात्परिकेवाक्ये अङ्गणत्वस्य न च्यति'। वाक्यकार्यप्रकारिणात् तात्पर्य न गुणभूतम् ॥ तात्पर्यका क्षेत्र बड़ा व्यापक है। यह कोई नया-गुण्य पदान नहीं है कि इसके अधिक नहीं हो सकता। यह तो वाक्यकार्यप्रकारिणी है। जहाँ वैधी और किन्ती आवश्यकता हो वहाँतक तात्पर्यका व्यापार हो सकता है। च्यतिशब्दने प्रथम कथामें वाक्यार्थ द्वितीय कथामें तात्पर्यार्थ, तृतीय कथामें स्वकार्य और चतुर्थ कथामें अङ्गणत्वको रत्ना है। परन्तु इस कथाविभागसे तात्पर्यकी शक्ति कुम्भित नहीं होती। उक्त चतुर्थकथानिबिध अणतक तात्पर्यकी पहुँच हो सकती है। इतलिये चतुर्थकथानिबिध अङ्गण अर्थ भी

तात्पर्यकी सीमामें ही है, उसके बाहर नहीं है। मनञ्जव और अनिकके मञ्जनाविरोधी मत्का बही सारांश है।

इसका उत्तर यह है कि आपकी यह तात्पर्यां शक्ति 'अभिहितान्भववादि'में मानी गयी तात्पर्या शक्ति ही है अथवा उससे भिन्न कोई और ? यदि अभिहितान्भववादिसौबाली ही तात्पर्या शक्ति है तो उसका क्षेत्र तो बहुत सीमित है, असीमित नहीं। उसका काम केवल पदार्थसंस्पर्शबोध करना है, उससे अधिक यह कुछ नहीं कर सकती। इसलिये प्रतीयमान अर्थका बोध कर सकना उसकी सामर्थ्यके बाहर है। यह तो द्वितीयकक्षानिविष्ट संसर्गबोधक ही सीमित है। चतुर्थकक्षानिविष्ट मञ्जव अर्थतक उसकी गति नहीं है। इसलिये आपको यह तात्पर्यां शक्ति, जो यावत्कार्यप्रकारिणी ही—आवस्थकत्वानुसार हर जगह पहुँच सके—यह तो उससे भिन्न कोई अथवा ही शक्ति मानी होगी। और उस दृष्टामें अनिवादाके साथ उसका नाममात्रका भेद हुआ। अब अभिधा, छद्मत्वा तात्पर्यांसे भिन्न एक नौथी शक्ति मानी ही गयी तब उसका नाम चाहे मञ्जना रत्नो वा तात्पर्या अर्थमें कोई भेद नहीं आता।

✓ छद्मत्वावादका निराकरण

मञ्जनाको न मानकर अन्य शब्दशक्तिसे ही उसका काम निकालनेवाले मतोंमेंसे एक मत और रह जाता है। 'अस्य धार्मिक' इत्यादि स्थलोंमें कुछ बोग विपरीतकक्षया इत्य निषेध वा विधि-रूप अर्थकी प्रतीति मानते हैं। इस मतकी आलोचना करते हुए अनेकाने अने सुक्तियों दी हैं उनका संग्रह भी मम्मदाचार्यने अपने 'काम्यप्रकाश'में बड़ी अच्छी तरह एक ही जगह बार कारिकाओंमें कर दिया है—

✓ 'अस्य प्रतीतिमाद्यतु छद्मत्वा समुपास्यते ।
 फले शब्दैकगम्येऽत्र मञ्जनाप्रपन्न क्रिया ॥
 नामिधा समामावात्, हेत्वमावात्र कक्षया ।
 अर्थं न मुक्तं नाप्यत्र बाधो बोग फलेन नो ॥
 न प्रयोजनमेतस्मिन्, न च शब्दा स्वच्छागति ।
 एवमन्यनवस्था स्यात् वा मूढत्वकारिणी ॥
 प्रयोजनेन सहितं कक्षयीं न मुक्तते ।
 ज्ञानत्वं विपन्नो इत्यं पञ्चम्यदुदाहृतम् ॥ का प्र २, १४ १७

इन कारिकाओंका मायाय इस प्रकार है—

१. जिस शैल-यावनत्वके अतिशय आदि रूप प्रयोजनकी प्रतीति करनेके लिये छद्मत्वाका आशय किया जाता है वह केवल शब्दसे गम्य है और उसके बोधनमें शब्दका मञ्जनाके अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं हो सकता है।

२. उस पक्षके बोधनमें अभिधाव्यापार काम नहीं दे सकता है, क्योंकि पक्ष सङ्केतित अर्थ नहीं है। इसलिये 'समय' अभाव सङ्केतप्रह न होनेसे अभिधाके पक्षकी प्रतीति नहीं हो सकती है। और मुक्त्यायसम्बन्ध तथा प्रयोजनरूप कक्षयाक छेद कारणोंमेंसे किसीके भी न होनेसे पक्षका बोध कक्षयाके भी नहीं हो सकता है। यदि शैल-यावनत्वको कक्षयार्थ मानना चाहें तो उससे पहिले उपस्थित होनेवाले तीररूप अर्थको जो कि इस छसम कक्षयासे बोधित माना जाता है मुक्त्यार्थ मानना होगा उसका साथ मानना होगा और शैल-यावनत्वका भी कोई और प्रयोजन मानना होगा। ये तीनों

बातें नहीं बनती हैं। ध्वन्य अर्थात् तीररूप अथ मुस्पाय नहीं है, फिर उस तीररूप अर्थका बाध भी नहीं है और उसका शैत्य पावनत्वसे सम्बन्ध भी नहीं है। शैत्य-पावनत्वसे तो गङ्गाका सम्बन्ध है तीरका नहीं, इसलिए शैत्य-पावनत्व तीरका कस्यार्थ नहीं हो सकता है।

१ शैत्य-पावनत्वका अतिशय जो इस समझ प्रयोजनरूपसे प्रतीत होता है उसके यदि कस्यार्थ मानें तो उसका फिर कोई और प्रयोजन मानना होगा, परन्तु उस शैत्य-पावनत्वके अतिशय बोधका कोई दूसरा प्रयोजन प्रतीत ही नहीं होता और न तो गङ्गा ध्वन्य उसके बोधनके लिए स्वरूप-वृत्ति—बाधितार्थ—ही है। और यदि कथञ्चित् उस शैत्य-पावनत्वके अतिशयमें कोई प्रयोजन मानकर उसको कस्यार्थ मान लिया जाय तो फिर वह जो दूसरा प्रयोजन प्रतीत हुआ उसको भी कस्यार्थ माननेके लिए उसका भी एक और तीसरा प्रयोजन मानना होगा। इसी प्रकार तीसरे प्रयोजनका चौथा, चौथेका पाँचवाँ आदि प्रयोजन मानने होंगे और यह प्रयोजनकी परम्परा कहीं समाप्त नहीं होगी। इसलिए अनवस्थाबोध होगा जो मूक अर्थात् शैत्य-पावनत्वके अतिशयबोधको कस्यार्थ मानने ही नहीं देगा।

विशिष्ट लक्षणावादका निराकरण

४ ऊपरकी कारिकामें जो बोध दिखावे गये हैं कि तीर मुस्पाय नहीं है, उसका बाध नहीं होता, और उसका शैत्य-पावनत्वरूप फलके साथ सम्बन्ध नहीं है ये सब शेष उस अवस्थामें जाते हैं जब शैत्य-पावनत्वको कस्यार्थ माना जाय। इसलिए पूर्वपक्ष उस स्थितिको बढ़कर यह कहता है कि न केवल तीर कस्यार्थ है और न शैत्य-पावनत्वका अतिशय अपितु शैत्यपावनत्वविशिष्ट तीरमें लक्षणा माननी चाहिये। इस प्रकार लक्षणाकी आवश्यकता नहीं होगी। इस पूर्वपक्षका समाधान करनेके लिए आगली कारिका ही है—‘प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न विद्यते’। प्रयोजन सहित अर्थात् शैत्यपावनत्वविशिष्ट-तीर बधित नहीं हो सकता है। क्योंकि तीर अथ लक्षणात्मक ज्ञानका ‘विषय’ और शैत्य-पावनत्व लक्षणात्मक ज्ञानका ‘फल’ है। ज्ञानका ‘विषय’ और ज्ञानका ‘फल’ दोनों अलग-अलग ही होते हैं। वे कभी एक नहीं हो सकते। इसलिए लक्षणात्मक ज्ञानका ‘विषय’ तीर और उसका ‘फल’ शैत्य-पावनत्व इन दोनोंका बोध एक साथ नहीं हो सकता। उनमें कारणकार्यभाव होनेसे दौबारायें आवश्यक है। पहिले कारणमूल तीरबोध, और उसके बाद फलरूप शैत्य-पावनत्वका बोध दोनों अलग-अलग ही होंगे, एक साथ नहीं। अतएव शैत्य-पावनत्वके बोधके लिए कस्यार्थ अतिरिक्त स्पष्टता माननी ही होगी।

ज्ञानका ‘विषय’ और ‘फल’ दोनों अलग-अलग होते हैं और यह सभी दार्शनिकोंका सिद्धांत है। स्वायम्भे मठमें ‘अर्थ पदः’ इस ज्ञानका ‘विषय’ पद होता है और उससे आरम्भमें एक ‘पदस्थान बानर्ह’ या ‘पदमर्ह जानामि’ इस प्रकारका ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञानको नैवायिक ‘अनुभववशात्’ कहता है। यह अनुभववशात् ‘अर्थ पदः’ ज्ञानका फल है। इसलिए नैवायिकमठमें ज्ञानका ‘विषय’ पद और ज्ञानका ‘फल’ अनुभववशात् होनेसे दोनों अलग-अलग हैं। इसी प्रकार मीमांसकके मठमें भी ‘अर्थ पदः’ इस ज्ञानका ‘विषय’ ही पद है और उस ज्ञानका ‘फल’ ‘श्रुत्वा’ नामक धर्म है। इसलिए उसके यहाँ भी ज्ञानका ‘विषय’ पद और ज्ञानका ‘फल’ ‘श्रुत्वा’ दोनों अलग होनेसे दोनोंका मूल एक ज्ञानमें नहीं हो सकता।

नैवायिक और मीमांसक दोनों ही ‘अर्थ पदः’ इस ज्ञानका ‘विषय’ पदको मानते हैं। परन्तु पदके विषयमें दोनोंमें भेद-सा मतभेद है। नैवायिक अर्थ पदः इस ज्ञानका फल ‘अनुभववशात्’

और भीमसंस्कृत 'ज्ञातता'को मानता है। 'अनुस्यक्त्याय' और 'ज्ञातता'के स्वरूपमें अन्तर यह है कि नैयायिकके मतमें 'अनुस्यक्त्याय' आत्मामें रहनेवाला धर्म है। 'पटज्ञानज्ञानइम्' या 'पटमहं जानामि' इत्यादि रूप 'अनुस्यक्त्याय' आत्मामें उत्पन्न होता है। ज्ञानके ज्ञानका नाम 'अनुस्यक्त्याय' है। 'अयं पट' इस स्यक्त्यायात्मक ज्ञानका विषय पट होता है, 'पटज्ञानज्ञानइम्' इस अनुस्यक्त्यायात्मक ज्ञानका विषय 'पटज्ञान' होता है। और यह 'अनुस्यक्त्याय' आत्मामें रहता है यह नैयायिक-सिद्धान्त है। दूसरी ओर भीमसंस्कृती 'ज्ञातता' आत्मामें नहीं अपितु पटरूप पदार्थमें रहनेवाला धर्म है। इसी 'ज्ञातता'के आधारपर पट और ज्ञानका विषयविषयिभाव बनता है। पटज्ञान पटसे पैदा होता है इसलिये पट उसका विषय होता है पट नहीं, यदि वह कदा अप्य तो फिर पट ज्ञान भाज्यके मी पैदा होता है और वस्तु भी उसका कारण है। तब तो फिर भाज्यके और वस्तु मी उस ज्ञानका विषय होने लगे। इसलिये इस उत्पत्तिक आधारपर विषयविषयिभावका उपपादन नहीं हो सकता। अतः विषयविषयिभावका उपपादन 'ज्ञातता'के आधारपर ही समझना चाहिये। 'अयं पट' इस ज्ञानसे जो 'ज्ञातता' नामक धर्म पैदा होता है वह धर्ममें रहता है धर्ममें नहीं रहता। इसलिये पट ही उस ज्ञानका विषय होता है, पट नहीं। यह भीमसंस्कृतका कहना है। इस प्रकार यद्यपि नैयायिक और भीमसंस्कृत दोनों, ज्ञानका धर्म अलग-अलग 'अनुस्यक्त्याय' और 'ज्ञातता'को मानते हैं, परन्तु वे दोनों ही उस विषयमें एकमत हैं कि ज्ञानका 'विषय' और 'धर्म' दोनों अलग ही होते हैं। इसलिये यहाँ भी अलग-अलग ज्ञानका 'विषय' और उसका 'धर्म' सैव-यावन्तक्यका अतिरिक्त अलग-अलग ही मानने होंगे। उन दोनोंका बीच एक साथ नहीं हो सकता है। अत्यन्त सैव-यावन्तक्यविशिष्ट धर्मको अस्वाभाव्य माननेका जो प्रारम्भ उठाया गया था वह ठीक नहीं है। उन दोनोंका बीच अलग-अलग क्रमशः छड़ना तथा स्पष्टता द्वारा ही मानना होगा। फलितार्थ यह हुआ कि अमिषा वात्स्यायनी और स्थण्डिल्य इन दोनोंमेंसे किसी मी धर्मके स्पष्टताका काम नहीं निकाला जा सकता है। इसलिये स्पष्टताको अलग धर्म मानना ही होगा।

असम्भार्यतावादी वेदान्तमत

अद्वैतरूप ब्रह्मवादी वेदान्ती तथा स्वरूपक शब्दब्रह्मवादी वैवाकरण असम्भार्यताय और असम्भार्यतायार्थ मानते हैं। वेदान्तमतमें त्रिवाकारकमात्रका स्वीकार कर उत्पन्न होनेवाली बुद्धि स्थित या अस्थित और उसके भिन्न त्रिवाकारकमात्रपरिहृत बुद्धि अस्थित बुद्धि है। उनके मतमें यह धारा संघार ही मिथ्या है अतएव धर्मिधर्मभाव या त्रिवाकारकमात्र आदि सब मिथ्या है। इसलिये वाक्योंमें यह वाक्यार्थ है यह अस्थित है यह स्पष्टताय है, "स प्रकारका विभाग नहीं किया जा सकता। अपितु समस्त असम्भार्यतायसंघ वाक्य अथवा वाक्य धार उत्पत्ते मी भागे कितना मी अथ प्रतीत होता है वह सब असम्भार्यताय रूपमें उपस्थित होता है। अतः स्पष्टता आदि को माननेकी आवश्यकता नहीं है। वेदान्ती असम्भार्यताय मानते हैं। उसका अर्थ है "संसारोपेक्ष्यमितिक्रम कृतमन्वयात्मकम्" अर्थात् त्रिवाकारकमात्रवाक्यसंघ उपेक्ष्य अथवा प्रतीतिको पैदा करनेवाला वाक्य असम्भार्यताय वाक्य है इस प्रकार किया गया है और यहाँ 'अविधिद्वयवर्णयानेकशब्दप्रकाशितम्' एक वेदान्तनिश्चयता लक्षण प्रवेदिरे। इत्यादि रूपमें किया गया है।

असम्भार्यतावादी वैवाकरण मत

अगमग इमी प्रकार स्वरूपक शब्दब्रह्मवादी वैवाकरणमें मी असम्भार्यतायकी कल्पना की है। उसका उपपादन करते हुए गर्भरदिने कित्वा है—"वाक्यार्थो वच्य नाम्नि कश्चिद् वाक्यवद्वयमे ।

देवदत्तायो वाक्ये तथैव स्युरनयकाः ॥” इतका मात्र यह है कि ब्राह्मणका कर्मक इत अर्थमें प्रयुक्त ‘ब्राह्मणकर्मक’में अकेल्य ब्राह्मण शब्द अनयक है क्योंकि अकले ब्राह्मण शब्दसे किसी अर्थका बोधन नहीं होता है। ‘ब्राह्मणकर्मक’ इस सम्मिश्रित सम्पूर्ण शब्दसे ब्राह्मण-सम्बन्धी कर्मक यह अलप्य अर्थ बोधित होता है। इसी प्रकार प्रत्येक वाक्यमें अङ्ग-अलया देवदत्तादि शब्द अनयक हैं। समस्त अलप्यवाक्यसे अलप्यवाक्यत्व उपस्थित होता है।

इस प्रकार वेदान्ती और वैयाकरणमतमें अलप्यवाक्यार्थबोध माननेसे वाच्य, अर्थ, अङ्गप की अङ्ग-अलया प्रतीति नहीं होती है। परन्तु इस हेतुको केवल व्यञ्जनाके विरोधमें प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। उससे तो अमिषा लभणा और तात्पराका भी खेप हो जाता है। फिर वेदान्ती जो अङ्गको मिथ्या करते हैं वे भी उसका व्यावहारिक अस्तित्व स्वीकार करते ही हैं और व्यावहारिक रूपमें उन अङ्गव्यवहार अन्य अङ्गसम्बन्धवादिनोंक समान ही मानते हैं। ‘व्यवहारे भङ्गना’ वह उनका प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इसी प्रकार वैयाकरण भी अलप्यवाक्यार्थकी कल्पना करते हैं व भी ‘पञ्चति’ ‘गच्छति’ आदि प्रत्येक पदमें प्रकृतिप्रत्ययका विम्वग व्यावहारिक रूपसे करते ही हैं। स्वयं भर्तृहरिण मी तो लिखा है— ‘उपयाः घिन्वमपानां वाङ्मनामुपलभ्यन्ताः। अल्पे कर्मणि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।’ इत्यर्थे अत्र व्यवहार-दशामें ‘पञ्चति’ ‘गच्छति’ आदिमें प्रकृतिप्रत्ययका विभाग बन सकता है तब उस दशामें अमिषा, तात्परा, लभणा और उन सबसे मिल व्यञ्जनाका अस्तित्व माननेमें को वाधा नहीं प्रतीत होती। अतः व्यञ्जनाका अङ्ग इति मानना ही चाहिये।

वाच्यार्थ व्यञ्जयार्थके भेदक हेतु

वाच्यार्थसे मिल व्यञ्जयार्थकी सिद्धिके लिए आम्बेककार तथा अन्य आचार्योंने अनेक हेतु दिये हैं। साहित्यरूपककार विधनाकने उन सब हेतुओंका सुन्दर समूह केवल एक कारिकामें इस प्रकार कर दिया है। “बोद्धृक्कृतसंस्वानिमित्तकार्प्रतीतिप्रधानाम्। आभय, विवरादीनां भेदाद् मिश्रोऽभिप्रेत्यो व्यञ्जय। अर्थात् बोद्ध स्वल्प आधिके भेद होनेके कारण व्यञ्जय अथ वाच्य अर्थसे मिश्र ही मानना होगा। १ बोद्धके भेदका आशय यह है कि वाच्यार्थकी प्रतीति तो पदपञ्चाशमात्रमें व्युत्पन्न वैयाकरण आदि सबको हो सकती है परन्तु व्यञ्जय अर्थकी प्रतीति अत्रक सङ्घटनोंको ही होती है। इत्यर्थे बोद्धके भेदके कारण वाच्यसे व्यञ्जयको अङ्ग मानना चाहिये। २ स्वरूपभेदके उदाहरण वही ‘अम धार्मिक’ इत्यादि दिये हैं जिनमें कहीं वाच्य विधिरूप और व्यञ्जय निपेक्षरूप और कहीं वाच्य निपेक्षरूप और व्यञ्जय विधिरूप इत्यादि स्वरूपभेद पाया जाता है। ३ संख्याभेदका अभिप्राय यह है कि जैसे धन्व्याक समय किसीने कहा कि ‘गतोऽजामका’ पूर्व छिप गया। यहाँ वाच्यार्थ तो ‘सूत्रक छिप गया’ यह एक ही है परन्तु व्यञ्जय अनेक हो सकते हैं। कहीं तन्मोषातनाका समय हो गया, कहीं खेप बन्द करो, कहीं घूमने लगे कहीं ‘अन्तमसिद्ध’ आदि अनेक रूपके व्यञ्जय हो सकते हैं। ४ वाच्यार्थके बोधका निमित्त सङ्घटनप्रह आदि ही है और व्यञ्जयार्थक निमित्त प्रतिमानैकम्प, सङ्घटनवादि हैं। इसलिए दोनोंका निमित्तभेद भी है। ५ इती प्रकार वाच्यार्थ अत्रक प्रतीतिमात्र करानेवाक्य और व्यञ्जयार्थ अङ्गकारजनक होनेसे दोनोंके कार्यमें भी भेद है। ६ दोनोंमें फलक भी भेद है क्योंकि वाच्यार्थकी प्रतीति प्रथम और व्यञ्जयार्थकी प्रतीति पीछे होती है। ७ वाच्यार्थ शब्दाभित होता है और व्यञ्जय उसके एकदेश प्रकृति-प्रत्यय-वच-समुत्पन्ना आदिमें पद सकता है अतः आभयभेद भी है। ८ और विषयभेदका उदाहरण आगे मूलमें दिया

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चाविकल्पेः पुरा ।

कौण्डिन्यद्वन्द्ववियोगोत्पत्त्यः शोकः ह्यलोकस्यमागत ॥७॥

य्य युक्त है। 'कस्य वा न मयति रोपो' इत्यादिमें बान्वासरोपका विषय नाविका और व्यङ्ग्यार्थका विषय नायक होनेसे विषयभेद ही है। इस प्रकार बाध्य और व्यङ्ग्यके बीच अनेक प्रकारके भेद होनेसे व्यङ्ग्यार्थको बाध्यापसे भिन्न ही मानना होगा।

महिममहत्त्व अनुमितिवाद

यह सब विचार तो वृत्तियोंकी दृष्टिसे हुआ, अर्थात् व्यङ्ग्य अथवा प्रतीति अनिश्चय, वास्तव्य और कल्पना वृत्तियोंसे नहीं हो सकती है। अतएव उसके बोध करनेके लिए व्यङ्ग्यनाको एक अलग वृत्ति मानना अनिवार्य है। परन्तु ध्वनिधारके उत्तरकाळीन कुछ लोग व्यङ्ग्यार्थको बंधकी सीमासे बाहरकर अनुमानका विषय बनानेके पक्षमें हैं। इनमें महिममहत्त्व स्थान सर्वोपरि है। महिममहत्त्वने अपने 'भावविशेषक' नामक ग्रन्थमें ध्वनिके समस्त उदाहरणोंको अनुमान द्वारा सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। परन्तु 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' आदिने महिममहत्त्वके इस अनुमानवादका पूर्ण रूपसे खण्डन कर दिया है। इसलिये विभाषाविप्रतीतिके रसाविकी प्रतीतिका साधक सिद्ध मनकर महिममहत्त्व अनुमान द्वारा रसाविकी सिद्धि करना चाहते हैं। उसके अनुसार अनुमानवाक्यका रूप होगा, 'यमः सीताविययकरतिमान् तत्र विस्मयगतिस्तकटासम्भवात् यो नैव स नैव यथा कस्यचन।' इसके उत्तरमें ध्वनिप्रकाश कहना यह है कि इस अनुमानसे रामके सीताके प्रति अनुपगता ज्ञान हो सकता है। परन्तु उसे हम रस नहीं मानते हैं। उसके द्वारा सहृदयोंके हृदयमें जो अपूर्ण अश्लेषिक आनन्दका उद्बोध होया है उसे हम रस मानते हैं। और उसका बोध भ्रांति न होनेसे अनुमान द्वारा सम्भव नहीं है। आपको रसको अनुमान द्वारा सिद्ध करना चाहिये या परन्तु आप किसी सिद्धि कर रहे हैं वह तो रससे निश्च कुछ और ही पदार्थ है। इसलिये आपका यह प्रयास 'विनायक प्रदुर्गो रथवामास धानरम्' जैसा उपहास योग्य है। इसी प्रकार 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि उदाहरणोंमें महिममहत्त्व गोदावरीतीरर धार्मिकके भ्रमके निषेधको अनुमानका विषय सिद्ध करना चाहते हैं। उस अनुमानका स्वरूप इस प्रकार हो सकता है 'गोदावरीतीर' धार्मिकभीरुभ्रमत्यायोग्यं सिद्धत्वात् यन्नैवं तस्मै यथा यद्गत्।' गोदावरीका तीर धार्मिक भीरुके लिए भ्रमरूप अयोग्य है क्योंकि वहाँ सिद्ध रहता है। इस अनुमानमें 'सिद्धत्वात्'को हेतु और 'भीरुभ्रमत्यायोग्यत्वं'को साध्य माना है। उन दोनोंकी भ्रांति इस प्रकार बनेगी 'यत्र यत्र सिद्धत्वं [मयकारजोपलम्भिः] तत्र तत्र भीरुभ्रमत्यायोग्यत्वं। परन्तु राजाकी आज्ञा अथवा गुरुकी आज्ञा अथवा पिताके अनुपगते मयकारजको जानते हुए भी मृत्युप जाते हैं। इसलिये यह भ्रांति ठीक न होनेसे अनुमान नहीं बन सकता है। इस प्रकार व्यङ्ग्यनाका काम अनुमानसे भी नहीं हो सकता है। अतः व्यङ्ग्यनाको अलग वृत्ति मानना अनिवार्य है। पर व्यङ्ग्यनावाक्योंके मतका धारण है ॥ ४ ॥

प्रतीयमान रस ही काव्यका आत्मा

काव्यका आत्मा वही [प्रतीयमान रस] भवति। इसीमें प्राचीनकालमें ब्रह्म [पत्नी] के आदेशके वियोगसे उत्पन्न आदिकवि वास्मीकिका शोक [करुणरसका स्थायिभाव] श्लोक [काव्य] रूपमें परिणत हुआ। ५।

'विचित्रवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चशारुणः काव्यस्य स पञ्चार्थः सारमूढः । तथा चादिकबेर्वास्मीकेर्निहृतसहचरीविरहकातरक्रीष्वाकन्दजनितः श्लोक एव श्लोकतया परिणतः ।

मा निपाद् प्रतिष्ठां स्वमगमः क्षात्रवर्गीः समाः ।

पत क्रीष्ममिधुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

श्लोको हि कठणरसस्वायिमावः । प्रतीयमानस्य बान्धमेदुर्दसनेऽपि रसमाव सुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात् ।

नामा प्रकारके शब्द, अर्थ और सङ्कटनाके प्रपञ्चसे मनोहर काव्यका सारमूढ [आत्मा] वही [प्रतीयमान रस] अर्थ है। तभी [निपादके धातुसे विद्व किये गये, मरणास्तत्र अतः] सहचरीके वियोगसे कातर, [जो] श्रीश्री [तत् कर्तृक अथवा क्रीश्री इत्यादि क्रीश्रीकर्तृक]के कन्दनसे उत्पन्न आदिकवि चास्मीकि [वास्मीकिनिष्ठ कठणरसका स्वायिमाव] का श्लोक श्लोके [‘मा निपाद्’ इत्यादि काव्य] रूपमें परिणत हुआ।

हे व्याध, तुने काममोहित श्रीश्रीके जोड़नेसे एक [श्रीश्री] को मार डाल्य अतएव अनन्त कठणरस [कस्मी] प्रतिष्ठा [सुकीर्ति] को प्राप्त न हो।

श्लोक कठणरसका स्वायिमाव है। [यद्यपि] प्रतीयमानके और [वस्तु अलङ्कार ध्वनि] भी मेद दिखाये गये हैं परन्तु [रसादिके] प्राधान्यसे रसमाव द्वारा ही जनका उपलक्षण [धातु] होता है।

श्रीश्रीवर्गी किं पटनाका उल्लेख यहाँ किया गया है वह वास्मीकिरामायणके प्रारम्भमें मिलती है। उद्धृत ‘मा निपाद्’ इस श्लोकमें ‘एकम्’ इस पुल्लिङ्गप्रयोगसे प्रतीत होता है कि उस जोड़नेसे नर श्रीश्री ही मारा गया था और उसके विनागमें श्रीश्री रो रही थी। आगेके श्लोक “तं शोणितवरीताम्, चेशयनं महीतले । दृष्ट्वा श्रीश्री स्तोत्रात् कर्णं ले परिभ्रमा ॥” में इसका स्पष्ट ही ज्ञान है। परन्तु यहाँ अध्यासोक्तकारने अपने श्रुतिभागमें ‘निहतसहचरीविरहकातरक्रीष्वाकन्दजनित’ पाठ दिया है जिससे प्रतीत होता है कि वच सहचरी श्रीश्रीका हुआ और रोदन करनेवाला नर श्रीश्री है। इसकी वीकाम अवेचनकारने भी ‘सहचरीहननोत्भूतेन, तथा निहतसहचरीति विम्वच उक्त’ सिद्ध कर इष्टीकी पुष्टि की है। न कतक इन दोनोंने अस्तित्व का अस्वीकार करने भी अपने अन्तमें ‘निपादनिहतसहचरीकं श्रीश्रीपुत्रानम्’ लिखा है। वह एक वास्मीकिरामायणके विरह प्रतीत होता

- 1 इस स्पष्टपर निर्बलसागरीय तथा वाराणसेय संस्करणके श्लोक पाठमेव है। कि सा में विचित्र और वाच्यके बीचमें ‘विचित्र पाठ अधिक है। तथा चादिकबेर्वास्मीके इतका पाठ यहाँ है। निहतसहचरी के अन्वयपर सञ्चिहितसहचरी’ पाठ है। बान्धमेदुर्दके अन्वयपर ‘अन्धप्रमेदु पाठ है। ‘प्रतीयमान पूर्वैति प्रतिपादितम्’ इत्यादि पाठ बना हुआ है। वाराणसेय वाक्यमिवावाके संस्करणमें ‘मा निपाद्’ इत्यादि श्लोक मूल पाठमें नहीं है। इसका कारण सम्भवतः कोचवर्गमें उसकी व्याख्याका अभाव है। हीचितिमें ‘सहचरी’ के अन्वयपर ‘सहचर’ और श्रीश्रीकन्द के अन्वयपर ‘श्रीश्रीकन्द’ पाठ है। इन पाठमेदुर्दके अतिरिक्त अन्य दृष्टिसे भी यह एक विशेष रूपसे विचारणीय है।

सरस्वती स्वादु तदर्थपुस्तु निःप्यन्दमाना महता कवीनाम् ।

अलोकसामान्यमभिष्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिमाविशेषम् ॥६॥

१) तत् वस्तुत्सवं निःप्यन्दमाना महता कवीनां मारुती अलोकसामान्यं प्रतिमाविशेष परिस्फुरन्तं अभिष्यनक्ति । येनास्मिन्नतिविधित्रकविपरम्परावादिनि ससारे काकियास समुद्यया द्वित्राः पञ्चपा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते ॥६॥

इयं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्बुभाबसाधनं प्रमाणम्—

६। इसलिये दीर्घविकार आदि कुछ श्लोक मूल वृत्तिप्रन्व और उसके खोजन बानोंक पाठ बनल कर उसकी व्याख्या करते हैं। वृत्ते विज्ञानोंका मत यह है कि 'अन्यालोक' ज्ञानप्रधान प्रन्व है। इसमें श्रौत्रमिमुनसे सीता और रामकी जोड़ी निगाद पन्से राजन, और बपसे सीताका अतिशयपीडन रूप बध अभिष्यक्त होता है। इसलिये अन्यलोककारने सहचरी पदसे सीतारूप भयको अभिष्यक्त करनेके लिये 'निहतसहचर'के स्थानपर 'निहतसहचरी' पाठ रखा है। वृत्ते जो श्लोक 'सहचरी'के स्थानपर 'सहचर' पाठ परिवर्तन करते हैं वे भी यहाँ ब्रह्मणाय इस प्रकार निकालते हैं कि मायी राजपदके सूचनाय सहचर राजपके किरहसे कातर श्रौत्री मन्दोदरी, उसके आरुन्दनसे अनित शोक स्वीकृतको प्राप्त हुआ। हमने ऊपर इस अंशका जो अनुवाद किया है वह इन सबसे भिन्न है। 'अन्यालोक' और खोजनकी शक्ति प्रतिबंधमें सहचरीबाबा पाठ ही पाया जाता है इसलिये हमने उसको प्रामाणिक पाठ न मानकर 'नित्यमप गतिभित्तनीया'के अनुसार उसको सङ्गति लगानेका प्रयत्न किया है। 'निहत', सहचरीकिरहकातररत्नाशौ श्रौत्र निहतसहचरीकिरहकातरश्रौत्र सद्बुदेलक श्रौत्रोक्तको म आरुन्द- तन्नित शोक। इस प्रकारकी व्याख्या करनेसे पाठकी कपीक्षण सङ्गति रूग जाती है। मानाय यह हुआ कि 'निहत' पर 'सहचरी'का विशेषण नहीं अस्तित्व 'निहत' और 'सहचरीकिरहकातर' य दो विशेषण 'श्रौत्र'के हैं। मरते समय जैसे सभारिक पुरुषको अपने स्वी-बन्धोंका विशेषण दुःखी करता है इसी प्रकार चापविद्य यह श्रौत्र अपनी सहचरीके किरहसे कातर वा। उसका उद्वेगमें रनकर जो श्रौत्रोका अन्दन उससे समुद्भूत शोक आदि कवि बास्मीकिका शोक, श्लोकप्रकारमें परिष्कृत हुआ। ऐषा अय करनेसे मूल वृत्तिमें जो रामायणका विशेष प्रतीत होता है उसका परिहार हो सकता है। खोजनमें जहाँ 'सहचरीहननाद्भूत' पाठ है वहाँ 'सहचरहननोद्भूत' यही पाठ होना चाहिये। खोजनके 'निहतसहचरीति विभ्याव उक्त' इत पठिको प्रतीक मानकर 'निहतसहचर' इत्यादि प्रन्वसे विभाव कहा है वह अय माननेसे रामायणका विशेष नहीं रहता है। परन्तु अल्पमैर्मात्राकारने जो 'निगादनिहतसहचरीकं श्रौत्रपुबानम्' लिखा है वह ठीक नहीं है ॥६॥

उस आस्वाद्यमय [रसमावकप] अर्थात्स्वको प्रवाहित करनेवाली महाकवियों की धारणी [उनके] अलौकिक, प्रतिमासमान प्रतिमा [अपूर्वपस्तुनिर्माणसमा प्रका]के वैशिष्ट्यको प्रकट करती है। ६।

उम [प्रतीयमान रसमावादि] अर्थात्स्वको प्रवाहित करनेवाली महाकवियोंकी धारणी [उनके] अलौकिक प्रतिमासमान प्रतिमाविशेषको व्यक्त करती है। जिसके कारण नागाविद्य कविपरम्परावासी हम समागमें कलियुग आदि दो-तीन अथवा पाँच-छ ही महाकवि गिने जाते हैं। ६।

प्रतीयमान अर्थकी सत्ता निश्चय करनेवासी यह और भी प्रमाण है—

१२

शाब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥७॥

सोऽर्थो यस्मात् केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते । यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्, तद् वाच्यवाचकस्वरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात् । अथ च वाच्यवाचक-
लक्षणमात्रकृतप्रमाणं काव्यतत्त्वार्थमात्रनाविमुक्तानां स्वरभृत्यादिलक्षणभिवाप्रगीतानां
गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः ॥७॥

वह [प्रतीयमान अर्थ] शाब्दशास्त्र [व्याकरणादि] और अर्थशास्त्र [कोशादि]के
ज्ञानमात्रसे ही प्रतीत नहीं होता वह तो केवल काव्यमर्मज्ञोंको ही विदित होता है ७।
पर्यन्त कि केवल काव्यार्थतत्त्वज्ञ ही उस अर्थको जान सकते हैं । यदि वह अर्थ
केवल वाच्यरूप ही होता तो शब्द और अर्थके ज्ञानमात्रसे ही उसकी प्रतीति होती ।
परन्तु [केवल पुस्तकसे] गन्धर्वविद्याको सीख सेनेयाछे उत्कृष्ट गानके भगव्यासी
[नौसिखिया] गायकोंके लिए स्वरभृति आदिके रहस्यके समान काव्यार्थमायनासे
रहित केवल वाच्य-वाचक [कोशादि अर्थनिरूपक शास्त्र और व्याकरणादि शाब्दशास्त्र]
में कृतधर्म पुठकोंके लिए वह [प्रतीयमान] अर्थ मन्नात ही रहता है ७।

यहाँ बावशिवा टीकावाले चारणसे संस्करणमें 'अप्रगीतानाम्' पाठ आया है । उनके
स्थानपर निर्णयसागरीय तथा दीपितिकासे संस्करणमें पञ्चदेवी दक्षिणे प्रगीतानां' पाठ भी रखा है ।
अचनेने दोनों ही पाठोंका अर्थ किया है । दोनों ही दृष्टाओंमें उसका अर्थ नौसिखिया गायक ही
होगा । 'अप्रगीतानां' पाठ माननेपर 'प्रह्लाद गीतं गानं येनां ते प्रगीता न प्रगीताः अप्रगीताः' अर्थात्
उत्कृष्ट गानविद्याके अनम्यासी वह अर्थ होगा और 'प्रगीतानां पाठ माननेपर 'आदि कर्मणि छः
कर्तारि च' [अष्टम्यासी १ ४ ७२] इत् पाणिनिब्रूते आदि कर्ममें क प्रत्यय मानकर 'गात्र
प्रारम्भा प्रगीता' जिन्होंने गाना अभी प्रारम्भ किया है ऐसा अर्थ होगा ।

स्वरभृति आदि गान्धर्व ध्याकके पारिभाषिक शब्द हैं । स्वर शब्दकी म्युलधि है, 'स्वतः एह
कारिकारणनिरोधं रञ्जयति भोगुनिचर्चं अनुरक्तं करोतीति स्वरः जो अन्तोंकी सहायताके बिना स्वयं
ही भोग्यके चित्तके आहारित करे उसे 'स्वर' कहते हैं । सङ्गीतशास्त्रमें पञ्च, ऋषभ, गान्धार
मध्यम, पञ्चम श्रेष्ठ और निषाद ये छः स्वर माने गये हैं । इन्हींका संक्षिप्त रूप सरगमक स, र, ग,
म, प, ध नि रूप हैं । स्वरके प्रथम अक्षरको भृति कहते हैं । 'सङ्गीतशास्त्र'में उनके लक्षण इस
प्रकार कहे हैं—

“प्रथमभवाच्छन्दः भूयते इत्यमात्रकः ।
स भृतिः सम्परिक्षमा स्वरपञ्चकच्छणा ॥
मुक्तरभावी च लिङ्गोऽनुरचनात्मकः ।
स्वता रञ्जयति भोगुनिचर्चं स स्वर उच्यते ॥

१ वि में 'तु' के स्वाक्षर दि है ।

२ घट्टार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते इत्या पाठ वि में बावचारममें अधिक है ।

३ वि प्रगीतानां ।

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति

सोऽर्धस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।

यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवे ॥८॥

'स व्यङ्ग्य-सोऽर्धस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम्' । तावैव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यङ्ग्य-व्यङ्ग्यकाव्यामेव सुप्रयुक्तताभ्यां महाकवित्वलाभौ महाकवीनां, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ॥८॥

श्रुतिभ्यः सुं स्वरां पङ्क्त्यभंगान्भारमभ्यमाः ।

पङ्क्तौ वैभक्तवाच्य निपाद इति सप्त स ॥

तेषां संज्ञाः स रि ग म प ष नि इत्त्वपद्य म्ता ।

द्युतिशक्तिं केचिदुदाहरन्ति भ्रुती भुतिशानविचारदशा ।

परंप्रथिमिशाः सप्त केचिदासामानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति ॥७॥

इस प्रकार वाक्यार्थसे भिन्न व्यङ्ग्य-वकी सत्ताको सिद्ध करके प्राधान्य [मी] उसीका है यह दिखाते हैं—

यह [प्रतीयमान] अर्थ और उसकी अभिव्यक्तिमें स्वार्थ विशेष शब्द इन दोनोंको मझी प्रकार पहिचाननेका प्रयत्न महाकविको [जो महाकवि बनना चाहे उसको] करना चाहिये ।८।

यह व्यङ्ग्य-व अर्थ और उसको अभिव्यक्त करनेकी शक्तिसे युक्त कोई विशेष शब्द [ही] है । शब्दमात्र [नारे शब्द] नहीं । महाकवि [बननेके अभिलाषी]को वही शब्द और अर्थ मझी प्रकार पहिचानने चाहिये । व्यङ्ग्य-व और व्यङ्ग्यकके सुन्दर प्रयोगसे ही महाकवियोंका महाकवियवकी प्राप्ति होती है; वाच्य-वाच्यक-रचनामात्रसे नहीं ।८।

प्रत्यभिज्ञापरिचय

'प्रत्यभिज्ञा' शब्दका प्रयोग यहाँ किया गया है । प्रत्यभिज्ञाका अर्थ है, 'तत्तेजन्तावगा हिनी प्रलोकि प्रत्यभिज्ञा ।' 'तत्ता' अर्थात् तदेष तत्काल सम्बन्ध अर्थात् पूर्वदेय और पूर्वकार सम्बन्ध तथा 'इहस्ता' अर्थात् एतदेय एतत्काल सम्बन्धको अन्वयान्तर करनेवाली प्रतीतिका 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं । जैसे 'सोऽर्धं देवदत्तः नरु वही देवदत्त है जिसे हमने काशीमें देखा या नरु 'प्रत्यभिज्ञा'का उदाहरण है । 'स'में 'स' प' 'तत्ता' अर्थात् पूर्वदेय और पूर्वकाल सम्बन्धको और 'अर्ध' पद 'इहस्ता' अर्थात् एतदेय और एतत्काल सम्बन्धको बोधन करता है । इस प्रकार इस प्रतीतिमें 'तत्ता' इहस्ता' दोनोंका बोध होनेसे यह प्रतीति 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है । अर्थात् परिचित कालक पुन-वर्धनके अन्वयपर पूर्वबैधित्यम सहित उसकी प्रतीति 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है । 'प्रत्यभिज्ञा' शब्दका उक्त हिन्दी रूप पहिचान शब्द हो सकता है । पहिचानमें मी पूर्व और वर्तमान दोनोंका सम्बन्ध प्रतीत होता है । 'प्रत्यभिज्ञेयौ' पदमें अर्थात् 'अर्धे इत्यनुवच' [अ ३, ३, २६] इस सूत्रक साथ

१ वाच्यभिज्ञावाक्ये संस्करणमें स पाठ नहीं है ।

२ न शब्दमात्र'के स्थानपर 'न सर्वः' पाठ नि ही , में है ।

इदानीं व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यकयोः प्राधान्येऽपि पदं वाच्यवाचकत्वेन प्रथममुपायवदे क्व
 यस्तदपि पुच्छयेद्यस्याहं

✓/ आलोकार्थी यथा कीपदिम्बायां यस्नवान् जन । ✓
 तदुपायतया तद्वच्यं वाच्ये तदाहतः ॥९॥ ✓

एकवाक्यतापन्न 'अचो वत्' [अ २ १, १७] सूत्रसे मन् प्रत्यय हुआ है। और इत्य प्रत्ययके भोगमें 'इत्यानां कर्तरि वा' [अ २ १ ७१] सूत्रसे कर्तमें 'महाकवे' यह पढ़ी किमतिक हुई है। शेष पढ़ी मानकर उहदवै महाकवेः सम्बन्धितो तौ शम्भारी प्रत्यभिज्ञेयो ऐसी व्याख्या करनेसे उठ प्रतीक-मान अर्थके प्राधान्यमें, उहदवभेदकसिद्धत्व प्रमाण है वह बात भी स्पष्ट होती है और नियोगावक इत्य [मन्] प्रत्ययके द्वारा विभक्तम अर्थात् कविधिगाप्रकार भी ध्वनित होता है।

ध्वन्याभेदके टीकाकार श्री अभिनवगुप्तपादाचार्यके परमगुरु श्री उत्तम्बावाचार्यका दार्शनिक सिद्धान्त भी प्रत्यभिज्ञादर्शनके नामसे प्रसिद्ध है। यह प्रत्यभिज्ञादर्शन कश्मीरका विम्पाठ दर्शन है और उसपर बहुत बड़ साहित्यकी रचना हुई है। इस सिद्धान्तके अनुसार, इधरके शाव भास्माके अमेदकी 'प्रत्यभिज्ञा' करना ही परमपदका हेतु है। उत्तम्बावाचार्यने किन्ना है—

ते स्ते रप्युपवाचितेरुपनतस्तन्वा- म्पितोऽन्वन्ति,
 कान्ता श्वकसमान एवमपरिग्राता न रन्तु यथा ।
 श्लोकस्यैव तथानवेधितगुणः स्वात्मानि सिध्नेभरो,
 नैवाहं निरुवैमबाव तदियं उच्यत्यभिज्ञेदिता ॥

[अस प्रकार अनेक कामनाओं और प्रायनाओंसे प्राप्त और रमणीय पाठमें स्थित होनेपर भी जबतक वह अपन पठिको पठिरूपम जानती नहीं है तबतक अर्थ पुरुषोंके समान होनेसे वह उसके उहवाचका सुख प्राप्त नहीं कर पाती उसी प्रकार यह निरवश्वर परमात्मा समस्त संसारका आत्मभूत होनेपर भी जबतक हम उसके पहिचानि नहीं उसके आनन्दका अनुगत नहीं कर सकते। इसीलिए उसकी पहिचानके निमित्त वह प्रत्यभिज्ञाबोधन बनाया गया है।] वही प्रत्यभिज्ञादर्शनका मूल सिद्धान्त है। इसी प्रकार प्रकृतमें व्यङ्गनभ्रम शब्दायकी प्रत्यभिज्ञासे ही महाकविपद प्राप्त हो सकता है। ८।

व्यङ्ग्यप्राधान्यमें वाच्यवाचकका उपादान क्यों ?

उपर व्यङ्ग्य वाचका प्राधान्य प्रतिपादित किया है परन्तु कवि तो व्यङ्ग्यके पूर्व वाच्य वाचकको ही प्रहण करते हैं। वाच्यवाचकके प्रथमोपादानसे तो उनकी प्रधानता प्रतीत होती है। इस शब्दाको दूर करनेके लिए अगली कारिका है। उसका भाव यह है कि वाच्यवाचकका प्रथम उपादान उनकी प्रधानताको नहीं अपितु उनकी गौणताको ही सूचित करता है क्योंकि उनका प्रथमोपादान तो कबल उपायभूत होनेके कारण किया जाता है। उपेक्ष प्रथम और उपाय सदा गौण ही होता है।

अप व्यङ्ग्य और व्यङ्ग्यके प्राधान्य होते हुए भी कविगण जो पहिले वाच्य वाचकका ही प्रहण करते हैं वह भी ठीक ही है यह कहते हैं—

अने आलोका [प्रकाश अथवा 'आलोकात्मालोक' कवितायदनारयिन्वादिविलोकन-
 मित्यथः पदार्थदर्शन]की इच्छा करनेवान्ना पुरण उमका उपाय होनेके कारण कीप-
 निम्बा[के विषय]में यत्त करता है इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थमें प्रादुर्भाव कवि वाच्यवाचका
 उपादान करता है १९।

यथा आलोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवान् जनो भवति, तदुपायतया । नहि दीपशिखामन्तरेण आलोकेः सम्भवति । तद्वत् व्यङ्ग्यमर्थं प्रत्याहृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति । अनेन प्रतिपादकस्य क्वेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः ॥९॥

प्रतिपाद्यस्यापि तं दर्शयितुमाह—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते ।

वाक्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥१०॥ ??

यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाक्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यवाच्यार्थस्य प्रतिपत्तिः ॥१०॥

इस प्रकार आलोकार्थी होनेपर भी मनुष्य दीपशिखा [के विषय]में उपायरूप होनेसे [प्रथम] प्रयत्न करता है; दीपशिखाके बिना आलोक नहीं हो सकता है। इसी प्रकार व्यङ्ग्य अर्थके प्रति आदरवान् पुरुष भी वाक्यार्थमें यत्नवान् होता है। इससे प्रतिपादक [वक्ता] कबिका व्यङ्ग्य अर्थके प्रति व्यापार दिखानाया १९।

कारिकामें आलोक शब्द आता है। उसका सीधा अर्थ प्रकाश होता है परन्तु शोचनकारने 'आलोकेनमालोके' । वनितावदनारविन्दारिविलोकेनमित्यर्थ । अर्थात् वनितावदनारविन्दारि किसी पदार्थके आलोकेन अर्थात् वास्तुपदानको आलोके करते हैं यह अर्थ किया है। किसी वस्तुको देखनेकी इच्छावाला व्यक्ति जैसे पहिले दीपशिखाका यत्न करता है। शोचनकारने छात्तरण प्रसिद्ध प्रकाश अर्थको छोड़कर जो वैयक्तिक अर्थ करनेका यत्न किया है उसका अभिप्राय यह है कि दीपशिखा जो प्रकाशरूप ही है इसलिये दीपशिखा और प्रकाशमें भेद स्पष्ट न होनेसे उनका उपाय उपेयभाव भी स्पष्ट नहीं है। वास्तुपदान और दीपशिखामें भेद स्पष्ट है। भेदकी स्पष्टताके कारण उनमें उपाय और उपेयभाव स्पष्ट रूपसे हो सकता है। इसी प्रकार वाच्यसे व्यङ्ग्यका स्पष्ट भेद और उनके स्पष्ट उपाय उपेयभावको व्यक्त करनेके लिये ही इस प्रकारकी व्याख्या की गयी है १९।

अथ प्रतिपाद्य [वाक्यार्थ]के भी उस [व्यङ्ग्यवोधनके प्रति व्यापार]को दिखाने के लिये कहते हैं—

असे पदार्थ द्वारा [पदार्थोंकी उपस्थिति होनेके बाद पदार्थसंसर्गरूप] वाक्यार्थ की प्रतीति होती है उसी प्रकार उस [व्यङ्ग्य] अर्थकी प्रतीति वाक्यार्थ [के ज्ञान] पूर्वक होती है १०।

असे कि पदार्थ द्वारा वाक्यार्थका बोध होता है उसी प्रकार वाक्यार्थकी प्रतीति पूर्वक व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति होती है १०।

निजयहागरीय संस्करणमें 'प्रतिपत्तस्य वस्तुनः' पाठ है। शोचनकारने 'प्रतिपत्ति माये किप् । तस्य वस्तुनः व्यापकत्वस्य चारुत्वेत्यर्थं व्याख्या की है। इसलिये शोचनप्रसिद्ध होनेसे यह पाठ ग्रामाधिक है। जैसे मिल बन्धिको भाषा या वाक्यार्थपर पूरा अधिकार नहीं होता उसको पहिले पदार्थ समझने होते हैं तब वाक्यार्थ समझमें आता है परन्तु जिनका भाषापर अधिकार है वे भी पहिले पदार्थमहणपूर्वक ही वाक्यार्थ महण करते हैं फिर भी यह इवनी शिष्टतासे हो जाता है कि वहाँ क्रम

इदानीं वाक्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेः, व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न^१
बिलुप्येत' तथा इत्यपि—

स्वसामर्थ्यबशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि ।

यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥११॥

यथा स्वसामर्थ्यबशेनैव वाक्यार्थं प्रकाशयन्नपि पदार्थो व्यापारनिष्पत्तौ न
भाव्यते^२ विभाव्यते ॥११॥

तद्रूपं सचेतसां सोऽर्थो वाक्यार्थविमुखात्मनाम् ।

बुद्धौ तत्त्वार्थवर्तिन्यां इदित्येषावभासते ॥१२॥

अनुभवमें नहीं आता । जैसे कमबलके बहुत-से पत्ते रत्नकर उनमें सुन बुभायी जाय तां यद्यपि वह एक
एकको क्रमसे ही मेरेगी फिर भी शीश्याके कारण वह क्रम कथित नहीं होता उसी प्रकार जो
अत्यन्त छाहदय नहीं हैं उनको वाक्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ क्रमसे ही प्रतीत होते हैं । परन्तु अत्यन्त
छाहदय व्यक्तियोंको व्यङ्ग्यपक्षी प्रतीति द्रवन्त हो जाती है । वहाँ प्रतीतिम क्रम रहते हुए भी 'उत्सृष्ट
पत्रस्यविमेषवत्वापन्नान् संव्यस्यते ।'^३ क्रम अनुभवमें नहीं आता । इसीलिए रसपन्निका अर्थरूपक्रम
व्यङ्ग्यपक्षि कहा है यह बात भी वहाँ उचित की है । १ ।

अथ व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति वाक्यार्थके पाद होनेपर भी व्यङ्ग्यार्थका प्राधान्य
जिससे छुम न हो वह [प्रकार] दिखाने हैं ।

जैसे पदार्थ अपनी सामर्थ्य [योग्यता आकांक्षा, आसक्ति]से [पदार्थसंसर्गरूप]
वाक्यार्थको प्रकाशित करते हुए भी, [अपने वाक्यार्थबोधनरूप] व्यापारके पूर्ण हो
आनेपर [पदार्थ] अलग प्रतीत नहीं होता है । ११ ।

जैसे अपनी सामर्थ्य [योग्यता, आकांक्षा आसक्तिरूप]से वाक्यार्थको प्रकाशित
करनेपर भी व्यापारके पूर्ण हो जानेपर पदार्थ विभक्त्यरूपमें अलग प्रतीत नहीं
होते । ११ ।

इसी प्रकार वाक्यार्थसे विमुक्त [उससे विभास्तिरूप परितोषको प्राप्त न करने-
वाले] सङ्घर्षोंकी उत्पन्नशानसमर्प बुद्धिमें वह [प्रतीयमान] अर्थ सुरन्त ही प्रतीत हो
जाता है । १२ ।

'स्वसामर्थ्यबशेनैव' कारिकामें स्वसामर्थ्य अर्थात् पदार्थकी सामर्थ्यसे अग्निप्राय योग्यता,
आकांक्षा और आसक्तिसे है । 'वाक्यं स्याद् योग्यताकाशासक्तिमुक्तः पदोन्नयः ।' योग्यता, आकांक्षा
और आसक्तिसे मुक्त परसमूहको वाक्य कहते हैं । 'योग्यता नाम पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधमात्र' ।
पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धमें बाधाका अभाव 'योग्यता' है । योग्यतारहित परसमूह वाक्य नहीं होता,
जैसे 'बद्धिना शिष्यति', क्योंकि वहाँ पद्धिमें शिष्यनकी अमत्ता बाधित है । 'पदस्य पदान्तरस्यविरोधप्रमुक्त

१ बिलुप्यते वाक्यमिवा ।

२ प्रतिपाद्यवद् वा वि ।

३ विभाव्यते वि ।

४ पद्मा (स्त्र)वभासते । (१) वि में वृत्तिरूपमें अधिक दिया है ।

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यवहयस्यात्रैस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोक्तव्यम्नाह—

यत्रार्थः शब्दो वा तमथमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।

व्यङ्ग्यतः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१॥

यत्रार्थो वाच्यविशेषः, वाचकविशेषः शब्दो वा, तमर्थं व्यङ्ग्यतः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति । अनेन वाच्यवाचकवाचकत्वहेतुभ्य उपमाविभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम् ।

अन्वयानुमात्रकत्वमाकांक्षा । जिन परोंमें एक पद दूसरे परक बिना अन्वयबोध न कर सके वे पद आकांक्ष या आकांक्षापुक्त हैं । उनमें रहनेवाला धर्म 'आकांक्षा' है । उसके अभावमें 'गौरव' पुरस्का हसी वाकुनिमृगो ब्राह्मण' भावि पदसमूह वाच्य नहीं कहवाता है । दूसरे ओगोंने आकांक्षाका यही अन्वय इस प्रकार किया है 'यत्पदस्य यत्प्रत्ययमात्रप्रयुक्तत्ववयवबोधान्नकृत उपपत्तिरित्यतएवत्वमाकांक्षा । वैशिष्ट्यं चाव्यवहितवृत्तित्वाव्यवहितोत्तरत्वान्तरसम्बन्धेन बोध्यम्' । 'आसत्तिबुद्धपनिष्ठतः अविच्छिन्नत उच्चारणक कारण बुद्धिके अविच्छेदको 'आसत्ति' कहते हैं । पण्डे-बो-पण्डेके अन्वयानुमे बोधे गये 'देवत्त गा आनय' आदि पद 'आसत्तिके अभावमें वाच्य नहीं कहवाते हैं । इन तीनों धर्मोंमेंसे योग्यता साक्षात् पदार्थका धर्म है, आकांक्षा मुख्यतः बोधाधी विश्वासारूप ज्ञानसे आत्माका धर्म है । परन्तु यह पदार्थबोध द्वारा ही आत्मामें पैदा होती है इसलिए परम्परवा अथवा अन्वयानुमात्रकत्वरूप होनेसे 'आकांक्षा' साक्षात् पदार्थ-धर्म भी है । आसत्ति पद द्वारा पदार्थधर्म है ।

दूसरी 'सहत् सन्नेतस' कारिकाके 'सहित्येवावमासत्'से यह सूचित किया कि यद्यपि वाच्यवाचक और व्यवहयार्थकी प्रतीतिमें क्रम अवश्य रहता है परन्तु यह कसित नहीं होता । इसलिए, रसादिकरूप ध्वनि अर्थकत्वक्रममहधध्वनि है अक्रममहध्वन नहीं ॥१२॥

इस प्रकार वाच्यार्थसे अतिरिक्त व्यवहयार्थकी सत्ता तथा प्राधान्य [सङ्काष वाच्यका सत्ता तथा साधुभाव अर्थात् प्राधान्य दोनों अर्थ हैं] प्रतिपादन करके प्रकृतमें १ उपयोग विद्यमानते हुए कहते हैं—

अर्था अर्थ अपनेको [स] अथवा शब्द अपने अर्थको गुणीभूत करके उस [प्रतीयमान] अर्थको अभिप्रेक करते हैं उस काव्यविशेषको विद्वान् लोग ध्वनि [काव्य] कहते हैं ॥१३॥

'संभावय तौ स्वार्थौ । तौ गुणीकृतौ वाभ्यां यथासंभवेन, स अर्थो गुणीकृतात्म्य शब्दस्य गुणीकृत्यामिषेव ।' 'व्यङ्ग्य' यह विचचन इस बातका सूचक है कि व्यवहय अथवा अभिप्रेकिकमें शब्द और अर्थ दोनों ही कारण शक्त हैं किन्तु एक प्रधान कारण दूसरा सहकारी । 'यत्रार्थः शब्दो वा' में पठित 'वा' पद शब्द और अर्थके प्राधान्याभिप्रायण विच्छेदको बोधन करता है । अभिप्रेकिकमें कारण दोनों होते हैं परन्तु प्राधान्य शब्द और अर्थमें एकका ही होता है । इसलिए शब्दी और आर्थी दो प्रकारकी ध्वजना मानी गयी है और इसीलिए साहित्यरचनाकारने दोनोंकी स्पष्टकता दिन्वाते हुए लिखा है—'शब्दबोधो ध्वनस्त्यर्थः, शब्दोऽप्यर्थान्तराभवः । एकत्र व्यवहयत्वे तदन्वयस्य सहकारिता ॥ वा २, १८

अर्था अर्थ वाच्यविशेष, अथवा वाचक विशेष शब्द उस [प्रतीयमान] अर्थको अभिप्रेक करते हैं उस काव्यविशेष का 'ध्वनिकाव्य' कहते हैं । इनमें वाच्यवाचकके

✓ यदप्युक्तं—“प्रसिद्धप्रस्थानाधिरेकेषो मार्गस्य काम्यत्वज्ञानेष्वेतिनांस्ति”, इति तदप्युक्तम् । ततो उल्लङ्घनश्रुतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, उच्यते तु परीक्ष्यमाणे स एव साहचर्यव्यवहाराद्वापि कस्यत्वप्यम् । ततोऽप्यधिप्रमेवेत्यमे दृष्टयिष्यामः ।

✓ यदप्युक्तम्—“कामनीयकमनतिवतमानस्य तस्योक्तालङ्कारादिप्रकारेष्वन्तर्भावः”, इति तदप्यसमीचीनम् । बाध्यवाचकमात्राभिमिति प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यकसमाभयेण व्यपक्षितवस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः । वाच्यवाचकवादत्वद्देवयो हि तस्वाङ्गमूलाः, स त्वङ्गिरूपं एवेति प्रतिपाद्यिष्यमानत्वात् । परिकरश्लोकभाष्य—

13

✓ व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः ।

वाच्यवाचकवादत्वद्देवन्तः पाविता कुतः ॥

वादत्वद्देवो उपमादि और अनुमानादिसे अलग ही ध्वनिका विषय है यह दिखलाया ।

विषय 'धम् पिन् बन्धन' धातुसे बना है । 'विद्येयेण विनोति बन्धाति सतम्बिन् पदाभिमिति विषयः इत म्युत्पत्तिरे ध्वनिको वाच्यवाचकवाच्यत्वेऽप्येवै पृथक् अनुपपन्न इति विषयः ।

और जा यह कहा था कि प्रसिद्ध [शाब्दार्थशरीर काव्य वाच्ये] मार्गसे मित्र मार्गमें काम्यत्व ही नहीं रहेगा इसलिये ध्वनि नहीं है यह ठीक नहीं है क्योंकि यह केवल [उन] लक्षणकार्य को प्रसिद्ध [भाव] नहीं है परन्तु लक्ष्य [रामायण महाभारत प्रभृति] की परीक्षा करनेपर ता साहचर्योंके हृदयोंको आह्लादित करनेवाला काम्यका सारभूत यही [ध्वनि] है । उससे मित्र [काव्य] मित्र [काव्य] ही है यह हम भागे दिखलायेंगे ।

अलङ्कारोंमें ध्वनिक अन्तर्भावका लक्षण

और जा यह कहा था कि यदि यह 'रमणीयताका मतिप्रमण नहीं करता है ता उक्त [शुष्प अलङ्कारादि] वाक्यवस्तुओंमें हा उस [ध्वनि] का अन्तर्भाव हो जाता है यह भी ठीक नहीं है । क्योंकि केवल वाच्यवाचकमात्रपर आश्रित मार्गके अन्तर व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यकमात्रपर आश्रित ध्वनिक अन्तर्भाव कैसे हो सकता है । वाच्यवाचक [अर्थ और शब्द] के वाक्यवस्तु [उपमादि तथा अनुमानादि अलङ्कार] ता उक्त ध्वनिके अङ्गरूप है और यह [ध्वनि] ता अङ्गी [प्रधान] रूप है यह भाग प्रतिपादन करेंगे । इस सम्बन्धमें एक परिकरश्लोक भी है—

ध्वनिके व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यकमाय सम्बन्ध मूढक ज्ञानेस वाच्यवाचकवादत्वद्देवो [अलङ्कारादि] में [उक्तका] अन्तर्भाव कैसे हो सकता है ।

कारिकामें अनुक्त परन्तु अर्थेभ्य अपको करनेवाला श्लोक 'परिकरश्लोक' कहलाता है—
'कारिकाभक्त भाषिकाभाषं क्तु श्लोकः परिकरश्लोकः । कारिकावाङ्मूलस्थापेक्षितत्वात्पस्य भाषाप-
मधेः तं क्तु श्लोकः परिकरः ।

१ स त्वङ्गिरूपके स्थानपर नि सं० में व तु तरेइत्या पाठ है । ही में भी ।

ननु यत्र प्रतीयमानार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम मा मूढ ध्यनेर्विषयः । यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नवविशेषस्तद्द्वयल-
ङ्कारसौ, तत्र ध्वनेरन्वर्भावो भविष्यति, इत्यादि निराकर्तुमभिहितम्, "उपसर्जनीकृत
स्वार्थौ" इति । अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृत्याभिधेयः क्षयो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति
स ध्वनिरिति । तेषु कथं तस्यान्वर्भावः । व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः । न चैतत् समासो
क्त्यादिष्वस्ति ।

समासोक्तौ साधत्—

✓ उपोद्धारणे विकोद्धारकं तथा गृहीयं शशिना निज्ञामुक्तम् ।
यथा समस्तं विमिरंष्टुकं तथा, पुरोऽपि रागात् गच्छितं न दक्षितम् ॥

यदि कोई यह कहे कि [ननु] जहाँ प्रतीयमान अर्थकी स्पष्ट रूपसे प्रतीति नहीं
होती वह ध्वनि [के अन्वर्भावका] का विषय न माना जाय तो न सही परन्तु जहाँ
[उपसर्जी] प्रतीति होती है जैसे समासोक्ति आक्षेप अनुक्तनिमित्त बिदोपोक्ति पर्या-
योक्त अपह्नविति दीपक तथा सद्गुर भादि असद्गुराँमें वहाँ ध्वनिका अन्वभाव हो
जायेगा । इस मतके निराकरणके लिए पिछली कारिकामें कहा है "उपसर्जनीकृत
स्वार्था" । जहाँ अर्थ अपनेको अथवा शब्द अपने अर्थको गुणीभूत करके अर्थान्तर
[प्रतीयमान] को अभिव्यक्त करते हैं उसको ध्वनि कहते हैं । उन [समासोक्ति भादि
असद्गुराँ] में उस [ध्वनि] का अन्वर्भाव कैसे होगा ? व्यङ्ग्य-व्यपार्थकी प्रधानतामें ध्वनि
[काश्य] होता है । और समासोक्ति भाविमें यह [व्यङ्ग्य-व्यप्राधान्य] नहीं है ।
समासोक्तिमें तो—

सम्प्राकार्णीन आदप्यको धारण किये हुए [बुखरे पक्षमें प्रेमोन्मत्त] शशी [अथात्
धम्प पक्षान्तरमें बुखिङ्ग शशी पक्षसे व्यङ्ग्य-व्यपार्थ] ने, निशा [राभि पक्षान्तरमें
स्त्रीलिङ्ग निशा शब्दसे नायिका] के अश्रुल शरीरसे युक्त [शारक मन्थ्र पक्षान्तरमें
नायिकाके अश्रुल कनीनिकायाळे] मुख [पारमिमक अप्रमाण प्रदोषकाल, अन्वय आनन]
को [धुम्बन करनेके लिए] इस प्रकार प्रहण किया कि राग [सम्प्राकार्णीन अरुण
प्रकाश पक्षान्तरमें नायकके स्पर्शसे समुद्भूत अनुद्यगातिशय] के कारण सारा विमिर
रूप यक्ष गिर आनेपर ही उने [निशा तथा नायिकाको] दिखलाई नहीं दिया ।
यह समासोक्ति असद्गुरका उदाहरण है । ध्यमाने समासोक्तिका अर्थ निम्नलिखित प्रकार
किया है—

"यत्रोक्तौ गमतेऽत्रो-बद्धसमानैर्विशङ्क्ये ।
सा लभ्यमादिश्रित्वा संक्षिप्यतया कुपे ॥" ध्यम २७१

जिस उक्तिमें, समान विशेष्य-कारण प्रस्तुतम अन्य अपह्नी प्रतीति हो उन उक्तिको
[संक्षेपमें] संक्षिप्तार्थ होनेसे [एक साथ प्रकृत अपह्नव दोनोंका कथन करनेसे] समासोक्ति कहते हैं ।
उपरके उदाहरणमें सम्प्राकार्णीन यत्रादवच्छा कथन कति कर रहा है । उसमें निशा और नायिका

इत्थादी व्यङ्ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते । समारोपितनायिकाणावक-
व्यवहारोर्निशासक्षितोरेव वाक्यार्थत्वात् ।-

वर्षन प्रकृत है । निष्ठा और शशीके समान भिन्न और समानविरोधके कारण नायक-नायिकाकी प्रतीति होती है और उनके व्यवहारका समारोप निष्ठा और शशीपर होनेसे यह समालोचिक अङ्गकार माना जाता है । पूर्वपक्ष यह है कि यहाँ नायक-नायिकाव्यवहार व्यङ्ग्य है, वाच्य नहीं । अर्थात् इस श्लोकमें समालोचिकके साथ ध्वनि भी है । "संक्षिप्त ध्वनिका अन्तर्भाव समालोचिक अङ्गकारमें माना जा सकता है । इसके उत्तरमें प्रत्यक्षार लिखते हैं—

यहाँ समारोपित नायक-नायिकाव्यवहारसे युक्त शशी और निशाके ही वाच्यार्थ होनेसे व्यङ्ग्य-व्यसे अनुगत वाच्य ही प्रधानतया प्रतीय होता है [अर्थात् व्यङ्ग्य-व्यका प्राधान्य न होनेसे यहाँ ध्वनि नहीं है अतः ध्वनिका समालोचिकमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है] ।

आक्षेपालङ्कारमें ध्वनिके अन्तर्भावका निषेध

ध्वनिका अङ्गकारमें अन्तर्भाव करनेके किये पूर्वपक्षकी ओरसे सूच्य उदाहरण आक्षेप अङ्गकार का प्रस्तुत किया गया है । आक्षेप अङ्गकारका सत्त्व भ्रामरने निम्नलिखित प्रकार किया है—

"प्रतिषेध इषेपञ्च वा विरोधमिषिषत्वा ।

वक्ष्यमाणोक्तविषय स आक्षेपो विषय मत् ॥" भाष्य २, ६८

जहाँ विरोधका बोधन करनेके अतिप्रायसे कहना चाहते हुए भी वाक्यका निषेध किया जाता है वहाँ आक्षेप अङ्गकार होता है । यह निषेध वहाँ वक्ष्यमाण अर्थात् आगे कही जानेवाली वाक्यका पूर्व ही निषेध और वहाँ उक्त अर्थात् पूर्व की हुई वाक्यका पीछे निषेध करनेसे वक्ष्यमाणविषयक और उक्तविषयक दो प्रकारका होता है । वक्ष्यमाणविषयकका उदाहरण भ्रामरने यह दिया है—

"अहं त्वां यदि नेभ्ये सप्यमन्कुतुषा तव ।

इयदीवात्सलतोऽप्येन किमुकेनाप्रिवेच ते ॥" भाष्य २, ६९

'मैं यदि तुम्हका तनिक देर भी न देखूँ तो उत्कण्ठप्रतिरेकच' इतना ही रहने दो, आगे तुम्हारी अप्रिय बात कहनेसे क्या काम । वहाँ आगे 'मर जाऊँगी' यह वक्ष्यमाण अर्थ है उक्तका पूर्व ही निषेध कर दिया है । आगे तुम्हारे अप्रिय बात कहनेसे क्या काम ? इस प्रकार वहाँ प्रिये मर जाऊँगी यह व्यङ्ग्य है । इतन्मिथ वहाँ आक्षेप अङ्गकारमें व्यङ्ग्य होनेसे ध्वनिका अन्तर्भाव आक्षेप अङ्गकारमें किया जा सकता है । यह पूर्वपक्ष है । उत्तर स्वयंभग उसी आक्षेपका होगा जो समालोचिकमें दिया जा चुका है । अर्थात् ध्वनि नहीं होता है वहाँ व्यङ्ग्यका प्राधान्य हो । यहाँ व्यङ्ग्य है तो परन्तु यह प्रबान नहीं । उस व्यङ्ग्यसे वाच्यार्थ ही अङ्गकार होता है इतन्मिथ वहाँ ध्वनि है ही नहीं । एवं आक्षेप अङ्गकारमें उनके अन्तर्भावका प्रश्न ही नहीं उठ सकता है ।

यह भ्रामरने अनुसार आक्षेप अङ्गकारका निषेधन किया । परन्तु भ्रामरने आक्षेपका सत्त्व 'उपमानाक्षेप' [बामन स ४ २ २७] किया है । इसका अतिप्राय यह है कि जहाँ उपमानका आक्षेप अर्थात् विपक्षवाभिधान किया जाय उसे आक्षेप अङ्गकार कहते हैं । नवीन आचार्य लोग इस स्थितिमें प्रतीय अङ्गकार मानते हैं और आक्षेपका सत्त्व भ्रामरने उक्तपक्षे समान ही करते हैं ।

आधोपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाधोपिणोऽपि' बाध्यस्यैव सादस्यं, प्राधान्येन वाक्यार्थं साहित्यरूपकारणे प्रतीपका कल्पन प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनाम् । निष्पन्नत्वाभिधानं वा प्रतीप-
मिति कल्पते ॥ [सा ५ १ ८७] किंवा है । और उसका उदाहरण—

“तद् वचनं यदि मुद्रिता शशिकृपा, हा हेम सा चेत् पुत्रि
सामुसुवदि शरितं कुमलपैसास्मेत्, सितं का मुषा ।
किं कल्पपनुभुवो यदि च ते, किं वा बहु मूढे,
वसत्वं पुनरकवल्लुकिमुल उरगंज्जो वेक्व ॥” सा ५ १ ८७

दिया है । वामनके 'उपमानाधेय' सूत्रकी व्याख्या करते हुए कोचनकारने 'उपमानस्य च सादेयस्ये
अस्मिन् सति किं स्वया कल्पमिति किंवा है और उसका उदाहरण दिया है । यह कल्प और
उदाहरण दोनों 'साहित्यरूपण'के प्रतीय अङ्गकारते मिच्छते हैं । कोचनकारने वामनके कल्पानुसार
आधोपका निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

‘तस्मात्सन्मुखमथि सौम्यमुष्मा किं पार्श्वेनेन्दुना
सौन्दर्यस्य परं दृशो यदि च, तैः किं नाम नीलोत्पलै ।
किं वा कोमलकान्तिमि किञ्चक्यै खल्वेव उवाचते,
श भागुः पुनरकवल्लुकरचनारम्भेनपूर्वो प्रश ॥

यहाँ पूर्वमाचन्द्रके साथ मुखका सादृश्य आदि रूप उपमा स्वरूप है परन्तु यह प्रधान नहीं
अपित् वाच्यको ही अङ्गकृत करती है । 'किं पार्श्वेनेन्दुना'के चन्द्रमाका निष्पन्नत्वाभिधानरूप अ-
मानात्मक वाच्य ही अधिक प्रसङ्गायी है । अतएव यहाँ भी व्याङ्ग्यप्राधान्यरूप खलिका अस्तित्व न
होनेसे उसके आधोपकालङ्कारमें अन्वयाधिका प्रश्न ही नहीं उठता ।
इन सब उदाहरणोंमें यह ध्यान रखना चाहिये कि व्यङ्ग्य और ध्वनि शब्द उपमानाधक नहीं
हैं । सभी प्रतीयमान अर्थ स्वरूप हैं परन्तु खलिकात्मक नहीं माना जाता है जहाँ व्यङ्ग्यका प्राधान्य
होता है ।

कुछ लोगोंने वामनके 'उपमानाधेयः [सा ५ १ २७] की व्याख्यामें 'उपमानस्य
आधोप' सामर्थ्याकार्यम्' किंवा है । अर्थात् जहाँ उपमानका सामर्थ्यसे आकषण किया जाय वह
शब्द उपास न हो उसे आधोप अङ्गकार करते हैं । इस व्याख्याके अनुसार आधोपालङ्कारका
निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

“येन्द्रं वतु पाण्डुसोभनेन, शरद्बधानात्रनक्षत्रावामम् ।
प्रसादयन्ती सकलदृष्टिभ्यु तापं खैरम्यथिकं चकार ॥’

पाण्डुसोभनेके पदोक्त-मेघ [पदान्तरमें स्तन] पर आर्द्र गीते सद्यः अनुत्यागिषु नक्षत्रके समान चन्द्र
पनुसको चरण करनेवासी और कल्प [चिह्न] सहित [पदान्तरमें नायिकोपमेयकल्प कल्पसे युक्त]
चन्द्रको प्रथम अर्थात् उन्मूल और पदान्तरमें हस्ति करती हुई शरद् कृत [रूप नायिका] ने रवि
[रूप नायक] से उन्वापको और यदा किया ।
यहाँ भी हर्षाकल्पित नायकान्तररूप उन्मान आश्रित होता है परन्तु वह वाच्यको ही
अङ्गकृत करता है । वामनके मते यह भी आधोपका उदाहरण दिया गया है परन्तु माय्य आदिक
मतने तो यहाँ धर्माशोकि है ।

[इस प्रकार] आधोपालङ्कारमें भी व्यङ्ग्यविशेषाधोपका आक्षेप करणमाला दानपर
१ ही में जयि नहीं है ।

आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते । तथाहि^१ सत्र क्षत्र्योपाह्वो^२ विशेषामिधानेष्वप्य प्रतिषेध रूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम् ।

षारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविबद्धा । यथा—

॥ अनुपगच्छती सन्म्या विषसस्तसुरःसरः ।

अहो वैवगविः कीदृक् स्यापि न समागमः ॥

अत्र सस्यामपि व्यङ्ग्यप्रतीची वाच्यस्यैव षारुत्वमुत्कर्षविविधि सस्यैव प्राधान्यविबद्धा ।

मी वाच्यका ही षारुत्व [इत्त प्राधान्य] है । क्योंकि आक्षेपवचनके सामर्थ्यसे ही प्रधानतः वाच्यपार्थ प्रतीत होता है । क्योंकि यहाँ [आक्षेपाह्वारम] विशेषके धोचनकी इच्छासे शत्र्योपाह्व प्रतिषेधरूप जो आक्षेप है, वही व्यङ्ग्यविशेषका आक्षेप करता हुआ मुख्य काव्यशरीर है ।

षारुत्वोत्कर्ष ही प्राधान्यका नियामक है

षारुत्वके उत्कर्षमूलक ही वाच्य और व्यङ्ग्यका प्राधान्य विवक्षित होता है । जैसे—

सन्म्या [नामक या रूपिणी मायिका] अनुपग [अर्थात् सन्म्याकाहीन छाछिमा, पसात्तरमें प्रेम] से युक्त है और विषस [नामक या रूप मायक] उसके सामने [स्थित ही नहीं 'पुरासरति गच्छति इति पुरासरः'] बड़ रहा है [सामने भा रहा है] । ओह, वैवगवी गति कीसी [विलक्षण] है कि फिर मी [समका] समागम नहीं हो पाता ।

यहाँ [मायिकाव्यवहाररूप] व्यङ्ग्यकी प्रतीति होनेपर मी वाच्यका ही षारुत्व अधिक होनेसे उसकी ही प्रधानता विवक्षित है ।

यहाँ नामके मत्ते आक्षेपसङ्घार और भावके मत्ते समाशक्ति अङ्घार है इस बातके ध्यानमें रखकर समाशक्ति और आक्षेपका सम्बन्धित यह उदाहरण प्रत्यकारने दिया है । वाच्यमें नहीं समाशक्ति है या आक्षेप यह विचारणीय प्रश्न नहीं है । यहाँ चारे समाशक्ति हो या आक्षेप, उससे कुछ हानि-हान नहीं है । प्रकृत बात तो इतनी ही है कि अङ्घारसम्बन्धमें व्यङ्ग्य सचवा वाच्यमें गुणीभूत हो गया है इसलिये व्यङ्ग्यका प्राधान्य न होनेसे उक्त धनिकाम्य नहीं कर सकते हैं अतः धनिके अङ्घारमें अन्तर्भूत होनेका प्रश्न ही नहीं उठता ।

षारुत्वोत्कर्षमूलक दीपक और अपह्नुतिव्यवहार

दीपकका अर्थ नामप्रकाशकारने सङ्घट्टितिल भस्मस्य प्रकृष्टाप्रहतात्मनाम् । सेव क्रियासु बर्हीतु कारकत्वेति दीपकम् ॥^१ किंवा है क्लिप्तप्र अग्निप्राय यह है कि प्रकृत और अपह्नुत अनेक पत्राभोंमें एक पत्रका सम्बन्ध बर्णन करना अथवा अनेक त्रियाभोंमें एक ही कारकका सम्बन्ध बर्णन करना दीपकाङ्घार है । अपनकारने अग्रह [२ १५]के अनुसार 'आदिमप्यास्तिकारिं त्रिपा दीपकमित्यते ।'^२ दीपकके तीन भेद किये हैं, और उसका निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

१ ही नि तथाहि इतना पाठ नहीं है ।

२ शत्र्योपाह्वरूपो नि ।

यथा च दीपकापहृत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविषमिदत्वात्
तथा व्यपदेशस्तद्वत्त्रापि द्रष्टव्यम् ।

‘मणिं शशोस्वी’, समरजिजयो इतिद्वित्यं
कलाशेषचन्द्रं सुरतमूर्तिं वाक्यकृत्वा ।
मन्धीषो नागः, धरिदि सरिशस्पानपुञ्जिना
तन्निम्ना शोमन्तं गच्छितकिम्वास्त्रावियु क्त्वा ॥”

यहाँ वाचकको दान देकर शीतलभक्त पुरुष प्रकृत है भार शशोस्वीय मणि शस्त्रोसे इत्येव
मुद्रविजयी और, कलाशेषि चन्द्रस्य सुरतमूर्ति कृत्वा, मन्धीष हाथो, शरत्काक्ये भोजकाय नदी
ये सब अपकृत है । उन सबके साथ ‘तन्निम्ना शोमन्ते’—‘कृमतासे शोमिद होते है’ इस एक समका
सम्बन्ध वर्णित होनेसे यह दीपकापहृत्याका उदाहरण हुआ । इस दीपकापहृत्यामें वर्णित प्रकृत और
अपकृतमे परस्पर उपमेयोपमान भाव व्यक्त होता है । इस प्रकार उपमा व्यङ्ग्य होनेपर भी दीपनकृत
ही वाचकके कारण दीपकापहृत्या ही प्रधान हाता है । इसलिये यहाँ उपमापहृत्या न करता कर,
दीपकापहृत्या ही कहाता है ।

इसी प्रकार अपकृति अकृत्याका लक्षण मामहके अनुसार निम्नलिखित प्रकार है—‘अपकृति
रमीदस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा । मामह ३ २१ । उसका उदाहरण है—

“नेयं किरौति भ्रज्जास्ये मदेन मुक्त्वा मुहुः ।

अयमाहम्भाजस्य कन्दपचनुषो ध्वनि ॥” मामह ३ २२

यह मदेके कारण वाचाक प्रमर्यकि नहीं गूँब रही है अथिनु यह अनाये घाते हुए कामाचक
धनुषकी ध्वनि है । यहाँ भी अकृत्याक और मदनचापध्वनिमें उपमेयोपमानभाव व्यङ्ग्य होनेत
उपमाकृत्या व्यङ्ग्य है । परन्तु प्राधान्य उपमाका नहीं, अपहृत्या ही है इसलिये इसको उपमा
अकृत्या नहीं अथिनु अकृत्या ही करते हैं । यही बात मूल ग्रन्थमें करते हैं—

और जैसे दीपक तथा अपकृति इत्यादिमें व्यङ्ग्यरूपसे उपमाकी प्रतीति हान
पर भी [उपमाकृत्या वाक्यस्तोत्कर्षं न हानसे] प्राधान्य विषयित न होनेसे उपमा नामसे
व्यवहार नहीं होता इन्ही प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये ।

अर्थात् समासोक्ति, दीपक अपकृति आदिमें व्यङ्ग्यरूपसे उपमाकी प्रतीति होनेपर भी उसका
प्राधान्य विषयित न होनेसे यहाँ उपमाव्यवहार नहीं हाता । अर्थात्, व्यङ्ग्यकी प्रधानतामें ही
ध्वनिव्यवहार होता है । अतः प्रधान होनेपर यह अपकृत्यादिमें अन्तर्भूत नहीं होता है ।

विशेषोक्तिमें ध्वनिके अन्तर्भावका निषेध

साहित्यदण्डकारने विशेषोक्तिका लक्षण किया है ‘सति हेतौ पणामाव विशेषोक्तिः’ [सा ३
१ ६७] । काव्यकाव्यकारने इसी बातको स्पष्ट कहा है—‘विशेषोक्तिरन्त्येणु कारणेषु पणामाव
[का प्र १, १८] अर्थात् कारणतामें होनेपर भी कार्य न होना विशेषोक्ति कहलाता है ।
मामहने उसका लक्षण ‘यच्छेदस्य विगमे वा गुणान्तरलक्ष्युक्तिः । विशेषोक्तिसिद्धि
स्थिता ॥’ [मामह ३ २२] किया है । वह विशेषोक्ति तीन प्रकारकी होती है—उक्तनिमित्ता,
अनुक्तनिमित्ता और अधिन्तनिमित्ता । इन तीनों मेंसे अधिन्तनिमित्ता और अनुक्तनिमित्ता मेंसे
दो व्यङ्ग्यकी तथा ही नहीं होती है । अधिन्तनिमित्ताका उदाहरण है—

अनुकनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ—

आहूतोऽपि सहायैः, 'ओमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि ।

गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति ॥

इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम् । न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता

आधिक्यादहस्त्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम् ।

“एकस्त्रीणि क्षयति क्षयन्ति कुमुदायुधः ।

हरतापि तनुं यस्य दम्मुना न हृतं कर्म ॥”

शिवभीने क्षिप्त घोररको मत्स्य करक मी यरको हरण नहीं किया वह कामेश्वर अकेला ही चीनों लोकोको और ऐसा है । इस अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्तिमें तो व्याप्य है ही नहीं । उक्तनिमित्ताका उदाहरण है—

‘कूर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् नो जने जने ।

नमोऽश्लेषावर्षीर्वाव तस्मै मकरकेतवे ॥

इस उक्तनिमित्ता विशेषोक्तिमें भी व्याप्यके सम्बन्धकी शङ्का नहीं है । इसविध प्रत्यकारने विशेषोक्तिके इन दोनों मेंको छोड़कर केवल अनुकनिमित्ता विशेषोक्तिका उल्लेख किया है और उसका उदाहरण दिया है । ‘आहूतो साधियों द्वारा बुलाने जानेपर भी हाँ कह कर जाग जानेपर भी और जानेकी इच्छा रहनेपर भी पथिक सङ्कोचको नहीं छोड़ रहा है । यहाँ सङ्कोच न छोड़नेका निमित्त उक्त न होनेसे अनुकनिमित्ता है । निमित्तके अनुक होनेपर भी वह अचिन्त्य नहीं है उसकी कल्पना की जा सकती है । मद्योज्ज्वले घीतेके आधिक्यका उक्तका निमित्त माना है और अन्य उक्त व्याख्याता यह कल्पना करते हैं कि पथिक, गमनकी अपेक्षा मी स्वप्नको प्रिया समागमका मुक्ति उपाय समझकर स्वप्न-कामसे सङ्कोच नहीं छोड़ रहा है सिमते सिमताये व्याप्य परा ही हुआ है । इन दोनोंमेंसे पारे कोइ मी निमित्त कल्पना करो परन्तु वह निमित्त वास्तवमें नहीं है अपितु अविद्यमान निमित्तसे उपसृत विशेषोक्तिमागके ही प्रत्यकारजनक होनेसे यहाँ भी स्वप्निका अन्तर्भाव अलङ्कारके अन्तर्गत माननेका अवसर नहीं है । इस प्रकार मद्योज्ज्वल और अन्य उक्तजन दोनोंके अविद्याको मनमें रसकर ही प्रत्यकारने इसपर वृत्ति स्थिती है ।

अनुकनिमित्ता विशेषोक्तिमें मी—

साधियों द्वारा पुकार जानेपर भी हाँ कह कर जाग जानेपर भी, और जानेकी इच्छा होनेपर भी पथिक सङ्कोचको नहीं छोड़ रहा है ।

इत्यादि [उदाहरण]में प्रकरणवशा व्यङ्ग्यकी प्रतीतिमात्र होती है । किन्तु उस प्रतीतिके कारण कोई सौम्य उतपन्न नहीं होता इन्हींविषय उसका प्राधान्य नहीं है ।

पर्यायोक्तमें ध्वनिके अन्तर्भावका निषेध

पर्यायोक्तका लक्षण मानने इस प्रकार किया है—

‘पर्यायोक्तं यदन्वन प्रकारेणामिधीयते ।

वाच्यवाचकवृत्तिना ध्वनेनावगम्यात्मना ॥ मामद ३, ८

वाच्यप्रकाशकार और वाक्यव्यञ्जक आदिने मी पर्यायोक्तके इन्ही प्रकारके लक्षण किये हैं—

पर्यायोक्तप्रति षड्पि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद् भवतु नाम तस्य प्यनापन्त्यभावः ।

“पयापार्कं यदा महत्पा यम्यमेवाभिधीयते ।” सा० द० १०, ६०

‘पयापार्कं विना बाष्पावावकत्वेन यद् वच ।’ का प्र १, ११५

‘पयापेण प्रकाशन्तरेण अत्रगामात्मना व्यङ्ग्येन उपलक्षितं च, यदभिधीयते तदभिधीयमानं उक्तं सन् पर्यायोक्तम् । यह पर्यायोक्त उक्तका अर्थ है । इसका अभिप्राय हुआ कि जहाँ प्रकाशन्तर अर्थात् व्यङ्ग्यरूपसे अत्रगत अर्थको ही अभिधीयते कहा जान वहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार होता है । जैसे—

“शत्रुच्छेदइत्य मुनेस्त्वपगामिनः ।

उमस्यानेन पशुय देविष्ठा समदेयना ॥

मुनिके छिप शत्रुमात्र रचना ही अनुचित है । फिर उक्त शत्रुके उच्छेद वा विनाशकी बात सोचना और भी अनुचित है । उक्तकी मी इतिमा-आग्रह अत्यन्त अनुचित है । इसलिए शत्रुच विनाश के छिप इच्छइत्य अत्यन्त उन्मात्तामी परशुराम-मागव-मुनिके मीयमेके तत्र पशुमे अपने पशु-पावनकी सिद्धा दे नी । यहाँ मीयमेकी शक्ति मार्गव परशुरामकी शक्तिके अधिक है । मीयमे परशुराम-को पराश्रित कर विना यह व्यङ्ग्य अर्थ है, उसीको ‘वेदिता समदेयना’क शब्दोंसे अभिधीयता बोजन किया गया है इत्यर्थ यह पर्यायोक्त अलङ्कारका उदाहरण है । यहाँ व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीति हो है परन्तु यह प्रधान नहीं है अपितु बाष्पको ही अलङ्कृत करती है । अत्यन्त यदा प्यति नहीं है ।

माम्मने पर्यायोक्तका उदाहरण निम्नलिखित विना है—

“धरेण्यत्वं वा नानां मुष्मये वदधीयिनः ।

विद्या न मुञ्चते, एष रत्नाननिहृषये ॥” माम् ४, ९

यह कृष्णकी गिर्यावकके प्रति उक्ति है । उसका अर्थ यह है कि ‘अधीयी-जाह्नव ज्येग विद्य अत्रको नहीं लाते उसे हम न पराग मारते हैं और न मार्गम अथवा यात्रामि । अथवा परपर ही वा शारद, हम विद्यान व्याहृष्योको निष्पत्तेके वा ही भोजन करते हैं । यहाँ विद्याननिहृषि व्यङ्ग्य है । जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—‘एष रत्नाननिहृषय ।’ एष शब्दका अर्थ यहाँ विद्य है । ‘गृह्यायती विपे बीर्मे गुणे राम ब्रजे रस इति क्रोश ।’ भ्रमरप्रवृत्त इस उदाहरणमें रत्नाननिहृषि व्यङ्ग्य है परन्तु उससे काह वाक्य नहीं आता, इसलिए उसका प्राधान्य नहीं है अपितु विद्योको भोजन करावे किता भोजन न करना यह जो बाष्पाय है वही पयाव अर्थात् प्रकाशन्तरके उक्त शब्दक भोजनावधि अलङ्कृत करनेसे पर्यायोक्त अलङ्कारका उदाहरण बनता है ।

माम्मने जो उदाहरण दिया है उसमें व्यङ्ग्यकी प्रधानता न होनेसे प्यनिष्ठा अलङ्कार नहीं है परन्तु पर्यायोक्त अलङ्कारके तत्र प्रकारके उदाहरण मिल सकते हैं जहाँ व्यङ्ग्यका प्राधान्य हो । उक्त उदाहरणमें उसे हम प्यनिकात्मक रूपसे भेद अलङ्कारप्यनिका उदाहरण मानेंगे । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि प्यनिका अलङ्कारमें अन्तर्भाव हो गया अपितु कष्टव अलङ्कारका प्यनिके अन्तर्भाव कहा जा सकता है । क्योंकि प्यनि ता महाविद्य-स्वात्मक है, इस प्रकारके पर्यायोक्तके व्यङ्ग्यप्रधान उदाहरणोंका छोड़कर अन्तर्भाव भी प्यनि रहता है इसलिए महाविद्य-स्वात्मक होनेसे प्यनिका अन्तर्भावमें अलङ्कारमें नहीं जाना जा सकता । व्यङ्ग्यप्रधान पर्यायोक्तका उदाहरण ‘भ्रम धार्मिक रत्यादि पूर्वोदाहरणोंका छोड़कर अन्तर्भाव भी प्यनि रहता है । मूक मन्त्रीकी पंक्तिशोका अनुवाक इस प्रकार है—

पर्यायोक्त अलङ्कार [के ‘भ्रम धार्मिक’ शब्दसे व्यङ्ग्यप्रधान उदाहरणों] में मी यदि व्यङ्ग्यकी प्रधानता हो तो उस [अलङ्कार] का प्यनि [अलङ्कारपति] में

न तु ध्वनेस्तत्रास्तर्भावः । तस्य महाविषयत्वेन, अङ्गित्वेन च प्रतिपाद्यत्वमाजत्वात् ।

न पुनः पर्यायोक्ते भामहोवाहससहस्रे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम् । वाच्यस्य तत्रोपसर्जनमावेनाविषयित्वात् ।

अपह्नुतिदीपकयोः पुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव ।

अन्तर्भाव किया जा सकता है, न कि ध्वनिका उस [अलङ्कार] में । क्योंकि ध्वनि तो महाविषय और अङ्गी अर्थात् प्रधान रूपमें प्रतिपादित किया जायगा ।

परन्तु भामह द्वारा उदाहरित [पू० ४५ पर विषे ह्य 'गृहेष्वभ्यस्तु'] जैसे [पर्यायोक्ते] उदाहरणमें तो व्यङ्ग्यस्य प्राधान्य ही नहीं है । क्योंकि वहाँ वाच्यका गौणत्व विषयित नही है [अर्थात् वाच्य ही प्रधान है । अतः उसे ध्वनि नहीं कहा जा सकता है] ।

अपह्नुति और दीपकमें अन्तर्भावका निषेध

अपह्नुति तथा दीपकमें वाच्यका प्राधान्य और व्यङ्ग्यका वाच्यानुगामित्व प्रसिद्ध ही है ।

अपह्नुति और दीपकके विषयमें प्रत्येकार इसके पूर्व भी थिये चुके हैं । पर वह तो केवल प्रासङ्गिक रूपमें किया गया है कि दीपकादिमें उपमाकी प्रतीति होनेपर भी उसके द्वारा वाच्य न होनेके कारण उपमाका व्यवहार नहीं होना । वहाँ उनका वर्णन उद्देश्यक्रमसे प्राप्त है । अर्थात् पीछे वह प्रतीतिरहित यथा समासोक्ति आद्ये अनुफनिमित्त विधेयोक्ति पद्याद्योक्ति अपह्नुति, दीपक उदाहरणवादी' इस पंक्तिमें पर्यायोक्तेके बाद अपह्नुति और दीपकका नामोच्छेद किया था । अतएव पर्यायोक्तेके बाद उनका वर्णन अनुप्राप्त होनेसे वहाँ उनका उल्लेख करना आवश्यक था ।

सङ्करालङ्कारमें अन्तर्भावका निषेध

आगे उदाहरणवादीका बचन किया है । उदाहरणवादीके नवीन छोड़ने तीन भेद माने हैं— अङ्गाङ्गिमाकसङ्कर, एकप्रभावानुपबेधसङ्कर और सन्देहसङ्कर । माम्भ आदिने एकाभयानुपबेधको दो भागोंमें विभक्त कर दिया है—एकवाक्यानुकर्तन और एकवाक्यानुपबेधरूप । इस प्रकार महोद्भटके अनुसार सङ्करके चार भेद हो गये । इनके अन्तर्गत माम्भने और उनके उदाहरण भामह विवरणकार महोद्भटने निम्नलिखित प्रकार दिये हैं—

“विक्रान्तदृष्टिमास्तेने समं तद्वाच्यस्यमभे ।

एकस्य च प्रदे न्वापयोयामाभे च सङ्करः ॥”

विदग्ध अलङ्कारोंका वर्णन होनेपर, उनकी एक साथ लिखि अस्मम्भ होने और किसी एकके माननेमें युक्ति या दोष न होनेपर सन्देहसङ्कर अलङ्कार होता है । इसका उदाहरण श्लेषनकारने अपना निम्नलिखित श्लेषक दिया है—

“यद्यिदं दनाप्रकृतसर्वविष्णुपना मित्तुमुमरुधनपतिरिवम् ।

गगनकल्पकसम्भवात्प्राकार इत्या विधिना ॥”

चन्द्रमुनी कल्पकसम्भवाती और शम्भुमुन्दरी इस सुन्दरीको विभाताने गगन, कल्प और सम्भवे उल्लेख मन्नेहर अकारवासी बनाया है । इसमें 'गमूर व्यंसकान्यरप' [अ २ १ ७२] इस

सूत्रसे 'शब्दी एव वदन् यस्या सा शक्तिवचना' ऐसा समास माननेसे रूपक, और 'उपमितं व्याघ्रादिमि-
ष्टामास्याप्रयाग [अ २ १, ५३] इत्यसूत्रसे 'शक्तिवद् वदन् यस्या' यह समास माननेसे उपमा होती
है। श्लोकमें 'शक्तिवचना' भाति तीन विशेष्य दिव है। वे तीनों क्रमशः गगन कम स्पष्टतम सम्बन्ध
होनेसे 'शक्तिवचना' प्र गगनसम्भवात्, 'भस्मितसप्तविभवा' पद अद्वयसम्बन्ध और 'विस्तृतसुसुमदशन
पंक्ति पद स्पष्टसम्बन्धत्वका बोधन करते हैं। इस प्रकार माना विधाताने उस नाविकाकी गगन कम
और स्पष्ट तीनोंसे बनाया है यह श्लोकका भाव है। इसमें उपमा और रूपकमें क्या माना जाय
उसका कोर निर्णायक विनिगमक हेतु न होनेसे यहाँ तन्मूलक सन्देहसङ्कर अङ्गकार है। "सन्धि यहाँ
कोन शब्द है और कान् अङ्ग है इसका ही जब निश्चय नहीं है तब उसकी प्रधानता या गौणताका
प्रश्न ही नहीं उठता।

सङ्करका वृत्त भेद एकाभयानुप्रवेशसङ्कर है। भेदोद्भूतने इतक दो भेद कर दिये हैं—एक
वाक्यानुप्रवेश और एकवाक्यांशानुप्रवेश। इन दोनों भेदोंका वर्णन और अन्तग भाषावने निम्नलिखित
प्रकार किया है—

“शब्दायकस्यङ्कारा वाक्य एकत्रयत्तिन ।

सङ्करनैकवाक्यानुप्रवेशाद्भाभिधीयते ॥” भाष १, ४८

जहाँ शब्दकी तथा अर्थवती अयात् शब्दाङ्कार तथा अयाङ्कार दोनों एक ही वाक्यमें
लिखे हों वहाँ एकवाक्यप्रवेश अथवा एकवाक्यांशप्रवेश भेदस दो प्रकारका सङ्कर अङ्कार होता है।
इन दोनोंक उदाहरण निम्नलिखित प्रकार हैं—

“सप्त, सप्तमिव पियं रमयते यमस्मिन्ननात्”

कामदन्तक समान विषय विशेष आतिङ्कनसे रमय करती हो उतको म्प्रत्यय कर। यहाँ
'सप्त-सप्त' पदकी आर्हातसे वचकरूप शब्दाङ्कार, और 'सप्तमिव' इस उपमाक्य अयाङ्कारका
एकाभयानुप्रवेशरूप सङ्कर है। यहाँ प्रतीयमानकी सङ्काका भी अवसर नहीं है, उनक गुणप्रधान
अर्थका निश्चय तो वृत्त है। इसका वृत्त उदाहरण है—

‘तुस्मोदवावसानस्यात् गतेऽस्य प्रति मास्वति ।

वासाय वासरः सम्बन्धा विघ्नीय उमागुहाम् ॥

स्य आर वासर [दिन] शान्ति तुस्मोदवावसान है, दोनोंका उदय और अस्त साथ-साथ होता
है। इसलिये जब स्य अस्त होने लग्य तो माना लिख होकर वासर भी तुस्मोगुहाम् प्रविष्ट-सा हो व्यता
है। वर इस श्लोकका भाव है। यहाँ 'विघ्नीय' यह उद्योत अङ्कार है और 'उमागुहाम्' यह एक
दंशविवर्ति रूपक है। यहाँ सूत्र स्वामी और वासर सेवक है। सूत्रका अन्त स्वामिनिपत्ति, और
वासरका तुस्मोगुहाम्प्रवेश स्वामिनिपत्तिसमुचित अतप्रत्यय है। फलतः इन सपका आराय नहीं किया है
केवल समर गुहाका आराय है इसलिये यह एकदंशविवर्ति रूपक है। इस प्रकार यहाँ रूपक और
उद्योतका दोनों समान रूप वाक्य होनेसे उनमें गुण प्रधान भाव ही नहीं है।

सङ्करका चौथा भेद अज्ञातभावसङ्कर है। उसका लक्षण और उदाहरण निम्नलिखित है—

“परम्येपकारेण ब्रह्मज्ञेयत्वात् विख्यात ।

स्वातन्त्र्येप्राप्त्यापि ना क्वन्ते साऽपि सङ्कर ॥” भाष १ ४८

जहाँ अनेक भाङ्कार परम्येपकारक भावने लिखे हों, स्वातन्त्र्यमें नहीं वह भी [अज्ञा
तभाव] सङ्कर होता है अर्थ—

सङ्ख्यलङ्कारेऽपि यदाङ्कारोऽङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्ये-
नाविवक्षितत्वात् ध्वनिविषयत्वम् । अङ्कारप्रयसम्भाषनायान्तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं
प्राधान्यम् । अथ बाह्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य तत्रावस्थानं^१ तदा सोऽपि ध्वनि
विषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम् । पर्यायोक्तनिर्दिष्टम्यायात् । अपि च
सङ्ख्यलङ्कारेऽपि च क्वचित् सङ्ख्योक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति^२ ।

“प्रवातनीमोत्सन्ननिर्विद्येनं कधीरविमेक्षितमाकृतास्या ।

तथा ष्ठीतं नु मृगाङ्गनाम्यस्ततो ष्ठीतं नु मृगाङ्गनामि ॥”

यह ‘कुमारसम्भव’ [१, ४६] का श्लोक है। उस आकृताक्षी पार्वतीने प्रवात—उस हवासे
वायुस्य नीचकमलक समान कधीर इति क्या मूर्खोंसे ही भयना मूर्खोंने उस पाकतोसे ली ? यह
कालिदासके इस श्लोकका भाव है। अर्थात् उसकी इति हरिणीकी इतिके समान लक्षक है। इस
प्रकार यहाँ उपमा अङ्कार व्यङ्ग्य है और सन्देहाङ्कार वाच्य है। परन्तु व्यङ्ग्य उपमा वाच्य
सन्देहाङ्कारको ही चास्त्वोत्कर्ष प्रदान कर अनुप्रासित करती है। उसका पक्षयान सन्देहकी पुष्टि ही
होया है इसलिये यह गुणमूल है। और उपमाजनित चमत्कृतिये सन्देह साहाय्य करता है इसलिये
दोनोंका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव है।

इस प्रकार सङ्ख्यक चारों भेदोंमेंसे बीचके दो भेदोंमें तो व्यङ्ग्यसम्भावना ही नहीं है। अतएव
अङ्गाङ्गिभाव सङ्ख्यमें, और प्रथम सन्देहसङ्ख्यमें व्यङ्ग्यकी सम्भावना हो सकती है परन्तु यहाँ भी
व्यङ्ग्यका प्राधान्य निश्चित न होनेसे ध्वनिव्यवहार नहीं हो सकता। इसी बातको प्रत्यक्षर भागो
करते हैं—

सङ्ख्यलङ्कारमें भी जहाँ एक अङ्कार दूसरेकी छाया [सौन्दर्य] का पुष्ट [अनु-
प्रासित] करता है [अर्थात् अङ्गाङ्गिभावरूप अतुर्घर्ष भेदमें] यहाँ व्यङ्ग्यका प्राधान्य
विषयित न होनेसे वह ध्वनिका विषय नहीं है। [सन्देहसङ्ख्यरूप प्रथम भेदमें] दो
अङ्कारोंकी सम्भावना होनेपर तां वाच्य और व्यङ्ग्य दोनोंका सम प्राधान्य होता
है। [अतः यहाँ भी ध्वनिकी सम्भावना नहीं है] और यदि यहाँ [अङ्गाङ्गिभाव सङ्ख्य-
लङ्कारमें] व्यङ्ग्य वाच्यके उपसर्जनीभाव [गौणरूप] से स्थित हो तब तो वह भी
ध्वनि [अङ्कारध्वनि] का विषय हो सकता है, न कि केवल यहाँ ध्वनि ही पर्यायोक्त-
निर्दिष्ट न्यायसे। और एक बात यह भी है कि सङ्ख्यलङ्कारमें सर्वत्र सङ्ख्य शब्दका
प्रयोग ही ध्वनिसम्भावनाका निराकरण कर देता है।

यहाँ अनुच्छेदके अन्तमें प्रयुक्त ‘सङ्ख्यलङ्कारेऽपि च क्वचित्’ इसकी व्याख्या करते समय
‘क्वचिदपि सङ्ख्यलङ्कारे इत प्रकार अन्वय करना चाहिये। उसमें भी ‘क्वचिदपि’का अर्थ सबत्र
होगा। ‘क्वचिदपि सङ्ख्यलङ्कारे’का अर्थ हुआ कि सङ्ख्यलङ्कारमें सबत्र अर्थात् सङ्ख्यलङ्कारके सभी
भेदोंमें सङ्ख्य शब्दका प्रयोग उनकी सङ्घर्षणाका प्रत्याखरक है। यहाँ यदि किसी एककी प्रधानता
हो जाय तो फिर सङ्ख्य ही कहाँ रहेगा ? इसलिये सङ्ख्य शब्दका प्रयोग ही यहाँ व्यङ्ग्यप्राधान्यरूप
ध्वनिका निराकरण कर देता है। फिर भी यदि आप—

१ तत्रापि व्यवस्थायम् नि ही ।

२ सङ्ख्यलङ्कारस्य सङ्ख्योक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां करोति । नि ।

“न मन्वति गुणानुरागः स्वस्वनां केवले प्रसिद्धिघरमानाम् ।
किञ्च प्रसूतिं पशिमणिः पन्त्रे न प्रियामुने हरे ॥”

केवल प्रसिद्धि चाहनेवाले दुर्लभोंसे गुणोंसे प्रेम नहीं होता । पन्द्रकान्तमणि चन्द्रमाको देखकर तो प्रसित हो जाता है, प्रियाके मुक्तको देखकर नहीं । यहाँ पशिमणि अर्थात् ‘चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमाको देख कर प्रसित होने लगाता है परन्तु पन्त्रसे मी अधिक सुन्दर प्रियामुक्तको देखकर प्रसित नहीं होता’ इस विषये उदाहरणके ‘प्रसिद्धिमात्र चाहनेवाले दुर्लभोंसे गुणोंसे अनुराग नहीं होता’ इस धर्मन्य निबन्धका समर्थन करनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार वाच्य है । और प्रियामुक्त पन्त्रसे मी अधिक सुन्दर है यह व्यक्तिगत अलङ्कार, तथा यह पन्त्र नहीं है प्रियामुक्त ही पन्त्र है यह अपकृति अलङ्कार आह्वय है ।

इस प्रकारके किसी उदाहरणमें व्यवहारी प्रकानतापर ही बह दे तो फिर उस स्वानपर अलङ्कारभ्रम हो जायगी । अर्थात् यहाँ अलङ्कार अन्तर्भाव अलङ्कारभ्रममें हो जायगा क्योंकि पञ्चोक्तन्यायमें पञ्चिक महाविषय और अद्भुत होनेसे उसमें अन्य अलङ्कारविकार अन्तर्भाव दिनाया जा चुका है । उही न्यायसे यहाँ मी समझना चाहिये ।

अप्रस्तुतप्रसंगमें अन्तर्भावका निषेध

अप्रस्तुतके बचनसे जहाँ प्रस्तुतका आशेष किया जाता है वहाँ अप्रस्तुतप्रसंग नामक अलङ्कार होता है । अप्रस्तुतप्रसंग तीन प्रकारकी होती है—पहिली सामान्यविशेषभावमूलक, दूसरी कार्यकारणभावमूलक, और तीसरी सादृश्यमूलक । इनमेंसे पहिली और दूसरी प्रकारकी अप्रस्तुतप्रसंगके दो-दो भेद हो जाते हैं । इस प्रकार उन दोनोंके दो-दो भेद होकर चार भेद और एक सादृश्यमूलक इस प्रकार पाँच भेद हो जाते हैं । सामान्यविशेषभावमूलकके दो भेद इस प्रकार होते हैं कि एक जगह सामान्य अप्रस्तुत होता है और उससे प्रस्तुत विशेषका आशेष होता है और दूसरी जगह अप्रस्तुत विशेष होता है उससे प्रस्तुत सामान्यका आशेष होता है । इसी प्रकार कार्यकारण भावमूलकके भी दो भेद हो जाते हैं । एक जगह कारण अप्रस्तुत होता है, उससे प्रस्तुत कार्यका आशेष होता है और दूसरी जगह अप्रस्तुत कार्यसे प्रस्तुत कारणका आशेष होता है । इस प्रकार चार भेद हुए । पाँचवाँ भेद सादृश्यमूलक होता है । इस भेदके भी श्लेषनिमित्तक, समासोक्तिनिमित्तक और सादृश्यमात्रनिमित्तक इस प्रकार तीन भेद हो जानेसे अप्रस्तुतप्रसंगके सात भेद बन जाते हैं । परन्तु मन्वते केवल पहिले तीन भेद ही किये हैं एक सामान्यविशेषभावमूलक दूसरा कार्यकारण भावमूलक और तीसरा सादृश्यमूलक । इनमें पहिले दोनों भेदोंमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनोंका सम साधारण होनेसे पञ्चिका अन्तर ही नहीं है इसलिये उसके अन्तर्भावका विचार ही नहीं हो सकता । तीसरे सादृश्यमूलक भेदमें यदि अमिथीयमय अप्रस्तुतका अप्राधान्य और प्रतीयमय प्रस्तुतका प्राधान्य विवक्षित होगा तो अलङ्कारका पञ्चिक अन्तर्भाव हो जायगा अन्यथा अप्रस्तुत अमिथीयमान का प्राधान्य विवक्षित होनेसे अप्रस्तुतप्रसंग अलङ्कार होता । इसी भावको धर्ममें रखकर अन्यकारने प्रकृत सम्बन्ध किया है ।

साम्प्रदृष्ट अप्रस्तुतप्रसंगके लक्षण उदाहरणदि निम्नलिखित प्रकार हैं—

“अकिंकारयद्वेत्स्य बस्तुनोऽन्यत्वं वा लुप्तिः ।

अप्रस्तुतप्रसंगं वा विविध परिर्कीर्तितं ॥” मन्वते १,२

अप्रस्तुत सामान्यसे प्रस्तुत विशेषके आशेषका उदाहरण—

“अहो उच्चरनैहंस्मं अहो दोयत्तमापवाम् ।
अहो निक्खंभिसस्य बुग्गता गत्तमो विधे ॥’

यहाँ ‘उच्चर वैयका हो माध्याय है’ इस अप्रस्तुत सामान्यते किसी प्रस्तुत वस्तुके बिनाशरूप विशेषका आशय होता है। परन्तु यहाँ बान्ध सामान्य और प्रतीयमान विशेष दोनोंका समप्रधान है अतः ध्वनिविषयत्व नहीं है।

ध्याकरषिक विशेषसे प्राकरषिक सामान्यके आशयका उदाहरण निम्नलिखित है—

‘एत्थं उत्स्य मुत्तात् क्रियन् कमिनीपत्रं कर्षं वारिमा,
यन्मुत्तामभिरिस्वमंथं स जडः शुष्कम्वइस्मादपि ।
अहस्वप्रभुकिवाप्रकिवन्वाचीवयाने एते
बुधाहीन गतो भस्सेपनुदिने निव्राति नाणः घृता ॥’

उस मूलने कमिनीके पत्रपर पड़े पानीके कणको मुत्तामत्र समझ लिया यह उसके लिए कौन बड़ी बात है। इन्हें भी आगेकी बात सुनो। वह जब अपनी उस मुत्तामत्रिक पीरते उठाने लगा तो अहुम्भीके अप्रमागभी ठीकते ही उसके कहीं विरुद्ध हो जानेपर, ‘न जान मेघ मुत्तामत्रि उच्च कर कहीं चका गया’ इस लोभमें उसके नीचे नहीं जाती है। वह श्लोकका भाव है। यहा अहस्विनुमें मुत्तामत्रिकवत्सम्मानरूप अप्रस्तुत विशेषसे मूलोंकी अस्थानमें समस्तसम्मानरूप प्रस्तुत सामान्यका बोध होता है। यहाँ वाच्य और अहस्वका समप्रधान्य होनेसे ध्वनिकी सम्मानना नहीं है। इतनी प्रकार निमित्तनिमित्तभावमें भी समझना चाहिये। उसके उदाहरण यहाँ नहीं देंगे।

साहस्यमूकक अप्रस्तुतप्रसंगमें यहाँ बर्णित अप्रस्तुतसे आश्रितभाव प्रस्तुत अधिक समकारकारी होता है यहाँ वस्तुध्वनि सम्झना चाहिये। उसे अप्रस्तुतप्रसंग अलङ्कारका उदाहरण नहीं समझना चाहिये। अप्रस्तुतप्रसंग अलङ्कार नहीं बनेगा यहाँ अहस्व इव अग्निपीवमानते अधिक समकारी न हो। जैसे निम्नलिखित श्लोकमें प्रतीयमान प्रस्तुत अग्निपीवमान अप्रस्तुतकी अनेका अधिक समकारी है इत्यर्थ यह वस्तुध्वनिका उदाहरण है, अलङ्कारका नहीं—

“भावनात् इटाञ्जनस्य इदवान्ताक्रम्य पञ्चपन्,
महीमिबिबिभामित्वाङ्कारं प्रच्छद्य चर्खीदये ।
स त्वासाह जइं तता तद्दयमम्भत्तनुधिक्खित्तो
सन्नेऽपुत्र जइं मत्ता लुटिपदं तस्साम्पत्तम्भानान् ॥”

हे भावनात् अर्थात् पदार्थतमूह ! समस्त विक्कौन्वर्कके आकर इस प्राकृतिक अत्यन्तके चम्पना आदि पदार्थतमूह ! तुम विविध प्रकारोंसे अपने आन्तरिक रखको छिपाकर और लीयोंके इतरोंको इटात् अपनी ओर आह्वय कर, स्वैच्छमपूर्वक नचाते हुए जो भीष्म करत हो उनीच सद्दक चम्पान्तकी भावनासे बुझीकित अपने सद्दक होनेका मिथ्यामिमान करनेवाले श्लेग तुमको धर करते हैं। वस्तुतः ये स्वर्ण जड, मूर्ख हैं। परन्तु उनको जड कहना भी तुम्हारी यमानताका चम्पारक होनेसे उनका लिए लुटिरूप ही है यह प्रतीय होता है।

यह इस श्लोकका भाव है। परन्तु इन्हें किसी मदापुष्पका अप्रस्तुत चरित प्रतीयमान है जो अत्यन्त विज्ञान् और गुणवान् होते हुए भी साधारण लोगोंके बीच अपने पाण्डित्य व्यतिको प्रकटित नहीं करता “न कारण श्लेग उने मूल करते हैं। यहाँ जो भोक्तेषु चरित प्रतीयमान है वही प्रधान है। यहाँ अप्रस्तुत प्रस्तुतकी प्रतीय होनेपर अप्रस्तुतप्रसंग अलङ्कार नहीं अस्तु कन्तुध्वनि है।

अप्रस्तुतप्रदर्शसायामपि यदा सामान्यविशेषमात्राभिन्ननिमित्तिमावाद्यामिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनामितम्बन्धस्तदा^१ अमिधीयमानप्रतीयमानयोः समन्वयप्राधान्यम् । यदा तावत् सामान्यस्याप्रस्तुतस्य अमिधीयमानस्य प्राकरधिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीयौ सत्यामपि प्राधान्येन^२ तत्सामान्येनाभिनाभावात् सामान्यस्यापि प्राधान्यम् । यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं यदापि सामान्यस्य प्राधान्ये, सामान्ये सर्वविशेषाभ्यामन्तर्भावाद् विशेषस्यापि प्राधान्यम् । निमित्तनिमित्तिभावो^३ चायमेव न्यायः ।

यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रदर्शसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सारूप्यमिधीयमानस्य प्रधान्येनाविवक्षायां प्यनावेवान्तःपाठः । इतरथा स्वच्छाद्यन्तरमेव ।

कीचनकारने माध्यातवाद्य यद् नो स्त्रोफ उदाहरणरूपेण दिया है यह कुछ कठिन हो गया है । वस्तुतः धमी अन्वोक्तिर्नो इत्या उदाहरण हो सकती है ।

इस प्रकार अप्रस्तुतप्रदर्श अङ्कारमें व्यवहृतप्रतीय रहते हुए सामान्यविशेषमात्रमूच्छ और कार्यकारणमात्रमूच्छ चार भेदोंमें अमिधीयमान और प्रतीयमान दोनोंका समप्रधान्य होनेसे ध्वनिका अवतर नहीं, और पौत्रवे साहचर्यमूच्छ भेदमें वही प्रतिमानका प्राधान्य है उक्त अन्वोक्तिका रूप भेदमें अप्रस्तुतप्रदर्श अङ्कार ही नहीं अष्टि क्लृप्त्वनि है । इसलिए ध्वनिका अन्तर्भाव अप्रस्तुत प्रदर्श अङ्कारमें भी नहीं हो सकता । वही प्रस्तुत अन्तर्भाव अमिधाय है । यथातुबाह इय प्रकार होगा—

अप्रस्तुतप्रदर्शसामे भी जय सामान्यविशेषमात्रने अथवा निमित्तनिमित्तिमापत्ते अमिधीयमान अप्रस्तुतका प्रतीयमान प्रस्तुतके साथ सम्बन्ध होता है तब अमिधीयमान और प्रतीयमान दोनोंका समान ही प्राधान्य होता है । जब कि अमिधीयमान अप्रस्तुत सामान्यका प्रतीयमान प्रस्तुत विशेषसे सम्बन्ध होता है तब प्रधानता विशेषकी गति होलपर भी [निर्बिधेयं न सामान्यम्] इत्य नियमके अनुसार उसका सामान्यसे तामाप होनेके कारण सामान्यका भी प्राधान्य होता है । और जय विशेष सामान्य-छ होता है [अर्थात् जब अमिधीयमान अप्रस्तुत विशेषसे प्रतीयमान प्रस्तुत सामान्य का आक्षेप होता है] तब भी सामान्यके प्राधान्य होनेपर, सामान्यमें ही समस्त विशेषोंका अन्तर्भाव होनेसे विशेषका भी प्राधान्य होता है । निमित्तनिमित्तिभावमें भी यही नियम लागू होता है ।

जय साहचर्यमात्रमूच्छ अप्रस्तुतप्रदर्शसामे अप्रकृत और प्रकृतका सम्बन्ध होता है तब भी अमिधीयमान अप्रस्तुत तुल्य पदार्थका प्राधान्य अविवक्षित होनेकी दशामें [प्रस्तु] ध्वनिमें अन्तर्भाव हो जायेगा । अन्यथा [प्राधान्यं न होनेपर] ही प्रसङ्कार होगा ।

१ अमिधीयमात्रस्य अप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनामितम्बन्धस्तदा इतना पाठ नि में नहीं है ।
२ तस्य वि ही ।
३ कार्यकारणभावे ही ।

तद्यमत्र संज्ञेयः ।

‘व्यङ्ग्यस्य यत्राभाधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्याद्यस्तत्र वाच्यमात्रकृतयः स्फुटाः ॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिमात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।
न ध्वनियत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥
तत्परात्वेव सन्धार्यो यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्तितौ ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्घोषितः ॥

उत्साम ध्वनेरन्तर्भावः ।

इतदथ नान्तर्भावः । यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः । तस्य पुनरङ्गानि, अलङ्कारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते । न पावयव एव वृष्यभूषोऽवयवीति प्रसिद्धः । अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य । न तु तत्त्वमेव । यत्रापि तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्माहाविषयत्वात् तन्निष्ठत्वमेव ।

‘इतरथा अलङ्कारान्तरमेव’ इस मूर्ध्नि एवकार भिन्न क्रम है और इतरथाके बाद उसका अन्वय करना चाहिये । इतरपैव अलङ्कारान्तरम् ।

अलङ्कारोंमें ध्वनिके अन्तर्भाववादके खण्डनका उपसंहार

इस सबका सारांश यह है कि—

जहाँ वाच्यका अनुगमन करने [पाछा होने]से व्यङ्ग्यका अत्राधाम्य है वहाँ समासोक्ति आदि वाच्य अलङ्कार स्पष्ट हैं ।

जहाँ व्यङ्ग्यकी केवल प्रतीतिमात्र होती है अथवा यह वाच्यका अनुगामी [पुच्छभूत] है अथवा जहाँ उसका स्पष्ट प्राधाम्य नहीं है वहाँ भी ध्वनि नहीं है ।

जहाँ शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यव्यवधानके द्विष ही तत्पर हैं उसीको सङ्घट्टित ध्वनिका विषय समझना चाहिये ।

इसद्विषय ध्वनिका [अभ्यन्त अलङ्कारादिमें] अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।

इस कारण भी [ध्वनिका अभ्यन्त अलङ्कारादिमें] अन्तर्भाव नहीं हो सकता कि अङ्गीभूत [व्यङ्ग्यप्रधान] काव्यविशेषको ध्वनि कहा है । अलङ्कार शुभ, और वृत्तियों उसके अङ्ग हैं यह भागे प्रतिपादित किया जायगा । और [पृथग्भूत] अलग-अलग अथवा ही अथवा नहीं कहे जाते । अपृथग्भूत [मिलकर समुदाय] रूपमें [भी] वह [अवयवरूप अलङ्कारादि] उस [ध्वनि] के अङ्ग ही हैं न कि अङ्गी [ध्वनि] हैं । जहाँ कहीं [सिन्धे पर्यायोक्तके ‘अम धार्मिक’ सदृश उदाहरणोंमें अथवा सङ्घट्टके—‘भवति न गुणानुगमः सदृश उदाहरणोंमें] व्यङ्ग्यका अङ्गित्य [या ध्वनित्व] होता भी है वहाँ भी ध्वनिके माहाविषय [अधिकत्रैरावृत्ति अर्थात् उन उदाहरणोंमें भिन्न स्थलोंपर भी विद्यमान] होना [ध्वनि] अलङ्कारादिमें अन्तर्भूत नहीं होता ।

१ ये तीनों कारिकाएँ नहीं, संग्रह या परिचरम्बोक हैं । इसीसे इपर वृत्ति भी नहीं है । नि सा तच्च ही में इपर १४ १५, १६ कारिकायन्त्या वाच्ये गभी है को उचित नहीं है ।

सूर्यमिः कथितः इति विद्वदुपश्लेषमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते ।
 प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणः, व्याकरणमूलस्थात् सर्वविधानाम् । ते च मूयमाणेषु
 यज्ञेषु ध्वनिरिति व्यस्यदन्ति । तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिमिवा
 व्यस्यत्त्वस्मिन्नः शब्दात्मा काव्यमिति व्यस्यदन्त्या व्यस्यत्त्वसाम्यात् ध्वनिरित्युक्तः ।

नचैवंविधस्य ध्वनेर्वैश्वनाजप्रमेदत्त्वेवसङ्गलनया महाविषयस्य यत् प्रकाशानं
 'तदप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादने तु स्वमिति तद्भावितभेदसां युक्त एव संरम्भः । नच
 तेषु कव्यविशेषीष्व्याकृत्युपित्तज्ञेसुपीकृत्यमाविष्करणीयम् । तदेवं ध्वनेरभाववादिनः प्रत्युक्तः ।

ध्वनिसिद्धान्तका आदि मूल

'सूर्यमिः कथितः [कारिका सं० १३ के इस पद्यन] स यह [ध्वनि प्रतिपादन
 परक] उक्ति [ध्वनिपात्र] विद्वन्मतमूलक है यों ही [अप्रामाणिक स्वकल्पित रूपसे]
 प्रयच्छित नहीं हो गयी है यह सूचित किया है ।

[विद्वन्मत उपलक्ष्य प्रथम उपक्रमो ज्ञानं वा मत्सा उक्ते सा' इस प्रकार बहुव्रीहि समास ही
 करनेसे तत्पुरुषसमास्यभित् 'उपक्षेपक्रमं लयाद्याचिस्वाद्याद्यम्' [अ २, ४ २१] सूत्रसे नपुंसकत्वका
 अन्वय नहीं रहता । अन्यथा तत्पुरुष समास करनेपर तो 'विद्वदुपश' यह स्त्रीलिङ्गप्रयोग न होकर
 'विद्वदुप' यह नपुंसकलिङ्ग प्रयोग ही होगा । अतः यहाँ बहुव्रीहि समास ही करना चाहिये ।

✓ प्रथम [अन्वसे मुख्य] विद्वान् वैयाकरण है क्योंकि व्याकरण सब विद्याओंका
 मूल है । ये [वैयाकरण] सुनाई देनेवाले वणोंको ध्वनि कहते हैं । उसी प्रकार उनके मत
 को माननेवाले काव्यतत्त्वार्थदर्शी अन्य विद्वानोंमें भी १ वाच्य २ पाचक [सम्मिध्र्यते
 विभाषानुभाषसबलनयेति सम्मिध्रः व्यङ्ग्यार्थः] ३ व्यङ्ग्यार्थ [दाध्यन्ते शब्दा तत्पुरुषा
 व्यङ्ग्यरूपः दाध्यन्त्यापात्] ४ व्यङ्ग्यनाभ्यापात् और ५ काव्य पद्यमें व्यङ्ग्यार्थ [अर्थात्
 काव्य इस पौखी] को ध्वनि कहा है । [ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिमें वाचकशब्द
 और पाच्यार्थको 'ध्वम्यते इति ध्वनिः इस व्युत्पत्तिमें व्यङ्ग्यार्थको ध्वननं ध्वनिः इस
 व्युत्पत्तिसे व्यङ्ग्यनाभ्यापात्का और 'ध्वम्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिसे पूर्वोक्त-
 ध्वनिबहुवचनयुक्त काव्यको ध्वनि कहते हैं । यह व्याख्या स्तवचनकारके अनुसार है ।]
 ध्वनिके अभाववादके सुण्डनका उपसंहार

इस प्रकारके धीरे धीरे जानेवाले भेद प्रमेदके सङ्गलनसे अत्यन्त व्यापक
 [महाविषय] ध्वनिका जो प्रतिपादन है यह केवल अप्रसिद्ध अलङ्कारविशेषोंके प्रति
 पात्रनके समान [मगण्य] नहीं है इसलिये इसके समयकोंका उत्साहातिरेक उचित ही
 है । उनके प्रति किसी प्रकारकी ईप्साकृत्युपित्त कृत्ति प्रदर्शित नहीं करनी चाहिये ।
 इस प्रकार ध्वनिके अभाववादियों [१ पू० पाँचपर कहे हुए 'तद्व्यङ्ग्यार्थव्यतिरिक्तः
 कोऽयं ध्वनिर्नामिति' २ पू० छपर कहे हुए 'तत्समयास्तव्यादिना सङ्गदयान् कश्चित्परि-
 कृत्य तत्प्रसिद्धया ध्वनी काव्यव्यपदेशे' परिवर्तितोऽपि मकरयिद्वन्मोप्राहितामय

१ तद्वत् प्रसिद्ध वि ही ।

२ ध्वनित्वावन्भाववादिनः इति ही० ।

छम्भते' इत्यादि, और ३ पृ० छपर कहे हुए 'तेषामभ्यन्तमस्यैव चापूर्वसमाख्यामात्रकण्ठे पत्किञ्चन कथनं स्यात्' इत्यादि अभाववादी चीनों परों] का निराकरण हो गया।

प्रथम विद्वान् वैसाकरण भूमिमात्र कर्णोंको ध्वनि कहते हैं इसलिए उनके अनुयायी आठ-छारिकोंने ध्वनि शब्दका प्रयोग किया। यहाँ वैसाकरणोंके साथ जो आठछारिकोंका सिद्धान्तसाम्य प्रदर्शित किया है उसके स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए वैसाकरणोंके 'स्ट्रेटबाव' और उसके साथ शब्द तथा उसके अभ्युपगमकी सारी प्रक्रियाका समझना आवश्यक है। इसलिए छोटेमें उसका उल्लेख यहाँ कर रहे हैं।

शब्द जिसको हम कानोंसे सुनते हैं उसके तीन कारण वैशेषिकदर्शनमें मने गये हैं—१ संयोग २ विभाग और ३ शब्द। शब्दका आभय आकाश है उसका ग्रहण भोत्रेन्द्रियसे होता है, और संयोग, विभाग कल्पना शब्द इनमेंसे किसी एकसे उसकी उत्पत्ति होती है। पश्या वा भेरीके बजानसे जो शब्द पैदा होता है वह 'संयोगज' शब्द है। उसकी उत्पत्ति पश्या और सुगरी अथवा भेरी और बण्डके संयोगसे होती है। बाँस वा कागज आदिके फड़नेसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह 'विभागज' शब्द है बंधके दलदल या कागजके दोनों छण्डोंके विभागसे उसकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रारम्भिक प्रथम शब्दकी उत्पत्ति तो संयोग वा विभाग इन दो ही कारणोंसे होती है। परन्तु यह प्रारम्भिक शब्द हमका सुनाई नहीं देता। पश्या विद्यालयमें यकता है, हम आधम्ममें बैठे हैं। इस स्थितिसे कारण उस प्रथमात्मक शब्दकी हम शाब्दत् नहीं सुनते हैं। उस शब्दसे वायु मण्डलमें त्रिभुज शब्दभारा उत्पन्न होते-होते वा शब्द हमारे भोत्रेन्द्रियमें आकर उत्पन्न होता है वह शब्द हमका सुनाई देता है। आद्य शब्द वा बीचके शब्द सुनाई नहीं देते। पश्या शब्द सुना, यह प्रतीति सादरपक कारण होती है।

इस शब्दभारमें प्रथम शब्दक बाद जितने भी शब्द उत्पन्न होते हैं वे सब 'शब्दज' शब्द हैं। इस शब्दभारकी प्रगतिके विषयमें दो प्रकारके मत हैं एक 'बीचीतरङ्गन्याय' और दूसरा 'कदम्ब मुकुटन्याय' नामसे कहा जाता है। जिस प्रकार वाद्यधर्म एक कंकड़ टाक देनेसे उसमें लहरें उत्पन्न हो जाती हैं प्रारम्भमें वह लहर एक बहुत छोटा-सा गोलकार चक्र बनाती है जो बढ़ते-बढ़ते सारे वाद्यधर्ममें व्याप्त हो जाता है; उसी प्रकार प्रथम शब्दसे उसके उत्पत्तिस्वरूपके चारों ओर एक शब्दतरङ्गका चक्र उत्पन्न होता है जो बढ़ते-बढ़ते सुसूक्ष्मी भाकाश्लेषवक व्यापक हो जाता है। और वहाँ-वहाँ उस शब्दको ग्रहण करनेका उपकरण भोत्रेन्द्रिय अथवा रेडियो आदि अन्य यन्त्र होता है वहाँ-वहाँ वह शब्द सुनाई देता है। यह 'बीचीतरङ्गन्याय' हुआ इसमें शप दिशाओंमें उत्पन्न होनेवाली शब्दभारा परस्पर सम्बन्ध और एक है।

दूसरा 'कदम्बमुकुटन्याय' है। कदम्बमुकुटका अर्थ है कदम्बकी कली। इस कलीके कन्ध शीर्षस्थानमें एक नहीं-सी क्रीडा क्रीडा लड़ी रहती है। फिर उस केन्द्रबिन्दुके चारों ओर उसी प्रकारका अक्षयचक्र एक वृत्त बन जाता है। 'बीची' प्रकार यह वृत्त बढ़ता हुआ सारे कदम्बमुकुटमें व्याप्त हो जाता है। यही शब्दकी स्थिति है। इसको 'कदम्बमुकुटन्याय' करते हैं। इन दोनों न्यायोंमें अन्तर यह पड़ता है कि 'बीचीतरङ्गन्याय'के अनुसार शप दिशाओंमें चलनेवाली शब्दभारा एक है और 'कदम्बमुकुटन्याय'में सब कील्येक अलग अलग स्थितिके समान शप और उत्पन्न होनेवाले शब्द अनेक हैं।

यह शब्दके सुननेकी प्रक्रिया हुई। इन प्रक्रियामें जिन समय उन शब्दभारका हमारे भोत्रेन्द्रिय सम्बन्ध होता है उस समय हमका शब्दका ग्रहण होता है। फिर जब शब्दभारा आगे बढ़

अस्ति प्वनिः । स चाभिव्यञ्जितवाच्यो विवक्षितवाच्यपरवाच्यरूपेति द्विविधः
सामान्येन । तत्रापररसोदाहरणम्—

बाटी है तब हमको शब्दका मुनाह देना करना ही बाछ है । इसी शब्दको अन्वित्य माननेवासे त्र्याधिक
आदि शब्दका नाश चार नित्यवाचाधी वैयाकरण आदि शिरोमात्र करते हैं । इसलिये शब्द आशुतर
विनाशी अपवा शिरोमात्री ही शक्ति है । ऐसी दृष्टिमें तीन-चार बमोति मिश्रकर बने हुए पटा पटा
इत्यादि शब्दोंमें प्रत्येक वर्ण मुनाह देनेके बाद बागछ श्रममें नष्ट वा शिरोमूढ हो जानेसे एकका एक
समुदायरूपमें एकत्र होना सम्भव नहीं है । इसलिये अनेक बनोंके समुदायरूप पर, और अनेक
पदोंके समुदायरूप वाक्य आदिका निम्नान्त भी नहीं हो सकता । फिर उनसे अपवाप केस होगा यह
एक प्रश्न है । इसका समाधानके लिये प्राचीन शब्दशास्त्री वैयाकरणोंने 'स्त्रोटवाद्य'की कल्पना की
है । 'स्त्रोट' शब्दका अर्थ है 'स्त्रुष्टि अथ' यस्मात् सः स्त्रुष्टः' जितसे अर्थ प्रस्तुतित होता है, अर्थ
की प्रतीति होती है उसको 'स्त्रुष्ट' कहते हैं । इस सिद्धान्तके अनुसार अपवाकी प्रतीति मुनाह देने-
वासे बनोंसे नहीं होती क्योंकि उनका प्रतीक और आशुतर विनाशी अपवा शिरोमात्री होनेसे उनके
समुदायरूप पर ही नहीं बन सकते । इसलिये इन मूलमात्र बमोति ही, जिन्को प्वनि भी कहते हैं और
नाद भी प्रबुक्कवातुम्भमभिव्यञ्जितकात्तररुतत्रमभमभमभमे सरसद् अथान् विद्यमान और मूल
शिरोमूढ समस्त बनोंको प्रत्यक्ष करनेवाली सदसदनकवपावगाहिनी पदप्रतीति होती है । अथान् बुद्धिमें
समस्त बनोंका समुदायरूप एक नित्य शब्द अभिव्यक्त होता है । इसीका वैयाकरण 'स्त्रोट' कहते हैं ।
इसीसे अपवाकी प्रतीति होती है । वैयाकरण जब शब्दको नित्य करते हैं तब उसका अभिप्राय इसी
'स्त्रुष्ट' रूप शब्दकी नित्यतासे होता है । "गी प्रकार अनेक पदोंके समुदायरूप 'वाक्यस्त्रुष्ट'की
अभिव्यक्ति पदों द्वारा होती है । वैयाकरणोंने १ कर्णस्त्रुष्ट २ पदस्त्रुष्ट, ३ वाक्यस्त्रुष्ट ४ अक्षर
पदस्त्रुष्ट, ५ अक्षरवाच्यस्त्रुष्ट, ६ अक्षर पद, ७ वाक्यगत तीन प्रकारके अतिरिष्ट इत
प्रकार आठ तरहके स्त्रुष्टीका कर्तन 'वैयाकरणमूत्र्य' आदि ग्रन्थोंमें विस्तारपूर्वक किया है । उन
सबका मूल महर्षि पतञ्जलिका 'महाभाष्य' और मनुहरिका 'वाक्यपरदीप' ग्रन्थ है ।

आधुनिकोंने वैयाकरणोंके प्वनिशब्दका प्रयोग इस आधारपर किया है कि वैयाकरण उन
बनोंके प्वनि करते हैं जो 'स्त्रुष्ट'की अभिव्यक्ति करते हैं अथान् 'प्वनतीति प्वनि' इस स्मृतिके
आधारपर वैयाकरण 'स्त्रुष्ट'के अभिव्यक्त बनोंको प्वनि करते हैं । इसी प्रकार प्वनिवादिनीने 'प्वन
तीति प्वनिः' एत श्रुतिवासे आधारपर वाच्यवाचकते मिश्र व्यवहृत अर्थको बोधन करनेवाले शब्द
अर्थ आदिके लिये 'प्वनि' शब्दका प्रयोग किया है । इसी बातका उल्लेख ऊपर प्रम्भकारने किया है
और उलीके आधारपर कात्यायनप्रकारने, 'ब्रह्मेवैवाकरणे प्रथमभूत्स्त्रुष्टेरुपव्यह्वयव्यह्वक्तस्य शब्दस्य
स्यवाहारः कृत', एतदन्वयानुसारिभिरनैरुषी स्वभाषितवाच्यत्वह्वयव्यह्वनसमास्य शब्दायुगलस्य
किन्ता है । इस प्रकार मुख्य रूपसे १ शब्द २ अर्थके लिये और फिर ३ व्यवहाराभ्यापार, ४ व्यवहृत
अर्थ, तथा ५ अक्षरवाचन काव्यके लिये 'प्वनि' शब्दका व्यवहार होने लग्य । अतएव प्वनिवाच्य
स्वकीय नही अपितु प्वानि प्तञ्जलिकारा मुनियौक मन्त्रके आधारपर आभित है ।

प्वनिके दो मुख्य भेद

[इत्यन्त्रिय] प्वनि है । यह सामान्यता भविष्यितवाच्य [भ्रक्षजामूल] आर
विवक्षितवाच्य परवाच्य [अभिधामूल] भेदने से प्रकाशका होता है । उनमेंमें प्रथम [अभि
वक्षितवाच्य परवाच्यमूल प्वनि] का उदाहरण यह है—

५३
 31/10/1971

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं भिन्वन्ति पुरपास्त्रयः ।

शूरपत्रं कृत्वपिचदत्र यदत्र चानाति सेवितुम् ॥

द्वितीयस्यापि—

सिद्धारिणि च नु नाम कियच्चिरं, किमभिधानमसावकरोचपः ।

सुमुखि येन तबाधरपाटलं, दगति भिन्वच्छं शुक्रमावकः ॥१३॥

सुवर्णं जिसका पुष्प ही ऐसी पृथिवीका ध्वन [अर्थात् पृथिवीरूप छताके सुवर्णरूप पुष्पांका ध्वन] तीन ही पुरुष करते हैं—शूर, पिचान और ओ सेवा करना जानता है ।

इत स्तोत्रकी म्यास्यामें ओचनकारने 'सुवर्णानि पुष्पतीति सुवर्णपुष्पा' यह व्याख्या की है । यह भिन्व है । इत विग्रहमें कम सुवर्ण उपपद रहते नामवाहुते 'कमप्यच्' लृक्से मन् प्रत्यय और उसके प्रमावधे टिट्ठायम् इत्यादि लृक्से डीप् होकर 'सुवर्णपुष्पी' प्रयोग बनेगा, 'सुवर्णपुष्पा' नहीं । इसलिए उसका विग्रह 'सुवर्णानि पुष्पं सत्यां सा सुवर्णपुष्पा' इस प्रकार करना चाहिये । हमने एही विग्रहको मान कर अर्थ किया है । ओचनग्रन्थको, अथप्रधानात्मकमात्र मान कर, न कि विग्रह मान कर कश्चित् उपपादन करना चाहिये ।

यहाँ, न तो पृथिवी कोर छता है, न सुवर्ण पुष्प और न उतका पवन ही हो सकता है अतः 'सुवर्णपुष्पा पृथिवीका ध्वन' यह वाक्य बन्धाधुतकर्ममें अन्वित नहीं हो सकता इसलिए सुवर्णावसाय होनेसे क्यथा हाय विपुल पन और उसके अनावासेवाचनसे मुख्य समुचितप्रारम्भताको व्यक्त करवा है । क्यथाका प्रयोग शूर, कृतलपि और सेवकोंका प्रायत्स स्वयते वाच्य न होकर गोचमान कामिनीकुवकक्याक्त् सोन्द्यातिघबन्धसे ज्वलित होता है । तत्राभाभून् हान्ते इसका 'अविश्रित वाच्यपनि' करते हैं । यहाँ यदि अमिदितान्वयादिर्योको तात्परा शक्तिसे भी माना जाय तो अभिधा तात्परा, क्यथा, म्यङ्गना प्यारं अन्वया तीनों वृत्तियों व्यापार करती हैं ।

दूसरे [विश्रितान्वापरवाच्य अमिधामूलध्वनि]का भी [उवाहरण देते हैं]—
 हे सुमुखि ! इस शुक्रशायकने किस पर्वतपर, कितन दिनोंतक, कौन-सा तप किया है जिसके कारण तुम्हारे अधरके समान रक्तवर्ण भिन्वपक्षको काट [ने का सौमाम्य—पुष्पातिशयक्यम् सौमाम्य—प्राप्त कर] रहा है ॥१३॥

स्तोत्रमें 'तबाधरपाटलं'में 'तत्र' पक्षको अथमस्त रक्तत्र पटान्त परके रूपमें प्रयोग किया है । 'तबाधरपाटलं' ऐसा अमस्त प्रयोग नहीं किया है । इसे कुछ लोग फलक छन्दके अनुसारेसे किया हुआ प्रयोग मन्ते हैं, परन्तु यह वास्तवमें ठीक नहीं है । यहाँ अधरक साव स्त्रु पत्राथ अथवा तन्मोक्षि की आनेवाली नायिकाका सम्वाध, प्राचायनेन ओचन करना अभीष्ट है । यदि 'तत्र' पदको समासमें डाल दिया जाय तो यह अपरपत्राथका विशेषण्य हो जानेसे प्रधान नहीं रहेगा । उसको अथमस्त रूपनेका अभिप्राय यह है कि अत अथववा विद्धारया एकहाय्या यवा सोम बीजाति एम पैदिक वाक्यमें 'अथववा गवा' गीके निर्धारण्येभ्य आरण्याका वाप्याता सम्बन्धने कश्चित्नामै मी सम्बन्ध हा आता है । अथवा 'चनवान् मुग्धी' इत व्याधिक वाक्यमें चान् इत मन्तु प्रत्ययार्थमें अन्वित धनशन्दध प्रयोगतत्पत्रकत्वात् सुवर्ण साव मी अन्वय होकर अर्थबोध होता है । एही प्रकार अधगन्वित स्त्रु पत्रार्थका प्रयोगतत्पत्रकत्वात् भिन्वपक्षकम्

यदप्युक्तं मक्तिर्ष्वनिरिति, तत् प्रतिसुमाधीयते—
 मक्त्या विमर्ति नैकस्व रूपमेवावय ध्वनिः ।

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्मक्त्या नैकस्व विमर्ति, मिश्ररूपत्वात् । वाच्यव्यतिरिक्तस्या
 रसस्य वाच्यवाचकान्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः । उपचार
 मात्रन्तु मक्तिः ।

दृष्टानके साथ मी अन्वय होकर दुम्हारे अणुअणुअणुभस्ते गर्भित मिश्ररूपको दुम्हारे ध्वन्यन्वये ही
 सुस्पष्ट दुम्हको अन्वयमें रसकर ही ग्यान कर रहा है, यह अणु विवक्षित है । इसलिये 'तव' इस
 असमस्तपदका प्रयोग किया है । 'दृष्टान्त'का अणु मौखिक अणुत् फेटके समान सा ज्ञाना नहीं
 अणुत् रसास्वाद करना है । छद्मभावकी उचित वाच्यकाकर उचकी प्राप्ति और रसकता यह
 सत्र पुष्पातिशयधम्भ है यह अर्थ और इसके साथ अनुपगतीका स्वामिप्रायस्मापन व्यङ्ग्य है ।

यहाँ अमिषा, तात्पर्यां और व्यङ्ग्यना इन तीन वृत्तियोंके ही व्यापार होते हैं । बीचमें सुस्पष्ट
 वाच न होनेसे व्यङ्ग्यकी आवदनकता नहीं होती । अथवा इस आकारिक प्रत्यक्षी अन्वयति मानकर
 यदि व्यङ्ग्यका मी उपयोग किया अणु तो फिर यहाँ मी पूर्वव्येकके समान चार व्यापार हो सकेगे ।
 फिर मी इसको पूर्वव्येकामूलक अविचक्षितवाच्यध्वनिते मिश्र न्य आधारपर किया व्यपगा कि
 पूर्व उदाहरणमें केवल व्यङ्ग्य ही ध्वननव्यापारमें प्रधान सहकारिणी भी और यहाँ ध्वन्यन्वये ही
 व्यङ्ग्यकी प्रतीति होनेसे अमिषा और तात्पर्यां शक्ति मुख्य सहकारिणी हैं । अन्वयका तो नाममात्रका
 उपयोग होता है ।

धीचमें ध्वनिमेद दिखलानेका प्रयोजन

प्रथमममें प्रथम कारिकामें १ अभाववादी, २ मक्तिवादी और ३ अक्षणीयतावादी ध्वनि
 कियोपी तीन पक्ष दिखलाये थे । उनमेंसे बहोतक अमी अभाववादी प्रथमपक्षका लक्षण किया गया
 है । 'ध्वनिस्तावदाभावविनः प्रत्युक्ता' अभाववादीयोंके लक्षणके बाद 'माक्षमाहुस्तम्ये' इस
 सिद्धांतका लक्षण करना चाहिये था । उसको न करके प्रत्यक्ष ध्वनिके अविचक्षितवाच्य और
 विचक्षितानुपरवाच्य मेरका प्रतिपादन करनेमें जग गये । इसका कारण यह है कि इन उदाहरणोंके
 आधारपर मक्तिवाद और अक्षणीयतावादका लक्षण सुकर होगा । अतः इन उदाहरणोंके बाद
 उन वान्तें मत्वोंका लक्षण करेंगे । ११।

दूसरे 'माक्षमाहुस्तम्ये' इस पक्षके प्रथम विकस्य अमेदवादका लक्षण—
 जो यह कहा था कि मक्ति ध्वनि है उसका समाधान करते हैं—

यह उक्त [शब्द अर्थ व्यङ्ग्यमा-व्यापार, व्यङ्ग्यवाच्य और वाच्य इन पौनों मेद
 वासा] ध्वनि [मक्ति या लक्षणसे] मिश्ररूप होनेके कारण मक्ति-[लक्षण]के साथ
 अमेद-[एकत्व]को प्राप्त नहीं हो सकता है ।

यह उक्त प्रकारका [पञ्चविध] ध्वनि [लक्षणसे] मिश्ररूप होनेके कारण 'मक्ति'
 [लक्षण]में अमिष नहीं हो सकता । वाच्यार्थमें मिश्र अर्थको व्यङ्ग्यका प्राधान्य होने
 हुए जहाँ वाच्यवाचक द्वारा तात्पर्यरूपसे प्रकाशित किया जाता है वगैरका 'ध्वनि'
 कहते हैं । और मक्ति तो केवल उपसार्गका नाम है [अतः 'ध्वनि' 'मक्ति'रूप नहीं
 हो सकता है उरमें मिश्र है] ।

अम्बुवाह'के समान 'मातृवाद'के मी तीन विकल्प करके उसका लक्षण करेंगे। उनमें पहिले विकल्प यह है कि जब पूषपत्नी 'भक्ति'को 'ध्वनि' करता है तो क्या भक्ति और ध्वनि शब्दको पद, कव्य आदिके समान पञ्चाक्षर म्यानकर दोनोंका अमेदप्रतिपादन करना चाहता है? दूसरा विकल्प यह है कि क्या वह भक्तिको ध्वनिका लक्षण करना चाहता है? अथवा 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्'के समान भक्तिको ध्वनिका उपलक्षण म्यानता है? यह तीसरा विकल्प है। इतरम्बावतक अर्थात् अन्य समानजातीय और असमानजातीय पदायोसे भेद करनेवाले असाधारण धर्मको 'लक्षण' करते हैं। जैसे गन्धकत्व पृथिवीका लक्षण है। 'गन्धकत्वी पृथिवी'—यह गन्धकत्व धर्म पृथिवीमें रहता है परन्तु उसके छोड़कर उसके समानजातीय या असमानजातीय और किसी मी पदार्थमें नहीं रहता है इसकिये वह पृथिवीका लक्षण होता है। पृथिवी द्रव्य है। उसके समानजातीय लप्, तेष, वायु आकाश काळ, दिक् आत्मा और मन ये आठ द्रव्य और नवों पृथिवी, इस प्रकार कुल नौ द्रव्य वैशेषिकदर्शनमें माने गये हैं। उनमें पृथिवीको छोड़कर और किसीमें गन्धकत्व नहीं रहता [जल या वायुमें जो सुगन्ध-दुर्गन्ध प्रतीत होता है वह पार्थिव परमाणुओंके सम्बन्धसे ही होता है]। इसी प्रकार पृथिवीके असमानजातीय गुण कर्म, सामान्य, विशेष, समन्वय आदि पदार्थ वैशेषिकने माने हैं। उनमें भी गन्ध नहीं रहता, इसकिये गन्धकत्व पृथिवीको समानजातीय और असमानजातीय पदायोसे भिन्न करनेवाला पृथिवीका असाधारण धर्म होता है। इसीको 'लक्षण' करते हैं। 'अक्षयन्त्साधारणधर्मवचनम्।' समानासमानजातीयसे भेद करना ही लक्षणका प्रयोजन है—'समाना समानजातीयकवचनस्येव हि अक्षयात् ।

'विद्येयम्' वर्तमान स्थावतक धर्म होता है और अबतमान स्थावर्तक धर्मको 'उपलक्षण' करते हैं। जैसे 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्' यहाँ काकवत्त्व देवदत्तके गृहका लक्षण या विद्येय नहीं अर्थात् 'उपलक्षण' है। इसका अभिप्राय यों धमसना चाहिये कि कभी दो आदमी साथ-साथ नहीं गये। एक मकानपर उन्होंने बहुत कौए-स बैठे देखे जिसके कारण उन दोनोंका ध्यान उस ओर गया। वह अपने पर चले जाने। पीछे किसी दिन उनमेंसे एक आदमीको देवदत्तके घरका परिचय देनेकी आवश्यकता पड़ी। उस समय वह वाक्य प्रयुक्त किया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि जिस परपर कौए बैठे थे वही देवदत्तका घर है। यहाँ जिस समय वह वाक्य देवदत्तके घरका परिचय करा रहा है उस समय उसपर कौए न बैठे होनेपर भी यह 'काकवद्' पद देवदत्तके गृहका अन्य यहाँसे विवेकबोध कराता है। इस प्रकार वर्तमान स्थावर्तक धर्मका 'विद्येयम्' तथा अबतमान ध्यावतक धर्मको 'उपलक्षण' करते हैं।

'उपचारमार्त्रं भक्ति'में 'उपचार' शब्दका अर्थ गौण प्रयोग है। जो शब्द क्लिप्त अर्थमें सञ्चेदित है उस अर्थको छोड़कर उससे सम्बद्ध अन्य अर्थको बोधन करना 'उपचार' कहाता है और स्वहयका यहाँ प्राधान्य होता है उसे 'ध्वनि' करते हैं। इस अर्थमेवके कारण 'ध्वनि' और 'भक्ति' अभिन्न नहीं हो सकते। यह प्रथम विकल्पका लक्षण हुआ।

मातृवादके द्वितीय विकल्प उद्युगवादका लक्षण

ध्वनिको 'भाक्त' माननेवाले पद्यके तीन विकल्प करके उनका लक्षण किया गया है। इनमेंसे पहिले भक्ति और ध्वनिका अमेद माननेवाले विकल्पका लक्षण तो 'भक्त्या निर्मितं नैकत्वम्' इत्यादि कारिकाके पूर्वार्थसे हो गया। दूसरे 'उपलक्षण' पद्यके विषयमें आगे १ वीं कारिकामें करेंगे। इस समय भक्तिको ध्वनिका लक्षण माननेवाले द्वितीय १४१८ कारिकावत् विकल्पका लक्षण प्रारम्भ करते हैं—

मा चैतत् एवाद् भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह—

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तथा ॥१४॥

नेव मत्स्या ध्वनिर्लक्ष्यते । क्वम् ? अतिव्याप्तेरव्याप्तेः । तथावित्याप्तिर्भक्तिरिति लिख्येऽपि विषये भक्तेः सम्भवात् । यत्र हि 'व्यङ्ग्यवकृतं महत् सौख्यं नास्ति तथाप्युपपरिहृतसम्पृष्ट्या प्रसिद्धयन्तुरोपपन्नवर्तितव्यवहारः क्ववा दृश्यन्ते । यथा—

परिभ्रमनं पीनस्नानजयनसङ्गादुभयवतः,
तनामभ्यस्यान्तः परिमिञ्जनमप्राञ्च हरितम् ।
इदं व्यस्तन्वामं इल्लबमुज्जलताक्षेपवचनेः,
कृशाङ्गवाः सन्तारपं वदति तिसिनीपत्रजयनम् ॥

यह भक्ति ध्वनिका लक्षण भी नहीं हो सकती है, यह कहते हैं—

अतिव्याप्ति और अव्याप्तिके कारण 'ध्वनि' भक्तिसे लक्षित भी नहीं हो सकती है ॥१४॥

'भक्ति' ध्वनिका लक्षण भी नहीं हो सकती है । क्यों ? अतिव्याप्ति और अव्याप्तिके कारण । उसमें अतिव्याप्ति इसलिए है कि ध्वनिसे भिन्न विषयमें भी 'भक्ति' [लक्षणा] हो सकती है । अहाँ व्यङ्ग्यवकृतं महत् सौख्यं नहीं होता यहाँ भी कवि प्रसिद्धिपदा, उपहार या गीष्पी द्राव्यवृत्तिसे व्यपहार करते हुए बेश जाने हैं । जैसे—

कमलिनीपत्रोंका यह शयन [सागरिकाके] पीनस्नान और जयनके संसर्गसे दोनों ओर मस्तिन हो गया है और शरीरके पीसके [कमर] भागका पर्शसे स्पर्श होनेके कारण [द्राव्याका] वह भाग हरा है । शिथिल मुझामोंके इधर-उधर फँकनेके कारण इसकी रचना अस्त-व्यस्त हो गयी है । इस प्रकार यह कमलिनीपत्रकी हार्य कृशाङ्गी [सागरिका]के सन्तारपको कह रही है ।

यह श्लोक 'सनापसी' नाटिकामें सागरिकाके मदनध्वजाको छोड़कर कृशाङ्गते पसे जाने बाद राजा और विद्वानके उक्त कुञ्जमें प्रवेश करनेपर उक्त मदनध्वजाकी अवस्थाको देखकर विद्वानके प्रति उक्तकी उक्ति है । उक्तमें राजा ध्वजाका वजन कर रहा है ।

यहाँ 'वदति'का अर्थ प्रकट करना है, यह बात स्पष्ट है । इस अमृत वातको यदि 'वदति' पदसे लक्षणासे कहनेके बजाय 'प्रकटयति' पदसे ध्वनिवा श्राय प्रकाशित किना जाता तो भी को अवाक्य नहीं होता । और अथ लक्षणा श्राय कहनेसे उक्तमें कोर ध्वनिक वाक्य नहीं हो गया इन प्रकार यहाँ व्यङ्ग्यपदाभावरूप ध्वनिके न होनेपर भी 'वदति' पदमें लक्षणाकय मत्स्यक आशय लिखा गया है । अतएव भक्तिक ध्वनिसे भिन्न स्थानपर अतिव्याप्त होनेसे वह ध्वनिक लक्षण नहीं हो सकती है ।

१ तत्रैव ।

२ नि व च जी ही ।

३ व्यङ्ग्यवकृतं नि ।

४ प्रसिद्धिपदाभावेपवचनेः ति

तथा—

धुम्त्रिभ्रजद् सद्यद्दुर्लभं भवदुम्त्रिभ्रजद् सहस्रदुन्तस्मि ।
 विरमिभ पुणो रमिभ्रजद् पिबो कपो प्पिब पुनरुत्तम् ॥
 [धुम्प्यते इतिभ्रजोऽनल्पते सहस्रदुन्त ।
 विरम्य पुना रम्यते मियो जनो मास्ति पुनरुत्तम् ॥ इतिष्ठायाम्]

तथा—

कृमिआमो पसमाभा भोरण्णमुद्दीओ विहसमाणाओ ।
 अह गदिओ वह द्विअअं हरन्ति उष्णन्त महिअमा ॥
 [कृपिता प्रसञ्ज भवददितमुत्स्यो' विहसन्त्य ।
 मया पृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिष्यो महित्स्व ॥ इतिष्ठायाम्]

तथा—

अधजाप पहारो नवसदाप विण्यो पिपण्य धप्यबट्टे ।
 मिठओ वि दुसहो आओ द्विअप सवत्तीणम् ॥
 [आर्याया महारो नवलतया दसः मिषेण स्तनपृष्ठे ।
 मृदुओऽपि दुस्सह इव आओ हृदये मपत्तीनाम् ॥ इतिष्ठायाम्]

इसी प्रकार—

प्रियजनको सैकड़ों बार धुम्त्रन करते हैं हजारों बार आसिंहन करते हैं ।
 एक-दक कर बार-बार सम्य किया जाता है फिर भी पुनरुक्त [असधिकर] नहीं
 प्रतीत होता ।

यहाँ पुनरुक्त भय ध्य अग्रम्भ है इसीए पुनरुक्त पद्ये अनुपदेष्टा असधिकरता कथित
 होती है । यहाँ भी अग्रप्राधान्यक्य प्यनि न होनेम भी पुनरुक्त पद्ये कर्मता द्वारा अनुपदेष्टा या
 असधिकरता अर्थ कथित होनेसे अतिव्याप्तिक कारण यदि प्यनिका कथन नहीं हो सकती ।

इसी प्रकार—

स्वैरिष्यी विपयौ नाराज या प्रसन्न, हँसती हुई या राती हुई, जैसे भी दुस्त्रो
 [समी रूपमें] यह मन्त्रको हरण कर सेती हैं ।

यहाँ 'पृहीता' पद्ये उपादेष्टा और 'हरन्' पद्ये उनही अर्थात् अग्रप्राधान्यक्य द्वारा कथित होती
 है । परन्तु प्यनिका अक्षर न होनेमें यहाँ भी अतिव्याप्ति है । अतः यदि प्यनिका कथन नहीं हो
 सकती है ।

इसी प्रकार—

नयी मनेली होनेसे कविष्ठ मार्याके स्तनोपर दिया हुआ प्रिय [नायक] का मृदु
 प्रहार भी स्तनियोंके हृदयके लिए दुःखदा हो गया ।

१ अथवा मि ।

२ आर्यायाः आसिंहया कविष्ठ मार्यायाः दी० वि० ।

तथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो,
 यद्गीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमताः ।
 न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स सुसम्प्लेवपठितः,
 किमिक्षोर्वोपोऽसौ न पुनरुजाया मरुसुखः ।

अत्रेक्षुपक्षेऽनुभवविसृष्ट्यः ।

न वैर्बधिषः क्वाचिदपि ध्वनेर्विषयः ॥१४॥

पठः—

उक्तस्यन्तरेणाद्याक्यं यत् लक्षणास्त्वं प्रकाशयन् ।
 शब्दो व्यञ्जकतां विभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥१५॥

यहाँ 'रक्त' परमै लक्षणा है। 'रक्तः' प्रयोग 'द्वयाम्' शब्दों 'वाद्ये' बना है। शब्दका लक्षण 'स्वस्वस्वनिवृत्तिपूर्वक' परस्वत्वोत्पादनं शब्दम्' अर्थात् किसी वस्तुपरसे अपने अधिकारको हटकर दूसरेका अधिकार स्थापित कर देना 'दान' होता है। यह शब्दका अर्थ यहाँ अतहत होनेसे प्रतिकल्पित रूप अर्थको लक्षणया बोधित करता है। यहाँ भी ध्वनिके अभावमें भी व्यञ्जना होनेसे अतिव्याप्ति है। अतः यदि [लक्षणा] ध्वनिका लक्षण नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार :—

जो [सञ्जनपक्षमें] दूसरोंके लिये पीड़ा सहन करता है [इक्षुपक्षमें कोट्टमें पेश आता है] जो [सञ्जनपक्षमें] अपमानित होनेपर भी [इक्षुपक्षमें] ठोका जानेपर भी मधुर रहता है, जिसका विकार [सञ्जनपक्षमें] क्रोधवृत्ति, [इक्षुपक्षमें] बससे बनी गुड़-दाकर आदि] भी सबको अच्छा लगता है वह यदि किसी अनुचित स्थान [इक्षुपक्षमें उत्तर जेत] में पड़कर वृद्धि [पदसृष्टि या उच्चतिका इक्षुपक्षमें आकार वृद्धिको] प्राप्त नहीं होता है तो क्या यह इक्षु [इक्षु गणा] का दोष है उस निर्गुण मूर्ति [स्वामी इक्षुपक्षमें खेत] का दोष नहीं है ?

यहाँ इक्षुपक्षमें 'अनुभवति' परका मुख्य अर्थ होनेसे व्यञ्जना द्वारा पीड्यमानत्वका बोध करता है। परन्तु व्यञ्जनाका प्राधान्य न होनेसे ध्वनि नहीं है। और ध्वनिके अभावमें भी यदि [लक्षणा] है इत्यर्थ 'वाच्यमावबद्धचित्त' रूप अतिव्याप्ति होनेसे यदि ध्वनिका लक्षण नहीं हो सकती।

यहाँ इक्षुपक्षमें 'अनुभवति' शब्द [मात्र] है।

परन्तु ऐसा कमी भी ध्वनिका विषय नहीं होता ॥१४॥

क्योंकि—

उक्तस्यन्तरसे जो वाक्य प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसके प्रकाशित करनेवाला व्यञ्जनाध्यापारयुक्त शब्द ही ध्वनि कहसकनेका अधिकारी हो सकता है ॥१५॥

भावस्थक है। अब यदि शैल्यपावनत्वके अतिशयको 'कस्त्यार्थ' मानना चाहें तो उससे पूर्व उपस्थित 'उट'रूप अर्थको मुख्यार्थ मानना और फिर उसका 'अन्वयानुपपत्ति' वा 'तात्पर्यानुपपत्ति'रूप वाच मानना भावस्थक है। इसके लिए कारिका में वाचितार्थबोधक 'स्तम्भवृत्ति' शब्दका प्रयोग किया गया है। परन्तु शैल्यपावनत्वातिशयबोधके पूर्व उपस्थित शब्दका 'उट'रूप अर्थ न तो 'गङ्गा' शब्दका मुख्यार्थ ही है और न वाचित ही है। क्योंकि उसका बोधके साथ आभारधेयभावसम्बन्ध मानने में कोई बाधा नहीं है। फिर भी दुर्बलतापन्वय'से उसको वाचितार्थ मानें तो भी फिर उसका वाच उपस्थित होनेवाले शैल्यपावनत्वके अतिशयको कस्त्यार्थ कहना होगा। ऐसी दृष्टा में गङ्गा पदके इस अर्थमें स्तम्भ न होनेसे उस कल्पना'का कोई प्रयोजन मानना पड़ेगा। उस दूसरे प्रयोजनको भी 'कस्त्यार्थ' कहोगे तो फिर उसका भी लक्ष्य प्रयोजन मानना होगा और इस प्रकार अनवस्था होगी। इसलिए यह मार्ग ठीक नहीं है। यही १७वीं कारिकाका अभिप्राय है। इसी विषयको मम्मटने अपने 'काम्यप्रकाश'में निम्नलिखित शब्दोंमें लिखा है—

“यस्य प्रतीतिम्यापातु कल्पना समुपास्यते ।

फले ध्वदैक्यामेऽत्र व्यञ्जनाच्चापय क्रिया ॥

नामिषा सम्पामावात्, शैल्यपावात् कल्पना ।

कस्त्यं न मुख्यं, नाप्यत्र पाद्यो योगः फलेन नो ॥

न प्रयोजनमेतरि मन्, न च शब्दः स्तम्भवृत्तिः ।

एवमप्यनवस्था स्यात् वा मूलमयकारिणी ॥” का प्र २, १४ १६

“जिस फलकी प्रतीति करनेके लिए कल्पनाका आशय किया जाता है, शब्दमात्रसे शीघ्र उस फलके बोधनेमें व्यञ्जनाके अतिरिक्त दूसरा म्यापार सम्भव नहीं है।

“उद्योत न होनेसे अभिधा नहीं हो सकती और मुख्यार्थभाषि हेतुओंके न होनेसे कल्पना नहीं हो सकती है। कस्त्यार्थ न तो मुख्यार्थ ही है न उसका वाच ही होता है, न उसका फलके साथ सम्बन्ध है न उसमें कोई प्रयोजन है और न शब्द स्तम्भवृत्ति है। और यह सब मानें भी तो मूलका ही बिनाश कर देनेवाली अनवस्था हो जायगी।

अधिकार्य श्लेष 'अन्वयानुपपत्ति'का कल्पनाका बीज मानते हैं। परन्तु नागेधने 'तात्पर्यानुपपत्ति'को कल्पनाका बीज माना है। "उसका कारण यह है कि 'कल्पने' शेष रस्यताम'में अन्वयानुपपत्ति नहीं है। कोई अन्वय बही बाहर छोड़कर क्या देखके स्थिर भीतर गया। उसे भर वा कि उसकी देरमें और वृत्तिको लयन कर देंगे। इसलिए यह अपने पाठक आदमीसे कहना गया कि क्या कोअंसे दहीको बचाना। इस वाक्यके अन्वयमें कोई बाधा न होनेसे कल्पनाका अवसर नहीं है। परन्तु यहाँ 'का' पदकी कल्पना 'दण्डुपपाठक' अर्थमें होती है। करनेवालेका तात्पर्य यह नहीं है कि केवल कोअंसे बचाना और यदि कुत्ता आवे तो उसे का सेने देना। उसका अभिप्राय तो दहीके उपपाठक लयन ही बचानेमें है। इसलिए 'तात्पर्यानुपपत्ति'को कल्पनाका बीज माननेसे ही कल्पना हो सकती है। अतएव नागेध अन्वयानुपपत्तिके बजाय तात्पर्यानुपपत्तिको कल्पनाका बीज मानते हैं।

इसलिए जिन शैल्यपावनत्वाधिकरूप प्रयोजनके बोधनेके लिए मुख्यवृत्ति अभिधाको छोड़कर गुणवृत्ति कल्पनासे अयप्रतिपादन किया जाता है वह प्रयोजन कल्पनासे नहीं अपितु व्यञ्जनासे बोधित होता है। इसलिए कल्पना-म्यापार और व्यञ्जना-म्यापार दोनोंका नियमभेद है। 'गङ्गाका बोध'में 'मृत्ति' वा कल्पनाका नियम उट, और ध्वनिका नियम शैल्यपावनत्व है। नियमभेद होनेसे उन दोनोंमें

तस्मात्—

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्धर्मस्थिता ।

व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याद्भक्षणं कथम् ॥१८॥

तस्मादध्वो ध्वनिः, अन्वा च गुणवृत्तिः ।

अध्याप्तिरन्वत्त्व सञ्ज्ञस्य । नहि ध्वनिप्रमेदो विवक्षितान्वपरवाच्यत्वज्ञानाः, अध्वो च बहवः प्रकाराः भक्त्या ध्याप्यन्ते । तस्माद् भक्तिरसञ्ज्ञणम् ॥१८॥

धर्मधर्मभाव नहीं हो सकता । धर्मियत कोह धर्मविद्योप ही 'अन्व' होता है । ध्वनि और भक्तिमें धर्मधर्मभाव न होनेसे भी भक्ति ध्वनिका 'अन्व' नहीं । वाचक शब्दों को भक्ति मुक्तापका वाच होनेपर ही अन्व प्रवृत्त होती है इत्यस्य अन्वा वाचकाभिध या अधिभाषणुच्छ्रुता है, वह विषयमेव होनेसे अज्ञानमात्राभिध ध्वनिका 'अन्व' नहीं हो सकती । विषयतात्मकपदे भक्तिका अधिकरण तीर, और ध्वनिका अधिकरण शीलवाचनत्व है । अतः एकविधपरवर्तित स्वविषयविषयकत्वरूप परम्परसम्बन्धेन भक्तिके ध्वनवृत्ति होनेसे भक्ति ध्वनिका 'अन्व' नहीं हो सकती । १७।

इसलिये—

वाचकके आश्रयस्थित होनेवाली गुणवृत्ति-भक्ति केवल व्यञ्जनामूलक ध्वनिका सञ्ज्ञण कीसे हो सकती है । १८।

इसलिये ध्वनि अन्व है और गुणवृत्ति [सञ्ज्ञा] अन्व ।

१४ वीं कारिकामें 'अधिभाषेत्परमात्मानेनयासौ कथयते तथा' कहा था । उसमें बहोतक अधिभाषि [अन्ववृत्तित्वमधिभाषि] शेषका निरूपण किया । आगे 'अध्वोऽन्वोऽन्ववृत्तित्वमध्याप्तिरूप अध्याप्तिशेषका प्रतिपादन करते हैं । अध्याप्ति और अधिभाषि दोनों 'अन्व'के शेष हैं । इनके अतिरिक्त एक 'अन्व' शेष और है, 'अन्वमात्रावृत्तित्वमन्व' । यहाँ कारिकाकारन अध्याप्ति तथा अधिभाषिका ही उल्लेख किया है । जो 'अन्व' शब्दके एक शेष न रहे उसका अध्याप्तिशेषत्व कहा जा जाता है । यहाँ भक्तिके ध्वनिका अन्व माननेमें अध्याप्तिशेष ही आता है । ध्वनिके धर्म अधिभाषितवाच्य तथा विवक्षितान्वपरवाच्य हो मेव बताया है । अतएव भक्तिको यदि ध्वनिका अन्व माना जाय तो इन दोनों शेषोंमें भक्तिका अस्तित्व अनिश्चित है । किन्तु विवक्षितान्वपरवाच्य अधिभाष्य ध्वनिमें अन्व नहीं होती है । अतः अध्याप्तिशेष है । इसी बातको करते हैं—

इस सञ्ज्ञणकी अध्याप्ति ही है । विवक्षितान्वपरवाच्य [अधिभाष्य] ध्वनि और ध्वनिके अन्व अनेक प्रकारोंमें भक्ति या सञ्ज्ञा व्याप्त नहीं रहती है इसलिये भक्ति ध्वनिका 'अन्व' नहीं है । १८।

सञ्ज्ञा और गौणीवृत्तिके मंद

यहाँ भक्तिके ध्वनिका अन्व माननेमें अध्याप्तिदार विषयवाया है कि विवक्षितान्वपरवाच्य अधिभाष्यध्वनिके उदाहरणमें ध्वनि ही रहता है परन्तु यहाँ भक्ति वा अन्व नहीं रहती इसलिये भक्ति अध्याप्त है । वह विषय बोधा विचारमन्व है इसलिये उसका अधिक शरीकरण अशोभित है । अगर विवक्षितान्वपरवाच्यध्वनिका उदाहरण 'विष्णुविधि' आदि श्लोक दिया जा । उतकी व्याख्या करते हुए [१४ ५७ पर] लिखा था कि ध्याप्यन्तः उनमें अधिभाष्य, ध्याप्य और अज्ञान—इन तीन

वृत्तियोंके व्यापार होते हैं। परन्तु उसके साथ दूसरा विकल्प यह भी दिखनावा था कि "वदि वा आकस्मिकविधिप्रभत्यानुपपत्तेरुभ्यापवाभावां साहस्राहस्रणा मवतु मय्य । तेन च द्वितीयमेतेऽपि चत्वार एव व्यापाराः ।" [बोधन] अर्थात् इस श्लोकमें यह जो प्रश्न किया गया है उस आकस्मिक प्रश्नका कोर अथवा न होनेसे यह अनुपपन्न है। इस प्रकार मुख्यापवाच मानकर बीचमें साहस्रमे लक्षणाव्यापार भी माननेसे इस उदाहरणमें भी चार व्यापार हो जाते हैं। परन्तु ध्वननमें लक्षणाके विशेष उद्धारकी न होनेसे लक्षणासूक्ष्मनिष्ठ भेद रहगा। इस साहस्रमूक लक्षणाको आम्हारिक 'गौणी' लक्षणा नामसे व्यवहृत करते हैं। परन्तु मोक्षक गौणीको लक्षणासे भिन्न अरुण वृत्ति मानते हैं। उनके मतेसे 'लक्षणा' और 'गौणी'का भेद यह है कि "गौणे शब्दप्रयोगे न लक्षणावाम् ।" "विदा मापवक" यह गौणीका उदाहरण है। इसमें सिंह शब्द गौणी वृत्तिसे श्रीर्षादिनिष्ठ प्राणीका बोधक होता है और उसका मापवक पदके साथ सामानाधिकरम्य होता है। पर्येके सामानाधिकरम्य का अभिप्राय विभिन्नरूपेण पदार्थावबोधकत्व है। सिंह और मापवक पदके सामानाधिकरम्यका अभिप्राय यही है कि वे दोनों भिन्न-भिन्न रूपसे एक मापवक अथवा ही बोधन करते हैं। इस प्रकार सिंह पद और मापवक पद दोनों सामानाधिकरम्यके कारण एक ही अर्थका बोधन करते हैं। फिर भी दोनों शब्दोंका प्रयोग होता है इसीसे यह गौणी है। गौणे शब्दप्रयोगे न लक्षणावाम् । 'गङ्गायां बोध' इस लक्षणाके उदाहरणमें उदाहरके बोधक शब्दका प्रयोग नहीं होता यही 'लक्षणा' और 'गौणी'का भेद है। परन्तु आम्हारिकोंके मतमें यह शब्दप्रयोग भी गौणी तथा लक्षणाका भेदक नहीं है। क्योंकि आम्हारिकोंन प्रकाशन्तरसे लक्षणाके आरोप और साध्यत्वाना भेद भी माने हैं—'विषयस्वानिगौणस्यान्यदाहात्म्यप्रतीतिवृत्त् । आरोपे स्थानिगौणस्य मत्ता साम्यवसानिका ॥' जिसमें विषयका निगमन नहीं होता अर्थात् मापवक शब्दका भी प्रयोग होता है उस आरोप' करते हैं और यहाँ उसका निगमन हो जाता है यहाँ उधे साम्यत्वाना करते हैं। इस प्रकार जिस मोक्षक गौणी' करता है यहाँ भी लक्षणा व्याप्त रहती है। अब 'ध्वनिविधि'में साहस्रसे गौणी लक्षणा मानकर यहाँ भी चार व्यापार मान ही लिये तब यह कैसे कहा जा सकता है कि विषयितान्तरवाच्य ध्वनिमें लक्षणा अस्मात् होनेसे मत्तिको ध्वनिका लक्षण नहीं माना जा सकता।

इस प्रश्नका उत्तर यह है कि विषयितान्तरवाच्यध्वनिक अष्टस्यत्रय और संस्यत्रय व्यवहृत यह दो मुख्य भेद आगे किये जावेंग। इन दोनोंमें स्वादि ध्वनिको अष्टस्यत्रयव्यवहृत ध्वनिक करते हैं और संस्यत्रयव्यवहृतके पन्द्रह भेद किये गव हैं। इनमें विषयितान्तरवाच्यध्वनिक समस्त भेदोंमें रह्यध्वनि ही लक्षणे अर्थिक प्रधान है और उसमें मुख्यापवाच आदिक कोर अथवा नहीं है, इसविधे उधे मुख्य भेदमें लक्षणाका अथवा न होनेसे विषयितान्तरवाच्यध्वनिक मत्तिकी अव्याप्ति प्रकृत की है।

कुछ मीमांसक इस रसबोधमें शब्दव्यापारकी आवश्यकता नहीं मानते हैं। वह रसको अनुमान वा स्मृतिका विषय मानते हैं। उनका कहना है कि धूमदहनके बाद जैसे अग्निकी स्मृति हो जाती है इसी प्रकार विभावात्मिक ज्ञानके अनन्तर एखादि विसृष्टिकी स्मृति हा जाती है। इसविधे उसमें शब्दव्यापारकी आवश्यकता ही नहीं है। तब उसमें मत्तिक या लक्षणाकी अव्याप्ति दिखाना और उसके आधारपर मत्तिको ध्वनिका अस्तित्व कहना व्यर्थ है।

इस शब्दका समाधान यह है कि क्या दूसरेकी वृत्तिके परिज्ञानमात्रको भाव रस समझते हैं अथवा स्वानुभवगौरव परवर्त्या धर्मौक्तिक आनन्दानुभव है उसको रस करते हैं? यदि भाव दूसरों की विसृष्टिके परिज्ञानमात्रको रस समझते हैं तो वह आत्मा भ्रम है। हम उधे रस नहीं करते।

कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ।

सा पुनर्मूर्च्छित्वापप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भा-
व्येत । यदि च गुणवृत्तयैव ध्वनिर्लक्ष्यते इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तद्विवरोऽलङ्कारवर्गः ।
समप्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैधर्म्यप्रसङ्गः ।

किञ्च,

लक्षणेऽन्यै कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥१९॥

कृते वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः, यस्माद् ध्वनिरस्तीति नः
पक्षः । स च प्रागेव संसिद्ध इति, अथस्तसम्पन्नसमीहितार्याः सम्पन्नाः स्मः ।

यह अर्थस्य है कि उसका परिज्ञान अनुमान वा स्मृति आदिसे हो सकता है परन्तु वह हमारे यहाँ रस
नहीं है । हम तो अपने आत्ममें होनेवाली अभौतिक आनन्दकी अनुभूतिको रस कहते हैं । वह
अनुमेय नहीं है अतः हमारे यहाँ तो रस अनुमानका विषय नहीं है । उसको अनुमान द्वारा सिद्ध
करनेके लिए जो भी हेतु दिये जा सकते हैं वे सब हेलाभासमय हैं रस बहुत उच्च परे है ।
इसलिये विवक्तितान्त्रबाधध्वनिके प्रधान भेद रसध्वनि और उसके प्रभेद रसाभास माध,
म्यमाभास, माधोपधम, माधोदय, माधसन्धि, म्यकधकटा आदि ध्वनियोंमें मुख्यार्थवाचके बिना ही
रसात्मिकी प्रतीति होनेसे भक्तिके प्रवेष्टका भवत्तर नहीं है और इस प्रकार अस्माति होनेसे भक्ति
ध्वनिका लक्षण नहीं हो सकती । यह स्पष्ट हो गया । १८।

भाक्तवादके तृतीय विकल्प उपलक्षणपक्षका स्पष्टन

यह भक्ति ध्वनिके किसी विशेष भेदका [‘काकवद् देववत्स्य गृहम्’के समान
अविद्यमानध्यायवर्तक] उपलक्षण हो सकती है ।

यह भक्ति ध्वन्यमात्रके प्रभेदोंमेंसे किसी विशेष भेदका ‘उपलक्षण’ हो सकती है ।
[किन्तु सारे ध्वनिमात्रका उपलक्षण भी नहीं हो सकती है] । और यदि [सुसंगतताप-
स्यायसे यही मान किया जाय कि] गुणवृत्तिसे [समप्र] ध्वनि लक्षित हो सकता है,
[जसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि] यह कहा जाय तो [अभिधाव्यापारसे ही
समप्र अलङ्कारवर्ग भी लक्षित हो सकता है इसलिये [वैयाकरणों और भीमासक्तों द्वारा
अभिधाका लक्षण कर देनेपर और उसके द्वारा समस्त अलङ्कारोंके लक्षित हो जानेसे]
अलग-अलग अलङ्कारोंके लक्षण करना [अर्थात् भासह आदि अलङ्कारिकोंका प्रयास
और साथ साहित्यशास्त्र ही] व्यर्थ हो जाता है ।

और भी—

[लक्षणा वा भक्तिके ही ध्वनिके लक्षण मान लेनेपर] यदि अन्य लोगोंने ध्वनिका
लक्षण कर दिया है तो हमारी पक्षसिद्धि ही होती है । १९।

अथवा यदि पहिले ही [भक्तिके ध्वनिका लक्षण माननेवाले] किन्हींने ध्वनिका
लक्षण कर दिया है तो हमारी पक्षसिद्धि ही होती है । क्योंकि ध्वनि है—यही हमारा
पक्ष है । और वह पहिले सिद्ध हो गया हमलिये हम तो जिना प्रयत्नके ही स्पष्ट
मनोरथ हो गये [हमारी इष्टसिद्धि हो गयी] ।

येऽपि सङ्ख्यसंघेयसंवेद्यमनास्वेयमेव ध्वनेरात्मानमान्नासिपुस्तेऽपि न परीक्ष-
वादिनः । यत उक्त्या नीत्या ब्रह्ममाप्सया च ध्वनेः सामान्यविशेषरूपे प्रतिपादितेऽपि
यद्यनास्वेयत्वं तत् सर्वेषामेव वस्तूनां तद्व्यसक्तम् ।

यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया क्वच्यन्तव्यतिशयि वै स्वरूपमास्यामते तत्तेऽपि
धुच्छामिभायिन एव ॥१९॥

इति श्री राजावकाशानन्दवर्धनचर्चविरचिते ध्वन्यालोके
प्रथम उचोतः ।

ध्वनिविरोधी तृतीय पद्य अलक्षणीयतावादका खण्डन

उचोतके प्रारम्भमें अभाववादी, मधिक्यादी और अस्मत्प्रतीयतावादी मत्त इस प्रकार ध्वनि-
विरोधी तीन पद्य दिल्सक्याये थे । इनमें अग्रजवादी और मधिक्यादी मत्तोका खण्डन विस्तारपूर्वक इस
उचोतमें किया है । इसी खण्डनप्रसङ्गमें 'वद्यर्थाः शब्दो वा' [कारिका ४ १३]में ध्वनिका सामान्य
रूपका ध्वनिके अलक्षणीयतावादका भी निराकरण कर ही दिया है । यह मान कर मूखकारने
अस्मत्प्रतीयतावादके खण्डनके लिए अलग कारिका नहीं लिखी । परन्तु वृत्तिकार विषयको परिपूर्ण
करनेके लिए 'येऽपि'से प्रारम्भ कर 'युक्तामिभायिनः' तक उस अलक्षणीयतावादका खण्डन करते हैं ।

जिन्होंने सङ्ख्यसंघेय ध्वनिके आरम्भको अवर्णनीय, अलक्षणीय कहा है उन्होंने
भी सोच-समझ कर ऐसा नहीं कहा है । क्योंकि अक्षतक कही हुई तथा आगे कही
जानेवाली नीतिसे ध्वनिके सामान्य और विशेष स्वरूप प्रतिपादित कर देनेपर भी
यदि ध्वनिको अलक्षणीय कहा जाय तो फिर ऐसा अलक्षणीयत्व तो सभी वस्तुओंमें
आ जायगा ।

यदि ये [अलक्षणीयतावादी] इस अतिशयोक्ति द्वारा [यिद्वान्तिर्योके अनिर्वचनी
यतावादके समान] ध्वनिके अन्य क्वच्योसे उत्कृष्ट स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं तब तो
ये भी ठीक ही कहते हैं ॥१९॥

इति श्रीमहाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तसिरोमणिविरचितया
अलोककपीपिकाव्यापां दिग्दीप्याव्यापां
प्रथम उचोतः ।

द्वितीय उद्योत

एवमविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन^१ अनिर्दिष्टप्रकारः प्रकृतितः । तथाविवक्षितवाच्यस्य प्रमेदप्रतिपादनायेदमुच्यते—

अर्यान्तरे सक्रमिमतत्पन्त वा तिरस्कृतम् ।

अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्याच्य द्विधा मतम् ॥१॥

तथाविधाभ्यां च वाच्यां व्यङ्ग्यस्यैव विक्षेपः^२ ।

अथ 'आहोकार्यादिभ्यां द्वितीय उद्योतः

क-अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनिके दो भेद

इस प्रकार [प्रथम उद्योतमें] अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] और विवक्षितान्य परवाच्य [अविद्यामूल] भेदसे दो प्रकारके ध्वनिका वर्णन किया था । उसमेंसे अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल]के भेदों [प्रमेद शब्दका अथ अर्थान्तर भेद और विवक्षितान्यपरवाच्यमे अविवक्षितवाच्यका भेद दोनों किये हैं ।]के प्रतिपादनके लिए यह [कारिका] कहते हैं—

अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनिका वाच्य कहीं अर्थान्तरसङ्गममित और कहीं अत्यन्ततिरस्कृत होनेसे दो प्रकारका माना गया है ।१।

उन प्रकारके [अर्थात् अर्थान्तरसङ्गममित और अत्यन्ततिरस्कृतम्भरूप] उन दोनों [वाच्यों]से व्यङ्ग्यार्थका ही विशेष [उत्कर्ष] होता है । [इसलिए व्यङ्ग्यार्थमक ध्वनिके प्रमेदके प्रसङ्गमें जो ये वाच्यके दो भेद प्रदर्शित किये हैं वे अप्रासङ्गिक नहीं हैं । क्योंकि उनके द्वारा व्यङ्ग्यार्थका ही उत्कर्ष सम्पादन होता है ।]

इन भेदोंका आधार लक्षणा

अर्थान्तरसङ्गमितिम् किन्तुसङ्गमिति सम्बन्धका प्रयोग किया है इसलिए उनका प्रयोगक कथा बोधित है । इसी प्रकार तिरस्कृतमें भी कथाकी बोधा है । इन दोनोंके प्रयोगसे यह सूचित किया है कि इस ध्वनिके अर्थान्तराधारमें जो सङ्कापी लग कहना, वक्तृविषयदि हैं उनको प्रमापते वाच्यार्थकी दोनों अवस्थाएँ होती हैं । कहीं वह अर्थान्तरमें सङ्गमिति कर बिना जाता है और कहीं अत्यन्त तिरस्कृत । यह अर्थान्तरके सङ्कापी लग मुख्यतः अर्थार्थका प्रमाण है । इसीलिए इस अविक्षितवाच्यध्वनिका वृत्त नाम अर्थमूलध्वनि भी है । अविक्षितवाच्यध्वनिमें अर्थार्थके प्रमापते वाच्य अर्थान्तरसङ्गमिति या अत्यन्ततिरस्कृत क्यों और कैसे हो जाता है इस समझनेके लिए अर्थार्थकी प्रमापार योजना-का ध्यान देना पारिये ।

१ वाच्यस्यै वि ।

२ इति च्च इत्यन्तवत्त्वं च्चवैदेवार्थ प्रकारः । वि ही में अधिक है ।

काव्यप्रकाशकारने व्यन्यासका निरूपण करते हुए उसके मुख्य दो भेद किये हैं, उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा । व्यन्यासका लक्षण है —

‘मुस्मार्यभाषे तद्योगे रुद्रितोऽयं प्रवाञ्जनात् ।

अन्योऽन्यो लक्ष्यत यस्या लक्षणाऽऽपेक्षिता क्रिया ॥” का प्र २, १

अर्थात् मुस्मार्यके बाधित होनेपर रुद्रि अथवा प्रवाञ्जनामें अन्वतर निमित्तके मुस्मार्यके सम्बन्ध अन्य अर्थकी प्रतीति मिस्र शब्दशक्तिये होती है शब्दमें आरोपित उस शक्तिका नाम लक्षणा है । इस कारिकामें ‘तद्योगे’ शब्दके मुस्मार्य और लक्ष्यभाषका सम्बन्ध आबन्धक बताया गया है । मुस्मार्यके सम्बन्ध अथ ही लक्ष्यभाषे बोधित हो सकता है असम्बन्धार्थ नहीं । असम्बन्धार्थमें यदि लक्षण होने लगे तो किसी पदकी कहीं भी लक्षणा होने लगी कोई सम्बन्ध नहीं रहेगी । इसलिये सम्बन्धका होना आवश्यक है । लक्षणाका नियन्त्रण करनेवाले ये सम्बन्ध मुख्यतः पाँच प्रकारके माने गये हैं—

“अभिधयेन संयोगात् साम्यव्यात् समवायत ।

वैपरीत्यात् क्रियाभागास्तल्लक्षणा पञ्चभा मता ॥”

इन पञ्चविध सम्बन्धोंमें सादृश्यसम्बन्ध परिगणित नहीं हुआ है इसलिये मीमांसक सादृश्य मूलक अन्यायप्रतीतिजनक ‘गौणी’ शक्तिको लक्षणाके लक्ष्य मानते हैं । आकस्मिक इन पाँचोंको केवल श्रद्धा लक्षणाका ही नियामक सम्बन्ध मानकर सादृश्यमूलक लक्षणाको गौणी लक्षणा नामसे लक्षणाका ही अन्तर्भेद मानते हैं ।

लक्षणाके अन्तर्भेद करते हुए काव्यप्रकाशकारने उसके उपादानलक्षणा और लक्षण लक्षणा दो मुख्य भेद माने हैं और उनके लक्षण इस प्रकार किये हैं—

“स्वसिद्धये पराभेय परसं स्वसमरणम् ।

उपादानं लक्षणं, चत्सुष्टा छन्दैव सा क्रिया ॥” का प्र २ १

यहाँ मुस्मार्य अपनी सिद्धि अर्थात् अन्वयानुपपत्तिको दूर करनेके लिये किसी अन्य अर्थका आशेष कर लेता है और उस आशित अर्थकी सहायतासे अपने अन्वयको उत्पन्न कर देता है उसको ‘उपादानलक्षणा’ कहते हैं । इसका वृथवा नाम ‘अव्यहस्तार्था’ भी है । जैसे ‘स्नेहो वावर्ति’ या ‘कुन्ताः प्रविशन्ति’ उदाहरणोंमें वाचनक्रिया स्नेह गुणम नहीं किसी प्रथममें ही रह सकती है । स्नेह गुणके साथ वाचनक्रियाका सामान्य अन्वय बाधित है । इसलिये मुस्मार्य बाधित होनेसे स्नेह शब्द समवायसम्बन्धके सम्बन्ध अर्थका आशेष कर लेता है । इस प्रकार लक्षणाके अर्थ अर्थके आशेषने ‘स्नेहगुणान् अथो वावर्ति’ यह अन्वय बन जाता है उसमें कार अनुपपत्ति नहीं रहती । इसमें स्नेह पदका अर्थ भी बना रहता है इसलिये इसको ‘उपादानलक्षणा’ कहते हैं । इसी प्रकार ‘कुन्ताः प्रविशन्ति’में अन्वय कुन्तौ [मात्रे] प्रविशन्ति का अन्वय अनुपपत्ति है । इसलिये कुन्त शब्द कुन्तके साथ संयोगसम्बन्धसम्बन्ध कुन्तपार्ये पुरुषका आशेष कर लेता है और उसकी महावाच्यके अन्वय उत्पन्न हो जाता है । ये दोनों उपादानलक्षणाके उदाहरण हैं ।

‘लक्षणलक्षणा’का उदाहरण ‘गङ्गायां पोष’ है । इस वाक्यमें लक्ष्यवाच्य गङ्गाक साथ आमीगपत्ती [पोषिकाँकी बन्ती] का आचार्यव्यभावमें अन्वय अनुपपत्ति होनेपर पोष पदार्थकी आवेष्टता गिद्धिये लिये गङ्गा शब्द अपने अर्थको समर्पित कर देता है । अर्थात् गङ्गा शब्द अपने अर्थको छोड़ कर उदर्य अर्थका लक्षणवा शेष करता है । “व प्रकार गङ्गा शब्दने अपने अर्थको छोड़कर सामीप्य

तत्रायान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथा—

स्निग्धश्यामकान्तिस्त्रिविधो बेल्लह्वयका पनाः,
वाताः शीकरिणाः पयोदसुहृषामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु हृषं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सह्ये,
वेवेही तु कथं मविष्यति हृष्टा हा वेवि भीरु भव ॥

इत्यत्र रामशब्दः । अनेन हि व्यङ्ग्य-वचमान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याच्यते, न संज्ञिमात्रम् ।

अन्वयसे तदस्य अयम् शोच करुणा इत्यर्थे यह 'कठोरहृदया'का उदाहरण है । इसको 'अहस्ताया' भी करते हैं ।

इस प्रकार कठनाके दो मुख्य भेदोंमेंसे एक 'अहस्ताया' उपादानकणामें शब्द अपने मुख्य अर्थको छोड़ता नहीं, अपितु कठना उसके सामान्यस्वापक अर्थको किसी विशेष अर्थमें सङ्ग्रहण कर देती है । इसीसे उसको 'अहस्ताया' करते हैं । यही अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वनिष्ठा मूल है । इसीके प्रभाक्ते अविश्रितवाच्यत्वनिष्ठा अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वभेदमें वाच्य अर्थ अपनी स्थिति रखते हुए स्व-विशेषमें पूर्वस्थित होता है । इसीलिए उसको अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वनिष्ठा करते हैं । 'नयने तस्यैव नयने' उद्योतके नेत्र नेत्र हैं 'स्मरणे' इसमें द्वितीय नयन शब्द माम्बवत्तादि गुणविशिष्ट नयनका बोधक है । यदि दोनों शब्दोंका साधारण नेत्र ही अर्थ करें तो पुनरुक्ति होगी इसलिये दूसरा नयन शब्द माग्यवत्तादिगुणविशिष्ट नेत्रोंका प्रतिपादक होनेसे अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यत्वनिष्ठा उदाहरण होता है ।

कठनाका दूसरा भेद 'कठोरहृदया' है । 'समें दूसरेकी अन्वयस्थितिके लिये एक शब्द अपने अर्थको निकटतम छोड़ देता है इसलिये 'सको अहस्ताया करते हैं । मुख्यार्थका अत्यन्त परित्याग ही उसका तिरस्कार है । इसलिये कठोरहृदयामें वाच्यार्थके अत्यन्त तिरस्कार—सर्वथा परित्यागके कारण ही उसको अहस्ताया करते हैं । यही अविश्रितवाच्यत्वनिष्ठा अत्यन्ततिरस्कारवाच्यत्वभेदका मूल है । इस प्रकार अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वनिष्ठा नाममें तिरस्कारसङ्क्रमित पदका प्रयोग व्यङ्गनाकी सहायिका कठनाके प्रमाणको घोषित करण है । आगे इन दोनोंके उदाहरण होते हैं—

१ अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वनिष्ठाके दो उदाहरण

अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य [का उदाहरण] जैसे—

स्निग्ध एवं श्याम कान्तिसे आकाशको ध्यात करनेवाले और [बलाका] एक पंक्ति किरणके पाम विहार कर रही है ऐसे सघन मेघ [मले ही उमड़ें], शीकर [छोटे छोटे जलकणों] से युक्त [शीतस्मन्व] समीर [मले ही बहे] और मेघोंके मिथ मयूखोंकी आनन्दमयी फूँकें भी चाह कितनी ही [ध्रुवजगोवर] हों, मैं तो कठोरहृदय राम हूँ मव कुछ सह सँगा । परन्तु [अति सुकुमारी कामलहृदया शियागिनी] पैदहीकी क्या वृथा होगी ? हा वेवि धैर्य रमना ।

इसमें 'राम शब्द [अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य] है । इसने केवल संज्ञिमात्र रामका बोध नहीं होता अपितु व्यङ्ग्यवचमर्थविशिष्ट [अत्यन्त सु-वासहिष्णुस्वरूप मंडी] रामका बोध होता है ।

यथा च ममैव विपमबाणस्त्रीलायाम्—

वासा भावन्ति गुणा नाम्ना ये सदिभयर्हि^१ भेष्यन्ति ।

रक्षिरणानुगृहीतार्हो होन्ति कमलार्हो कमलार्हो ॥

[तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैरृषन्ते ।

रक्षिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥ इतिच्छ्रया]

इत्यत्र द्वितीयः कमलशब्दः ।

अत्यन्तविरस्कृतवाच्यो यथाविकषेर्वास्मीकेः—

इस श्लोकके बन्धा राम हैं । अतएव 'रामोऽस्मि'के स्थानपर केवल 'अस्मि' कहनेपर भी 'अहम्' परकी प्रतीति द्वारा रामका बोध हो जाता । इतलिए प्रकृतमें रामभक्ता मुख्याय अनुपपन्न होकर [अभयत्तार्या उपादान] स्मृत्या द्वाप, अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्वविशिष्ट रामका बोध कराता है । 'मै राम हूँ' अर्थात् पिताके अत्यन्त विभोग, रामवत्याग बनबाध, जटापीरभारण, स्त्रीहरण आदि अनेक दुःखोंका सहन करनेवाला अत्यन्त कठोरहृदय राम हूँ, मैं सब-कुछ सहन कर सकूँगा । यहाँ 'दुःखसहिष्णुत्वः' यह पद उक्त अस्वार्थकी प्रतीतिमें विधेय उदाहरण होता है और रामपद अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्वविशिष्ट रामका बोध होनेसे अर्थात्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वनिष्ठा उदाहरण है । उन्हीं दुःखसहिष्णुत्व आदि बर्णोंका अतिशय स्पष्ट है ।

बध्नि प्रत्यकारने इसे केवल अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है और अत्यन्तविरस्कृतवाच्यका उदाहरण आगे देंगे, परन्तु यहाँ आकाशके निराकार होनेसे उतका स्थान सम्भव न होनेसे 'भित्त' शब्द अपने अर्थको छेड़कर, 'स्पात' अर्थका बोध कराता है । इसी प्रकार 'पुनोत्सृष्ट्वा'में सीहाद वेदनका भर्मा ही हो सकता है इसलिये भेष्यमें सम्भव न होनेसे 'सुहृद्' शब्द अपने अर्थको छेड़कर कष्टप्रस्थितासे 'आनन्ददायक' अर्थका बोध कराता है । इस प्रकार ये दोनों पद अत्यन्तविरस्कृतवाच्यके उदाहरण भी हो सकते हैं । परन्तु प्रत्यकारने विरस्कृतवाच्यका बन्ध ही उदाहरण देना उचित समझा इसलिये वे आगे इसका उदाहरण देंगे । अभी अगस्त्य एक और उदाहरण अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यका ही स्वरचित 'विपमबाणस्त्रीला' नामक काव्यसे देते हैं ।

धीर जैसे मेरे ही 'विपमबाणस्त्रीला [नामक काव्य] में—

[गुण] गुण तमी होते हैं जय सहृदय उनको प्रहस्य करते हैं; स्युषी फिरजोंसे अनुगृहीत कमल ही कमल होते हैं ।

यहाँ द्वितीय कमल शब्द [अर्थात्तरसङ्क्रमितवाच्य है] ।

यहाँ द्वितीय कमल शब्द कल्याण द्वाप उरमीमाजनतादिभर्मविशिष्ट कमलका बोध होनेसे अर्थान्तरसङ्क्रमित है और वास्तवका अतिशय स्पष्ट है । इसी प्रकार पूर्वाहमें गुण शब्दकी भी आशुचि मानकर गुण तमी गुण होते हैं जब सहृदय उनको प्रहस्य करते हैं । ऐसा अर्थ करना चाहिये । उक्त बध्निमें द्वितीय गुण शब्द उक्तस्वादिभर्मविशिष्ट गुणका बोध होनेसे अर्थान्तर सङ्क्रमितवाच्य होगा और उक्त उक्तका अतिशय स्पष्ट होगा । ये दोनों श्लोक अर्थान्तर सङ्क्रमितवाच्यत्वनिष्ठ उदाहरण हुए । आगे अत्यन्तविरस्कृतवाच्यके उदाहरण देते हैं ।

२ अत्यन्तविरस्कृतवाच्यके दो उदाहरण

अत्यन्तविरस्कृतवाच्य [का उदाहरण] जैसे आदिकवि वास्मीकेका [पञ्चवटीमें हेमन्तवर्षांतके प्रसङ्गमें रामचन्द्रजीका कदा हुआ यद ददाक]—

रविसाङ्गान्तसौभाग्यस्तुपारावृतमण्डलः ।

निश्वासाच्च इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ॥ इति

अत्रा पशब्दः ।

गवर्णं च मत्तमेर्हं पारलुब्धिभङ्गुष्णार्हं च वणार्हं ।

पिरूर्कारमिर्लका हरति नीलामो वि पिसाधो ॥

[गगनं च मत्तमेर्हं पारलुब्धिताञ्जनानि च वनानि ।

निरहृक्कारसृगाङ्घ्र हरन्ति नील्य अपि निशा ॥ इति चन्द्रया]

अत्र मत्तनिरहृकारसृग्यौ ॥१॥

[हिमन्तमें सूर्यके चन्द्रमाके समान अनुपुष्ण और माह्लाववायक हो जानेसे] जिस [चन्द्रमा] की शोभा सूर्यमें सकल्पित हो गयी है [अथवा सूर्यसे प्रकाशको ग्रहण करने बाध्य] तुपारसे भाष्पप्रदित मण्डलवाला चन्द्रमा निश्वासासे मखिन दर्पणके समान प्रकाशित नहीं हो रहा है ।

यहाँ अन्ध शब्द [अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य है] ।

'अन्ध' शब्द नेत्रहीनका वाचक है । चन्द्रमामें नेत्रहीनस्वरूप अन्धत्व अनुपपन्न होनेसे अन्ध शब्द अपने नेत्रविहीनत्व अथको सर्वथा छोड़कर अप्रकाशरूप अर्थको बहस्तत्त्वात् अर्थगच्छतासे बोधित करता है और अप्रकाशातिथय स्वप्न होता है । अन्ध शब्द अपने अर्थको सक्षय छोड़कर अप्रकाशरूप अर्थका बोधन करता है इत्यर्थ अन्ध शब्दका मुख्यार्थ यहाँ अत्यन्ततिरस्कृत हो जाता है । इसीसे इसको 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वनि'का उदाहरण माना है ।

महानाचकने इस स्तोत्रकी म्याध्याममें 'इव' शब्दका वयाभूत अन्वय मानकर 'इव शब्द योगाद् शौकताच्च न काञ्चित्' कितकर अन्वय पदमें अस्मा माननेकी आवश्यकता नहीं समझी है । परन्तु उनकी यह म्यायता सङ्गत नहीं है । 'इव' शब्द चन्द्रमा और आदर्शके उपमानात्प्रेमभावका बोधक है । निश्वासाच्च पद आदर्शका विशेषण है । 'निश्वासान्ध आदर्श इव चन्द्रमा न प्रकाशते' इस प्रकार अन्वय होनेसे 'न्ध' शब्द मिश्रण्य है । इत्यर्थ अन्ध पदको स्वार्थमें बाधित होनेसे बहस्तत्त्वात् अर्थगच्छता द्वारा अप्रकाशरूप अर्थका बोधक मानना ही होया और उस दृष्टामें अप्रकाशातिथयको स्वप्नना द्वारा बाधित कर वह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वनिका उदाहरण होगा ।

[न केवल तापमौसे मय निर्मल आकाश ही अपितु] मन्माते उमड़ते मेघोंसे भाष्पप्रदित आकाश [मी न केवल मन्द-मन्द मलय मादतसे भाष्पोद्धित भाष्पवन ही अपितु वर्षाकी] धाराओंसे भाष्पोद्धित अर्जुनवन [और न केवल उज्ज्वल चन्द्रकिरणोंसे घबलित शौंक्ष्मी रातें ही मनको सुमानेवाली होती हैं अपितु सौम्यमें रहित] गर्वहीन चन्द्रमावाली [यथाकालकी अन्धकारमयी] काली रातें भी मनको दृग्ज करनेवाली होती हैं ।

यहाँ मत्त और निरहृकार शब्द [अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य हैं] ।

मयके उपयोगसे पैदा हुए क्षीणता 'मत्त' शब्दका, और शौंक्ष्मीके कारण उत्पन्न दृग्ज, आहृकार शब्दका मुख्यार्थ है । ये दोनों धर्म वेदनमें ही रह सकते हैं । यहाँ मत्तताका प्रेयङ्ग स्वप्न और निरहृकारताका चन्द्रमाके ताप को समन्वयवपन किता है वह अनुपपन्न है । अत मुख्यार्थ

असलक्ष्यक्रमोद्योत क्रमेण द्योतित परः ।

विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥१॥

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा । स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिच्छब्दस्यक्रमतया प्रकाशते, कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मतः ॥२॥

वाचके कारण यह 'मत्' शब्द शाब्दिकवच्य इतिवाक्य आदि तथा निरङ्कार शब्द विष्णवात्वादि धर्मोको व्यक्त करता है । अतएव यहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वनि है । २।

सु-विवक्षितान्तरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके दो भेद

ऊपर ध्वनिके दो भेद किये थे । अविवक्षितवाच्य वा लक्ष्यामूल ध्वनि और दूसरा विवक्षितान्तरवाच्य वा अभिधामूल ध्वनि । इनमें पहिले अथवा अविवक्षितान्तरवाच्य [लक्ष्यामूल] ध्वनिके अर्थान्तरलक्ष्यमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य यह दो अर्थान्तर भेद और किये । इसी प्रकार अब विवक्षितान्तरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके अर्थान्तर भेद दिखानेमेंगे । इसके मी पहिले दो भेद होते हैं—एक अत्यन्तक्रममन्त्ररूप और दूसरा संक्ष्यक्रममन्त्ररूप । रस, भाव, उदात्त, माधुर्यादि माधुर्य, माधुर्यनिष्ठ, माधुर्यमन्त्ररूप आस्वादिप्रधान ध्वनिको 'अत्यन्तक्रममन्त्ररूप' ध्वनि कहते हैं । इसके अर्थान्तर मेंसेका अनन्त विस्तार हो अथवा 'रस' कारण उसका विस्तार नहीं किया गया है अर्थात् अत्यन्तक्रममन्त्ररूपको एक ही भेद माना है । दूसरे संक्ष्यक्रममन्त्ररूपके अनेक भेद किये गये हैं । आगे विवक्षितान्तरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके अत्यन्तक्रम और संक्ष्यक्रममन्त्ररूप दो भेद करके पहिले अत्यन्तक्रममन्त्ररूपके विषयमें कुछ विशेष बातें लिखते हैं ।

विवक्षितवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिका आत्मा [स्वरूप] अत्यन्तविस्तृत क्रमसे और दूसरा संक्ष्यक्रमसे प्रकाशित [होनेसे] दो प्रकारका माना गया है । २।

प्रधान रूपसे प्रकाशित होनेवाला व्यङ्ग्य अर्थ, ध्वनिका आत्मा [स्वरूप] है । और यह कोई वाच्यार्थकी अपेक्षासे अत्यन्तविस्तृत क्रमसे प्रकाशित होता है और कोई [संक्ष्य] क्रमसे उस प्रकार दो तरहका माना गया है ।

कारिकामें विवक्षिताभिधेय और ध्वनि दोनोंका सामानाधिकरणरूपसे प्रयोग किया गया है । ये अभिधेय अभिधाघटिका, और ध्वनि व्यङ्गनाघटिका विषय होनेसे दोनों अद्य-अद्य हैं । परन्तु यहाँ दोनोंका सामिप्य और सामानाधिकरण्य, अभिधेयकी अन्वयपरताको व्यक्त करता है । अतएव विवक्षिताभिधेयका अर्थ विवक्षितान्तरवाच्य करनेसे ध्वनिच शब्द उसका सामानाधिकरण्य उपपन्न हो जाता है । पहिली कारिकामें अविवक्षितान्तरवाच्य [लक्ष्यामूल] ध्वनिके जो अर्थान्तर लक्ष्यमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दो भेद दिखानेमें हैं वे वाच्यार्थकी प्रतीतिके स्वरूपमेंसे दिखानेमें हैं और इस कारिकामें विवक्षितान्तरवाच्यध्वनिके जो अत्यन्तक्रममन्त्ररूप और संक्ष्यक्रममन्त्ररूप दो भेद दिखानेमें हैं वे व्यङ्गनाम्पाधारके स्वरूपमेंसे दिखानेमें हैं । २।

असलक्ष्यक्रममन्त्ररूपध्वनि

प्रधान रूपसे प्रकाशित होनेवाला व्यङ्ग्य ही ध्वनिका स्वरूप है । अथवा यहाँ व्यङ्ग्य अर्थका प्राधान्य होता है यही ध्वनि काव्य माना जाता है । इसका अर्थ यह हुआ कि यहाँ अत्यन्त प्रधान

उत्त,

रसभाषतदाभासतत्प्रशान्तपादिरमाम ।

ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थित ॥३॥

रसादिरर्षो हि सहेव वाच्येनावभासते । स चाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा ॥३॥

नहीं होता उसको ध्वनिकाम्य नहीं माना जाता । इसलिए उस आदि म्यङ्गय भी अपभान होनेकी दशामें ध्वनि नहीं कह्यते हैं, केवल प्रधान शानकी दशाम ही ध्वनि कह्यते हैं और वहाँ से किसी दूसरे अङ्गीके अङ्ग यन जाते हैं वहाँ रसवदादि अलङ्कार कह्यते हैं । अगली दो कारिकाओंमें रसादिकी प्रधानता और अपभानतामूलक ध्वनिके अर रसवदलङ्कारत्वका प्रतिपादन करते हैं ।

उत्तमेंसे—

रस माय शवामास [अर्थात् रसामास अर भाषामास] और मायशान्ति आदि [आदि शब्दसे मायोदय मायसमिध और भावशबलताका भी ग्रहण होता है] अक्रम [असंलक्ष्यक्रमम्यङ्गय] अङ्गीभाषसे [अर्थात् प्राभाच्येन] प्रतीत होता हुआ ध्वनिके आत्मा [स्वरूप] रूपमें स्थित होता है ॥३॥

रसादिकरूप अर्थ वाच्यके सापहीन्ता प्रतीत होता है । और यह प्रथम रूपसे प्रतीत होनेपर ध्वनिका आत्मा [स्वरूप] जाता है ।

निगमसागरीय संस्करणमें 'सहैव'के स्थानपर 'सहेव' पाठ है । 'वाच्येन सहैव अवभासत वाच्यं सद्य ही प्रकाशित होता है यह वाच्यार्थ उच पाठके अनुसार होता है । इस पाठ और उसके अर्थमें कई दोष आ जाते हैं । एवकारक बन्ध रसादिकी प्रतीति वाच्यप्रतीतिके साथ ही होती है यह अर्थ माना जाय तो वाच्य और रसादिकी प्रतीतिमें कोइ क्रम न होनेसे रसादिको अक्रमम्यङ्गय कहना चाहिय परन्तु सिद्धास्तय यह है कि रसादिकी प्रतीतिम क्रम होता तो अवश्य है परन्तु धीमत्ताके कारण [उत्सृज्यतपत्रप्यतिमेवत् कापवात् न संलक्ष्यते] प्रतीत नहीं होता । इसलिए रसादिको असंलक्ष्यम्यङ्गय कहा जाता है अक्रमम्यङ्गय नहीं । दूसरी बात 'मुगपमानानुव्यधिर्मनसो किङ्गम् [न्यायपूजन १ १ १६ सूत्र] के अनुसार वाच्य और म्यङ्गय दोनोंकी एक साथ प्रतीति हो भी नहीं सकती । तीसरी बात यह है कि लक्षणकारने यहाँ 'एव' पाठ न मानकर 'एव' पाठ ही माना है और सिद्धा है कि "सहेवेति इव ध्वनेनावध्वरपता विद्यमानत्वेऽपि क्रमस्व भास्यता ।' अर्थात् वाच्य और रस आदि म्यङ्गयकी प्रतीतिमें क्रम होते हुए भी धीमत्ताके कारण प्रतीत नहीं होता यह असंलक्ष्यता ही इव ध्वनेवे उचित होती है । इसलिए निगमसागरीय पाठ अचलत है ।

कारिकामें उनके साथ माय आदिका भी उल्लेख किया है । 'रसते आत्मास्य इति रस' इन श्लोकादिमें अनुसार रस म्यङ्ग, म्यमाय, भाषामाय, भाषयान्ताङ्गी सभी रसभेदोंमें आव हैं । परन्तु फिर भी उन सबमें कुछ भेद है ।

"रसिर्देवादिविषया व्यभिचारी लघाङ्गितः ।

गान प्रोक्तः, तवाभासात्मनोन्विषप्रतिष्ठाः ॥ का० प्र ४ ३०

अर्थात् देवता, गुरु आदिविषयक रति-प्रेम तथा अभिमुख्यक स्वमिचारी भावको भाव करते हैं और रस तथा भावके अगुचित वर्णनको रसामास एवं भावामास करते हैं ।

रसप्रक्रिया

“निश्चयानुभावस्वमिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः” यह भूतमुक्तिका सूत्र है । इसका आशय यह है कि निश्चय अनुभाव और सञ्चारिभावक संयोगसं परिपुष्ट रसादि स्थायिभाव आत्मादावस्थापन होकर रस कहलाते हैं । यह भूतका मूल सूत्र सीधा-सा जान पड़ता है परन्तु यह बड़ा विषादप्रसूत रहा है । अनेक आचार्योंने अनेक प्रकारसे उसकी व्याख्या की है । ‘काव्यप्रकाश’में मम्मटाचार्यने उनमें १ मत्प्रोक्त, २ भी शब्दक, ३ महनायक, ४ अभिनवगुणादवाचार्यके चार मत्तोंका उल्लेख किया है । ‘अचन’में भी ‘रस सम्बन्ध’में अनेक मत्तोंका उल्लेख मिलता है । उन सब मत्तोंका समझनेके लिये पहिले रसप्रक्रियाके पारिभाषिक शब्द विभाव, अनुभाव सञ्चारिभाव, स्थायि भाव आदिको समझ लेना चाहिये ।

स्थायिभाव

मनुष्य या कुछ जन्तु, सुनता या अन्य किसी प्रकार अनुभव करता है उस सबका उत्कार उसके मनपर रहता है । वह अनुभव जो शणिक होनेसे नष्ट हो जाता है परन्तु वह अपने पीछे एक स्थायी बस्तु ‘संस्कार’ छोड़ जाता है जिसे ‘बासना’ भी कहते हैं । ये संस्कार अपने योग्य उद्बोधक सामग्री पाकर उद्बुद्ध हो जाते हैं । उस उद्बोधक सामग्री न केवल इस समय या इस जन्मके अस्तित्व पूर्वकालीन अनेक जन्म-जन्मान्तरसे व्यवहित अपना इस जन्ममें भी अनेक देशदेशान्तरस्ववर्धित संस्कारोंका उद्बोधक हो सकता है । बागदर्शनने इन बासनाओं अथवा संस्कारोंके अनाश्रित और अस्वन्त सुदूरवर्ती संस्कारोंकी भी अभिमुख्यका ध्यान करत हुए लिखा है—

“दासामनादित्वाद्याधिया नित्यत्वात् ।” बागसूत्र ४ ९

“आतिदेशकाम्पवदितानामप्यानन्तर्ये स्फुटितंस्कारबोरेकसम्बन्धात् । यो ४, १

जिसे हम इन संस्कारोंकी गणना करना चाहें तो वह असंभव है । एक पुरुषके मनक एक जन्मक संस्कारोंका परिगणन भी सम्भव नहीं है फिर उसके अपरिगणित पृथक्-जन्मोंके, और संसारके अपरिमित प्राणियोंके संस्कारोंकी गणना तो सबका असंभव ही है । फिर भी प्राचीन आचार्योंने उन संस्कारोंका वर्गीकरण करनेका प्रयत्न किया है । साहित्यशास्त्रकी रसप्रक्रियामें स्थायिभाव शब्दसे कहीं चार, कहीं आठ, कहीं नौ और कहीं दस स्थायिभावोंका ध्यान किया गया है । वह उन अनादि कालीन संस्कारों या बासनाओंका वर्गीकृत रूप ही है । मनमें स्थायी रूपसे रहनेवाली बासना या संस्कारका नाम ही स्थायिभाव है । इन संस्कारोंमें सबसे प्रबल और बहुसंख्यक बासनाएँ १ राग, २ द्वेष, ३ उत्साह और ४ क्रुण्णवसे सम्बन्ध रखनेवाली होती हैं क्योंकि वे प्राणीकी सबसे अधिक स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं और न केवल मानवयोनिमें अस्तित्व पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि सभी योनियोंमें पायी जाती हैं । साहित्यिक आचार्योंने इन स्थायिभावोंका परिगणन इस प्रकार किया है—

“रतिहासश्च शोकश्च श्रेयोभोलाही भवं तथा ।

क्रुण्णान्निस्मयश्चेति स्थायिभावः प्रकीर्तितः ॥” का प्र ४ ३

रति, हास श्रेय, उल्लास भय क्रुण्णा और निस्मय ये आठ और कहीं निर्वेद या वैराग्यको भी मिलाकर नौ स्थायिभाव माने गए हैं ।

आत्मन्यन और उद्दीपनविभाव

इन स्वाध्यायियोंको उद्बुद्ध करनेवाली सामग्री मुख्यतः दो प्रकारकी है—एक आत्मन्यन और दूसरी उद्दीपन । नामक और नाविकादिके आत्मन्यनसे स्वाध्याय उद्बुद्ध होते हैं इसलिये उनको आत्मन्यनारम्भ सामग्री या आत्मन्यनविभाव कहते हैं । बाह्य परिस्थिति—उपान, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि उसके उद्दीपक होनेसे उद्दीपनस्वाम्यमें भाव हैं और उद्दीपनविभाव कहलाते हैं । आखण्डारिचने स्वाध्यायियोंकी इस द्विभिन उद्दीपक सामग्रीको 'विभाव' नामसे निर्दिष्ट किया है—

“उपाधुद्दीपका श्लेके विभावः काम्यनात्मनो ।

आत्मनोद्दीपनात्मौ तस्य मेधावुद्यौ स्मृतौ ॥

आत्मनो नामकादिल्लमात्मन्य रसोद्भवात् ।’ छा ४ ३, २९

“उद्दीपनविभावात्से रसमुद्दीपयन्ति ये ।

आत्मन्यनस्य वेद्यथा देयकात्प्रदवस्तथा ॥ छा ४ ३, १३१

अनुभाव

मनके मीतर स्वाध्यायसे विषम्यन रखादि वासनाओं या स्वाध्यायियोंका इस आत्मन्यन तथा उद्दीपनस्वाम्यौ अर्थात् विभावोंसे उद्दीपनम्यत्र होता है उत्पत्ति नहीं । मनुकोस्यने “विभा वैल्लकोपानादिमिगुल्लनोद्दीपनकारणै रखादिको माभो जनिव” लिखा है वहाँ ‘जनिव’का अर्थ ‘उद्बुद्धः ही करना चाहिये, क्योंकि यदि रखादिकी उत्पत्ति मानें तो फिर वह स्वाध्याय ही करी रहा । इस प्रकार जब इस सामग्रीसे रखादि वासना उद्बुद्ध हो जाती है तो उन वासनाओंका प्रभाव बाहर दिखलाई देने लगता है । मनोगत उद्बुद्ध वासनाके अनुसार ही मनुष्यकी वेद्य आकारमही आदिमें भेद हो जाता है । इसीको आखण्डारिक अंग ‘अनुभाव’ कहते हैं । विभाव से रखादिके उद्दीपनके कारण हैं और ‘अनुभाव’ उनके फल हैं । इसीलिये इनको ‘अनु परचात् मन्वीति अनु भावा’ ‘अनुभाव’ कहते हैं । ये अनुभाव हर एक वासना या स्वाध्यायके अनुसार अलग अलग होते हैं ।

“उद्बुद्धं कारणैः स्वैर्बहिर्मात्रं प्रकाशयन् ।

श्लेके वा कार्यस्यः शोऽनुभावा काम्यनात्मनो ॥’ छा ४ ३, १३२

इन अनुभावोंमें—

“साम्ना स्वैरोऽप्येमाहः स्वरमहोऽप्येवपुः ।

वेनर्भममुप्रस्य इत्यथै शान्तिकाः स्मृताः ॥” छा ४ ३, १३६

इन भाव सात्विक भावोंको प्रधान होनेके कारण ‘गोवर्धनस्य’स अन्ना मी गिता रित्ना ज्ञता है ।

व्यभिचारिभाव

स्वाध्यायसे उद्बुद्ध व्यभिचारिभाव है उसको सञ्चारिभाव भी कहते हैं । स्वाध्यायकी स्वाध्याय ही उसकी विशेषता है, इसी प्रकार व्यभिचारिभावका अन्वयस्वित उसकी विशेषता है । स्वाध्याय भावकी उपमा ‘व्यभिचारि’ ही गयी है । साम्ना शान्तमें जो कुछ शक्त दो भाँड़े समयमें नमक बन जाता है । इसी प्रकार जो विरक्त वा भविरक्त भावोंमें निश्चिन्त नहीं होता है वही स्वाध्याय है ।

विस्मैरुविस्मैर्या भावैर्बिभ्रिष्यते न वा ।

आत्ममार्गं नमन्वाद्य तः स्वामी व्यभिचारः ॥’ ह्यस्य ४, १४

“अविच्छाद विच्छादा वा न विरोधात्प्रथमाः ।

आस्तादाङ्गुरकन्दोऽथौ भावः स्वपीठि सम्प्रदाः ॥” छा ८ ३, १७४

इसके विपरीत सञ्चारिभाव या भूमिचारिभाव समुद्रकी धरतियोंके समान अस्थिर हैं। वे स्थायि भावके परिपोषमें सहकारी होते हैं। उनकी संख्या २३ मानी गयी है—

“विद्येयानामिमुस्मेन परस्यो भूमिचारिणः ।

स्वायिमुन्मन्निर्मन्नाः कस्कोत्त इव चारिणे ॥” दृष्टरूपक ४, ७

‘निर्बेदरत्ननिष्ठाभमपृतिबाहताहृषिद्विस्मोम्यकिन्ता

आधेर्व्यासपत्न्या स्मृतिमरणमदाः सुमतित्राविनोधा’ ।

श्रीशपस्मारमोहाः समतिरत्नता वेगतरङ्गान्दित्या

ध्याभ्युन्मादौ विपादोस्तुक्कचपम्मुताङ्गिघदते त्रयम् ॥”

रसास्वाद और रससंख्या

यही विम्वच अनुभाव और सञ्चारिभाव रसकी सामग्री हैं। आकम्बल और उद्दीपनविभाग स्थायिभावको उद्बुद्ध करते हैं। अनुभाव उसको प्रतीतिनेम्य बनाते हैं और भूमिचारिभाव उसको परिपुष्ट करते हैं। इस प्रकार इन सबके संयोगसे स्थायिभाव रसनयोग्य, आम्बाद्योम्य हो जाता है। उसका आम्बाद्य होना अन्याय है। इसी आम्बादन या रसनको ‘रस’ कहते हैं। उस आम्बादन जबस्वा का नाम ही रस है। उससे अतिरिक्त रस कुछ और नहीं है। इसलिये जहाँ कहीं ‘रस आम्बाद्यो’ आदि व्यवहार होता है वहाँ ‘राहोः शिपः’के समान निरुक्तप्रतीतिका विषय अथवा ‘ओदनं पचति इतिवद्’ औपचारिक प्रयोगमात्र समझना चाहिये।

“शृङ्गारहास्यकम्परोद्गीरममानकाः ।

वीमस्तादनुत्सर्गौ चेत्यौ नात्थे रसाः स्मृताः ॥ का प्र २९

“निर्बेदस्वयिमाषो हि घान्तोऽपि नभमो रसः ।” का प्र ३५

काममें शृङ्गारवि आठ और नभम घान्तरस इत प्रकार नौ रस माने गये हैं परन्तु नाटकमें घान्तरसका परिष्कार सम्भव न होनेसे उसको छोड़कर आठ ही रस माने गये हैं। घान्तरसके सम्बन्धमें विवेचना करते हुए उद्योगकर्म लिखा है—

“शामसि चन्ति प्राहुः पुष्पिर्नाम्नेषु नैतस्य । दृष्ट ४, ३५

‘निर्बेदाविच्छादाभ्यास्वासी एवते कथम् ।

वेरस्यानेन तलोपक्षेनाथौ स्थायिनो मताः ॥” दृष्ट ४ ३६

“इह शास्त्रसं प्रति भादिनामनेकविधाः विप्रतिपद्यः । चेन्निराहुः नारुन्नेव घान्तो रसः तस्वाचार्येण विम्ववाद्यप्रतिपादनास्त्वल्पाकरणात् । अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं कथयन्ति । अनादि कासप्रवाहावातपगद्देप्लोरुच्छुभुमयक्यत्वात् । अन्ये तु बीरबीमस्तादाकम्पतर्गर्भं कथयन्ति । तथा यद्य अस्तु । सवथा नाटकवाद्यमिनामग्नि स्थायित्वमस्यभिः शमस्व निरिप्यते । तस्य तयस्यम्पापार प्रविकल्पकम्प्यामिनवाद्यगात् । यत्तु कैश्चिद्योगानन्त्यादौ शमस्व स्थयित्वमुपवर्धितं तत्तु म्कल्पवत्पनुपगीय आमवत्प्रवृत्तेन, विद्याचरन्तर्गतत्वमापया विच्छदम् । नभेकानुकावविमावाकम्पनी विरवानुपगया पयग्युपपद्यौ । अथे दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्वयित्वम् ।

“विच्छादविच्छादविच्छेदित्स्व निर्बेदादीनामगाद्यत्वात्किन्तम् । अतएव ते चिन्तादक स्वत्वम् निष्ठापस्तृप्ति अपि परिपोष नीयमाना वेरस्वभाववन्ति ।”

इसका माब यह है कि हमको स्थायिभाव माननेके विषयमें यह प्रकारकी विप्रतिपत्तियाँ पायी जाती हैं । १ मध्यमे नाटकशास्त्रमें घान्तरसक विग्रहादिका प्रतिपादन भी नहीं किया है और न हमका समझ ही किया है इसलिये कुछ श्लेष हमको स्थायिभाव नहीं मानते । २ दूसरे श्लेषोंका कहना यह है कि राग-द्वेष आदि दोषोंका सर्वथा नाश हो जानेपर ही हमको स्थिति उत्पन्न हो सकती है परन्तु अनादिकाव्यवहारसे आनेवाले राग-द्वेषका सबका अभाव सम्भव नहीं है इसलिये हम हो ही नहीं सकता है । ३ अन्य श्लेष बीर, बीमल आदि श्लेषोंमें उसका अस्तभाव करते हैं । इनमेंसे पादे जो टीका हो, इत्यर्थ [‘दशरूपक’ और उसका टीकाकारका] कहना यह है कि समस्त व्यापार विकाररूप हमका अभिन्नत्व सम्भव नहीं है इसलिये अभिन्नप्रात्मक नाट्यमें हमका स्थायिभावत्व हम नहीं मान सकते । किन्तु श्लेषोंने ‘नागानन्द’ नाटकमें घान्तरस माना है उनका यह कथन ‘नागानन्द’में व्याप्तिये अन्ततक पाने जानेवाले मन्वसवतीके प्रति अनुराग और विद्याभरतवर्तित्वकी प्रातिके विरुद्ध होनेसे बर्षा घान्तरस नहीं अस्तित्व दत्तावीरका उत्साह ही बर्षा स्थायिभाव आर बीररस है ।

स्थायिभावका समझ ‘निरुद्धाधिक्यानिच्छेदित्व’ ऊपर कहा गया है वह भी हममें नहीं पड़ता । अतएव हम स्थायिभाव नहीं हैं । नाटकमें उसका परिपोष वैरत्नतापादक ही होगा इसलिये दशरूपककार पञ्चरूपके मठमें कथते कम नाटकमें हम स्थायिभाव नहीं हैं ।

रसानुभवकालीन चतुर्विध विचक्षुषि

विग्रह, अनुग्रह, सञ्चारिभावके योगसे स्थायिभावका परिपोष होकर जो आम्बुदन होता है उसीका रस करते हैं । यह आम्बुदन वा रस बस्तुतः चित्तकी एक अवस्थाविशेष है । ऊपर हमने किया था कि हमारे अन्तःकरणमें अनादिकावत सक्षिप्त आ वासनाएँ हैं, जिन्हें उत्कार भी करते हैं, उन्हींको साहित्यशास्त्र वा अलङ्कारशास्त्रक व्याख्यायोंने वर्गीकरण करके स्थायिभाव नाम दिया है । यह वर्गीकरण यस्तु रसानुभूतिकार्यमें चित्तकी जो अवस्था होती है उसीका आभारपर किया गया है और वह उनकी सूक्ष्म मनावैज्ञानिक विवेचनासहितका परिचायक है । ऊपर जो आठ स्थायिभाव विग्रहनामे हैं उनको भी संक्षिप्त करके चार प्रकारकी मनोदशाओंका विवेचन दशरूपकारने किया है । रसान्वादेके समय चित्तकी जो-जो निम्न-निम्न अवस्थाएँ होती हैं उन्हें विज्ञाद्य, विस्तार, विज्ञान और विषेय इन चार रूपोंमें विभक्त किया गया है । प्रेमके समय वा शृङ्गाररसक अनुभव कालमें जो चित्तकी अवस्था हाठी है उसका नाम ‘विज्ञाद्य’ रखा गया है । इसी प्रकार बीररसके अनुभवकालीन चित्तवृत्तिको ‘विस्तार’, बीमलानुभूतिकालीन स्थितिको ‘विज्ञान’ और रीहानुभूतिकालिक मनःस्थितिको ‘विषेय’ नाम दिया गया है ।

रसचतुष्टयवाद

इस प्रकार चित्तकी चार प्रकारकी ही दशा होनेसे शृङ्गार, बीर, बीमल और रीह इन चार रसोंको ही इन श्लेषोंने मौलिक रस माना है और दोष चार कथन हास्य, अद्भुत और मयानकका उनका आश्रित क्योंकि इन चारोंमें ही बही चार प्रकारकी मनोदशा होती है । इसलिये हास्यमें शृङ्गारके समान चित्तका ‘विज्ञाद्य’, अद्भुतमें बीररसके समान चित्तका ‘विस्तार’, मयानकत्वमें बीमलक समान ‘विज्ञान’ और कथनरसमें रीहरसके समान चित्तमें ‘विषेय’का प्राधान्य होता है । इस प्रकार रसानुभूतिकार्यमें चित्तकी चार प्रकारकी मनोदशा सम्भव होनेके कारण चार ही मौलिक रस हैं और दोष चारको उनका हाथ उलटि हाठी है ।

‘शृङ्गारदि मवेद्यस्यो रीत्यान्व करुणो रसः ।
 वीरान्वेवाद्भुतोत्पत्ति वीरसाध्व मयानक ॥”
 इसीलिए भरतक ‘नाट्यशास्त्र’में हास्यका उल्लेख करते हुए लिखा है—
 “शृङ्गारानुवृत्तिया तु सा हास्य इति कीर्तिता ।”
 इस सारे विषयका प्रतिपादन ‘दशरूपक’में इस प्रकार किया गया है—
 “स्वादः काव्यावसम्भेदावात्मानन्दसमुद्भवः ।
 विकाराविकस्तरक्षोभक्षेत्री स पञ्चविधः ॥
 शृङ्गारवीरवीरमस्त्रौद्रेण मनसः क्रमात् ।
 हास्याद्भुतभ्योत्कर्षैकस्मानां त एव हि ॥” ४, ४३ ४४
 “अस्तस्यन्वया तेषाम्भेदावभावाकारणम् ।”

काव्य और नाटकसे रसोत्पत्तिविषयक विविध मत

नाटक और काव्यमें रसोत्पत्तिके विषयमें भी कुछ थोड़ा भेद-सा प्रतीत होता है। नाटक देखते समय रसोत्पत्ति कहाँ होती है और कैसे होती है इस विषयमें मद्भ्योस्वट, भी शङ्कुफ, मङ्गनायक और अभिन्नशृंगारके मत अलग-अलग हैं।

१ मद्भ्योस्वटका ‘उत्पत्तिवाद’

इनमेंसे मद्भ्योस्वट रसकी उत्पत्ति मुख्य रूपसे अनुकार्य अर्थात् सीतारामादिनिष्ठ मानते हैं और उनका अनुकरण करनेके कारण नटमें भी रसकी प्रतीति होती है ऐसा उनका मत है। उनके अनुसार इच्छना और उषानादि आकम्पन तथा उद्दीप्तविभावोंसे रामादिमें रसादिभी उत्पत्ति अर्थात् उद्भाव होता है। उक्त कार्त्तव्य कटाक्षादि अनुभावोंसे रामगत रसादि स्थाविभाव प्रतीति योग्य बन जाता है और निवेदादि व्यभिचारिभावोंकी सहायतासे परिपुष्ट होकर मुख्यतः रामादिमें और उनके अनुकरण करनेके कारण गीतरूपसे नटमें रसकी प्रतीति होती है। वह मद्भ्योस्वट शास्त्रिका प्रथम मत है।

मद्भ्योस्वटकी आलोचना

श्लोस्वटके मतमें मुख्यतः अनुकार्य रामादिगत, और गीतरूपसे नटगत रसकी उत्पत्ति माननेसे सामाजिकमें रसोत्पत्तिका जोर अक्सर नहीं रहता। इसलिये सामाजिकको उस रसका आस्वाद होना सम्भव प्रतीत नहीं होता। वह एक बड़ी त्रुटि रह जाती है। इसलिये शङ्कुफन इस मतका लक्षण कर अपने ‘रसानुमितिवाद’की स्थापना की है।

२ भी शङ्कुफका ‘अनुमितिवाद’

इस मत अर्थात् शङ्कुफके ‘रसानुमितिवाद’में यह अनुकार्य रामादिनिष्ठ नहीं अर्थात् अनुकर्या अर्थात् नटगत उत्पन्न होता है। नटको राम समझ कर, उक्त द्वारा विद्याभ्यासवाद्दर्शसे प्रदर्शित कृत्रिम विभाव अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदिक द्वारा नटमें रसका अनुमान होता है। इन दशमें नटमें या रामादि होती है उसे हम न सम्पन्न कर सकते हैं भार न मिष्ठाद्यन न संशय कर सकते हैं और न सादरयमात्रप्रतीति। वह इन सब प्रतीतियोंसे विकल्पन ‘निश्चयुरगत्याय’में अनिर्दिष्टनीय प्रतीति है। जैसे मिश्रादिष्ट योन्को देखकर जो सुराकी प्रतीति होती है वह पयार्थ प्रतीति नहीं है क्योंकि

वास्तविक तुरग नहीं है। "तद्वति लक्ष्यकारकं ज्ञानं प्रमा" यह मयायज्ञान या प्रमाका लक्षण है यह नहीं पटता इसलिए विज्ञानुरगशुद्धि या नाट्यशास्त्रगत रामरूपभारी नटमें रामशुद्धि यथाय नहीं है। न वह मिथ्या ही है आर न साहस्य या उद्ययरूप। इन सबसे बिलक्षण अनिर्बन्धीय राम प्रतीतिसे नटको रामरूपमें प्रवेश करके उस नटक द्वारा प्रकाशित अनुमावादि भी जो वास्तव्यम इतिम हैं पर उनको इतिम न मानकर उनके आधरपर नटमें रत्नादिका अनुमान होता है। यह अनुमिति प्रतीति भी अन्य अनुमीयमान पदार्थोंसे मित्र प्रकारकी होती है क्योंकि साधारणतः अनुमिति परोक्ष ज्ञान है और रखकी अनुमिति प्रत्यक्षात्मक होती है। इसलिए रत्नादिप्रतीतिके अनुमितिरूप होते हुए भी अन्य अनुमितिसे बिलक्षण होनेसे नटगत रत्नादिका सामाजिकको अनुभव होता है। यह शङ्कका मत है।

शङ्कके 'अनुमितिवाद'की आलोचना

परन्तु यह शङ्क महोदय बन्दुत शिवाङ्ककी मति अवरम डटके हुए है। उनका सब कुछ कस्मिन् है। अनुमितिके सिद्ध स्थि नटरूप रामको पक्ष पनाया है उसका रामत्व निश्चित नहीं। उध अनुमानके सिद्ध जिन अनुमावाधिको सिद्ध या हेतु बनाया य मी कस्मिन् इतिम हैं पर उनको अहतिम माना जा रहा है। उस हेतुके द्वारा जिस रत्नादि रत्नादिमात्रकी सिद्ध करनी है वह भी सम्भावितमात्र अयथाय है। उस परोक्ष अनुमितिको जे अपरोक्षरामक या साधारणरामक अनुभूतिस्वरूप माना है वह मी कस्मिन् है। यह सब उनका स्वकल्पित मत है। इन्ही सारी कल्पनाओंमें मरतक "विभावा मुमाव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः" नच सूत्रम आये हुए 'संयोगात्' शब्दका अर्थ उन्होंने 'गम्य रामकमाधरुपात् सम्बन्धात् क्रिया है और उस गम्यरामकमाधरुपे 'गामास्ये चीताधिपककृतिमान् चीताधिपककृतिमावादिस्वन्निष्त्वाद् चीताधिपककृताभादिमत्वाद्वा यो नैव स नैव यथाहम्" यह जो अनुमान किना है उसमें अहंको व्यक्तिकी उगाहरण बनाया है आर उसी अहं परबोध्य सामाजिक को रसका शर्षणाभव माना है। यह सब-कुछ एकदम अस्तव्यत है। इसलिए महनायकने शङ्कके मतका खण्डन कर अपने 'मुक्तिवाद'की स्पष्टता की है।

महनायक द्वारा इन मतोंकी आलोचना

चीसरा मत महनायकका 'मुक्तिवाद' है। महनायकने लिखा है कि रस मति परगत अथात् अनुकार्यगत वा अनुकृता नटगत प्रतीत हा हो दोनों ही दशाओंमें उसका सामाजिक सङ्गठन कोर सम्पन्न नहीं बन सक्ता आर वह सामाजिकके लिए सत्यक समान निष्प्रयोजन होगा। दूसरी आर मति उसकी उत्पत्ति स्वगत अथात् सामाजिकगत मानें तो मी सङ्गत नहीं है क्योंकि उतकी उत्पत्ति चीता आदि विभावोंक द्वारा होती है। ये चीता आदि रामक प्रति तो विभावादि हो सक्त ह सामाजिक के प्रति नहीं। साधारणीकरणव्यापारसे चीता और रामादिका व्यक्तित्व निकलकर उनमें सामान्य कान्तात्व आदि रूप ही रह जाता है इसलिए व सामाजिकके प्रति मी विभवादि हो सक्ते हैं यह कहना भी ठीक नहीं है। अथवा बीजमें स्वकान्ताका रमरव माननेसे भी काम नहीं चलेगा, क्योंकि देवतादिके बजन—जैस 'कुमारसम्मभ आदि—में पार्वती आदिके बजनप्रसङ्गमें भी ग्यास्ताद हाता है और उनका भी होता है जिनकी कान्ता न मी न है। इहताकननस्यत्तमं बन्धमान पावती आदिमें देवताशुद्धि और पूज्यताप्रतीति ही साधारणीकरणमें बाधक है। इसलिये रगन्दी न स्वगत [नामा भिन्नमठ] उत्पत्ति घनती है और न परगत [अनुकार्य रागादिगत अथवा अनुकृत् नरादिगत]। मी

प्रकार स्वगत या परगत न प्रतीति बनेगी और न अभिव्यक्ति। अभिव्यक्तिपक्षमें और भी दोष है। अभिव्यक्ति पूर्वसिद्ध अथवा ही होती है। परन्तु रस तो अनुभूतिका नाम है अनुभवकारके पूव वा पश्चात् उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए भी अभिव्यक्ति नहीं बनती। यदि यह कहें कि रस वाचना या स्वादिमात्रके रूपमें स्थित है उसीके अभिव्यक्ति होती है, धा भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभिव्यक्तिस्मरण वीपकादि अभिव्यक्तक सामग्रीमें उरह्यत्वा निहृष्टताका तारतम्य भी उपलब्ध होता है। वैसा तारतम्य रसाभिव्यक्तक सामग्रीमें नहीं बनता है इसलिए रसकी स्वगत या परगठतया उदात्ति, प्रतीति या अभिव्यक्ति कुछ भी नहीं बनती। इसलिए न "तादरस्येन [अनुकार्यगतत्वेन नरगतत्वेन वा] नारमगतत्वेन [सामाधिकगतत्वेन] वा रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यच्यते [का प्र] "तेन न प्रतीयते, नोत्पद्यते नाभिव्यच्यते काभ्येन रसः" [श्लोचन]।

२ भट्टनायकका 'श्रुक्तिवाद'

यह तो अन्य मतांकी आलोचना हुई, अब भट्टनायकका अपना मत क्या है? उनका अपना मत यह है कि काव्यात्मक शब्दोंमें ध्वन्य शब्दोंसे विलक्षण 'अभिधायकत्व' भावकत्व' और 'भोक्तृत्व' रूप तीन व्यापार रहते हैं। अभिधायकत्वव्यापार अर्थव्यपक भावकत्वव्यापार रसादिव्यपक और भोक्तृत्वव्यापार सहृदयव्यपक होता है। यदि यह तीन व्यापार न मानकर केवल एक [श्रुति] अभिधाव्यापार ही माना जाय तो 'तन्त्र' आदि शास्त्रन्याय आर श्लेषादि अन्वयार्थमें कोई भेद न रहेगा। "तन्त्रं नाम अनकार्थबोधेष्वपि परस्परैकस्य सहजुच्चारणम्। अनेक अर्थोंके बोधनाकी श्रुत्यर्थ एक पदका एक ही बार उच्चारण करना यह शास्त्रमें तन्त्र' नामसे प्रसिद्ध है। जैसे पापिनिके 'हृत्स्वन्' श्रुतिमें 'तन्त्रन्याय'से दो अर्थ होते हैं—'हृत्स्विति श्रुतेः अस्वम् इत् स्यात्' और 'नपदेशे अस्वम् इत् इत् स्यात्'। यहाँ 'तन्त्रन्याय'से दो अर्थ तो प्रतीत हो जाते हैं परन्तु सहृदयसंबन्ध कोई चमत्कार प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार 'भावकत्व' आर 'भोक्तृत्व' व्यापारके अभावमें सबको माधव' आदि श्लेषाकाकारके शब्दोंमें दो अर्थोंकी प्रतीति तो हो जायगी परन्तु सहृदयसंबन्ध कोई चमत्कार अनुभवगोचर नहीं होगा। इसलिए दूसरा भावकत्वव्यापार मानना आवश्यक है। इस भावकत्व व्यापारके बन्धने अभिधाशक्तिमें विलक्षणता हो जाती है। यह भावकत्वव्यापार रसके प्रति होता है और यह विभावादिका साधारणीकरण करता है। उससे साधारणीकरण द्वारा रसात्मक स्थिति हो जानेपर हीसरे भोक्तृत्वव्यापार द्वारा अनुभव आर स्मृतिरूप विविध सौक्यिक ज्ञानसे विपक्षक, विपक्षके विस्तारविकासादिरूप, रससम्बन्धैचिन्मानुविद्यसत्त्वमय निरूपेणस्वरूप आनन्दरूप, परब्रह्मा स्वादसहोदर अनुभूतिरूप, भोग निरूपण होता है, यह भट्टनायकका मत है। श्लोचनकारन उनके मतका इस प्रकार उल्लेख किया है—

"रसो बद्ध परगततया प्रतीयते तर्हि तादन्वयमव स्यात्। न च स्वगतत्वेन समादिपरितमवा क्वाव्यावसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीयते स्वात्मनि रसस्वोत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। ता आनुका। छेतायाः सामाजिकं प्रवृत्तिव्यवस्थात्। काव्यात्वं साधारणं वाचनात्मिकात्तदनुविधाकतावा प्रयोजकमिति चेत्—रेवताकचनावा तद्वि कथम्। न च स्वकान्तास्मरणं मध्य संबन्धत।

"अनाकतामन्याना च यमादीनां च समुद्रतेतुवचनादयो विभावासे कथं साधारणं मग्नेभुः। न बोधार्थानिमात् यमः समयत। अनुभूतत्वात्। शब्दादपि क्व प्रतिपत्तौ न रसायनः। प्रवृत्तादिव नावकमिमुनप्रतिपत्तौ। उदात्तरसो च कल्पन्योत्पादाद् दुष्किल्बे कथंरस्योत्पादु पुनरनुभूतिः स्यात्। तद्व्यवृत्तिरपि। नाप्यभिव्यक्तिः घातिरूपत्व हि उच्चारण्यभिव्यक्तौ विभावात्नवागत्यप्रवृत्तिः स्यात्। तथापि कि स्वगतोऽभिव्यच्यते रसः परगता वति पूर्ववदेव शोचः।

‘तेन न प्रतीकते नोत्पद्यते नाभिव्यस्यते कामेन रसः । किन्त्वन्वयार्थवैरुक्षार्थं काव्यात्मनः शब्दस्य
 श्वंशताप्रसादात् । तत्राभिप्रायकर्त्तृ वाच्यविषय ‘मावकत्वं रसादिविषयं ‘भोगकृत्वं’ सद्बुद्धयविषयमिति
 त्रयोऽप्यमृता म्पापरा’ । तत्राभिप्रायागो यदि शुद्धः स्यात् तन्वाचिन्यं छास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषोपसङ्गहारणं
 को भेदः । वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिञ्चिद्वरम् । अतिबुद्धादिवर्जनं च किमप्यम् । तेन रसभावनास्तो द्वितीयो
 म्पापरा । यद्वाद्यादभिप्रायिलक्षणेन । तन्वतन्वावर्त्तं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभाषादीनां
 साधारणभाषादनं नाम । भाषिते च रसे तस्य भोगो योऽनुभवस्तरस्यप्रतिपत्तियो किञ्चन एव द्रुति
 किञ्चनैकिकाद्यात्मा रञ्जितमेवैचित्र्यानुबिद्धसम्भवननिश्चितस्वभावनिवृत्तिविधान्तिरुभयः परब्रह्मात्वाद
 सविषः । स एव प्रधानमूर्त्तौऽप्यं सिद्धरूप इति । स्युत्पत्तिर्नामप्रधानमप्येति ।

४ अभिनवगुप्तपादाचार्यका ‘अभिव्यक्तिवाद’

अगत्वा प्रीया मत्त श्लोचनकार अभिनवगुप्तका है । भट्टनायकः मत्तं ओ ‘मावकत्वं’ और
 ‘भोगकत्वं’ दो नवे म्पापार माने गने हैं उन्हें अभिनवगुप्त अन्वयव्यक मानते हैं और भद्राभाषिक
 मी । वे काव्यसे म्पञ्जनाम्पापार द्वारा गुण अङ्गुहार आदिके औचित्यरूप इतिकृतम्पदासे रसको सिद्ध
 करते हैं । यहाँ साध्य काव्य है, साध्य रस । साधन म्पञ्जनाम्पापार है और ‘तिकृतम्पदा’रूपमें
 गुणानुसङ्गारुचि औचित्यका अन्वय होता है । इस प्रकार ‘मावकत्वं’ और ‘भोगकत्वं’ दोनोंको
 म्पञ्जनारूप मानकर उस म्पञ्जनासे सामाजिकमे रसकी अभिव्यक्ति मानते हैं । अतः उनका मत
 ‘अभिव्यक्तिवाद’ कहाता है ।

५ अन्वयमत

इन्के अतिरिक्त कुछ और मी छोटे-छोटे मत हैं किन्का उस्तोम श्लोचनकारने बहुत संक्षेपमें
 इस प्रकार किया है—

‘अन्ये तु शुद्धं विभाव, केचित्तु स्वाभिगम्यम् इतरे स्वभिधारिणं अन्येत्तन्तंभोगं एके अनुकार्ये,
 केचन सङ्कल्पोप समुदाशं रसमाहुः ।’

नाट्यरस

यह रस मत्त नाट्यरसके सम्बन्धमें हैं । नाट्यरस शब्दका प्रयोग भरतमुनिने किया है । ऊपरक
 व्याख्याताओंने नाट्यरस शब्दकी स्युत्पत्ति मी अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार अलग-अलग बहस
 की है । बोलचाल मत्तमें अनुकावगत रसकी उत्पत्ति होती है और ‘नाट्ये प्रमुक्त्वमनत्वात्नाट्यरसः’
 यह नाट्यरसका विग्रह होता है । शब्दक मत्तमें अनुकावामिन्न नटकमें अनुभूयमान रसका सामाजिक
 आस्वादन करता है । इसलिए उनके मत्तमें ‘नाट्ये, नाट्याभवे नटं रत्तं नाट्यरसः’ यह विग्रह
 होता है । इसी प्रकार वृत्ते मत्तमें ‘नाट्याद्रसः’ अथवा ‘नाट्यमेव रसः नाट्यरसः’ ये विग्रह होते हैं ।

नाट्यके मी दो रूप माने गये हैं—एक श्लोकधर्मी नाट्य और दूसरा नाट्यधर्मी नाट्य ।
 श्लोकधर्मी नाट्य उसकी करते हैं जिसमें स्वाभाविक अभिन्न हाता है अर्थात् स्त्री पुरुषका आर पुरुष
 स्त्रीका रूप धारण करके अभिन्न नहीं करता—‘स्वभावामिन्नयोर्नैतं न मास्त्रीपुरुषाभयं नाट्यं श्लोक
 धर्मि !’ और यहाँ स्वर, अङ्गुहार और स्त्री पुरुषादिक भेदपरिहृयन आदिकी आवश्यकता होती है यह
 नाट्यधर्मी नाट्य होता है—‘स्वभावद्वारतंशुक्तमस्वव्यपुरुषाभयं नाट्यं नाट्यधर्मि ।

काव्यरस

काव्यरसकी प्रकृता नाट्यरसकी प्रकृतासे ठीक भिन्न है क्योंकि यहाँ नाटकन मयन
 आत्मन और उदीनविषयक दृष्टिगोचर नहीं अस्तु काम्यशब्दोंसे बुद्धित्व हाते हैं । काम्यमें,

विभावादि उपन्यायक श्लोकपरिं नाट्यके स्थानपर स्वभावोक्ति और नाट्यपरिं नाट्यके स्थानपर श्लोकेतिको माना है। इनसे विम्ववादिकी उपनिधि हो जानेपर आगे रसकी प्रथिमा प्राब' सम्मन ही है।

भाव

वासवप्रक्रमस्य नामक ध्वनिमेरमें रसोंक वा' स्थान भावोंका है। देवादिविषयक अभाव' दक्षता गुण राजा आदिक्रियक रति और प्रप्यानरूपसे व्यञ्जित ध्वनिचारिभाव इन दोनोंको 'भाव' कहते हैं—“रतिर्येवादिविषया ध्वनिचारी तथाञ्जित' भाव प्रोक्तः।” देवादिविषयक रतिरूप भावके निम्नलिखित उदाहरण हो सकते हैं—

१—‘कल्पकोशविनिविष्टमीश ते कामकृतमपि मे महामृतम् ।

अप्युपात्तममृतं मन्त्रपुमेंदहृत्ति मदि म न रोचते ॥

२—“हरस्यपं सप्यति हेतुरेभ्यत' शुभस्व पूवाचरिते कृतं शुभे ।

शरीरभाष्यं मन्वरीयदर्शनं ध्वनक्ति काञ्चिदयेऽपि बोध्यताम् ॥”

इनमें पहिलेमें दिव्यविषयक और दूसरेमें नारदमुनिविषयक रति [प्रेम, भडा] प्रदर्शित की है। अतएव यह 'भाव' है। इसके अतिरिक्त यहाँ ध्वनिचारिभाव प्रधानतया व्यक्त होता है वहाँ भी 'भाव' स्वबहार ही हाता है।

ध्वनिचारिभावकी स्थितिम उदय, स्थिति और अयव तीन दशाएँ हो सकती हैं। इनमेंसे उदयवाधी स्थितिको भावोत्पन्न नामसे और अयववाधी दशाको भावप्रसन्न नामसे अलग कह दिया है। स्थितिवामी दशाके भी तीन प्रकार हो सकते हैं—अच्छे एक भावकी स्थिति, अथवा दो भावोंकी स्थिति अथवा दोसे अधिक भावोंकी स्थिति। इनमें दो भावोंकी स्थितिको 'भावसन्धि' और दोसे अधिक भावोंकी स्थितिको 'भावशयलता' कहा जाता है। भावोंकी ये सभी अवस्थाएँ भावात् बोध्य होनेसे 'रसते इति रस' इस व्युत्पत्तिके अनुसार रसश्रेणीम आती हैं इसलिय कारिकामें 'उपश-मादि'में आदि पहले भावोदय भावसन्धि भावशयलताका भी ग्रहण किया गया है। विस्तारमन्ते इन लषके उदाहरण यहाँ नहीं दिये जा रहे हैं।

रसामास और भाषामास

कारिकाका 'उदात्तास' शब्द 'रसामास' और भाषामास'का बोधक है। 'अनौचित्यप्रवर्तिता' रता रसामासाः' और 'अनौचित्यप्रवर्तिता भाषा भाषामासा' —अनुचित रूपसे वर्णित रस 'रसामास' और अनुचित रूपसे वर्णित भाषा 'भाषामास' कहलाते हैं। जैसे एतन्मसिधोंके गृहकारका कवन अपना गुण आदि पूज्य पुरुषोंक सम्बन्धमें हास्यका प्रयोग 'रसामास' के अन्तर्गत होता है। ३।

रसवदलद्वारसे भिन्न ध्वनिका विषय

[विच्छली कारिकामें कहा या कि] 'अद्वित्येन' अर्थात् प्राधान्येन प्रतीत होनेवाले रस आदि ध्वनिक आत्मा है। "सर्वं च प्रतीत होता है कि रगादिकी प्रतीति कहीं-कहीं अङ्ग अर्थात् अग्रधान रूपमें भी हाती है। यहाँ रस किसी अन्यक अङ्गरूपमें प्रतीत होते हैं वहाँ रसादि ध्वनिरूप न होकर रसवदलद्वार कहलाते हैं। रसवदलद्वार चार प्रकारके होते हैं—एक रसक, दूसरा प्रेय तीसरा उपनिधि और चौथा मेद सम्पदित नामसे कहा जाता है। 'रसक' रति रस' इस व्युत्पत्तिके रस दूसरे भाव तीसरे उदात्तास और चौथे भावशयलतादि ये चारों रस करे व। इन्हीं चारोंकी अङ्गरूपमें

इदानीं रसवदलङ्कारवक्ष्यक्रमयोतनात्मनो ध्वनेर्विभक्त्ये विषय इति प्रदर्शयते ।

वाक्यवाचकचारुत्वहेतूना विविधात्मनाम् ।

रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः ॥४॥

रस-भाव-तद्वामास-तत्प्रसन्नमलक्षणं मुख्यमर्थमनुभवमाना यत्र शब्दार्थादङ्कार गुणाश्च परस्परं ध्वन्यापेक्षया विभिन्नरूपा व्यवस्थितास्तत्र कान्ये ध्वनिरिति व्यपदेशः ॥४॥

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादय ।

काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥५॥

यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्येर्वर्तितो विषयस्तथापि यस्मिन् कान्ये प्रधानतयाऽन्योऽन्यो वाक्यार्थो भूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः । तथावा चादुपु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते ।

प्रतीति होनेपर रसवदलङ्कार प्रकार प्रकारक कहलते हैं । रस किती अन्य रसादिभ अङ्ग हा चाप तो रसवद् भाव अन्यका अङ्ग प्रतीति हो तां प्रय रसामास वा भाषामासका अङ्ग हो तो ऊरुस्थि और मावशान्त्वादिका अङ्ग हा तो समाहित नामका अलङ्कार कहा जाता है । इन रसवदलङ्कारों और रसपत्रिके इती भेदका अगली ने कारिकाओंमें प्रतिपादन है ।

अब अर्सेलक्ष्यक्रमपत्ररूप ध्वनिका विषय रसवदलङ्कारोंसे पूयक् है यह बात दिखलाते हैं—

अहाँ नाता प्रकारके शब्द [वाचक] और अर्थ [वाच्य] तथा उनके चारुत्वहेतु [अलङ्कार], रसादिपरक [रसादिके अङ्ग] होते हैं यह ध्वनिका विषय है ।४।

रस-भाव-तद्वामास और तत्प्रसन्नरूप मुख्य अर्थके अनुगामी शब्द अर्थ उनके अलङ्कार तथा गुण परस्पर और ध्वनिस मिश्रस्वरूप अहाँ [अनुगामी रूपमें] स्थित होते हैं उसी काव्यको ध्वनिकाव्य कहते हैं ।५।

यहाँ 'वाच्यं च वाचकं च तस्यास्त्वरेतवत्थ' [तयोश्चास्त्वरेतवत्थ] इस प्रकार इन्द्रममास करना चाहिये । इती प्रकार हृदयमें भी । निछले उपाधमें यह दिखलाया या कि समासोक्ति आदि अलङ्कारोंमें वस्तुध्वनिका अन्तभाव नहीं हो सकत है । यहाँ यह लिखलाया है कि रसवदलङ्कारोंमें रसपत्रिका अन्तभाव नहीं होगा ।५।

रसवदलङ्कारोंका विषय

अहाँ अन्य [अथात् अङ्गभूत रसादिसे भिन्न रस या वस्तु अथवा अलङ्कार] प्रधान वाक्यार्थ हा और उसमें रसादि [रस भाव, तद्वामास भावदान्त्यादि] अङ्ग हाँ उस काव्यमें रसादि अलङ्कार [रसवत् प्रेय ऊरुस्थि समाहित] होते हैं यह मती सम्मति है ।।

यद्यपि रसवदलङ्कारका विषय अर्थाने प्रदर्शित किया है फिर भी जिन काव्यमें प्रधानतया कोई अन्य अर्थ [रस या वस्तु या अलङ्कार] वाक्यार्थ हो उस [प्रधान वाक्यार्थ] के अङ्गभूत आ रसादि [हों] ये रसादि अलङ्कारके विषय होते हैं, यह मता

स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः सङ्कीर्णो वा । उग्राद्यो यथा—

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः, प्राप्तश्चिपयारक्षेनम्,
केचं निष्करुणम् । प्रभासदक्षिता ? केनासि व्रीहृत्वा ।
स्वप्नान्तेष्विति ते षष्, प्रियसमभ्यासककण्ठमहो,
बुध्वा रोषिति रिक्तबाहुबल्यस्वारं रिपुस्त्रीजनः ॥

पक्ष है । जैसे चाट्टु [वाक्यों—चापलूसीके घबर्नो] में प्रयोऽलङ्कार [आमहने गुण वृष नृपति पुत्रविषयक प्रमथर्षनको प्रयोऽलङ्कार कहा है उस] के [मुख्य] वाक्यार्थ होनेपर भी रसादि अङ्करूपमें दिखलाई दते हैं [वहाँ रसादि अलङ्कार होगा यह मेरा मत है] ।

इस गद्यवृत्तिभागकी व्याख्यामें टीचनकारने बहुत लाचतान की है । यद्यपि मूकवृत्तिप्रबन्धी रचना नहीं कुछ अटपटी-सी है फिर भी लोचनकारकृत लीलावतीकी बिना भी उसकी शुद्धि क्या सकती है । उन्होंने 'तस्य वाक्कमूता'में 'तस्य इन्द्रका अथ 'काम्यस्य सम्बन्धिनो ये रसादयः' ऐसा किया है । उसके बजाय 'तस्य वाक्यापीनृतस्य अङ्कभूता ये रसादयः' यह अथ अधिक सरल और सङ्गत होगा । 'तस्या चाट्टु' इस अंशकी व्याख्यामें भी दो पक्ष दिखलाने हैं । यमहाके अभिप्रायसे इस सबको एक वाक्य मथना है और उद्भटके मतानुसार वाक्यमेव मानकर व्याख्या की है ।

'मामहाभिप्रायेण चाट्टु प्रयोऽलङ्कारस्य वाक्यावत्त्वेऽपि रसादवाऽङ्कभूता इत्यन्तं इतीदमेकं वाक्यम् । उद्भटमतानुसारिणस्तु महत्तया व्याचष्टे ।

'किं हास्येन' इत्यादि उदाहरणरूपमें उद्भूत पदमें वर्तमान नरपतिप्रभाव ही वाक्यार्थ है न कि अलङ्कार । इत्यर्थ मूकके प्रयोऽलङ्कारस्य वाक्यावत्त्वे'का अर्थ बहुतहीरिक्तमात्र मानकर 'प्रयानकृतयो यत्र चा प्रयोऽलङ्कार' अथात् प्रयान् अलङ्कार जिसका है वह वर्तमान नरपतिप्रभाव-रूप अलङ्कार नहीं अपितु अलङ्कारहीन वाक्यार्थ है । अथवा 'वाक्यावत्त्वे'का अर्थ वाक्याव न मानकर प्राधान्य किया जाय इस प्रकारकी द्विविध व्याख्या मामहमते की है ।

उद्भटमतानुसार इन दोनोंको अलग वाक्य मानकर पूर्ववाक्यका अर्थ रसबदलङ्कारका विषय होता है यह किया है । और इस उचरवाक्यका अर्थ चाट्टुवाक्योंके वाक्याव होनेपर प्रयोऽलङ्कारका भी विषय हाता है । न केवल रसबदलङ्कारअपि अपितु प्रयोऽलङ्कारका भी विषय होता है इस प्रकार किया है । रसक और प्रेय इन्द्रके उन्मत्तित्व उमाहित माकोदय मावर्षिण माव संकटता सहित सार्धं रसबदलङ्कारोंका पक्ष है ।

शुद्ध रसबदलङ्कारका उदाहरण

यह रसादि अलङ्कार शुद्ध और सङ्कीर्ण [वा प्रकारका हाता है । जो अङ्कभूत वाक्य रस या अलङ्कारमें मिश्रित नहीं है अर्थात् जहाँ एक ही रस आदि प्रयोऽलङ्कार अर्थात् गुण द्वेष नृपति पुत्रविषयक प्रीतिक अङ्क है यहाँ शुद्ध रसबदलङ्कार] होता है उनमेंसे प्रथम [अथात् शुद्ध रसबदलङ्कारका उदाहरण] जैसे—

[इस दशोकमें किन्नी राजाकी स्तुति की गयी है । भाष यह है कि तुमने अपने शत्रुओंका नाश कर डाला । उनकी स्त्रियों रातको स्वप्नमें अपने पतिके दृक्वती हैं और उनके गलमें दाय डालकर कटती हैं] इस ईंसी करनेसे पया लाभ है । बहुत दिन बाद वराम हुए हैं । अथ मैं जाने नहीं दूंगी । द निष्कुर ! यथाथा, तुम्हारी प्रयासमें

इत्यत्र कण्ठस्य शुद्धस्याङ्गभावात् स्पष्टमेव रसवदलङ्कारत्वम् । एवमेवविधे विषये रसान्तराणां स्पष्ट एवाङ्गभावः ।

सङ्कीर्णो रसाविरहमूढो यथा—

क्षितो हस्तावलम्बनः प्रसमममिहवोऽप्यादधानोऽशुकान्तं,
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरजनिपवितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आच्छिन्नन्योऽवधूतकिपुरयुवविभिः साम्नेत्रोत्पन्नाभिः
कामीबाद्रांपरायः स वदन्तु दुरितं शान्मनो वः क्षराग्निः ॥

इत्यत्र त्रिपुरारिपुप्रभावादिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्याङ्गभाव इति ।

एवंविध एव रसवदाद्यलङ्कारस्य^१ न्याप्यो विषयः । अत एव चेष्ट्याविप्रलम्भकण्ठ

[बाहर रहनेकी] रूबि क्यों हो गयी है ? तुमको किन्तने मुझसे अलग कर दिया है ? स्पन्दमें, पतिके कण्ठका आच्छिन्न कर इस प्रकार कहनेवाली तुम्हारी रिपुस्त्रियाँ उठकर [मियतमके कण्ठग्रहणके लिए] अपने फैलाये हुए पाहुवलयको रिक्त देखकर तारस्वरसे रोती हैं ।

इस उदाहरणमें शुद्ध [रसान्तर अथवा अलङ्कारान्तरसे असङ्कीर्ण] कण्ठरस [राजविषयक प्रीतिक] अङ्ग है इसलिये स्पष्ट ही रसवदलङ्कार है । इसी प्रकार इस तरहके उदाहरणोंमें अन्य रसोंका भी अङ्गभाव स्पष्ट है ।

सङ्कीर्ण रसवदलङ्कारका उदाहरण

सङ्कीर्ण रसावि [मी] अङ्गरूप [होता है] जैसे—

त्रिपुरदाहके समय शम्भुके बाणसे समुद्रमूत त्रिपुरकी युवतियों द्वारा आद्रांपराय [तत्कालकृत पराङ्गनोपभागादि अपराधयुक्त] कामीके समान, हाथ छूनेपर झटक दिया गया आरसे ताड़ित करनेपर भी वस्त्रके छोरको पकड़ता हुआ, वेशोंको पकड़ते समय हटाया गया पैरोंमें पड़ा हुआ भी सम्भ्रम [म्रेष अथवा घबराहट] के कारण न देखा गया, और आच्छिन्न [करनेका प्रयत्न] करनेपर आँसुओंसे परिपूर्ण नेत्रकमलवाली [कामीपक्षमें ईर्ष्याके कारण और अग्निपक्षमें पचासकी आशासे रहित होनेके कारण रोती हुई] त्रिपुर-सुन्दरियों द्वारा तिरस्कृत [कामीपक्षमें प्रत्याखिन्न द्वारा स्वीकृत न करके और अग्निपक्षमें सारे शरीरको झटककर फेंका गया] शम्भुका गणगि तुम्हारे दुःखोंका दूर करे ।

इस [श्लोक] में त्रिपुरारि [शिव] के प्रभावान्निशयके [मुख्य] वाक्यार्थ होनेपर श्लेषमहित ईर्ष्याविप्रलम्भ [और कण्ठ] उनका अङ्ग है [इसलिये यहाँ सङ्कीर्ण रसावि अङ्ग है] ।

इसी प्रकारके उदाहरण रसवदनङ्कारके उचित विषय होते हैं । इसीलिये

अथात् दो विरोधी रसोंका स्मरणात्मक बगनसाध हो अथवा दोनोंका समसाधते अथात् गुणप्रधान साधरहित बगन हो अथवा दोनों यदि किसी तीसरेके अङ्गरूपमें वर्णित हों, तो इन तीन अवस्थाओंमें उक्त विरोधी रसोंका एक साथ बगन भी दोषजनक नहीं होता यह सिद्धान्त माना गया है। यहाँ करुण और विप्रसम्मग्नद्वारा दोनों उत्साहपरिपोषित मगनविषयक रसि मत्तिक अङ्ग हैं। इसलिये उनका एक साथ बगन दोषजनक नहीं है। यही भाव “विप्रसम्मग्नकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात् समावेशो न दोषः” इस समाधानका है।

श्लोकमें भिन्न त्रिपुरदाहके अभिष्कारका कथन है यह पौराणिक कथाके आधारपर है। तारकासुर नामका एक प्रसिद्ध असुर था। उसके तीन पुत्र हुए, तारकासु विद्युत्मायी और कमल श्लोचन। इन तीनोंने मन्दापौर धर करके अश्विनी और शिवजीका प्रसन्न किया और उनसे अन्तरिक्षके तीनों पुरोंका अभिष्कार प्राप्त किया। परन्तु पीछे अभिष्कारमदसे मग्न हो, वे नाना प्रकारके अत्याचार करने लगे। तब सब देवताओंने विष्णुके नेत्रुत्थर्मे शिवजीसे मिश्रण उनके नाश करनेकी प्रार्थना की। देवताओंकी प्रार्थना मानकर शिवजीने एक ही बाण छोड़ा जिससे वे तीनों पुर अग्निसे प्रज्वलित हो उठे और मग्न होकर नष्ट हो गये। तबसे शिवका एक नाम ‘त्रिपुरारि’ भी हो गया है। प्रकृत श्लोकमें उही समयके इस अभिष्कारका कथन किया गया है।

खण्डरस या सञ्चारिरस

अभी रसोंके अङ्गाङ्गिभाव तथा विरोधकी जो चर्चा की गयी है उसके सम्बन्धमें एक शब्द यह रह जाती है कि रसको असङ्ग समुहात्म्यनामक प्रमास्तादसहोदर माना गया है। ऐसे दो रसोंका युगम् एकत्र समावेश वा प्रातुभाव ही सम्भव नहीं है इसलिये उनका विरोध अथवा अङ्गाङ्गिभावका उपपादन कैसे होगा! इसका उत्तर यह है कि आपका कहना ठीक है। इसलिये ऐसे अपूर्ण रसोंको रस न कहकर प्राचीन लोग ‘सञ्चारी रस’ नामसे संबोधित करते हैं और चण्डीदासने उनका ‘खण्डरस’ नामसे कहा है।

“अङ्गं चाप्योऽयं संसर्गौ बघङ्गी स्याद्रसान्तरे।

नाम्नाप्यते समग्रं तच्छतः खण्डरसः स्मृतः।” छा ६ ७

रसवदलङ्कारविषयक मतभेद

अभी चौथे कारिकामें रसवदलङ्कारोंका कथन करते हुए कारिकाकारने लिखा है कि ‘काम्ये तस्मिन्प्रकारे रसादिरिति मे मतिः।’ अर्थात् जहाँ अन्य का’ मुख्य वाक्याय हो और रसादि अङ्गरूपमें वर्णित हों वहाँ रसादि अङ्गद्वारा होता है यह मेरी सम्मति है। “मे मतिः” शब्द इस किम्वर्मे मतभेदको सूचित करते हैं। इसीकी दृष्टिमें दृष्टिकारने भी यद्यपि ‘रसवदलङ्कारस्यान्यैर्बहिर्भित्तौ विषय’ लिखकर उस मतभेदकी सूचना दी है। इस मतभेदके दो रूप हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि अमङ्गार या करककुण्डलके समान हैं वे साधात् वाच्य-वाचकक उपकारक और परस्परवा रसके उपकारक होते हैं। शेष करककुण्डल साधात् शरीरके उपकारक और शरीर द्वारा आत्मके उपकारक होनेसे अमङ्गार कहलाते हैं। इसलिये—

‘उपकुर्वन्ति तं सर्वं ये’न्द्रद्वारेण जातुक्चिः।

राशिरिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादश्च ॥” का प्र १, १

इत्यादि अमङ्गारने स्थलोंमें अनुप्रास-उपमादिको अङ्ग अथात् शब्द और अथ द्वारा ही रसोपकारक माना है। परन्तु रसवदलङ्कार वाच्य और वाचक, अथ वा शब्दके उपकारक न होकर साधात्

रसाधिके उपकारक होते हैं इसलिए उनमें अलङ्कारका स्वरूप ही नहीं पड़ता है अतः रसबदलङ्कार नहीं होते। एसी दृष्टा में जहाँ रसादि अन्यके अङ्ग है वहाँ वे लोग रसबदलङ्कार न मानकर उधका गुणीभूतव्यङ्ग्य ही कहते हैं।

रसबदलङ्कारके विषयमें उन्नीची गयी इस आपत्तिके दूर करनेके लिये कुछ लोग विरन्तन व्यवहारयुक्तके रसोपकारकत्वमात्रके गुणीभूत रसोंमें मात्र अलङ्कारव्यवहार मान कर कथिष्ठ उनके रसबदलङ्कारत्वका उपपदन करते हैं।

दूसरे लोग इस समस्याका हल करनेके लिये अलङ्कारक व्यञ्जनों शब्दावका समावेश मान्य बताकर रसोपकारकत्वमात्रको अलङ्कारका मुख्य अस्त्य मानकर गुणीभूत रसोंमें साक्षात् रसोपकारकत्व होनेके उनमें रसबदलङ्कारका उपपदन करते हैं। इनके मतमें वह अलङ्कारव्यवहार मात्र नहीं अपितु मुख्य ही है।

इस दूसरे मतके लोग "उपकुर्वन्ति तं उच्यते वेदङ्गशेषेण चागुचिन्" इत्यादि अलङ्कारक रत्नवर्णमें अलङ्कारविधित्वाभ्यार्यस्तनात्पन और चमत्कारत्वेन कार्दकारणमात्र मानकर उस अलङ्कारकत्वका इस प्रकार परिष्कार करते हैं—

"समवायसम्बन्धावच्छिन्नतरङ्गद्वित्वावच्छिन्नरङ्गानिरूपित समवायसम्बन्धावच्छिन्न मान त्वावच्छिन्नरङ्गानिरूपित विषयसम्बन्धावच्छिन्न शब्दाभास्यतपनिश्रावणोत्पन्नानिरूपितवच्छेद क्ताकत्वमलङ्कारत्वम्।"

रसबदलङ्कार तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यकी व्यवस्था

रसबदलङ्कारोंके साथ ही गुणीभूतव्यङ्ग्यका प्रश्न भी सामन आ जाता है। अलङ्कार साक्षात् शब्दावके ही उपकारक होते हैं और गुणीभूत रस शब्दावके उपकारक न होकर साक्षात् रसान्तरक उपकारक होते हैं इसलिए उनमें अलङ्कारका सामान्य लक्षण न बदनेस का लोग उनको रसबदलङ्कार न करकर गुणीभूतव्यङ्ग्य करते हैं उनका मत तो यह हो गया। उनका मतमें ध्वनि और गुणीभूत व्यङ्ग्य ही ही बस्तु हैं इनके मित रसबदलङ्कार नामकी टीकरी बस्तु नहीं है। फलतः ध्वनिकारण रस बदलङ्कार भी माने हैं और गुणीभूतव्यङ्ग्य भी। इनके मतमें रसादिध्वनिक मण्डल होनेमें रसक तथा प्रेयोऽङ्कार और बस्तु या अलङ्कारध्वनिके असाहादिके होनेस गुणीभूतव्यङ्ग्य माननेस ही दोनोंका सम्भव हो सकता है।

ध्वनि, उपमादि तथा रसबदलङ्कार

रसबदलङ्कारोंके विषयमें दूराय मतमेर शिवजी और कारिका और इतिमें उद्योत किया गया है उसका स्वरूप यह है कि कुछ लोग १ श्लेषके वाक्याधीभूत होनेपर रसबदलङ्कार और २ अश्लेषके वाक्याधीभूत होनेपर उपमादि अलङ्कार मानते हैं। उनका आशय यह है कि अश्लेषके वाक्याधीभूत होनेपर उसमें बिस्तरुचितय रसादि सम्भव न होनेसे उनका लक्षणमें रसक अङ्कारकी सम्मानना नहीं है। अतएव उनका उपमादि अलङ्कारका विषय और श्लेषके वाक्याधी भावमें रसबदलङ्कारका विषय मानना चाहिये। आशयेककारने "ति मे मति" लिखकर इसी मतके विरुद्ध अपनी सम्मति प्रदर्शित की है। उनका आशय यह है कि—

१ जहाँ रसादिकी प्रतीति प्रथम कथत होती है वहाँ रसध्वनिका विषय समझना चाहिये।

२ जहाँ मुख्य रस अलङ्कार है और जोर दूसरा रस भी अलङ्कार नहीं है वहाँ उपमादि अलङ्कारका धेय है।

एवं ध्वनेः, उपमादीनां, रसवद्वलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति । यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते तर्हि, उपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वाभिहिता स्यात् । अस्माद्व्येतेनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थीभूते पुनश्चेतेनवस्तुवृत्तान्त योऽनया कवश्चिद्व्यवितम्बम् । अथ सस्यामपि तस्यां यत्राचेतनानां वाक्यार्थीभावो नासी रसवद्वलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते, तन्माहवः' काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्व मभिहितं स्यात् ।

यथा—

तरङ्गभ्रूमङ्गासुमितविहगप्रेषिच्छाना,
विकर्पन्ती फेनं, बसनमिव संरम्भसिखिलम् ।
यथाविद्धं घाति स्खलितममिसन्धाय बहुशो,
नवीरूपेजेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥

१ जहाँ रसादि अङ्गरूपमें हैं वहाँ रसवद्वलङ्कारका विषय है ।

इस प्रकार १ ध्वनि २ उपमादि अलङ्कार और ३ रसवद्वलङ्कारोंका विषयभेद हो जाता है । इसका विपरीत उक्त चेतन और अचेतनके वर्णनभेदसे भेद माननेवासे मतमें यह विभाग नहीं बन सकता है । इसी विषयको प्रत्यकार आगे उपलब्ध करत हैं—

इस प्रकार [ऊपर वर्णित पदवृत्तिसं] ध्वनि उपमादि अलङ्कार और रसवद्वलङ्कारों का इतना अलग-अलग हो जाता है । [इसके विपरीत अर्थोंके मतसे] यदि चेतनके वाक्यार्थीभाव [चेतनको मुख्य वाक्यार्थ मानने] में रसवद्वलङ्कारका विषय होता है यह मानें, तो उपमादि अलङ्कारोंका विषय बहुत विरल रह जायगा अथवा सर्वथा ही नहीं रहेगा । क्योंकि जहाँ अचेतन वस्तुवृत्त मुख्य वाक्यार्थ है वहाँ किसी-न-किसी प्रकार [विभाषादि द्वारा] चेतनवस्तुके वृत्तान्तकी याजना होगी ही । [इस प्रकार उन सब स्थलोंमें चेतन वस्तुके वाक्यार्थ बन जानेपर ये सब ही रसवद्वलङ्कारके विषय हो जायेंगे, उपमादिके नहीं । इसलिये उपमादि प्रविरलविषय अथवा निर्विषय हो जायेंगे ।] और यदि चेतनवृत्तान्तयाजना होनेपर भी जहाँ अचेतनका वाक्यार्थीभाव [प्राधान्य] है वहाँ रसवद्वलङ्कार नहीं हो सकता यह कहा जाय, तो बहुत पद इसमें काव्यभागका नीरसत्व कथित हो जायगा ।

अतः—

देवी मीहोंके समान तरङ्गोंको और रत्नाकं समान ध्रुव पिनगपङ्किका धारण किये हुए, प्रेक्षायोगमें जिसके हुए पङ्कके समान फलोंका घींघती हुई [यह नदी], बार-बार होकर लाकर आ देवी बालने जा रही है सां जान पड़ता है कि मरे अनेक अफ-रायोंको देखकर कनी हुई यह [उर्वशी ही] नदीरूपमें परिणत हो [पङ्क] गयी है ।

यथा वा—

तन्वी मेघजलार्द्रपस्त्वतया धौवाचरेबाभुमिः,
शून्येवामरजैः स्वकञ्चविरहादिभान्तपुण्योद्गमा ।
चिन्तामौनमिवाभिता मधुहृतां शब्दैर्विना सस्यदे,
बण्डी मामवधूय पावपविषं जावानुवापेव सा ॥

यथा वा—

तेषां गोपवधुविद्यासमुद्भवा राधारहःसाक्षिणां,
क्षेमं भद्रं क्वलित्वसौख्यनवातीरे स्यावैशमनाम् ।
विच्छिन्ने स्मरतस्पर्कस्पर्नमृदुच्छेदोपयोगेऽयुना,
ते बाने अरली मवन्ति विगळ्मीछत्विषः पञ्चवाः ॥

इत्येवमाद्यो विषयेऽचेतनानां वाक्यार्थमात्रेऽपि चेतनवस्तुपृष्ठान्तयोजनाऽस्त्येव ।
अथ यत्र चेतनवस्तुपृष्ठान्तयोजनाऽस्ति तत्र रसादिरलङ्कारः । तत्रैवं सस्तुपमाद्यो
निर्विषयाः प्रथिरलविषयाः वा स्युः । यस्मान्नास्त्येवासाञ्चेतनवस्तुपृष्ठान्तो यत्र चेतन
वस्तुपृष्ठान्तयोजना नास्त्यन्तपो विभावत्वेन । तस्मादङ्गत्वेन च रसादीनामलङ्कारता । यः
पुनरुक्ती रसो भावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स ध्वनेरात्मेति ॥५॥

अथवा जैसे—

तन्वी [उर्वशी] पैरोंपर पड़े हुए मुझे तिरस्कृत करके पश्चात्तापयुक्त होकर
झाँसुझाँसे गीले अघरके समान तर्पोंके अलक्ष्ये भाई पल्लवको भारज किये, जलुकाल
न होनेने पुण्योद्गमपठित आमारजशून्य-सी मोरोंके शब्दके समावर्मे चिन्तामौन-सी
[स्युत्कारूपमें] विकलार्द्र होती है ।

अथवा जैसे—

हे भद्र ! गोपवधुओंके विद्यासमन्ता राधाकी एकान्तकीडामाँके साक्षी यमुना
हृदके स्यादुच्छ तो कुशलसे है ? अथवा [अथ तो] मृदुलशून्यके निमाणके क्षिप्र मृदु
किससर्पोंके ठोकनेका प्रयोजन न करनेपर नीलकान्तिके छिटकते हुए वे पल्लव [पुरान]
रूहे हो जाते होंगे ।

इत्यादि उदाहरणोंमें अचेतन [कमला] पहिले श्लोकमें मयी, दूसरमें स्या और
तीसरेमें स्यादुच्छ] वस्तुओंके वाक्यार्थमात्र [प्रधानता] होनेपर भी [यिमायादि श्राप
कथञ्चित्] चेतन वस्तुके व्ययहारकी योजना है ही । और जहाँ चेतनवस्तुपृष्ठान्तकी
योजना है वहाँ रमादि अलङ्कार हैं । ऐसा होनेपर उपमादि अलङ्कार अथवा निर्विषय हा
जायेंगे अथवा उनके उदाहरण बहुत ही कम मिल सकेंगे । क्योंकि ऐसा कोई अचेतन
पृष्ठान्त नहीं मिलेगा जहाँ चेतनवस्तुपृष्ठान्तके सम्बन्ध अन्ततः यिमायकामने [ही
सदी] न हो । इसलिये रमादिके अङ्ग हानपर रसवदलङ्कार होने हैं भार जा मही रस
या भाव सय प्रकारसे अलङ्कार्य हैं यह ध्वनिका [मात्रमा] स्वरूप है ।

किञ्च—

समर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिन ते गुणाः स्मृताः ।

अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्या ऋटकादिवत् ॥६॥

ये समर्थ रसादिसङ्गणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत् । वाच्यवाचक

सङ्गणाम्यङ्गानि ये 'पुनस्तदाश्रितास्तेऽङ्कारा मन्तव्याः ऋटकादिवत् ॥६॥

एत प्रकार आश्रितकारने रसवदङ्कारके विषयमें परमत्का निराकरण करते हुए अपने मत्का उपसंहार किया । इनका मत यह हुआ कि अनेकवस्तुका बान्धाधीमत्तक आभासपर रसवदङ्कार और अनेकवस्तुका वाक्यार्थीमत्तक उपमादि अङ्कार होते हैं यह जो वृत्तोंका मत है वह ठीक नहीं है, क्योंकि अनेकवस्तुके साथ अनेकवस्तुका सम्बन्ध हो ही जाता है अतः सर्वत्र रसवदङ्कार ही होगा । उपमादिका विषय बहुत कम या बिलकुल नहीं मिलेगा वा फिर अनेकवस्तुका काव्यको नीरस ठहराना पड़ेगा ।

गुण और अलङ्कारका भेद [सिद्धान्तपथ]

और—

जो उस प्रधानमूल [रस] अङ्गीके आश्रित रहनेवाले [माधुर्यादि] हैं उनको 'गुण' कहते हैं । और जो [रसके] अङ्ग [शब्द तथा अर्थ] में आश्रित रहनेवाले हैं उनको ऋटकादिके समान अलङ्कार कहते हैं । ६।

जो उस रसादिरूप अङ्गीमूलका अवलम्बन करते हैं [तदाश्रित रहते हैं] वे शौर्य आदिके समान 'गुण' कहलाते हैं । और वाच्य तथा वाचकरूप [अर्थ तथा शब्द उस काव्यके] अङ्ग हैं, जो उन [अङ्गों] के आश्रित हैं वे ऋटक आदिके समान अलङ्कार समझने चाहिये ।

पौनर्णी कारिकाकी म्हात्मामें रसवदङ्कार तथा उपमादि अलङ्कारका विषय विभाग किया था । छठी कारिकामें गुण तथा अलङ्कारोंका विषयविभाग किया है । जो साक्षात् रसके आश्रित रहनेवाले माधुर्य आदि हैं उनको साक्षात् आत्मामें रहनेवाले शौर्य आदि समान 'गुण' कहते हैं और जो उसका अङ्गमूल शब्द तथा अर्थमें रहनेवाले अर्थ हैं उनको ऋटकादिके समान अलङ्कार' करते हैं । यह गुण और अलङ्कारका भेद हुआ ।

शामनमत्त

भागवतके 'काम्याङ्कार'की वृत्तिमें भ्रष्टोद्भवा तथा शामनका मत एत विषयमें एते मिले हैं । शामनने ता 'काम्यमोमावाः कर्तायं धमा गुणाः तदतिशयवैतवस्तुलङ्काराः' लिखा है । अर्थात् काव्यके शोभाजनक अर्थोंका गुण और उक्त शोभाके वृद्धिकारक हेतुओंको अङ्कार करा है । 'काम्य मत्तमत्त'ने इसका गल्पन करते हुए लिखा है कि जो शौच यह लक्षण करते हैं उनके मतमें कि 'नमस्तेऽङ्गैः काम्यव्यवहार एत इति'—क्या नमस्त गुण मिलकर काम्यव्यवहारके प्रयोगके होते हैं अथवा कुछ ही पत्रात होते हैं ? यदि एक गुणोंकी लम्पिका ही काव्यव्यवहारका प्रधानक मानें तो थोड़ी पात्राणी भाँति रीति निम्नमें सम्मल गुण नहीं रहते उनको केने काम्यका आत्मा मानागे । इस

तथा च—

शृङ्गार एव मधुर परः प्रह्लादनो रसः ।

तन्मय काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतितिष्ठति ॥७॥

शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात् । 'तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यसङ्गुणो गुणः । भव्यत्वं पुनराजसोऽपि साधारणमिवि ॥७॥

आश्रयका भाव यह है कि बामन हा रीतिसम्प्रदायके प्रवर्तक है । 'रीतिरात्मा काम्यस्य' वह उनका सिद्धान्त है । गौड़ी पाश्चात्सी आदि रीतियोंमें समस्त गुणोंका सम्भाव हो हावा नहीं फिर उनका काव्यका आत्मा कसे मानोगे ? आर यदि एक-एक गुणकी उपस्थितिको ही काम्यव्यवहारके लिए पर्याप्त मानो तो 'अश्रावण प्रमथ्यस्वस्मिन्कथ्यै' प्राच' प्रोचन्नुच्छसत्येव भूम' इत्यादिम भोज आदि गुण होनेके कारण उनमें भी काम्यव्यवहार क्यों नहीं होगा ? सम्मटन बामनक लखनमें यह वा युक्तिप्रवाह उपस्थित किया है वह कुछ विपिठ-सा जान पड़ता है ।

सामहमत

सामहक विवरणमें भङ्गाद्भटने सा गुण भार अलङ्कारके भेदको ही नहीं माना है । उनका कहना है कि लौकिक गुण [शौर्यादि] और अलङ्कार [कटककुण्डलादि] में तो भेद स्पष्ट है । शौर्यादि गुण आत्मामें सम्भावसम्बन्धसे रहते हैं और कटककुण्डलादि अलङ्कार शरीरमें संयोगसम्बन्धसे आश्रित होते हैं । इसलिये शक्ति गुण और अलङ्कारोंमें वृत्तिनियामक सम्बन्ध संयोग तथा सम्बाधक भवस भेद हा सकता है । परन्तु आनन्दमति गुण भार अनुप्रासादि अलङ्कार दोनों ही सम्भाव सम्बन्धसे रहते हैं इसलिये [सम्भाववृत्त्या शौर्यादयः संयोगवृत्त्या तु हारादय इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः भोज' प्रसूरीनां अनुप्राश्रपसूरीनां स्वामशेषमति सम्भाववृत्त्या स्थितिरिति गङ्गुलिकाप्रवादेवैवेयां भेदः] इन दोनोंका भेद मानना गड्ढकिकप्रवाह [भेदचाल] क समान ही है । परन्तु आश्रय और काम्यकाश्रादिकादने रनिष्ठ धर्मोंका गुण और शब्दाधनिष्ठ धर्मोंको अलङ्कार मान कर दोनोंका भेद किया है । अर्थात् वृत्तिनियामक सम्बन्धके भेदसे नहीं बलितु आश्रयभेदसे गुण भार अलङ्कारका भेद है ।

नभ्यमत

नभ्य शैर्गोंका यह मत है कि गुणोंको रसमात्र धम माननेमें कोर ह्तर प्रमाण भी नहीं है और वेदान्तमें प्रतिपादित निगुण आत्मतत्त्वस्थानीय रसको भी निगुण ही मानना चाहिए । अत एव गुणोंको रसधम मानना उपरहासासद ही शङ्क—अपि चात्मना निगुणत्वस्य सधप्रमाणमिति भूतपेशान्तै प्रतिपादितत्वा आत्मभूतरमगुणत्वं साधुशरीनां कणमिक नापहागान्यदम् । ११।

माधुर्य गुणका आश्रय

इसीमें

शृङ्गार ही स्वयम अधिक मानव्यवायक मधुर [माधुर्ययुक्त] रस है । उस शृङ्गारमय काव्यक आश्रित ही माधुर्यगुण रहता है । ७।

शृङ्गार ही अन्य रसोंकी अपेक्षा अधिक आहादजनक हामस मधुर है । उसको प्रकाशित करनेवाल 'शार्दर्ययुक्त' काव्यका वह माधुर्य गुण जाता है । भव्यस्य

१ वि तथा ही प्रह्लादहेतु'शब्दकमानयः । शब्दार्थको ।

तो भोजका भी साधारणधर्म है। [अर्थात् साधुर्यके समान भोजमें भी अध्यत्य रहता है]।

‘एवकारस्त्रिधा मत’

‘शृङ्गार एव मधुर’ इत्यादि सातवीं कारिकामें ‘एव’ पदका प्रयोग किया गया है। इस ‘एव’का प्रयोग तीन प्रकारसे होता है और उन तीनोंमें उसके अर्थमें भेद हो जाता है। यह कमी विशेषणके साथ प्रयुक्त होता है, कमी विशेषक साथ और कमी क्रियाके साथ। विशेषणके साथ प्रयोग होनेपर यह अन्वययोगका व्यवच्छेदक होता है [विशेष्यसङ्गतत्ववकारात् अन्वययोगव्यच्छेदकः]। जैसे ‘पार्थ एव धनुषः’में पार्थ विशेष्य है, उसका साथ प्रयुक्त एवका अर्थ अन्वययोगका व्यवच्छेदक करना है। अर्थात् यह विशेष्य पार्थसे अन्वयमें विशेष्य धनुषःके सम्बन्धका निषेध करता है। ‘पाप एव धनुषं नान्य’ यह उसका मावार्थ होता है। विशेषणके साथ प्रयुक्त एव अयोगव्यच्छेदक होता है [विशेष्यसङ्गतत्ववकारात् अयोगव्यच्छेदकः] जैसे ‘पापों धनुषं एव’ यहाँ विशेष्य धनुषःके साथ प्रयुक्त ‘एव’ विशेष्यमें विशेष्यके अयोग अर्थात् सम्बन्धभावका निषेध करता है और उसमें धनुषःके निवृत्त करता है। तृती प्रकार जब ‘एव’ क्रियाके साथ अन्वित होता है तब अत्यन्तायोगव्यच्छेदक होता है। जैसे ‘नील कमलं भवत्येव’ इस वाक्यमें भवति क्रियाके साथ अन्वित एवकार कमलमें नीलत्वके अत्यन्त अवसम्बन्धका निषेध कर किसी विशेष्य कमलमें नीलक सम्बन्धको नियमित करता है। इस प्रकार एवक तीन प्रकारके प्रयोग होते हैं—‘अयोगं अन्वययोगं चात्यन्तायोगमेव च। व्यवच्छिन्नसि धमत्व एवकार्यत्रिधा मत ।’

प्रकृत शृङ्गार एव मधुर इत्यादि कारिकामें विशेष्यक साथ अन्वित एवके अन्वययोगव्यच्छेदक होनेसे उसका अर्थ शृङ्गार एव मधुरे नाम्यः यह होगा। परन्तु अगली ही कारिकामें [शृङ्गारे विप्रलम्भाद्यर्थे कश्चे च प्रकृष्यत्] कश्च आदि रसमें भी उसका अस्तित्व ही नहीं माना अर्थात् सम्भोगशृङ्गारकी ओम्हा विप्रलम्भमें और उससे भी अधिक कश्चरसमें साधुर्यका उत्कृष्ट माना है। यदि ‘शृङ्गार एव’का एवकार अन्वययोगव्यच्छेदक है तो इसकी सङ्गति कैसे होगी यह एक प्रश्न है। इस प्रश्नका उत्तर यह है कि अन्वयके भीतर दो प्रकारकी वस्तुएँ आती हैं, विशेष्यकी सजातीय और विजातीय। यहाँ विशेष्य शृङ्गार है। उसके सजातीय अन्वय रस कश्चादि भी अन्वयकी भेदीमें आते हैं। अन्वयव्यच्छेदक एवकार कहीं सजातीयका व्यवच्छेदक होता है और कहीं विजातीयका व्यवच्छेदक करता है। यहाँ यदि उसे सजातीय व्यवच्छेदक मान लें तो यह कश्च आदिमें साधुर्यके योगका व्यवच्छेदक होगा और उस दशात्मै अगली कारिकामें विशेष्य होगा। परन्तु यदि उसे विजातीय अन्वयका व्यवच्छेदक मान लें तो यह शब्द तथा अर्थमें साधुर्यका व्यवच्छेदक होगा और इस प्रकार गुणके शब्दधर्मत्व अथवा अर्थधर्मत्वका निषेध करके रसके धर्मत्वका प्रतिपादन होगा। यही आलाककारका सिद्धान्तपक्ष शृङ्गारक साथ एव परसे सुचित किया है।

कारिकाकी वृत्तिमें ‘अरक्ष्यं पुनराज्जाप्यि साधारणम्’ लिखा है। यह पदिक मामाहके “अर्थ नास्तिमस्तापद्यर्थं मधुरमित्यत [मामाह २२३]” इस वचनकी आलाचनामें मिली गयी है। सोचन करनेसे इसकी टीकामें लिखा है कि इस प्रकारका भाष्यन ता “यो य धरत् विवर्ति स्वभुज्जुवमदा पाण्नीन्धं धमनां” इत्यादि भोजन उदाहरणमें भी पाया जाता है अतएव यह साधुर्यका कल्प नहीं हो सकता है। ७।

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमाद्रता याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥८॥

विप्रलम्भाशृङ्गारकरुणयोस्तु माधुर्यमेव प्रकर्षवत् । सङ्घर्षद्वयवर्जनाविधयनिमित्तत्वादिदि ॥८॥

विप्रलम्भाशृङ्गार और करुणरसमें माधुर्य [शुण्ठका प्रयोग, विशेष रूपसे] उत्कपयुक्त होता है क्योंकि उसमें मन अधिक आद्रताको प्राप्त हो जाता है ।८।

विप्रलम्भाशृङ्गार और करुणमें तो सङ्घर्षोंके द्वयोंको अतिशय आरुष्ट करनेकर निमित्त होनेसे माधुर्य [गुण] ही उत्कपयुक्त होता है ।८।

दस गुणोंका अन्तर्भाव

प्राचीन मामह आदि भाषायोंने [स्त्रेया प्रसादस्तमता माधुर्यं सुकुमारता । अमभक्ति उदारत्वमेवः कान्ति समाख्य ॥] इस शब्दगुण और दस अवगुण माने हैं । शब्दगुणों और अवगुणोंके नाम तो एक ही हैं परन्तु उनके लक्षण दोनों अलग अलग हो जाते हैं । आश्लेष, श्लेषन, काम्यप्रकाशादिने इन दस गुणोंका अन्तर्भाव अपने तीन गुणों—माधुर्य, शोक और प्रसादमें ही कर दिया है । इन गुणोंके अन्तर्भावप्रकारको निम्नांकित चित्र द्वारा विलम्बया जा सकता है ।

शब्दगुणों तथा अर्थ गुणोंके नाम	शब्दगुणोंके लक्षण तथा उनका अन्तर्भाव		अर्थगुणोंके लक्षण तथा उनका अन्तर्भाव	
	शब्दगुणरूपमें लक्षण	अन्तर्भाव	अर्थगुणरूपमें लक्षण	अन्तर्भाव
१ श्लेषः	बहुनां पदानामेकपदव न्नास्त्रम्	शोकादि	कर्मकौटिल्यानुस्मरणत्वं योग्यपपठना	विचित्रतामात्रम्
२ प्रसादः	आद्ये मिमित्तसंस्कारात्मा	शोकादि	अभिव्यक्तम्	अपुष्टासत्ताभावे
३ समता	मागभिन्नेस्वरुणिगी [स्वविशेषः]	यथावयम्	प्रमत्तप्रवृत्त्यादिनिर्लाह	प्रमत्तमाह्वयोपामाव
४ माधुर्यम्	दृष्यरूपदत्वम्	माधुर्ये	माधुर्यमुक्तिर्बहिष्कृतम्	अवनीकृत हायाम्भावे
५ उदारता	विशुद्धत्वं, पदानां रूपव्यापत्वम्	शोकादि	अपाम्यत्वम्	साम्यत्वाभावे
६ अर्थमक्तिः	पदानां सादृश्यव्यवस्था	प्रसाद	बलुस्वभावस्युत्कृतम्	स्वभावोक्ति अशृङ्गारे
७ सुकुमारता	अपारुष्यम्	दुःप्रकृतात्यागे	अपारुष्यम्	अमङ्गल्यच्छीतद्वयाने
८ शोकः	वर्षवैकृत्यम्	शोकादि	तामिप्रापत्वम्	अनुशयसत्ताभावे
९ कान्तिः	शौक्यत्वम्	प्राम्भवाभावे	दीप्तस्वत्वम्	अनिगुणीभूतस्यद्वयपयो
१० सम्यग्भिः	आरोहाचरोत्तमः	शोकादि	अर्थवैकृत्यः अपानि- अन्वेष्यतापायोनिर्घोषेति विचित्रः	अधर्षित्त्वं गुणः

रौद्राद्यो रसा वीप्त्या लक्ष्यन्ते काव्यघर्तिनः ।

तद्व्यक्तिहेतु शब्दार्थावाभित्प्यौजो व्यघस्थितम् ॥९॥

रौद्राद्यो हि रसाः परं वीप्तिमुम्बुलतां जनयन्तीति छन्नपया त एव वीप्ति
रित्युच्यते । तत्रकाव्यनपरः शब्दो वीर्षसमासरचनालङ्कृतं वाक्यम् ।

यथा—

पञ्चदशमुखभ्रमितपण्डगादामिपातसम्बूर्जितोरुमुगलस्थ सुयोधनस्य ।

स्त्यानापभिरूपनशोषितशोषपापिठर्तसविष्यति कषांस्तव वेदि भीमः ॥

तत्रकाव्यनपरदशार्थोऽनपेक्षितवीर्षसमासरचनः प्रसन्नवाचकामिधेयः ।

यथा—

यो यः क्षत्रं विभर्ति स्वमुखगुरुमवः पाण्डवीनां चमूनां,

यो यः पाण्डवाङ्गोत्रे शिष्ट्युत्पिठवया गर्भक्षप्यां गतो वा ॥

ओजो गुणके आश्रय [क-शब्द] का उदाहरण

काव्यमें विद्यमान रौद्रादि रस वीप्ति [चित्तविस्ताररूप रौद्रादि रसोंमें अनुभूय
मान चित्तावस्थाविशेष] से लक्षित होते हैं । इस वीप्तिके अभिव्यक्त शब्द और अर्थके
आश्रय भोज रहता है । ९।

रौद्रादि [आदि पदसे वीर भीर अद्भुत] रस अत्यन्त उज्ज्वलरूप [चित्ता-
वस्था] वीप्तिको पैदा करते हैं इसलिये लक्षणासे ये ही वीप्तिरूप कहे जाते हैं । [आताके
हृदयकी विस्तार या प्रबलनस्थमाव अवस्थाविशेषका नाम वीप्ति है । यही मुख्य
रूपसे भोज-शब्दवाच्य है । उसके सम्बन्धमें तत्रास्वात्मय रौद्रादि रस भी लक्षणासे
वीप्ति शब्दसे गृहीत होते हैं । और उसके प्रकाशक वीर्षसमासरचनासे अलङ्कृत शब्द
भी लक्षित लक्षणासे वीप्ति शब्दसे गृहीत होते हैं ।] उसके प्रकाशक शब्द वीर्षसमास
रचनासे अलङ्कृत वाक्य हैं ।

अैसे—

[इत] फड़कती हुई मुजाओंसे घुमायी गयी गद्दाके भीयव प्रहारसे जिसकी दोनों
जटाओंको चूर-चूर कर दिया गया है उस सुयोधनके जमे हुए [स्त्याना] गाड़े रक्तसे
रंगे हुए हाथवाला यह भीम है वेदि । तैर केशोंको बँधेगा ।

इस श्लोकमें रीप्समासरचनासे अलङ्कृत वाक्य उस चित्तविस्ताररूप वीप्तिका अभि-
व्यक्त है । अतएव यह भोजका उदाहरण है ।

ओजो गुणके आश्रय [स-अर्थका] उदाहरण

उस [भोज] का प्रकाशक अर्थ वीर्षसमासरचनासे रहित प्रसादगुणयुक्त
पदोंसे बोधित अर्थ [भी] होता है ।

अैसे—

पाण्डवोंकी सेनामें अपने मुखपलमे गर्वित जो भी शत्रुघात्री हैं मधवा पाञ्चाल
वंशमें छोटा बड़ा मधवा गर्भस्य जो कोई भी है, और [कर्णादि] जो-जो उस कर्म

बो यस्तत्कर्मसाक्षी भवति मयि रणे यश्च यत्र प्रतीयः,
क्रोधोन्मत्तस्य तस्य स्वयमपि ब्रह्मामन्तकरवान्तक्रोशम् ॥

इत्यादौ द्वयोरोजस्त्वम् ॥९॥

समर्पकत्व क्राड्यस्य यस्तु सर्वरसान् प्रति ।

स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रिय ॥१०॥

[द्रोणवध] का भाषी है [जो-जो लड़ा हुआ उस द्रोणके वधको देखता रहा है] और मरे युद्ध करते समय जो कोई उसमें पाधा डालेगा, भाव क्रोधसं मन्था हुआ मैं [भस्त्रपयामा] उसका नाश कर दूँगा फिर धाड़े धाड़े सब जगत्का मन्त्रक स्वयं यमराज ही क्यों न हो ।

इन दोनों उदाहरणोंमें [कृपदा द्राप् और अर्घ] दोनों मोहास्वरूप हैं ।

ये दोनों श्लोक 'बेनीसंहार' नाटकके हैं । इनमेंसे पहिली श्लोककी और दूसरी अम्भशामाकी उक्ति है । पहिलेमें सम्राजबहुक रचना है, वहाँ शब्द मोहके अतिमिश्रक हैं और दूसरे उदाहरणमें दीर्घसमासरचना है वहाँ अर्घ शब्दका अतिमिश्रक है ।

कारिकाकी श्रुतिमें 'उच्छ्रमया त एव दीप्तिरित्युच्यते' लिखा है । साधारणतः "विशेषवाचक पदसम्बन्धनचयनकारमात्मनात्स" यह नियम माना गया है । इसका अर्थ यह है कि भाष्यात अर्थात् क्रियापदका चयन विशेषवाचक पदके समान होना चाहिये । उदाहरण प्रकृति-विकृतिश्लोकमें 'वृत्ता पक्ष नीका भवति' और उभयापारेदारोपश्लोकमें 'एषो हो अथवे इत्यादि प्रयोग उपसर्ग माने गये हैं । वहाँ 'त एव दीप्तिरित्युच्यते'में विशेषवाचक शब्दके 'ते' इस बहुवचनान्त रूपके समान भाष्यात उपसर्गका भी बहुवचनान्त प्रयोग होना उचित या फिर एकवचनका प्रयोग कैसे साधु होगा । इसका कथञ्चि सम्बन्धन यह करना चाहिये कि इति शब्दने उपन्यासमान जानप्राप ही वहाँ चयनात्मकनिर्दिष्ट कर्मका भाव है । और उस सामान्यमें संज्ञाविधेयकी अविबद्धाने एकवचन का प्रयोग भी बन्धीय है । पर बात महामाप्यमें चयनविधायक [इयेकरोहिंवनैकचयने, बहुवु बहुवचनम्] श्लोकका 'एकवचनम् द्विरदोहिंवनैकचयने' दत्त प्रकारका न्याय करते हुए मत्पकारान्त शक्ति की है । तदनुसार सामान्यमें एकवचनका प्रयोग है ।

कारिका 'रीशदत्तो' पदमें 'आदि' पदसे 'वीर्यमुक्तोपरी महत्तम्' यह चोचनकारने निरुता है । अर्थात् वहाँ आदि पदको प्रारम्भापक न मान कर प्रकार शब्दका आरम्भापक माना है तभी रीशदत्ते शब्द वीर्यका प्रत्य किया है । अतएव उक्तमें वीर्यके विम्वर्णसे उत्सव अद्भुतरत्नका भी प्रत्य करना चाहिये । ।

प्रसाद गुणका आधय

[द्रुपदेधनमें अग्निके समान अथवा स्युष्ठ चम्प्रेमें ऊर्ध्वके समान] चरप्यका समस्त रत्नोंके प्रति जो समर्पकत्व [बोदाके हृदयमें श्रुतिरिति व्यापककर्तृत्व] है, समस्त रत्नोंमें और रचनाओंमें [अथवासाधारणी क्रियाश्रुतिः, स्पितिर्यस्य सा] रहनबाह्य पर 'मसाद् गुण समगता आदिये ॥१०॥

प्रसावस्तु स्वच्छया ह्यर्थाव्ययोः । स च सर्वैरससाधारणो गुणः । सर्वैरचनासाधारणश्च^१ । ध्वज्ज्योतिष्यैव मुख्यतया व्यवहितो मन्तव्यः ॥१०॥

श्रुतिदुष्टाद्यो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।

ध्वन्यात्मन्येष शृङ्गारे ते देया इत्युदाहृता ॥११॥

अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादयः सृष्टितास्तेऽपि न वाच्ये अत्रमात्रे, न च ध्वज्ज्ये शृङ्गारव्यतिरेकियि, शृङ्गारे वा ध्वनेरनात्मभूते^२ । किन्तुर्हि ध्वन्यात्मन्येष शृङ्गारेऽङ्गितया ध्वज्ज्ये ते हया इत्युदाहृताः । अन्यथा हि तेषामनित्यदोषत्वमन स्यात् ॥११॥

प्रसाव [का अर्थ] शब्द और अर्थकी स्पष्टता है । वह सब रसोंका साधारण गुण है, और सब रचनाओंमें समान रूपसे रहता है । [फिर चाहे यह रचना शब्दगत हो या अर्थगत, समस्त हो या असमस्त] मुख्य रूपसे ध्वज्ज्योतिष्यैव अपेक्षासे ही उसे स्थित समझना चाहिये ।

यं गुण मुख्यतया प्रतिपत्ताके आलम्बन्य होते हैं, फिर रसमें उल्लेखित होते हैं और फिर कल्पनासे शब्द और अर्थमें भी उल्लेख स्पष्ट होना होता है । साहित्यवर्णनकारने शची 'प्रसाव'का अर्थ इस प्रकार किया है—'चित्तं व्याप्नोति वा चित्तं शृङ्गारवर्णनमिमानम् । स प्रसावः समस्तेषु रसेषु रचनायु च ॥'^३

इस प्रकार अर्थकारने यह सिद्ध किया कि जहाँ रसादिका अलम्बन्य ध्वन्यात्म है वहाँ रस-ध्वनि जहाँ वह कितनी अन्वका अर्थ है वहाँ रसवद्वारा और जहाँ रस अन्वका है और अन्व जहाँ रसान्तर अर्थभूत नहीं है वहाँ उपमायै अर्थद्वार होते हैं । यह इनका विषयविभाग है । शची प्रकार अर्थभूत रसादिके आश्रित प्रथम गुण, शब्द वा अर्थके आलम्बन्य अर्थद्वार होते हैं ।^४

अनित्यदोषोंकी व्यवस्था

यह कहते हैं कि हमने जो रसध्वनि आदिका शेष निर्धारित किया है उसको माननेका ही मन्त्र और अनित्यदोषोंकी व्यवस्था भी वही लक्षणी है ।

श्रुतिदुष्टादि [श्रुतिदुष्ट अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट] 'श्रुतिदुष्टार्थदुष्टत्वे कल्पनादुष्टमित्यपि । श्रुतिकल्पे लघेयादुष्टार्थां चार्थं यत्तुर्विधम् ॥' मासह] जो अनित्यदोष यथायं गये हैं वह ध्वन्यात्मक शृङ्गार [रसावधिकरूप प्रयातमूत शृङ्गार] में ही त्याज्य कहे गये हैं ।^५

जो अनित्य श्रुतिदुष्टादि दोष सृष्टित किये गये हैं वे न वाच्यार्थमात्रमें, न शृङ्गारमें सिध ध्वज्ज्ये [रसादि] में, और न ध्वनिके अनात्मभूत शृङ्गार [शुद्धीभूत शृङ्गार] में, अपितु प्रयाततया ध्वज्ज्ये ध्वन्यात्मक शृङ्गारमें ही देय कहे गये हैं । अन्यथा उक्तकी अनित्यव्यवस्था ही न बने ।^६

१ कि श्री में अति वाद है अर्थात् इति वाद अधिक है ।

२ कि में 'न वाच्यार्थमात्रे न च ध्वज्ज्ये शृङ्गारे शृङ्गारव्यतिरेकियि वा ध्वनेरनात्मभूते वाद है ।

३ कि में 'ध्वनेरनात्मभूते में 'भूते' के अन्वकार अर्थ है वाद है ।

एवमयमसंलक्ष्यक्रमद्योतो^१ ध्वनेरात्मा प्रदर्शितः सामान्येन ।

तस्याज्ञाना प्रमेदा ये प्रमेदा स्वगताश्च ये ।

तेषामानन्त्यमन्योन्पसम्बन्धपरिकल्पने ॥१२॥

अङ्कितया व्यङ्ग्यो रसादिविबक्षितान्यपरवाध्यस्य ध्वनेरेक आत्मा य एतत्तस्याज्ञानां वाच्यवाचकानुपादिनामलङ्काराणां च प्रमेदा निरवभवा, ये च स्वगतास्तस्याङ्गिनोऽर्थस्य रस-भाव-तदाभास-तदप्रशमकक्षणा विभावानुभावव्यभिचारिप्रतिपादनसहिता अनन्ताः स्वाभयापेक्षया निःसीमानो बिभेदास्तेषामन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे कस्यचिद् व्यतप्रत्याऽपि रसस्य प्रकाशः परिसंस्पातुं न शक्यन्ते किमुत सर्वेषाम् ।

तथा हि—शृङ्गारस्याङ्गिनस्तावदाद्यो द्वौ भेदौ । सम्भोगो विप्रलम्भश्च । सम्भोगस्य च परस्परप्रेमवृत्तानुसृतविहरणादिलक्षणाः प्रकाशः । विप्रलम्भस्याप्यभिहापेर्ष्याविरह

अलक्ष्यक्रमध्वङ्गध्वनिके भेद

इस प्रकार यह अलक्ष्यक्रमध्वङ्गध्वनिका स्वरूप सामान्यतः प्रदर्शित किया ।

उक्त [अलक्ष्यक्रमध्वङ्गध्वनिके] के अङ्गों [अलङ्कारादि] के जो अनेक भेद हैं और [स्वर्ष रसादिके] जो स्वगत भेद हैं उनका एक-दूसरेके साथ सम्बन्ध [संसृष्टि सङ्गरादि प्रस्तारविधिते पित्तारादि] कल्पना करनेपर उनकी गणना अनन्त हो जायगी । १२-४

विबक्षितास्यपर्यायध्वनिका अङ्कितया [प्रधानतया] व्यङ्ग्य रसादिके आ एक स्वरूप [आत्मा, प्रमेद] कहा है उसके अङ्गभूत अर्थ तथा शब्दके आधित [उपमादि तथा अनुप्रासादि] अलङ्कारोंके जो अपरिमित भेद हैं और उस प्रधानभूत [रसादि ध्वनिके] अर्थके जो स्वगत भेद रस भाव तथाभास, तदप्रशमरूप विभावानुभाव व्यभिचारिमाय प्रतिपादन सहित अनन्त और अपने आधय [स्त्री पुरुष आदि प्रकृतिके भेद] के कारण निम्नीम आ अधास्तर विद्योय [भेदोपभेद] हैं उनका एक-दूसरेके साथ सम्बन्ध [संसृष्टि, सङ्ग या प्रस्तारादि] कल्पना करनेपर, उनमेंसे किन्ती एक भी रसके अर्थोंकी गणना कर सकना सम्भव नहीं है, फिर सचकी तो बात ही क्या है ।

जैसे [उदाहरणके लिये]—प्रधानभूत शृङ्गाररसके, प्रारम्भमें दो भेद होते हैं, सम्भोग [शृङ्गार] और विप्रलम्भ [शृङ्गार] । उनमें भी सम्भोगके परस्परप्रेमवृत्तानुसृत, सम्भारणादिषा भी उपलक्षण हैं, सुख, [और वधान] विहाय भेद हैं । [इसी प्रकार] विप्रलम्भके भी अमिहाप रंष्या विरह प्रयास और विप्रलम्भादि [दायादि निमित्तक वियोगादि भेद हैं] । उनमेंसे प्रत्येक [भेद] के विभाष, अनुभाष, व्यभिचारि

१ दोषध्वने के लिये ।

२ शृङ्गारस्वभाङ्गिनः किं च ।

प्रवासविप्रलम्भाद्यः । तेषां च प्रत्येकं विभावातुभावम्बभिवाग्भिदे^१ । तेषां च वेद
 क्कस्यघाभयावस्वामे^२ इति स्वगतभेदापेक्षयैकस्य^३ तस्यापरिमेयत्वम् । किं पुनर्य
 प्रमेदकस्यतावाम^४ । ते अज्ञप्रमेदाः^५ प्रत्येकमङ्गिप्रमेदसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे सत्या
 नन्त्वभेदोपयान्ति ॥१२॥

दिक्षात्र तृच्यत येन, व्युत्पन्नानां सधेतसाम् ।

बुद्धिरासावितालोका सर्वत्रैव भविष्यति ॥१३॥

दिक्षात्रकथनेन हि व्युत्पन्ना सद्ब्रह्मानामेकत्रापि रसभेदे सहास्रहारेकाङ्गिभाव
 परिज्ञानादासावितालोका बुद्धिः सर्वत्रैव भविष्यति ॥१३॥

उत्र—

शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकस्यानुबन्धवान् ।

सर्वेष्वेव प्रमेदेषु नानुमासः प्रकाशकः ॥१४॥

मायके [मिदसे] मेद है । और उन [विभावादि] के भी वेद कास मायम, अबम्भा
 [भाविसे] मेद है । इस प्रकार स्वगत मेदों के कारण उस एक [शृङ्गार] का परिमाण
 करना [ही] असम्भव है फिर उसके अङ्गोंके भेदोपमेदकस्यताकी ता बात ही क्या है ।
 वे अङ्गों [अज्ञप्रमेदादि] के प्रमेद प्रत्येक अङ्गी [रसादि] के प्रमेदोंके साथ सम्बन्धवत्त्वना
 करनेपर अनन्त ही हो जाते हैं ॥१२॥

[रसका] दिक्मात्र [कुछ थोड़ा-सा, भागे] कहते हैं, जिससे व्युत्पन्न सद्ब्रह्म-
 की बुद्धि सर्वत्र प्रकाश प्राप्त कर सकेगी ॥१३॥

[इस] दिक्मात्रकथनसे अज्ञप्रमेदादिके साथ उनके एक ही मेदके अङ्गाङ्गिभावके
 परिज्ञानसे व्युत्पन्न सद्ब्रह्मकी बुद्धिका अन्य सब स्थानोंपर [स्पष्ट] ही प्रकाश मिल
 जायगा ॥१३॥

शृङ्गारमें स्रम्भासङ्गारोंका अधिक प्रयोग अनुचित

उत्तम—

प्रधामभूत [अङ्गी] शृङ्गारके ममी प्रमेदोंमें यानुपूर्वक समानरूपसं [निरन्तर]
 उपनिबद्ध अनुमान [रसका] अभिप्यञ्जक नहीं होता ॥१४॥

१ भेदाः नि ही ।

२ भेदाः नि ही ।

३ अपेक्षय नि ही ।

४ कल्पना नि० ही ।

५ ते हि प्रमेदाः ही ।

६ महाशक्तिः के स्थानपर सर्वत्रैवप्रकारे पाठ नि , ही में है ।

७ अनुबन्धवान् नि ही ।

अङ्गिनो हि गृह्णारस्य ये, वक्ष्यः प्रमेयास्तेषु सर्वेष्वेकप्रकारानुबन्धितया प्रवृत्तेऽनुप्राप्तो न व्यवहृत्कः । अङ्गिन इत्यनेनाङ्गमूढस्य गृह्णारस्यैकरूपातुक्त्ववनुप्राप्तनिबन्धने कामधारणाह ॥१४॥

ध्वन्यात्मभूते गृह्णारे यमकादिनिबन्धनम् ।

शक्तावपि प्रमादित्वा विप्रलम्भे विशोयतः ॥१५॥

ध्वनेरात्मभूतः गृह्णारस्तात्पर्येण वाच्यवाचकध्वनां प्रकाशयमानस्वस्मिन् यमकादीनां यमकप्रकारणां निबन्धनं दुष्करशब्दमङ्गलश्लेषादीनां वक्ष्यवपि प्रमादित्वाम् ।

प्रमादित्वामित्यनेन पठदपर्यंते काफतास्त्रीयेन कदाचित् कस्यचिदेकस्य यमकादेरिच्छतावपि भून्नालङ्कारान्तरवत्साङ्गत्वेन निबन्धो न कर्तव्य इति । विप्रलम्भे विशोयत इत्यनेन विप्रलम्भे सौकुमार्यादिभ्यः क्वाप्पठे । तस्मिन् शास्त्रे यमकादेरङ्गस्य निबन्धो नियमात् कर्तव्य इति ॥१५॥

प्रधानभूत [अङ्गी] गृह्णारक ओ प्रमेय कहे ई उन सच [ही] में एककाररूपसे निरुत्तर निबद्ध अनुप्रास [रसका] अभिव्यञ्जक नहीं होता । अङ्गिन इस पदसे अङ्गभूत [गुणीभूत] गृह्णारमें समानरूपसे [निरुत्तर] अनुप्रासकी रचनाका यद्येष्ट उपयोग किया जा सकता है यह सूचित किया है ॥१४॥

शक्ति होत हुए भी, ध्वन्यात्मक गृह्णारमें और विशेषरूपसे विप्रलम्भगृह्णारमें यमकादिका निबन्धन [कविके] प्रमादित्य [का] ही [सूचक] है ॥१५॥

[रम्यादि] ध्वनिका भासभूत गृह्णार [रस] शब्द और अर्थ द्वारा तात्पर्य [तात्पर्य विषयीभूत प्रधानतया] रूपसे प्रकाशित होता है उसमें यमकादि [यहाँ भावि शब्द प्रकाशार्थक अर्थात् सादृश्यार्थक हैं], यमकसदृश दुष्कर शब्दद्वय या समद्वयश्लेष भादि [और मुरझवन्धादि फिच्छ अलङ्कारों] का शक्ति होनेपर भी प्रयोग करना [कविके] प्रमादित्यका सूचक है ।

प्रमादित्यसे यह सूचित किया है कि काफतास्त्रीयन्यायसे कमी किसी एक यमकादिकी रचना हो जानेपर भी, अन्य अलङ्कारोंके समान वाङ्मयके रमाङ्करूपमें उनकी रचना नहीं करनी चाहिये । 'विप्रलम्भे विशोयतः' इन पदोंसे विप्रलम्भ [गृह्णार] में सुकुमारताका भविष्य द्योतित किया गया है । उस [विप्रलम्भगृह्णार]के चोख होनेपर यमकादि [अलङ्कारों]का प्रयोग नियमत नहीं करना चाहिये ।

भाषि शब्दम् मेवाही अनुपपेत्तु मापते ।

प्रकार य व्यवस्थाया कामीव्येक्यने तथा ॥

यमकादिमें भाषि शब्द प्रकार अर्थात् सादृश्यरक है । यमकारिका अर्थ 'यमकनटम दुष्कर' वद है । यमकनटम दुष्कर अलङ्कारोंमें मुरझवन्धादि और समद्वयश्लेष या सन्दर्भेण भी सम्प्राप्त है । 'पिच्छ' पदसेकावर्गविधाने श्लेष शब्द — पिच्छ पदोंमें अनेक अर्थोंका शब्द करना ज्ये अलङ्कार करणता है । 'पुनरिषया समद्वयाधामद्वयानुभवकारिकाः — वद का...

और उभयपक्षों के अर्थों में ही तीन प्रकारका है। शब्दस्वयं और अर्थस्वयंमेव ही शब्दोंके दो भेद हैं। प्राचीन आचार्य समग्रशब्दों और शब्दस्वयंको तथा अमग्रशब्दों और अर्थस्वयंको एक ही मानते हैं। 'प्राच्य स्वयंशब्दस्वयंकरत्वात् सर्वदो मायवः। इत्थं पद्यार्थं चित्तं और विष्णु दोनोंकी स्मृति है। 'सर्वं' सब-कुछ देनेवाले और 'अमग्रशब्दस्वयं' अमग्र अर्थात् सादृश्योंके अर्थकर बिनाश-हो अर्थात् सब माने पद्यको बनानेवाले सादृश्योंको कथानेवाले मायव शब्द तुम्हारी रक्षा करे। और सर्वदो उमायव चित्तं चो अमग्रशब्दस्वयंके मारनेवाले हैं, सर्वदो तुम्हारी रक्षा करे। यह दो अर्थ होते हैं।

'सर्वदो मायव' पद्यके दोनों पक्षोंमें अन्तर्गत पद्यस्वयं होते हैं। विष्णुपक्षमें 'सर्वदो मायवः पद्यस्वयं होता है और चित्तपक्षमें 'सर्वदो उमायवः' पद्यस्वयं होता है। यह समग्रशब्दों कहलाता है। और 'अमग्रशब्दस्वयं'का पद्यस्वयं दोनों पक्षोंमें एक-सा रहता है। 'सम्यक्' वह अमग्र-शब्दों कहलाता है। समग्रशब्दोंमें मिश्रपक्षमें उच्चार्य, दो मिश्र-मिश्र शब्दोंको अनुकालन्यासे— जैसे लकड़ीके बाण्डिम काल चित्तका दी जाय—स्मय होता है। अनु अर्थात् काल और काष्ठ दोनों अलग अलग पद्यार्थ हैं वे दोनों एकत्र जुड़ जाते हैं। इसी प्रकार जहाँ दो अलग-अलग शब्द एक साथ जुड़ जाते हैं वहाँ समग्रशब्द होता है और उचीको अर्थस्वयं करते हैं जैसे 'सर्वदो मायवः' में। 'अमग्रशब्दस्वयं'का पद्यस्वयं वा उच्चारण दोनों पक्षोंमें समान ही रहता है इत्यर्थ यह दो शब्द नहीं, एक ही समस्त शब्द है। उस एक ही शब्दमें दो अर्थ 'एकशब्दस्वयंशब्दस्वयं'से समझें हैं। जैसे लकड़े एक ही अर्थस्वयं दो पक्ष ठग जाते हैं इसी प्रकार जहाँ एक ही शब्दमें दो अर्थ समझें हैं वहाँ 'एकशब्दस्वयंशब्दस्वयं'से अर्थस्वयंका स्वर होता है। यह अमग्रशब्दों अर्थस्वयं होता है।

प्राचीन आचार्य समग्रशब्दोंके शब्दस्वयं, और अमग्रशब्दोंके अर्थस्वयं मानते हैं। इसीलिए यहाँ मूल प्रश्नमें 'वमकारदीनां वमकारकारणं कुम्भकार शब्दस्वयंशब्दस्वयंशब्दस्वयं' वह शब्दस्वयं और अमग्र-शब्दोंको एक ही मान कर लिखा है।

नवीन लोग समग्र तथा अमग्र दोनोंको ही शब्दस्वयं मानते हैं। उनके मतमें गुण, दोष तथा अर्थस्वयंदिमें उनको 'अवनिच्छाया या अवनिच्छाया निपात्यक अन्वयव्यतिरेक ही है। 'उत्' सत्ये च्' सत्ता अन्वय, 'तदभावे तदभावे व्यतिरेकः—जहाँ किसी विशेष शब्दके होनेपर ही कोई गुण दोष या अर्थस्वयं रहता है और उस शब्दको बर्णनकर उसका पयाववाची वृत्त शब्द रत्न देनेपर वह गुण दोष या अर्थस्वयं नहीं रहता वहाँ यह समझना चाहिये कि उस गुण, दोष या अर्थस्वयंका अन्वय विशेष रूपसे उस शब्दविशेष ही है। इत्यर्थ शब्दनिष्ठ माना जाता है।

इसी प्रकार जहाँ किसी शब्दके होनेपर वा अर्थस्वयंदि है उस शब्दको बर्णन कर वृत्त पयाववाची शब्द रत्न देनेपर भी वह अर्थस्वयंदि अर्थस्वयंका तर्क बना रहे तो वह गुण, दोष या अर्थस्वयं शब्दसे नहीं बरिच अर्थस्वयं समझ या अर्थस्वयं माना जायगा। इन कथोदीपर बरि समग्रशब्दों और अमग्रशब्दोंकी परीक्षा की जाय तो अमग्रशब्दों में शब्दनिष्ठ ही निकलेगा अर्थस्वयं नहीं। अमग्रशब्दोंका उदाहरण 'अमग्रशब्दस्वयं' दिया है। इस शब्दमें एक पक्षमें सादृश्योंका नाश करनेवाला वा बनानेवाला और दूसरी ओर अमग्रशब्दोंके मारनेवाला य दो अर्थ निकले हैं। अन्तु बरि 'अमग्र' पद्यको ह्यकार सादृश्योंका अर्थ पद्य रत्न दिये जायें तो दो अर्थ निकलना अमम्यव हा जायगा और अर्थ अर्थस्वयं नहीं रहेगा। इत्यर्थ अन्वयव्यतिरेक यहाँ समग्रशब्दोंकी भाँति अमग्रशब्दोंकी शब्दनिष्ठ ही उदाहरण है। इत्यर्थ नवीनोंके मतम तथा और अमग्र शब्दोंके अर्थ शब्दस्वयं ही हैं।

अत्र युक्तिरभिधीयते—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।

अपृथग्ययत्ननिर्वह्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥१६॥

निष्पत्ताबाधव्यर्थमूतोऽपि बन्धाङ्कारस्य रसाक्षिप्ततयैव बन्धः शक्यक्रियो भवेत्
सोऽस्मिन् अलङ्कारमन्वये ध्वनावलङ्कारो मतः । तस्यैव रसाङ्गत्वं मुच्यमित्यर्थः ।

अर्थश्लेष रत्न दोनोंसे मिल है और वह बर्ही होता है वहाँ ध्वनका परिष्कृत कर देनेपर भी दोनों अब निकलते रहते हैं । अन्ते—

“स्तोत्रनोपतिमापाति स्तोत्रेनायास्यभेदगतिम् ।

अहं सुसाहसी कृत्तिलुकाभेदेः लक्ष्यं च ॥”

उपजुकी इन्हीं और हुए पुरुषकी वृत्ति एक समान ही है । तनिकसे लोका, मध्या रत्नीमें नीचे लुका जाती है और तनिकसे ऊपर चढ़ जाती है । यहाँ ‘उपसिम्पयादि’ भादिके परस्पर उसका पयावकाची ‘ऊर्ण प्रमाति’ भादि कोई वृत्त छन्द रत्न दिश बाप लो दोनों अर्थ प्रतीय होते रहते हैं । अतएव वहाँ अयश्लेष होता है । अर्थश्लेष से शृङ्गारमें भी प्रयुक्त हो सकता है । बसिक मूल प्रथमें जो बुद्ध शब्द महाश्लेषका प्रयोजन किया है उससे जो वह सूचित होता है कि श्लेष समझ श्लेष ही बसित है । सरल समझश्लेष और अमहाश्लेषका प्रयोग भी शृङ्गारमें बसित नहीं है । अन्ते भागे उद्धृत होनेवाले “रत्नत्वं नवपन्थैरदमि स्थाप्यैः प्रियाया गुणैः । एत मुच्यमशोक केवदमहं वाचा शयोकः हृतः ।” इत्यादि श्लेषके अश्लेष पदका एक पद्यमें कद् बुद्धिश्लेषका वाचक और वृत्ते पद्यमें ‘नाति शोको बन्ध’ इत व्युत्पत्तिसे बौध्दिक मानकर और ‘रत्न’ पदमें सरल श्लेषका प्रयोग किया गया है ।

‘यद्यदपि प्रमादित्वं’का म्ब वह है कि ‘अभ्युत्पत्तिद्वयो वोग’ शब्दा अभिप्रेते कने ‘के अनुगार प्रतिभाकण्ठ कवितांसे कभी-कभी अभ्युत्पत्तिमूलक दोष हो जानेपर भी उनकी प्रतिभाके प्रभाकसे छिप जाता है । इसी प्रकार यमकादिका प्रयोग भी शकिक प्रभाकसे कुछ दप सकता है परन्तु फिर भी वह कविके प्रमादित्वका एक हागा ही । ऐसे रसास्वादमें विषयकारक यमकादिका प्रयोग न होना ही अच्छा होता है । ११५।

अलङ्कारप्रयोगकी कसौटी

इस विषयमें युक्ति [व्यापक नियम] भी कहते हैं—

[रसादि] व्यतिमें जिन [अलङ्कार] की रचना रससे भाहित [रसके रचानसे विनायात्रिकी रचना करते हुए स्वयं निष्पन्न] रूपमें बिना किसी अन्य प्रयोजके दो मके [व्यतिमें] यही अलङ्कार मान्य है । ११६।

[यमकादिकी] निष्पत्ति [रचना] हो जानेपर आशयजनक होनेपर भी [बिना प्रयोजके रचना सुन्दर यमकादि जैसे यम गया इस प्रकार आशयका विषय होनेपर भी] जिन अलङ्कारकी रचना रससे भाहित [बिना प्रयोजके स्वयं यनायानलाभ्य] रूपमें दो सरे यही इत सर्वलक्ष्यमध्यस्थ [रसादि] व्यतिमें अलङ्कार माना जाता है । यही मुच्यरूपम रचना अद्द होता है ।

यथा—

कपोले पत्राङ्गी करतकनियोधेन मुदिता,
निपीतो निःश्वासैरयममृतद्वयोऽभररसः ।
मुहुः कण्ठे ज्वनस्तरज्यति वाप्यः स्वनवर्दी^१
प्रियो मन्पुर्वात्स्वव निरतुरोधे न तु बयम् ॥

रसाङ्गत्वे च तस्य स्वरूपमपूयगन्तनिर्वर्त्यत्वमिति^२ । यो^३ रसं बन्धुमप्यवसितस्य
कवेरलङ्कारतां वासनामस्पृष्ट बन्तान्तरमाश्रितस्य निष्पद्यते स न रसाङ्गमिति । समके
च प्रकम्पेन मुद्दिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव बन्तान्तरपरिग्रह आपठति स्रष्टविद्योपान्ते
पणरूपः ।

अलङ्कारान्तरेष्वपि तत्पुंस्यमिति चेत् नैवम् । अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणतु
पटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहस्यूर्विकया परापठन्ति । यथा

इतिक्रिय न कञ्च शृङ्गार वा विप्रलम्भशृङ्गारमै अश्लि वीर तथा अमुतादि रसमै मी
प्रसङ्गपूर्वक गवकर रमे गमे बमकादि रसविष्णकारी होते हैं । प्रत्यकारने जो केवल शृङ्गारका नाम
मिया है वह इस दृष्टिसे हा कहा है कि शृङ्गार वा विप्रलम्भशृङ्गारमै वे रसके विष्णकारी हैं वह बात
जो निगमबन्धो सहृदय नहीं है वे साधारण पुरुष भी समझ सकते हैं । उनकी दृष्टिसे शृङ्गारका नाम
विशेषरूपसे स्थित दिया है । वास्तवमें जो करन भाँति अन्य रसोंम मी इतमि बमकादि प्रतिकल्पक
होते हैं इतिक्रिय आगे 'रमोऽङ्गत्वं तस्मादाया न विषय' मिलकर सामान्य रूपसे उन्ही रसोंमें उनकी
रसाङ्गताका निरोध किया है ।

द्विसे—

[तुम्हार] गालपर बनी हुई पत्रापलीका हाथकी रगाङ्गने मल जाला [तुम्हार]
अमृतके समान मधुर अभररसका पान [पह उष्ण] मिश्रभास कर रहे हैं ये अशुषिगु
यार-यार तुम्हार कण्ठका आलिङ्गन कर स्तनोंको दिला रहे हैं, अथि निर्दये यही श्लेघ
तुम्हें [इतना] प्रिय हो गया और हम [हमारी कहीं पूछ ही] नहीं ।

उक्त [अलङ्कार] के रसाङ्ग होमेपर अपूयम्यरनिर्वर्त्यत्व ही उसका अक्षण है ।
जो अलङ्कार, रसबन्धनमें तत्पर कथिकी उक्त [रसबन्धनाप्यवसायवासना] वासनाका
अतिब्रम्य करके [अलङ्कारनिष्पादनाय] वृत्तर प्रयत्नका आधम सेमेपर [ही] बनता है
वह रसका अङ्ग नहीं है । और जान-बूझकर यमकका निरन्तर प्रयोग करनेपर तो [उसके
मिष, उपयुक्त] विशेष शब्दोंकी स्वाञ्जक नया प्रयत्न भयदय ही करना पड़ता है ।

[पूर्वपक्षी पूछना है कि यह बात आप यमकके लिए ही क्यों कहते हैं उपयुक्त
शब्दोंकी स्वाञ्जका प्रयत्न तो अन्य अलङ्कारोंमें भी करना पड़ता है ।] यह [पान] ता

१ तदम् नि ।

२ अलङ्कारमधुममपूयगन्तं निरूप्यत इति नि श्री० ।

३ यो वह वर कपोल वाद है ही । नि में जो पर है ही नहीं ।

४ न नहीं है नि ।

काव्यमया काव्यपीडनाकसरे । पया च मायायमसिरोवर्तनेन विह्वलाया सीतादेव्यां संघी ।

मुक्तप्रेतत् । यतो रसा बाध्यविशेषैरेवाहोतव्याः । तत्प्रतिपाद्यकैश्च सव्यैस्तत्र काश्चिनो बाध्यविशेषा एव रूपकाद्योऽलङ्काराः । तस्मान् तेषां बहिरङ्गत्वं रसामिभ्यश्चै । यमकदुष्करमार्गेषु तु तत् स्थितमेव ।

यत्तु रसवन्ति कानिचित्तमकाशीनि हरन्ते तत्र रसाशीनामङ्गता, धमकाशीनाम्बङ्गितैव । रसामासे बाङ्गत्वमप्यविरुद्धम् । अङ्गितया' तु व्यङ्ग्ये रसे नाङ्गत्वं 'पृथक्प्रत्य स्तनिर्यैर्त्वंत्वाद् यमकाद्यैः ।

अप्य अलङ्कारोंमें भी समान ही है—यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि, दूसरे अलङ्कार रचनार्थमें कठिन दिखाई देनेपर भी रसमें वृत्तवित्त प्रतिमावान् कविके सामने होकर लगा कर स्वयं दौड़े आते हैं । जैसे काव्यमयी [प्रम्य] में काव्यमयी [मायिका] के दर्शनके अयसरपर । अथवा जैसे संसुषण्य [काव्य] में रामचन्द्रके वनावली [कट्ट ह्रुप] सिरको देखकर सीतादेवीके विह्वल होनेपर ।

और यह [अहम्यपूर्विकया परापठन] उचित भी है क्योंकि रसोंकी अभिव्यक्तता बाध्यविशेषसे ही होती है । और उन [बाध्यविशेष] के प्रतिपाद्यक दार्ष्टान्ते उन [रसादि] के प्रकाशक रूपकादि अलङ्कार [उन शब्दोंसे प्रकाशित] बाध्यविशेष ही हैं । इसलिये रसकी अभिव्यक्तिमें उन [रूपकादि अलङ्कारों] की बहिरङ्गता नहीं है । यमक भाविके दुष्कर [बुद्धिपूर्वक बहुप्रयत्नसाध्य] मार्गमें तो बहिरङ्गत्व [मिथ्यप्रयत्नमिथ्या घाव] निदिष्ट ही है ।

जहाँ कहीं कोरे-कोरे यमकादि [अलङ्कार] रस सहित दिखलाई दते हैं वहाँ धमकादि ही [अङ्गी] प्रथम हैं रसादि उनके अङ्ग हैं । [अर्थात् वहाँ रसव्यति नहीं है ।] रसामासमें [यमकादिको] अङ्गरूप माननेमें भी कोरे विरोध [ज्ञान] नहीं है । परन्तु वहाँ रस प्रधानतया [अङ्गितया] व्यङ्ग्य हो वहाँ तो पृथक्प्रयत्नसाध्य होनेमें [यमकादि] अङ्ग नहीं हो सकते ।

मूल प्रथके 'निरूप्यमाणदुष्करानि' परका 'निरूप्यमाणानि सन्त दुष्करानि', 'बुद्धिपूर्वक विधीयितान्यपि कर्तुमशक्यानि' अथवा 'बुद्धिपूर्वक सोच-विचारकर रचना करना चाहें तो भी कितनी रचना न हो सके इतने कठिन, और साथ ही अब अनायास ही उनकी रचना हो जाय तो 'निरूप्य माणे दुष्करानि' यह देखकर भारवब हो कि यह इतना सुन्दर अलङ्कार कैसे आ गया । यह तो प्रकारके अर्थ हो सकते हैं । यह दोनों ही अर्थ प्रकृत शिष्यको परिपुष्ट करनेवाले हैं । इसलिये लोचन फाले इन फरकी व्याख्या करते समय दोनों अर्थ दिग्गवाये हैं । और वहाँ इन दोनों अर्थोंका विह्वल नहीं अर्थात् समुच्चय ही टीकाकारको समझ है ।

१ अङ्गिता नि ही ।

२. दुष्कर ही० ।

अत्यैवार्थस्य संमहश्छोकाः—

‘रसवन्ति हि वस्तुनि साञ्छ्वापि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्बर्त्सन्ते महाकवेः ॥
यमकादिनिष्पन्ने तु पृथग्यत्नोऽत्रय जायते ।
शकस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेपां न विद्यते ॥
रसामासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते ।
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे स्वङ्गवा नोपपद्यते ॥१६॥

इदानीं ध्वन्यात्मभूतस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽलङ्कारवर्ग आस्थाक्ये—

‘ध्वन्यात्मभूते शृङ्गार समीक्ष्य विनिवेदितात् ।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥१७॥

अलङ्कारे हि वाञ्छालङ्कारसाम्बाधितरथाक्यत्वेतुल्यते । वाञ्छालङ्कारवर्गश्च रूपकादियावानुक्तो, पश्यते च कैश्चिद्, अलङ्कारवर्गामनन्तत्वात्, स^१ सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेद्यते तद्वत्त्वकमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्गङ्गनः सर्वस्यैव^२ कारुत्वेहेतुर्निष्पद्यते ॥१७॥

इमी [उपयुक्त गद्यस्य धियय] अर्थके संमह [आत्मक ये मिम्योक्त] छोका ई—

कोई-कोई रसयुक्त वस्तुएँ [रसवन्ति वस्तुनि] महाकविके [रसमिबन्धना-
नुकूल] एक ही व्यापारसे साञ्छ्वा [मी] बन जाते हैं [अर्थात् उनमें अलङ्कारनिष्पा-
दनार्थ असंग व्यापार नहीं करना पड़ता] ।

परन्तु यमक आदिकी रचतामें ता प्रतिभावात् [द्राक्षस्वापि] कविका भी पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है इसलिये ये [यमकादि] रसके अङ्ग नहीं होते ।

[हैं] रसामात्मोंमें उनको अङ्ग माननेका निषेध नहीं है, [केवल] प्रधानभूत [ध्वनिरूप] शृङ्गार [आदि रसों] में ही यह अङ्ग नहीं बन सकते हैं ॥१६॥

शृङ्गारदि रसोंमें देव यमकादिवगका बचन कर दिया अत्र आगे उपादेव वगका निरूपण करेंगे ।

अथ ध्वनिके आरम्भभूत शृङ्गारके अभिप्यञ्जक अलङ्कारवर्गका निरूपण करते हैं—

ध्वन्यात्मक शृङ्गारमें [अभिप्यकारिकामोंमें प्रतिपादित पद्यतिस] साय-सामञ्जकर [उचित रूपमें] प्रयुक्त किया गया रूपकादि अलङ्कारवर्ग वास्तविक अलङ्कारताको प्राप्त होता है । [अलङ्कार्य प्रधानभूत शृङ्गापदिकर वाद्यत्वेहेतु होनेसे अपन ‘अलङ्कार’ नामका धरितार्थ करता है] ॥१७॥

बारा आभूषणोंके समान प्रधानभूत [अङ्गी] रसके वाद्यत्वेहेतु [रूपकादि ही] अलङ्कार कह जाते हैं । जितने भी रूपकादि वाञ्छालङ्कार प्राचीन [मामहादि] कह चुके हैं अथवा अलङ्कारों [वाद्यत्वेहेतुओं] की अस्तित्वताके कारण भाग वह जायेंगे, उन मपन यदि विद्यार्थपूर्वक [काव्यमें] लिखद किया जाय [अगली कारिकामोंमें प्रदर्शित

१ त वि ही में नहीं है ।

२ सर्व पञ्च ही ।

एषा चास्य विनिवेशने समीक्षा—

विबद्धा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन ।

काले च ग्रहणास्यागौ नातिनिर्बर्हणौपिता ॥१८॥

निर्व्यूहावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् ।

रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥१९॥

रसध्वम्बेष्वाहवमनाः क्विर्यमङ्गहारं तदङ्गतया विवक्षति । यथा—

बद्धपाङ्गां दृष्टिं सृष्टसि चक्रुशो वेपथुमर्षा,

रहस्याङ्गवापीव स्वनसि मृदुक्कर्मोन्तिकधराः ।

नियमोंके अनुकूल प्रयुक्त किया जाय] तो वे, अस्तंरूपकमप्यङ्गय प्रधानभूत समी
क्षणियों [रसों] के आहत्यहेतु [अलङ्कार] होते हैं । १७।

रूपकादि अथालङ्कारोंके प्रयोगके छ नियम

इस [रूपकादि अलङ्कार] के [काव्यान्तर्गत] प्रयोगमें [यह समीक्षा] इन बातोंका
विचार करना आवश्यक है—

१ [रूपकादिकी] विषयता [सर्वेष रसको प्रधान मानकर] रसपरत्वेन ही [वर्ण्य]
हो, २ प्रधान रूपसे किसी मी वृत्तमें नहीं । ३ [उचित] समयपर [उत्तका] ग्रहण
और ४ त्याग होना चाहिये ५ [मादिस अन्ततक] अत्यन्त निर्बाहकी इच्छा
[पल] नहीं करना चाहिये । १८।

६ [यदि कहीं अनायास आघस्त निर्बाह हो जाय तो] निर्बाह हो जानेपर मी
[यह] अङ्गरूपमें [ही] हो यह बात सावधानीसे फिर देख लेनी चाहिये । यही [समीक्षा]
रूपकादि अलङ्कारवर्गके अङ्गत्वका साधन है । १९।

इन कारिकाओंमें प्रथम कारिकाके चारों परल्ले और दूसरे कारिकाके पूवाह इन पाँचोंके
हाय अन्तिम कारिकाके उचयद्वारा 'रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्'का अन्वय होता है । फिर
इन उचयों मिलाकर १—[इ १ १] "यमङ्गहारं तदङ्गतया विवक्षति, २—[पू ११०] नाङ्गित्वेन,
३—[पू १११] कम्पले यक्षति, ४—[पू ११२] यमपले लजति, ५—[पू ११३] सं नाक्तं
निर्व्यूहमित्यति, ६—[पू ११६] निर्व्यूहावपि सं यमपहङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते, [पू ११७] एष एव
मुनिवच्यमानो रसाभिष्यच्छेत्तुर्मवति" यह बड़ा कम्पा महाकाव्य है । उस महाकाव्यके बीचमें उदा
हरणोंके देने, उनकी सप्रति कथाने और उक्त सङ्गतिका समयन आदि करनेके सिद्ध बीपका हो
ग्य है । इस विस्तृत महाकाव्यका प्रारम्भ बगले वाक्यसे होता है और उल्लेखी उन्मति भागे बचकर
पृष्ठ ११७ पर होगी ।

१—रसध्वन्यमें आधरवाम् कवि जिस अलङ्कारकी उम [रस] के अङ्गरूपमें
कहना चाहता है । [उत्तका उदाहरण] जैसे—

[काव्यिदामके 'शकुन्तला' नाटकमें, पाटिकाभिन्नममें मगी हुई दापुस्तलाको
उपकर देखने हुए दुप्यन्त, उमके पास मँडराते हुए अमरका हाकर कहने हैं] दे

१ रूपध्वने: नि ही ।

१ एता नि ।

करो न्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं,
वयं तस्यान्वेषान्मधुकर इवास्त्वं कलु हवी ॥

अत्र हि भ्रमरस्वभावोक्तिरलङ्कारो रसानुगुणः ।

नाहित्वेनेति न' प्राधान्येन । क्वाधित्रसावितात्पर्येण विवक्षितोऽपि' अङ्गहारः
कमिषित्वेन विवक्षितो दृश्यते ।

पद्या—

शकामिपातप्रसमाह्वयेव शकार भो राहुवपूजनस्य ।

आङ्गिनोदामविद्यसबन्ध्वं रतोत्सवं धुम्बनमाप्रक्षेपम् ॥

अत्र हि पर्यायोक्तस्याहित्वेन विवक्षा रसावितात्पर्ये सत्यपीडि ।

मधुकर ! तुम इस शकुन्तलाकी [मयपरिकल्पित] अङ्गल और तिरछी चितवनका [रूप] स्पर्श कर रहे हो एकान्तमें या रहस्य निवेदन करनेवालेके समान कानके समीप जाकर गुनगुनाते हो [उड़ानेके लिए इधर-उधर] हाथ झटकती हुई इस [तरुणी शकुन्तला] से रतिसर्वस्व अधर [भसूत] का पान कर रहे हो । हे मधुकर ! हम तो तस्यान्वेषण [अर्थात् हमारे प्रहण करने योग्य शत्रिया या प्राणभी है या नहीं, इस खोज] में ही मारे गये और तुम हतहृत्य हो गये ।

यहाँ भ्रमरके स्वभावका वर्णनरूप 'स्वभावोक्ति' अङ्गहार, उसके मधुकर ही है ।

[उपर्युक्त समीक्षाप्रकरणमें दूसरी बात थी 'नाहित्वेन क्वाचन' इसका अर्थ 'न प्राधान्येन' अर्थात् "प्रधान रूपमें नहीं" यह है । कमी-कमी रसावितात्पर्यसे निवृत्त होनेपर भी भ्रमरका अही प्रधान रूपमें विवक्षित वेता है इसी बातको भागे कहते हैं ।]

२—नाहित्वेन [का अर्थ] न प्राधान्येन प्रधान रूपसे नहीं [पिसा] है । कमी रसावितात्पर्यसे [रसाविक्षेपे प्रधान मानकर] विवक्षित होनेपर भी कोई अङ्गहार प्रधान रूपसे विवक्षित विवक्षित वेता है ।

संक्षेप—

[विष्णुने] अङ्गप्रहाररूप [मपनी] अनुसूतधनीय आङ्गसे राहुकी परिष्कारके मुरतोत्सवको [आङ्गिनोपयोगी इस्तादि न रहनेमें] आङ्गिनप्रधान विद्यमसाँसे विहीन, धुम्बनमाप्रक्षेप कर दिया ।

यहाँ रसाविक्षेपे होनेपर भी पर्यायोक्त [अङ्गहार] प्रधानतया विवक्षित है ।

इस लोकेमें राहुके कण्ठच्छेदकी घटनाका प्रकारान्तरसे उल्लेख करनेसे यहाँ पर्यायोक्त अङ्गहार है । राहुके कण्ठच्छेदकी घटना वैरागिक रूपके आधारपर इस प्रकार है । समुद्रमन्थनके समय जब समुद्रन भगूत निकलन सब देवता और देव दोनों उगरे स्थिर रहने लगे । विष्णुने मोहिनीरूप धारण कर भगूतकण्ठके अपने हाथमें ले लिया । देव उनके मोहिनीरूपपर मोहित हो गये और भगूतका पान भूल गये । विष्णुन देखेको अन्ध पश्चिम एक ओर, देवताओंको दूसरी ओर

१ वि ही में 'न पाद नहीं है ।

२ ही में 'अपि नहीं है ।

अङ्गत्वेन^१ विवक्षितमपि धममरे गृह्णाति नानवसरे । अथसरे गृहीतिर्यथा—

ब्रह्मात्मैकिकीं विषण्डुररुचं प्रारम्भमनुष्मां क्षणा
दायासं इवसन्नोद्गमैरुविरुद्धैरुत्तन्वतीमात्मना ।

बिठाकर देखाओंकी ओरसे अमृत बॉटना शुरू किया । उनका आशय था कि पहिले देखाओंमें अमृत बॉटकर वही उसको समाप्त कर दिया जाय । राहु इस अभिप्रायको समझ गया और चुपकेसे उनकर देखाओंकी पंक्तिमें सर्व और पन्द्रमाके बीचमें बैठ गया । येदिनीने उसे भी अमृत पिष्टा दिया और वह अमृत हो गया । परन्तु पाश बैठे पूर्व-पन्द्रमाके सङ्घर्षसे जब मोहिनीरूपपारी किणुको यह बात मात्तम हुई तो उन्होंने अपने कपटे राहुके सिरका अलग कर दिया । उसका सिरका भाग 'राहु' और बड़का भाग 'चिद्रु' कहा जाता है । अमृतपान कर चुकनेके कारण सिर कट जानेपर भी वह मर नहीं । हमीसे सूत्र और पन्द्रमाके साथ राहुका घेर है ।

इस स्तोत्रमें पञ्चमहारूप आज्ञासे राहुको पतिबंधके मुक्तोत्सवको आदिहिनप्रधान विचारोंसे विहीन कुम्भमात्रघोष कर दिया । इस कथनपद्धतिसे उसके कण्ठभेदका प्रकाशन्तरसे कथन किया है । इत्येव पर्यायोक्त अङ्गद्वार है ।

रसादिमें तात्पर्य होते हुए भी वहाँ पबत्सोक अङ्गद्वारका प्राधान्य है । यदि इसको ही व्याख्या इसकी मानी जाय तो यह 'नाङ्गत्वेन ब्रह्मपन'के विपरीत होनेसे दोषका उदाहरण होना चाहिये । परन्तु अवेदनकारने इसकी व्याख्या प्रकाशन्तरसे करके यह सिद्ध किया है कि यह दोषका उदाहरण नहीं है, क्योंकि आगे प्रत्यकारने म्ब्राह्मण्यके वृणोद्घाटनको अपना ही दोष बताया है । अतएव इस स्तोत्रमें उन्होंने वृणोद्घाटन नहीं किया है वह अवेदनकारका कथना है । इसकी रसादिपद्या सिद्ध करनेके लिये अवेदनकार कहते हैं कि यहाँ बामुनेशके प्रथापका ही मुख्यता फलन है । इत्येव प्रधान तो बसि भाष है किन्तु सावरूप होनेसे वह वास्तवमें नहीं है । वास्तवमें तो पर्यायोक्त अङ्गद्वार ही है । यह इस बातका एक उदाहरण है कि कहीं-कहीं प्राणतीय बल अङ्गद्वारको भी महभूत अङ्गद्वार तिरस्त्र कर देता है ।

किन्तु अवेदनकारकी यह व्याख्या भ्रष्टाचार और प्रत्यकारके अभिप्रायके निरुद्ध है । प्रत्यकारने इस स्तोत्रकी जो अक्षरविक्रम ही है उसमें इस अङ्गद्वारकी प्रधानताको उदाहरण मना है ।

३—अङ्गद्वारमें विवक्षित होनेपर भी जिसका अर्थसरपर प्रहय करता है अनय सरमें नहीं । अर्थसरपर प्रहयका [उदाहरण] जैसे—

आज मन्मावेशयुक्त अम्य नारीके समान [छत्तापक्षमें मन्म नामक वृक्षपिशाचके साथ स्थित उसपर चढ़ी हुई] प्रवत्त उरकण्ठाने युक्त, [छत्तापक्षमें प्रचुरमात्रामें कलियौं नं उन्नी हुई], अतएव [नारीपक्षमें उत्कण्ठातिशयके कारण] पाण्ड्यमं [और छत्तापक्षमें कक्षिकवाद्युत्सवके कारण] उमरने नीचेतक इधेतवर्ण] और उन्नी समय [नारीपक्षमें मन्मावेशके प्रमावस] ऊँमार लेनी हुई [और छत्तापक्षमें विवक्षित होती हुई], तथा [नारीपक्षमें] सन्पी सान्निभं अपने मन्मावेश या इत्यके सन्तापको प्रकट करती हुई [छत्तापक्षमें वायुके निरन्तर मोहोंसे अभिपत्त हुई], समप्रजा [नारीपक्षमें काम विकारयुक्त और छत्तापक्षमें मन्मपक्षके वृक्षके साथ अघात् उसपर चढ़ी हुई], इन

अधोधानच्छताभिर्मा समदन्तां नारीभिधान्यां धुर्ध,
पश्यन् कोपविपाटलमुविमुर्त्तं देव्याः करिष्वाभ्यहम् ॥

इत्यत्र उपमा' इष्टेपस्य ।

गृहीत्वमपि यमवसरे स्वसति वद्वसानुगुणतबाह्वारान्तरापेक्षया । यथा—

रक्तस्त्वं नवपस्त्वबैरुहमपि इत्थाप्यैः प्रियाया गुणै
स्त्वामायाति सिद्धीमुक्ताः गमरन्तुर्मुक्ताः सखे मामपि ।
कान्तापावृत्ताह्वित्तव मुने, तद्रन्ममाप्नावबोः,
सर्वं तुस्वमशोक ! केवलमहं घात्रा सशोकः कृतः ॥

उधानच्छताका देखते हुए मित्रय ही आज मैं रानीके मुखको क्रोधसे छाछ कर दूँगा ।
[यहाँ राजा उद्यमन माधी सागरिक-त्रेममूलक इर्ष्याविप्रलम्भका अनजान सूचित किया]

यहाँ उपमा इत्येका [अयसर्गमें प्रह्वण है । उमके द्वारा रसका परिपाय हो रहा है । अतः यह अवसरपर प्रह्वणका उदाहरण है] ।

यह पद्य 'रत्नावली' नाटिकाका है । राजाकी नवमायिका तथा दाहवियौषके प्रयोगसे अफात्ममें कुमुन्त हा उठी है और रानी वासवदाकी नहीं । यह जान कर राजा अपने नमस्विष किपूकसे कह रहा है कि आज जब मैं मरनापेक्षबुद्ध परनारीके समान इस क्वाका देखूँगा तो रानी वासवदाका मुख ईर्ष्यासे लाल हो जायगा । इर्ष्याका मुख्य कारण तो यही है कि प्रलुत विद्येर्ष्यासे तथा कामक आवेद्यसे कुछ परनारीके समान प्रतीत हो रही है अतः उसकी ओर देखना रानीको असह्य होगा । इस कारणसे जब मैं उधानच्छताको देखूँगा तो रानीका मुख क्रोधसे आरकष्यति हो जायगा ।

५—प्रह्वण करनेपर भी उस रसके अनुगुण होनेसे अस्त्रावस्त्ररूपी अपेक्षासं [कथि] निमको अवसरपर छाड़ देता है । [उस अपसरपर त्यागरूप घतुर्य समीक्षा प्रकारका उदाहरण] जैसे—

[यह इशोक भी 'रत्नावली' नाटिकाका है । राजा अशोकबृहस कह रहे हैं] इ अशाक तुम अपने नवीन पल्लवोंसे रक्त [साछ हो रहे] हा मैं भी प्रियाके गुणोंसे रक्त [अनुपगमुक्त] हूँ । [इस दृशकमें प्रथक धरणका पूवाइ उहीपनविमापपरक समझना चाहिये] तुम्हारे पास शिखीमुख [अमर] माते हैं और इ मित्र ! कामप्यके घनुपसे छोड़े गये शिखीमुख [वाण] भर ऊपर भी माते हैं । ['पादापातादशोका विक्रमति यकुर्मं यापितामाम्यमयी' की कथिप्रसिद्धिके अनुसार] कान्ताका पादप्रहार तुम्हारे शिष्य मानन्दवाचक है ता [तुम्हारे विक्राम द्वारा, अथवा कान्तापावृत्तिकरूप सुरतवन्धविनाय द्वारा] यह मेरे लिए भी मानन्दवाचक है । [इस प्रकार] हे अशोक ! [इम तुम] मध प्रकार परपर है केवल [अन्तर यह है कि [विधातान मुस सशाक [शाक-मुक्त] कर दिया [और तुम अशोक—शोकरहित हा] ।

१ ति ही मैं 'उपमा' कर रही है ।

अत्र हि प्रकल्पप्रवृत्तोऽपि श्लेषो व्यतिरेकविषयतया स्वम्यमानो रसविशेषं पुण्याति ।
मात्रालङ्कारव्यसम्पिपाताः, किन्तहिं, अलङ्कारान्तरमेष श्लेषव्यतिरेकसम्पूर्णं नरसिंह
वदिति चेत् ?

न । तस्य प्रकल्पान्तरेण व्यवस्थापनात् । यत्र हि श्लेषविषय एव शब्दे प्रकाश
न्तरेण व्यतिरेकप्रतीतिर्जायते, स तस्य विषयः । यथा—

“स हरिर्नाम्ना देवः सहारिबन्सुरगान्निवहेन”

इत्यादी ।

अत्र ह्यस्य एव शब्दाः श्लेषस्य विषयोऽन्वय व्यतिरेकस्य । यदि चैवविषये

यहाँ [तीन पदोंमें] मिरन्तर विद्यमान श्लेष [अन्तर्में] व्यतिरेक [अलङ्कार]की
वियक्तान्ते छोड़ देनेसे रसविशेषकी परिपुष्टि कर्त्ता है ।

संसृष्टि या नरसिंहवत् अलङ्कारान्तर

भाग १११ तकके इस शब्दे प्रकरणमें प्रकृत 'रक्तस्वम्' इत्यादि श्लोकमें श्लेष और
व्यतिरेककी संसृष्टि है यथा नरसिंहवत् यह कोरं वृत्त ही अलङ्कार है इस विषयका विचार किया
गया है । प्रकृत अलङ्कारान्तरवाच्योक्त है, और सिद्धान्तपरममें यहाँ श्लेष और व्यतिरेककी संसृष्टि
मानी है । प्रकृत प्रकरणसे अन्यकारने ऐसे अक्षरोंपर नया अलङ्कारान्तर माननेका सम्बन्ध किया है ।

[अलङ्कारान्तरवादी पूर्वपक्षीकी शङ्का यह है कि]—यहाँ दो अलङ्कार [श्लेष
और व्यतिरेक] नहीं हैं [इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि व्यतिरेककी अपेक्षासे
अन्तिम अक्षरमें श्लेषका छोड़ दिया है] । तब क्या है ? नरसिंहके समान [श्लेष और
व्यतिरेकको मिलाकर] श्लेषव्यतिरेकरूप वृत्त ही [सङ्कर] अलङ्कार है ?

[संसृष्टिवादी सिद्धान्तपर]—यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि उस [एका
अथानुप्रवेशरूप सङ्कर] की स्थिति प्रकरणान्तरसे होती है । जहाँ श्लेष अलङ्कारके
विषयभूत [श्लेष] शब्दमें ही प्रकाशान्तरसे व्यतिरेककी प्रतीति होती है यही उस
[श्लेष और व्यतिरेकके एकाग्रयानुप्रवेश सङ्कर] का विषय होता है, जैसे—

यह देव तो नाममात्रसे स-हरि है और यह [राजा] भेद्य मन्थममूतके कारण
महरि है ।

[संसृष्टिवादी] इत्यादि उदाहरणमें [श्लेष और व्यतिरेक दोनों 'सहरि' इस एक
ही पदमें आधित हैं । इसलिए यहाँ तो श्लेष और व्यतिरेकका एकाग्रयानुप्रवेशसङ्कर
पन जाता है] ।

संसृष्टिवादी—[परन्तु यहाँ 'रक्तस्वम्' इत्यादि श्लोकमें] यहाँ तो श्लेषके विषय
बन्ध [रक्त भावि] शब्द है और व्यतिरेकके विषय [अशाक तथा सशोक] अन्य
शब्द है [अतः यहाँ एकाग्रयानुप्रवेशसङ्कर नहीं हो सकता] । [संसृष्टिवादी सङ्कर

१ शब्दश्लेषस्य वि ।

विषयेऽलङ्कारान्तरत्वकल्पना क्रियते' धर्तृसूत्रेर्विषयापहार एव स्यात् ।

दृष्टेयमुखेनैवात्र व्यतिरेकस्यात्मज्ञान इति नार्यं संसृष्टेर्विषय इति चेत् ?

न । व्यतिरेकस्य प्रकारान्तरेणापि वर्तमानात् । यथा—

नो कस्यापावबायोर्व्ययमवच्छिन्नाभरस्यापि क्षम्या,

गाढोत्तीर्णोऽम्बुजभीरुनि न रहिता नो वमः कञ्जनेन ।

प्राप्तोत्पत्तिः पञ्चान्न पुनरुपपत्ता मोपमुष्मत्किपो वो,

वर्तिः सैवाम्यरूपा मुखयत्तु निश्चिच्छीपवीपस्य वीतिः ॥

धात्रीकी भारसे शङ्का उद्यता है कि—यद्यपि दृष्टेय और व्यतिरेकके विषय भिन्न हैं परन्तु यह है तो एक वाक्यके अन्तर्गत । इसलिये दृष्टेय और व्यतिरेकका विषय शब्दको न मानकर उस वाक्यको माना जाय तब तो उन दोनोंका एकवाक्यरूप एक आशयमें अनुप्रवेशरूप सङ्गठन बन जाता है । आगे संसृष्टियात्री उच्यते वेता है कि—यदि ऐसे विषयमें [सङ्कररूप] अलङ्कारान्तरकी कल्पना की जाय तब फिर संसृष्टिका विषय ही कहीं नहीं रहेगा । [फिरोंकि एकवाक्याशयकी सीमा तो बहुत विस्तृत है । संसृष्टिके सभी उदाहरण इस प्रकारके सङ्करकी सीमामें आ जायेंगे । इसलिये यहाँ 'रक्तस्थं इत्यादिमें सङ्कर मानना उचित नहीं है । संसृष्टि ही माननी चाहिये ।]

उद्भवादी फिर शङ्का करता है कि—अच्छा यहाँ एकाभयानुप्रवेशसङ्कर न चली, फिर भी सङ्करका वृत्त मेव अङ्गाङ्गिभ्यवसङ्कर हो सकता है । क्योंकि व्यतिरेक तो उपमागर्भ होता है, किन्हीं वाची तुम्हना करके ही उनमें एकका आधिपत्य कहा जा सकता है और यहाँ आशेकवृत्त और नायकका साम्य, 'रक्तस्थम्' इत्यादि विभक्त विशेषणके कारण ही प्रतीत होता है । इसलिये दृष्टेय, व्यतिरेकका अनुग्रहक है । अतएव यही करते हैं—यहाँ अङ्गाङ्गिभ्यवसङ्कर ही है, संसृष्टि नहीं । जब एक ही सङ्कररूपकार है तब व्यतिरेकके स्थित दृष्टेयको छोड़ दिया गया वह अवशरे त्यागका उदाहरण ठीक नहीं ।

[सङ्करयात्री पूर्वपक्ष]—इसके द्वारा ही यहाँ व्यतिरेककी सिद्धि होती है इसलिये यह संसृष्टिका विषय नहीं है यह शङ्का करत ता [संसृष्टियात्री सिद्धान्तपक्ष] यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि व्यतिरेक [उपमाके ऊपर ही आधित नहीं है उपमा कथनके विना भी] प्रकारान्तरसं [उपमा या साम्यकथनके विना] भी देखा जाता है । जैसे—

अस्मिन् विषयके प्रकाशक [धीपक] सूत्रयकी धीतिरूप यह छाकोत्तर यही आ निष्पन्न वेगसे पयसोंको विद्वलित करनवाले कन्यामृतयायुसे भी युक्त नहीं सकती जो विलम्बे भी अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाश होती है जो तमारूप कसकसे मर्यादा रहित है जो पतङ्ग [कीटयिगाय] से तुल्यता नहीं वस्तुकि [पतङ्गसूर्यसं] उत्पन्न होती है, यह [सोका चर यही] हम समयके सुम्भी करे ।

१ तका संसृष्टे ही ।

२ ही में यथा पाठ नहीं है ।

अत्र हि साम्यप्रपञ्चप्रतिपादनं विनैव व्यतिरेको वर्धितः ।

नात्र श्लेषमात्राचारत्वनिष्पत्तिरस्तीति श्लेषस्य व्यतिरेकाद्व्यत्येनैव विवक्षितत्वात्^१
न स्वतोऽसङ्गारतेस्पधि^२ न वाच्यम् । यत् एवविषये विषये साम्यमात्रादपि सुप्रतिपादि
वाचादत्तं दृश्यत एव । यथा—

आकन्द्याः स्तनिर्वीर्बिलोचनज्ज्वात्म्यम्यन्तधारायन्मुम्भि-
कद्विच्छेदमुबभूव शोक्सिक्किनस्तुस्यात्मद्विभ्रमैः ।

अन्तर्मे बुध्वागुलं ठव क्षप्ती घृतिः समैवावयो
स्तत् किं मामनिर्ज्ञं सखे जलधर त्वं वग्धुमेवाद्यतः ॥

इत्यादौ ।^३

यहाँ साम्यकथनके बिना ही व्यतिरेक विज्ञाया गया है [अतः व्यतिरेकके लिये
शाब्द उपमाकी अपेक्षा न होनेसे 'रक्तस्वम्'में श्लेषोपमाको व्यतिरेकका अनुप्राहक
माननेकी भी आवश्यकता नहीं। अपितु श्लेष और व्यतिरेक दोनों अलग-अलग अलग
द्वारोंकी संघटि हो माननी चाहिये] ।

[सङ्हरवादी पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है कि यद्यपि "ओ कस्यापाययायो"वाले
इस पंक्तिकमें व्यतिरेकानुप्राहिकी उपमा नहीं दिखाई देती है यिमा उपमाके भी
व्यतिरेक है, परन्तु "रक्तस्वम्"वाले उदाहरणमें तो व्यतिरेकके लिये श्लेषोपमा
ग्रहण की गयी है। क्योंकि उसके बिना केवल श्लेषोपमाने आरम्भप्रतीति नहीं होती।
इसलिए अकेले श्लेषोपमाके स्पष्ट अङ्गार—आरम्भहेतु—नहीं मान सकते। अतः
श्लेषोपमानुगृहीत व्यतिरेकके ही आरम्भहेतुत्व सम्भव होनेसे यहाँ अङ्गाङ्गिभाषसङ्कर
ही है संघटि नहीं। इसीको कहते हैं—]

[सङ्हरवादीकी ओरसे शङ्का]—यहाँ ["रक्तस्वम्"में] केवल श्लेषोपमाके
आरम्भप्रतीति नहीं जाती है इसलिए श्लेष यहाँ व्यतिरेकके अङ्ग [अनुप्राहक] रूपसे
ही विवक्षित है अतः वह व्यर्थ अङ्गुल नहीं है। [यह शङ्का करते ता संघटिवादी
सिद्धान्तपर] यह भी नहीं कहना चाहिये। क्योंकि इस प्रकारके [व्यतिरेकके] विषयमें
[श्लेषोपहित] साम्यमात्र [उपमागमं व्यतिरेक] के सम्यक् प्रतिपादनने भी आरम्भ
विश्रांति देता है। जैसे—

[मेरे] अन्तर्मे तुम्हारे गर्जनके समान है, [मेरे] अधु तुम्हारी निज्जर यहनेवाली
जलधाराके समान है। उस [प्रियतमा] के वियोगसे उत्पन्न शोकाग्नि तुम्हारी विषु
च्छ्रमाके समान है मेरे हृदयमें [अपनी] प्रियतमाका मुख है और तुम्हारे हृदयमें अन्त्रमा
है इसलिए हमारी-तुम्हारी वृत्ति समान ही है [हम दोनों सचमा मित्र हैं] ह मित्र
असुखर ! फिर तुम रात-दिन मुझका जलानेके ही क्यों तैयार रहते हो ?

इत्यादिमें ।

१ विवक्षितत्वम् की ही ।

२ अङ्गुलात्वेन की ही ।

३ अतस्व रमनिर्ज्ञं सखे जलधर त्वं वग्धुमेवाद्यतः में इत्यादीके भाग एवम् ।

रसनिर्णयैकत्वानुद्भवो यच्च नात्यन्तं निर्बोद्धुमिच्छति । यथा—

कोपात् क्रोमद्वयोसबाहुसविष्ठापास्त्रेण पदभ्या हृत्,
नीत्वा वासनिकेतनं वृथितया सार्धं सखीनां पुरा ।
मूढो नैवमिधि स्वखल्लच्छगिरा संसृष्य दुःखेष्टिर्ष,
धन्वो हन्तव एव निहन्नुतिपरः प्रेयाम् उद्वृथा हसन् ॥

अत्र हि रूपकमाक्षिप्तमनिर्णयं परं रसपुष्टय ।^१

निर्बोद्धुमिष्टमपि ये धम्मादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते । यथा—

इयामास्वङ्गं चक्रिश्चरिणीप्रेक्षणो दृष्टिपार्श्व
गण्डध्यायां क्षितिनि क्षिपिनां बह्मारेषु केसाम् ।

यहाँ श्लोकके चतुर्थ पदमें मनुजानपीडाकारित्वरूपसे अक्षरका अपनी अपेक्षा व्यतिरेक दिनाकाया है और दूसरे तीनो पदोंमें अपना और अक्षरका साम्य दिनाकाया है । परन्तु उनमें श्लेष नहीं है । इसलिए यहाँ श्लेषके बिना उपमा और व्यतिरेक, 'नो कस्याप्यनं विना उपमयके व्यतिरेक पाया जाता है अतः 'रक्तसूत्र'में श्लेष और व्यतिरेकके अलग-अलग अक्षर मानकर उनकी 'मिथोऽन्वेषतयैः स्थितिः संसृष्यिच्छते' संसृष्यि मामनेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती । अतः यहाँ संसृष्यि ही है । इसलिए व्यतिरेककी अपेक्षासे तीन पदोंमें निरन्तर पवनेधामे श्लेषका परिभागा चतुर्थ पदमें कर देनेसे अक्षरके त्यागरूप चतुर्थ समीक्षाप्रकारका जो यह उदाहरण दिया गया है वह ठीक ही है । यह सिद्धान्तपत्र खिन्न हुआ । आगे प्रथम प्रकार करते हैं—

—रसनिर्णयमें अत्यन्त उत्पर [कवि] जिस [अक्षर] का अत्यन्त निर्वाह करना नहीं आइता है । [उत्तम उदाहरण] जैसे—

कोचापेदामे अपने क्रोमस तथा चञ्चल पादुशताके पाशमें अकड़कर अपने कोष्ठि मधनमें छे जाकर सार्यकाष्ठके सखियोंके सामने [पराङ्मुखमोगज्जप्य नस्तस्य भादि विह्वोसे] उसके सुद्वेष्टितको मले प्रकार सूचित कर, फिर कभी चेखा न हो [कोषके कारण] अक्षरकाती दुःख घणीसे ऐसा कहकर, रोती हुई प्रियतमाके द्वारा, हैंसते हुए [अपने मजसताविका] छिपानेपाशा समीपगशादी मिय पीटा ही जाता है [सखियोंके मना करनेपर भी माथिका उसको मारती है ।]

यहाँ [पादुछतिप्रपाशोनेस] रूपक [आक्षिप्त] प्रारम्भ किया गया या परन्तु केवल [परं] अपया अत्यन्त] रसपुष्टिके छिप अक्षर निपाह नहीं किया गया ।

वह प्रथम समीक्षाप्रकार हुआ । आगे छे समीक्षाप्रकारका उदाहरण देते हैं ।

१—[अन्ततक] निर्वाह इष्ट होनेपर भी जिसका मायधानीसे अक्षरूपमें ही वेगना [मिपय करमक इयान रसता] है । जैसे—

ह भीम ! मुझ तुम्हारे मह [वा सादृश्य] प्रियङ्गुगुम्नाओंमें, तुम्हाय दृष्टिपात यकिन हरिणियोंकी चञ्चल चितयनमें, तुम्हारे कपोलकी कान्ति चन्द्रमामें तुम्हारे केज-

१ इत्यात् रसनिर्णयैकत्वानुद्भवः । कोषं च कालजं निर्बोद्धुमिच्छति यथा—वह पाठ नि में है ।

२ नि ही में 'परं रसपुष्टयै'को अगले वाक्यमें श्रीवा है ।

रसपश्यामि प्रतनुषु नदीवीथिषु भ्रूविलसाम्,
इन्तैकस्यै क्वचिदपि न ते मीढ सादृश्यमस्ति ॥

इत्थादा ।

स एवमुपनिषद्भवमानोऽलङ्कारो रसामिव्यक्तिहेतुः कवेमवति । उक्तप्रकाराधिक्रमे
तु नियमेनैव रसमङ्गहेतुः सम्यचते । उक्त्यं च तथाविधं महाकविप्रवन्द्येऽपि^१ दृश्यते
वदुशः । तेषु सूक्तिसदृशधाविधात्मनां महात्मनां शोषोद्धोषणमारमन एव वृषणं मवतीति
न विमम्य उच्यते ।

किन्तु रूपकादेरलङ्कारत्वगम्य धेयं व्यञ्जकत्वे रसादिष्वपि^२ 'लक्षणविम्बिता,
वामनुसरन् स्वयं चाम्बलक्षणमुत्प्रेक्षमाणो^३ यत्कालस्यक्रम प्रतिममनन्तरोक्तमेनं प्थनेन
रस्मानुपनिषन्नाति सुकविः समाहितचेवास्तदा तद्व्यतरमलाभो मवति महीयानिति ॥ १९ ॥

पाठ मयूरविषलमें और तुम्हारे भ्रूमङ्ग नदीकी तरङ्गोंमें दिखलाई पड़ते हैं [रसलिय में
इधर उधर मार-मारा फिरता है ।] परन्तु यह है कि तुम्हारा सादृश्य कहीं इकट्ठा नहीं
दिखलाई जाता [नहीं ता मैं उसी प्रकार समस्त कर जाता । तुम भीर ही जो ठहरी
क्याचित् इसीलिये अपनी सारी विभूतिको एक जगह नहीं रखा ।]

इत्यादिमें ।

[यहाँ तद्भाषाव्यापारोपरूप उत्प्रेक्षाके अनुप्रापित करनेवाले सादृश्यको प्रारम्भसे
उदाहर अन्ततक उसका निवाह किया है परन्तु वह मङ्गरूप ही रहे इस बातका पूरा
ध्यान रखा गया है । इसलिये यह विमलम्माष्टलङ्कारका पोषक ही है ।]

यह [रूपकादि अलङ्कारवर्ग] इस प्रकार [उपर्युक्त महासायक पद्विध
समीक्षाप्रकारको ध्यानमें रखकर] उपनिषद् अलङ्कार कविके [बमीष्ट] रसको अति
व्यक्त करनेका हेतु होता है । उक्त पदविक्र उच्छृङ्खल करनेसे तो अवश्य ही रसमङ्गरूप
हनु बन जाता है । इन प्रकार [समीक्षा नियममङ्गमूलक रसमङ्गप्रदर्शक]के वदुत-से
उदाहरण महाकवियोंके प्रवचनों [कव्यों]में भी पाये जाते हैं । [परन्तु] सहजों सुक्तियों
की रचना प्रायः लघुप्रतिष्ठ उन महात्माओंके दापोंका उद्घाटन करना अपने ही स्त्रिय
शोषजनक होता है इसलिये उस [महाकवियोंके शोषयुक्त उदाहरणभाग]को अलग नहीं
दिखलाया है ।

किन्तु [अन्तिम सिद्धांत यह है कि] रूपकादि अलङ्कारवर्गका रसादिविषयक
व्यञ्जकत्वका जो यह मार्ग प्रदर्शित किया है उसका अनुसरण करते हुए और स्वयं
भी और अलङ्कारोंका अनुसन्धान करते हुए यदि कोई सुकवि पूर्वकथित अर्थलक्ष्यक्रम
व्यञ्जयामदृश प्थमिके भात्ममूत [रसादि]को सावधानतासे निबद्ध करता है ता उस
[यद्वा आत्मकाम आत्मपद—कविपदा महासाम] महाकविपदकी प्राप्ति होती है ॥ १९ ॥

१ कि ही मैं कवि उक्तके तथाविधमपि यहाँ जोषा है ।

२. लक्षण वि ही ।

३ यद्यन्वचमपस्तिमन्तरोक्तमेव नि शी० ।

४ तद्व्यतरमलाभो नि ।

क्रमेण प्रतिमात्थास्मा योऽनुस्वानसन्निभः ।

शब्दार्थशक्तिमूलत्वात् सोऽपि द्वेषा व्यपस्थितः ॥२०॥

अस्य विषयितान्तरवाच्यस्य ध्वनः संक्षयक्रमव्यङ्ग्यत्वाद्गुरजनप्रख्या य
वात्सा सोऽपि शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्चेति द्विप्रकारः ॥२०॥

संक्षयक्रमव्यङ्ग्यके दो भेद

प्रारम्भमें ध्वनिक दो भेद किम गये — अविच्छिन्नवाच्य [कथनामूलध्वनि] और विषयिता
म्यपरवाच्य [अभिधामूल ध्वनि] । उक्त बाद अविच्छिन्नवाच्य [कथनामूलध्वनि] क भी व्यपन्तर
संक्षयवाच्य और अवन्तरितसंक्षयवाच्य दो भेद किये गये । इसके आगे विषयितान्तरवाच्य
[अभिधामूलध्वनि] क भी संक्षयक्रमव्यङ्ग्य और संक्षयक्रमव्यङ्ग्य दो भेद किम जा चुके है ।
और अवन्तरितसंक्षयवाच्यके संक्षयमें [पृ ७५ से ११७] तीसरी उभयसंज्ञाके साथ कारिकाओंमें
प्राग विवेचना की जा चुकी है । अब आगे संक्षयक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके भेद करतें ।

संक्षयक्रमव्यङ्ग्यके दो भेद होते हैं—एक शब्दशक्त्युत्पन्न और दूसरा व्यपस्थित्युत्पन्न ।
प्राग सभी भाषाओंमें इस दोनोंके अतिरिक्त उभयशक्त्युत्पन्न नामके संक्षयक्रमव्यङ्ग्यका तीसरा भेद
भी माना है । शब्दशक्त्युत्पन्नमें बलुध्वनि और बलुद्धारध्वनि दो भेद अर्थात्सुव्यङ्ग्यके १२ भेद
और उभयशक्त्युत्पन्नका एक भेद इस प्रकार उक्तव्यङ्ग्यके कुछ १५ भेद और एक अर्थात्सुव्यङ्ग्य
के १६ भेद विषयितान्तरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके और दो भेद अविच्छिन्नवाच्य [कथनामूल-
ध्वनि] क इस प्रकार १८ भेद होते हैं । फिर आगे इनका और विस्तार पकता है । इस समय संक्षय
क्रमव्यङ्ग्यका निरूपण प्रारम्भ करते हैं । पहिले उसके दो भेद करके फिर उनका विस्तार करते ।

[विषयितान्तरवाच्यध्वनिका] अनुस्वानसदृश क्रमसे प्रतीत हानयात्ता जो
[दूसरा] स्वरूप [आत्मा] है यह भी शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल होनेसे दो
प्रकारका होता है ॥२०॥

इस विषयितान्तरवाच्यध्वनिकय संक्षयक्रमव्यङ्ग्यय होनेसे अनुस्वानसुव्यङ्ग्य
जा [दूसरा] स्वरूप है यह भी शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल इस प्रकार दो
प्रकारका है ॥२०॥

श्लेषालङ्कार और शब्दशक्त्युत्पन्न ध्वनिका भेद

पन्था बजाकर बन्द कर देनेके बाद भी कुछ ध्वनि क्रमका कुछ देरतक सुनाई देना रहता
है । इसीको अनुस्वान अथवा अनुस्वन कहते हैं । विषयितान्तरवाच्यका दूसरा भेद संक्षयक्रम है
अर्थात् उक्तमें वाच्यार्थके व्यङ्ग्यवाचकी प्रतीतिका क्रम अनुस्वानके समान तथा प्रतीत होता है । वाच्यार्थ
की प्रतीतिका बाद अनुस्वानके समान ही वही व्यङ्ग्यवाचकी प्रतीत होती है । इसीसे अनुस्वानसन्निभ
इस ध्वनिके संक्षयक्रमव्यङ्ग्य भी कहते हैं ।

इस संक्षयक्रमव्यङ्ग्यके दो भेद किम हैं—एक शब्दशक्तिमूलक और दूसरा अर्थशक्तिमूलक ।
शब्दशक्तिमूलक ध्वनि उनको करते हैं जो वाच्यार्थकी प्रतीतिका बाद अनुस्वानके समान दूसरे अर्थकी
प्रतीति भी शक्ति हो । इस अर्थमें यह याद होती है कि शब्दशक्तिसे वा अर्थकी प्रतीति अन्य
अर्थवाच्ये भी होती है । अर्थसे वाच्यकी प्रतीति शब्दशक्तिसे भी होती है ।

ननु शब्दशक्त्या अत्रार्थान्तरं प्रकाशये स यदि ध्वनेः प्रकार उच्यते तद्विशानी
इत्येवमपि विषय एवापहृतः स्यात् ।

नापहृत इत्याह—

आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्या प्रकाशते ।

यस्मिन्ननुक्तं शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः ॥२१॥

यस्मात्प्रकाशये, न वस्तुमात्रं यस्मिन् कान्ये शब्दशक्त्या प्रकाशते स शब्दशक्त्यु
द्भवो ध्वनिरित्यस्माकं विविक्षितम् । वस्तुद्वये च शब्दशक्त्या प्रकाशमाने इत्येव । यथा—

येन ध्वस्तमनोमबेन बलित्रित्वायः पुरासीद्वयो,
यद्भोद्वृत्तमुलङ्कारवलयो, गङ्गा च योऽपारवत् ।

शब्दशक्त्युच्यते अत्रार्थान्तरं प्रकाशिते कहेना आह ये हैं । तत्र फिर श्लेषका अवसर कहां रहेगा ।
उदाहरण आद्य यह है कि शब्दशक्तिमूलक्यनि और श्लेषकी विषयव्यवस्था कैसे होगी । इसका
उत्तर यह है कि जहाँ बाध्यरूपमें वस्तुद्वयी शब्दशक्तिसे प्रतीति होती है वहाँ श्लेष अलङ्कार
और उसके सिद्ध जहाँ अलङ्कारकी शब्दशक्तिसे प्रतीति होती है ऐसे स्थलोंमें ध्वनि रहेगा । इसी
वाक्यमें करते हैं—

[मदल] शब्दशक्तिसे जहाँ अर्थान्तर प्रकाशित होता है यह यदि ध्वनिका मेव
[माना जाय] हो तो फिर श्लेषका विषय ही लुप्त हो जायगा ।

[उत्तर] नहीं लुप्त होगा यही [बात] कहते हैं—

जहाँ शब्दसे अनुक्त [माहात्म्यसूचित होनेपर भी] आक्षेपसामर्थ्यसे ही शब्द
शक्ति द्वारा अलङ्कारकी प्रतीति होती है वह शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि कहलाता है ॥२१॥

क्योंकि हमारा यह समिधाय है कि अलङ्कार, न कि श्लेष वस्तु जहाँ शब्द
शक्तिसे [आक्षिप्त अलङ्कार] प्रकाशित होता है वहाँ शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि है । और जहाँ
वो वस्तु शब्दशक्ति [अभिधा]से प्रकाशित हो वहाँ श्लेष है । जैसे—

[‘येन ध्वस्तमनोमबेन इत्यादि स्मोक्तमें श्लेषपद्य शिव और विष्णु दोनों अर्थों
की प्रतीति होती है । नारे विशेषण दोनों पक्षोंमें समत हैं । विष्णुपक्षमें अर्थ हम
प्रकार होगा] येन अमयेन’ मित अत्रमा विष्णुमे ‘अनः ध्वस्तं पाठपत्रमें ‘अनः अयान्
शब्द अयान् परस्त्रीकी गाढ़ी अथवा ‘अकटासुरको मद्य कर डाला ‘पुरा’ पहिले समुत्
हरणके समय ‘यन्निमित्’ यनि राजाको अथवा पत्न्याय् दीर्घोंको जीतनेपासे शरीरको
[मोदिनीरूप] स्त्री बना डाला, और जो मयाशक्तिब्रजण करनेवाले ‘कालिय नाग’को
मारनेवाले हैं, जिनमें ‘य येवकत रूप होता है अथवा ‘ये शब्दे ल्यो यस्य’ ‘अकाग
विष्णुः अकारक्य शब्दमें जिनका रूप होता है जिनमें ‘अग’ शोधयंत पर्यंत शीघ्र ‘गां’
परादायकारमें पूर्यकीका धारण किया । जो ‘शानि’ सम्पातीति शानिमथ् राष्ट्र, उमके
शिरको कटनेवाले हैं इमन्विप द्यता अंग जिनका ‘शानिमच्छिराहर यह प्रार्थनीय

१ विपक्षिता वि ही ।

२. प्रकाशमाये वि ।

पस्थाहुः षष्ठिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः,
पायात् स स्वयमन्यकक्षमकरस्त्वा सर्वदोमाधवः ॥

मन्त्रलङ्कारान्तरप्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेशो भवतीति दर्शितं महोद्भटन । तत्
पुनरपि शब्दशक्तिमूले ध्वनिनिर्णयकाशः ।

इत्याशङ्क्येदमुक्तं "आक्षिप्तः" इति । तद्व्यमर्थः, 'यत्र शब्दशक्त्या साक्षात्कृत्वा
रान्तरं' वाच्यं सत् प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः । यत्र तु शब्दशक्त्या सामर्थ्याक्षिप्तं
वाच्यव्यतिरिक्तं व्यङ्ग्यमेवालङ्कारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेर्विषयः ।

शब्दशक्त्या साक्षात्कृत्वा रान्तरप्रतिभा यथा—

तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव शारिणी ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पबोषयै ॥

माम लेते हैं । अन्वयक अर्थात् यादृशीका द्वारिकामें इयं निवासस्थान बनानेवाले अथवा
मौसम पर्वमें पादवोंका माश करनेवाले और सब मनोकामनामोंको पूर्ण करनेवाले
'माधव' विष्णु तुम्हारी रक्षा करें ।

[शिवपक्षमें] 'ध्वस्तः मनोभवः कामो येन सः ध्वस्तमनोमयाः कामदेवका नाया
करनेवाले जिन शत्रुने 'पुरा' त्रिपुरवाहके समय 'बलिजित्कामः विष्णुके शरीरको
'अस्त्रीष्टनः' वाण बनाया जो महाभयानक भुम्हों सर्पोंका द्वार भीर बळ्यके रूपमें
धारण करते हैं जो गङ्गाको धारण किये हुए हैं जिनका [मलक] शिर दक्षिण अम्त्रमासे
गुप्त है और देवता छोग जिनका प्रशंसनीय 'हर' नाम कहते हैं, अन्वयकासुरका भिनाश
करनेवाले ये 'उमाधव' पार्वतीके पति [गौरीपति] शत्रु सर्वय तुम्हारी रक्षा करें ।

[महों दोनों अर्थ बलरूप हैं और अमिवाशक्तिके प्रकाशित हो रहे हैं इसलिए यहाँ स्वेया
सद्गार है । वह शब्दशक्त्यन्वय नहीं है ।]

[पूर्वपक्षीकी शब्द] महोद्भटने [म केवल वस्तुव्यक्ती प्रतीतिमें अपितु] असद्गार
स्तरकी प्रतीति कामपर भी श्लेषव्यवहार विचल्यया है । इसलिए शब्दशक्तिमूलध्वनिका
अयमर फिर भी नहीं रहता है ।

[उत्तर] इसी आशङ्कके कारण [कारिकाकारमें] 'आक्षिप्तः' यह [पद] कहा है ।
इसका यह अर्थ हुआ कि जहाँ शब्दशक्तिसे साक्षात् वाच्यरूपमें अलङ्कारान्तरकी
प्रतीति होती है यह सब श्लेषका विषय है और जहाँ शब्दशक्तिके बलसे आक्षिप्त
वाच्यार्थस मिथ, व्यङ्ग्यरूपसे ही दूसरे अलङ्कारकी प्रतीति होती है वह ध्वनिका
विषय है ।

शब्दशक्तिसे साक्षात् [वाच्यरूपसे भी] दूसरे अलङ्कारकी प्रतीति [का उदाहरण]
है । जैसे—

दाग्ने पिना भी स्वमायतः दी [मता] दारी उमके स्तन किम् [के मन] में
विस्मय उत्पन्न नहीं करते ।

१ अथ ही ।

२ अलङ्कार कि ।

अत्र शृङ्गारव्यभिचारी विस्मयाकृत्यो भावः साक्षाद् विरोधात्कृत्याय प्रतिमासते,
इति विरोधच्छादानुमाहिणः श्लेषस्त्वार्य विषयः । न स्वतुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः ।
असङ्गप्रमव्यङ्ग्यस्य तु ध्वनेर्वाच्येन श्लेषेण विरोधेन वा व्यञ्जितस्य विषय एव ।

यथा मर्मैव—

शृङ्गाराशयतनुं सुदर्शनकरः सवाङ्गलीलाशित^१
शैलोक्त्यां परनारविन्दकलितेनाकान्तलोको हरिः ।
विभ्राणां मुक्तमिन्दुरूपमक्षिप्तं चन्द्रात्मचन्द्रवधत
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकं सा हस्मिणी बोधवतात् ॥

अत्र वाच्यत्वैव व्यतिरेकच्छादानुमाही श्लेषः प्रतीयते ।

यथा प—

प्रमिमरतिमलसङ्घटयता प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसाहम् ।
मरणं च असदसुखराजं प्रसङ्गं कुरुते विप वियोगिनीनाम् ॥

यहाँ शृङ्गार [रम्य]का व्यभिचारिभाव विस्मय [विस्मय शब्दमे] और [अपि
शब्दसे] विरोधात्कृत्या [शोभा] साक्षात् [वाच्यरूपमे] प्रतीत होते हैं । इसलिये यह
विरोधकी छायासे अनुगृहीत श्लेषका विषय है अनुमानसधिम [संलक्ष्यप्रमव्यङ्ग्य]
व्यक्तिका नहीं । परन्तु [श्लोकमें] श्लेष तथा विरोधका अज्ञातिभावसङ्घट्ट होनेसे] वाच्य,
श्लेष अथवा विरोध [अलङ्कार]से अभिव्यक्त असंलक्ष्यप्रमव्यक्तिका [तो यह श्लोक]
विषय है ही ।

[अलङ्कारस्तरके वाच्यतया प्रतीत होनेका दूसरा उदाहरण] जैसे मेरा ही—

[सुदर्शनकर] जिनका केवल हाथ ही सुन्दर है [अथवा सुदर्शनचक्रयुक्त होनेसे
सुदर्शनकर विष्णु], जिन्होंने केवल खरपारविन्दके सौन्दर्यसे [अथवा पादपिङ्गेपसं]
तीनों लोकोंको आकृष्ट किया है और जो चन्द्ररूप [से केवल] नेत्रको धारण करते हैं
[अथात् जिनका केवल एक नेत्र ही चन्द्ररूप है] वेमे विष्णुमे अक्षिप्त बेहव्यापिमौम्य
शास्त्रिणी, मर्धाङ्गमूर्च्छासे शैलोक्त्यां विषय करनेवाली और चन्द्रमहा मन्मथ मुक्तको
धारण करनेवाली जिन [हस्मिणी देवी]को उचित रूपमे ही अपने शरीरमे ही उत्कृष्ट
दशा वे हस्मिणी देवी तुम सखी रक्षा करें ।

यहाँ व्यतिरेककी छायाको परिपुष्ट करनेवाला श्लेष [स्वतनोरपश्यदधिकं इस
पदमे] ही वाच्यरूपसे प्रतीत होता है ।

[इसी प्रकारका तीसरा उदाहरण] और जैसे—

मेघरूप भयान् उत्पन्न विप वियोगिनीको चन्द्र, पेशेमी असमहृदपाय, प्रात
और चेषाका अभाव [प्रलयः सुखसुखाभ्यां चेषाजननिपादितिः], मूर्च्छां तम शरीर
माद और मरण पद्मत् उत्पन्न कर दता है ।

१ व्यङ्ग्यप्रतिमासख नि ही ।

२ जीव नि ।

यथा वा—

बभ्रुविसमापसकञ्चनपङ्कअणिम्महिअपरिमत्तं अस्स ।

अस्सिद्धिअदानपकारा बाहुप्पकिञ्च विवअ गइंवा ॥

[सम्प्लितमावसकञ्चनपङ्कअनिर्मथितपरिमत्ता यस्य ।

अल्पमितदानप्रसारा बाहुपरिषा इव गजेन्द्रा ॥ इतिच्छाया ।]

अत्र रूपकच्छावानुप्राही श्लेषो बाध्यतयैवावभासते ।

यहाँ विप शब्दक अत्र तथा बहुर दोनों बाध्यार्थ होते हैं । ऐसे प्रकारादि द्वारा निबन्धित हो जानेपर दो अर्थवाचक एक ही अर्थका बोधन करती, परन्तु यहाँ मुझ शब्द भी दिया हुआ है इसलिए अर्थवाचक अत्र अत्र अर्थको बोधन करके विभान्त न होकर दोनों ही अर्थको बोधन करती है । इसलिए नवीन मतानुसार यहाँ शब्दश्लेष और प्राचीन मतानुसार अमङ्गलश्लेष—अर्थश्लेष— है । नवीन मतानुसार 'अभिमत' आदि पदोंमें 'श्लेषेनोपसृतिमायाति' आदिके समान अर्थश्लेष है । और अत्र अमङ्गलमें रूपक है । इस प्रकार रूपक और रूपकच्छावानुप्राही श्लेष दोनों बाध्यतया प्रतीत होते हैं । यह भी श्लेषका ही मन्त्र है शब्दशक्तिमूलध्वनिका नहीं ।

अथवा ऊँस—

निराश दासुओंके मतरूप स्वयंक्रमणोंके निर्मथनके कारण यथासीरमको फेरप्रनवाले, और निगन्तर दानमें लगे हुए जिसके पादुवण्ड ही मानसरोवरके स्वर्ण कमलोंको लावनेसे सुगन्धयुक्त और अतबरत मद् प्रवाहित करनेवाले हाथीके समान हैं ।

यहाँ [इत दोनों उदाहरणोंमें] रूपकच्छावानुप्राही श्लेष बाध्यरूपसे ही प्रतीत होता है ।

यहाँ गजेन्द्र शब्दके कारण 'निर्मथित' 'परिमत्त' और 'दान' शब्द क्रमशः लोडना औरत और मन्त्ररूप अर्थका प्रतिबन्धन करके भी पेटाने, प्रतापऔरत अथवा अत्रपरिमत्त और दान [स्वस्वनिर्गुणपूर्वक परललोत्पादने दानम्] अर्थको भी बोधित करते हैं । इस प्रकार यहाँ रूपकच्छावानुप्राही श्लेष बाध्यतया ही प्रतीत होता है । अतः य सब रूपक विषय हैं, शब्दशक्तिमूल ध्वनिके नहीं ।

इस एकहीवर्ण कारिका "आशित एवात्तद्वाः शब्दशक्त्यावभासते । परिमत्तुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युक्तो हि श ।" में शब्दशक्तिमूलध्वनिका विषय निवारित किया है । जहाँ अत्र शब्द बाध्य न हो अर्थात् आशित शब्दनामधेये व्यङ्ग्य हो यहाँ शब्दशक्तिमूलध्वनिका विषय है । यह उसका वाक्य है । और यहाँ बलुदय वा अमङ्गलान्तर बाध्य हो यहाँ श्लेषका विषय होता है । इस प्रकार यहाँ एक कारिकागत आशित शब्दक व्यवच्छेदका प्रबन्धन किया । जहाँ अमङ्गलान्तर आशित हो—व्यङ्ग्य हो—यहाँ शब्दशक्तिमूल [अमङ्गल] ध्वनि होगा । यहाँ बाध्य होगा बरा नहीं । इसी प्रकारके उदाहरण वेन प्लन० से लेकर 'गणित मान तक पौष अर्थकोमें लिखे हैं । इनमेंसे पहिले 'वेन प्लनमनो में बलुदय बाध्य हैं और शेष उदाहरणोंमें अमङ्गलान्तर बाध्य प्रतीत होते हैं इसलिए वे सब शब्दशक्तिमूलध्वनिके उदाहरण न होकर श्लेषके उदाहरण हैं । आगे कारिकागत 'एव शब्दका व्यवच्छेदय निरन्तरिते ।

स चाक्षितोऽप्यहो यत्र पुनः शब्दान्तरेणामिहितस्वरूपस्य न शब्दशक्त्युक्त्वा
 सुरजनरूपस्यैव ध्वनिव्यवहारः । तत्र यन्त्रोक्त्याविवाच्यासङ्कारभ्यवहार एव ।

सभी भाषाओंमें बहुत-से शब्द अनेकार्थक होते हैं परन्तु वे अधिकोप स्वयंपर प्रकरणादिवच
 एक ही अर्थको बोधन करते हैं, अनेक अर्थको नहीं । इसका कारण उनका प्रकरण आदि द्वारा
 एक अर्थमें नियन्त्रण हो जाना ही है । हमारे वहाँ अनेकार्थक शब्दके एकार्थमें नियन्त्रणके विद्योप हेतु
 माने गये हैं । उन हेतुओंका संग्रह करनेवाली निम्नांकित कारिकाएँ बलुता भर्तृहरिक 'वाक्यपदीय'
 नामक व्याकरणग्रन्थ की हैं परन्तु आङ्ग्लारिकोंने पैपाकरणोंके ध्वनि शब्दके समान इन कारिकाओं
 को भी अपना लिया है । इसीसे साहित्यके सभी मुख्य ग्रन्थोंमें इनका उल्लेख मिलता है । कारिकाएँ
 निम्नलिखित प्रकार हैं—

“संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
 अर्थः प्रकरणे सिद्ध शब्दस्थान्यस्य समिधेः ॥
 सामर्थ्यमौचित्ये देशः कालो म्यक्तिः स्वरश्च ।
 शब्दार्थम्यानवच्छेदे विद्योपस्मृतिरेतव ॥”

शब्दापका निश्चय न होनेकी दृष्टामें अथात् अनेकार्थशब्दप्रयोगकी अवस्थामें उसका
 विद्योपतया एक अपविद्योपमें नियमन करनेके हेतु संयोग, विप्रयोग साहचर्य विरोध, अथ प्रकरण,
 सिद्ध, शब्दान्तर का समिधान, सामर्थ्य औचित्य, देश, काल, म्यक्ति और स्वर आदि होते हैं ।

वहाँ अनेकार्थक शब्दका प्रयोग हो हो परन्तु उसके एकार्थमें नियन्त्रण करनेवाला इन
 कारणोंमें प्रकरणादिवच कोई कारण उपस्थित न हो वहाँ शब्दके दोनों अर्थ बाध्य होत हैं । जैसे
 'केन प्लवतमनोमनेन' श्लोकमें एकार्थनियामक हेतु न होनेसे दोनों वाक्यतया प्रतीत होते हैं ।
 इत्येव स्वर ही श्लेषका विषय माना जाता है, शब्दशक्तिमूल्यनिका नहीं, क्योंकि वहाँ दो अर्थ
 आभिन्न नहीं हैं, दोनों अर्थ बाध्य हैं ।

इसके अतिरिक्त वहाँ द्वितीय अर्थको अभिवाते बोधन करानेसे कोई साधक प्रमाण उपस्थित
 है वहाँ द्वितीयार्थकी प्रतीति अभिवाते ही होती है । इस प्रकारके चार उदाहरण 'तस्वा विनापि
 हारण , 'पद्याप्याद्योपेतु , 'प्रमिमरति ' और 'स्वगिह्यमनस उपर निवे गये हैं । इनमें अति
 शब्दोंके प्रयोगवशसे 'हारिणी' आदि शब्द 'हारयुक्ते और 'मनोहार' दोनों अर्थोंको अभिवाच
 बोधन करते हैं । इत्येव इन सब उदाहरणोंमें श्लेषासङ्कार है, शब्दशक्तिमूल्यनिक नहीं । इत्येव
 अतिरिक्त वहाँ समिधाका नियामक हेतु होनेसे भी प्रकृत बाधक हेतुके कारण वह अकिञ्चित्कर हो
 जाता है वहाँ भी शब्दशक्तिमूल्यनिक नहीं होता । यही बात भागे सेवहारण स्थिते हैं—

[‘स चाक्षितोऽपि च शब्द अपिके अर्थमें भिन्नक्रम है अतः आक्षितके याद अपि
 अर्थमें प्रयुक्त होनेसे आक्षितोऽपि] आक्षित होनेपर भी अथात् आक्षिततया प्रतीत होम
 पर भी, [प्रपलसत वाचक हेतुके कारण एकार्थनियामक हेतुके अकिञ्चित्कर हो जानेसे]
 जहाँ यह अन्वयान्तर दूसरे शब्दमें समिहितरूप हो जाता है वहाँ शब्दशक्त्युत्पन्न मूल्य
 क्रमस्थानिक व्यवहार नहीं होता, यहाँ यत्रोक्ति आदि पाठ्यासङ्कारका ही व्यवहार
 होता है ।

१ न मदीं ही नि ही ।
 २ (केन विन्तु) ही०में अचिह्न है ।

यथा—

दृष्टया केशव गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया,
 तेनैव स्थल्लिवास्मि नाथ पठितां किन्नाम नास्मन्मते ।
 एकस्त्वं विपमेपु सिन्नमनसां समापठानां गति—
 गोप्यैथे गदितः सतेषामवठाद् गाष्टे हरिवैदिचरम् ॥

एवञ्चावीयकः सर्व एव भवतु कामं वाच्यदृष्टेपस्य विपयः ।

अस—

इ केशव [कृष्ण] गौर्भोकी [उड़ायी] धूलिस दृष्टिहरण हा जानस मैं [रास्तेकी विपमता भावि] कुछ नहीं बस सकी इसीस [ठोकर खाकर] गिर पड़ी हूँ । इ नाथ गिरी हुई [मुझ] को [उठानेके लिए आप अपने हाथसे] पकड़ते क्यों नहीं हैं ? [हाथका सहाय बकर उठानमें क्यों सहाय करत हैं ।] विपम [ऊबड़-खापड़ रास्ते] स्थलोंमें घबड़ा जानवाले [ज छल सक्नवाले पाल-पूख-यनतादि] गिर्यलज्जामोंक [अत्यन्त शक्ति गाली] केवल आप ही एकमात्र सहाय हो सकते हैं । गाष्ट [गाशासामें] द्रव्यपूर्ण शब्दोंमें गोपी द्वारा [अथवा सलेशं सस्वनं । अर्थात्मघनं हि सूचनमेव] इस प्रकार कह गये कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ।

[‘सलेशं पदकी सामर्थ्यसे दूसरा अर्थ इस प्रकार प्रतीत होता है । इस पदमें ‘केशवगोपरागहृतया’की व्याख्या दो प्रकारसे होती है एक तरह था केशव और गोप दोनों सम्बोधनपद हैं । गोपका अर्थ रक्षक स्वामी हैं] । हे स्वामिन् केशव [राग अथात्] आपके अनुरागमें अन्धी होकर मैंने कुछ नहीं देखा माला । अथवा [यदि ‘केशव’ और ‘गोप’ दो अलग अलग सम्बोधनपद न मानकर दोनोंका एक ही पदमें सम्मिश्रित किया जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि—केशवगः यः उपरागः केशवगोपराग तेन हृतया मुग्धया] हे केशव स्वामिन् ! आपके अनुरागस अन्धी होकर मैंने कुछ देखा-माला नहीं । साचा-पिछारा नहीं [इसलिये] अपने पतिव्रतधर्मसे छद्म [पठित] हो गयी हूँ । इ नाथ [अप आप मर प्रति] पतिमाय क्यों ग्रहण नहीं करते [मैं साथ पतिवद् व्यवहार सम्मागादि क्यों नहीं करते] । क्योंकि काम [यासना] से सग्तस मतवाली [विपमेपु पञ्चपाणा कामा] समस्त अवठामों [गापियों] की एकमात्र आप ही गति [ईर्ष्याविरहित प्रतिसाधन] हो । इस प्रकार गाशासामें गापी द्वारा लंपूर्णक कहे गये कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ।

इस प्रकारके सय उदाहरण भल ही वाच्यदृष्टके विपय हों ।

यहाँ यदि ‘केशव’ पदका प्रयोग न होता तो ‘केशवगोपरागहृतया’ पठितां आदि शब्दोंके अनशय लम्ब होनेसे भी प्रकारवादिबश एकार्थमें निवृत्त हो जानसे वे एक ही अर्थको बोधन करते । परन्तु ‘केशव’ पदकी उपस्थितिसे प्रकारवादिकी पञ्चाशनिशामक सामर्थ्यको बुद्धि कर दिया है जिनसे अन्धता प्रतिप्रदत थी हाकर दोनों अर्थोंको वाच्यता बोधित करती है । इसलिये यह शब्दार्थानुवृत्तिका नहीं अर्थात् श्लेषका ही विषय है ।

इस प्रकार पृष्ठ ११ के ‘वेन जम्ब’ से लेकर पृष्ठ १२४ के ‘दृष्टया केशव’, यहाँ तक श्लेषका विवर दिखाना । अब आगे उक्त विषय शब्दार्थानुवृत्तिका विषय भी है यह भागे दिखाने हैं—

यत्र तु सामर्थ्याद्विष्यं सद्व्यवहारान्तरं सप्रदाकृत्या प्रकाशते स सर्व एव
प्वनेर्विषयः । यथा—

“अत्रान्तरे ह्युसमसमवयुगमुपसंहारजजुम्सत प्रीप्सामिधानः पुस्समस्त्रिधा-
पवसामुसासो महाकलः ।”

यथा ५—

वसतः प्रोक्षसद्यः कालगुरुमसीमसः ।

पयोधरमरसन्ध्याः कं न पन्नेऽग्निहापिणम् ॥

जहाँ शब्दशक्तिके सामर्थ्याद्विषय होकर अन्वयान्तर प्रतीत होता है वह सच
प्वनिका ही विषय है । जैसे—

इसी समय पुष्पसमुद्रियुग [अर्थात् बसन्तके चैत्र-मीशाख युगल मास] का
उपसंहार करता हुआ, लिखी हुई मस्त्रिकामों [शुद्धी] के, महाशिक्षामोंको ध्वस्तित
करनेवाले हास [विद्यासे] परिपूर्ण [हृमय अर्थ] प्रलयकालमें छतयुग आविष्क
संहार करते हुए और लिखी हुई शुद्धीके समान ध्वस्त महद्दान करते हुए महाकाल
शिवके समान, प्रीप्स नामक महाकाल प्रकट हुआ ।

और जैसे—

काले अगारके समान हृष्य वर्ण, विद्युद्धार्य अथवा अरुपायसे सुशोभित
[उस पया प्रसूके उमड़ते हुए] मेघसमूहमें [हृमय अर्थ] काळे अगार [के लेप] से
हृष्य वर्ण, दारोंसे अलङ्कृत [उस कामिनीके] उच्छत उरोजोंके समान कित्त [पथिक या
कित्त मुपक]को [उम कामिनी अथवा अपनी इयिताके मिळनके सिद्ध] उत्कृष्टित नहीं
कर दिया ।

इत अनेकका उपलब्ध पाठ ‘पयोधरमरसन्ध्याः कं न पन्नेऽग्निहापिणम्’ है । उठके अनुनार
एक पदमें या उन्नीके उमड़ने कित्तके [उन्नी प्रातिके सिद्ध] उत्कृष्टित नहीं कर दिया ।
वह थीवा अर्थ गग जाता है । पयोधर और उन्नीका सम्बन्ध विवक्षित है । परन्तु दूसरे पया
वर्णनवाले अर्थमें कित्त पथिकका उन्नीका अभिप्राय नहीं बनावा इत प्रकारका अर्थ करनेसे ही
सङ्गति होगी । अथवाकी शक्तिवा दीकाकारने ‘उन्ध्या’की जगह ‘उत्था’ पाठ माना है । उठ
सर्वनाम ‘उत्था’का सम्बन्ध दोनों पदोंमें पयोधरके साथ ही रहवा है । उठ प्राङ्ग कर्माके मेघ और
उठ कामिनीके उरोज पर अर्थ दोनों पदोंमें गग जाता है ।

उत्तर दिने हुए इन दोनों गद्य और पद्यात्मक उदाहरणोंमें द्विविधापक्षी प्रतीति शब्द
शक्तिके शक्ति न होकर, सामर्थ्याद्विरूपमें व्यञ्जना द्वारा होती है शक्ति ये दोनों उदाहरण स्पेया
अन्वयके नहीं अति शक्तिपूर्वकप्वनिके विषय हैं ।

इन शब्द ‘शम्भुसन्ध्या’ और ‘शाम्भुद्विषय’ दोनों शब्दोंका प्रयोग हुआ है । शक्ति और
शाम्भु शब्द समानाधिक होनेन उन दोनों शब्दोंका प्रयोगका प्रयोगन या भेद प्राक् समझमें नहीं
आता । इसलिए उन्ने में समझना चाहिये कि ‘शाम्भु’ शब्दका अर्थ यहाँ ‘शाम्भुविर’ होता है ।
अर्थात् दूसरे अथवा प्रतीति शम्भुशक्तिने शम्भु आदिने द्वारा होती है । इन द्विविधापक्षीप्रतीतिके
विषयमें मुख्यतः तीन प्रकारके अभेद पाये जाते हैं । उनका संक्षिप्त परिचय हम नीचे दे रहे हैं ।

परिष्ठा मत्त यह है कि महाकाल ध्वम्बिधिरूप अर्धमें स्वरूपी श्रुताओं पूर्णते गरीत है। महाकाल ध्वम्बिधिरूप अर्धमें स्वरूप है। और वृत्त 'महान् दीर्घं दुरित्वा काम' यह प्रीत्य-पक्षमें अन्वित होनेवाला अर्धं भौगिक अर्थ है। साधारणतः "योगाद्स्वरुद्विर्लक्षणी" इस म्यायक अनुसार भौगिकभावकी अपेक्षा वृत्त अर्थं मुख्यार्थं होता है। पहिले याचार्यक उदाहरणमें प्रवृत्तवर्णन प्रवृत्त होनेसे प्रीत्यविषयक अर्थ प्रवृत्त अर्थ है। परन्तु यहाँ महाकाल ध्वम्बिका स्वरु अर्थ प्रकरणमें अन्वित नहीं होता इसलिये उक्त साधारण नियमका उल्लंघन करके भौगिक अर्थ लिया जाता है। परन्तु श्रुताको उक्त ध्वम्बिका विध अर्थमें सहेतुप्रह है। इसलिये प्रकरणवचन अमिषाशक्तिका प्रकाशमें नियन्त्रण हो जानेपर गरीत सहेतु पदच साहस्यमादि सामर्थ्यवश ध्वननम्पापर द्वारा अभाकरविक विधरूप अर्धकी भी प्रतीति होती है। "स प्रकार द्वितीयाधके बोधनक सहेतुप्रमूलक और ध्वननम्पापरमूलक होनेसे उक्तको ध्वम्बशक्तिमूलकत्वनि कहते हैं। इसमें 'ध्वम्बशक्तिमूलक' ध्वम्ब उक्तके अमिषा सहेतु और 'ध्वनि' ध्वम्ब उक्तके ध्वननम्पापरका बोधक है। अतः उक्तके नामकरणमें दोनों ध्वम्बोका प्रयोग विषय नहीं है।

वृत्त मत्त "शास्त्री दि आकांक्षा ध्वम्बेनैव वृत्ते" सिद्धांतके अनुसार मीमांसक कुमारिक-महर्षे 'ध्वम्बाध्याहारवाद'पर आश्रित है। इसके अनुसार यहाँ अन्विते मी अर्थं प्रतीत होते हैं वह वचन ध्वम्बे अमिषा द्वारा ही बोधित होते हैं। उक्त वाक्यमें ध्वम्ब वादे एक ही सुनाई देता हो परन्तु अधबोधके समस्त प्रत्येक अर्थके बोधनक विषय अश्रुता-अलग ध्वम्ब अम्पापर द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। यह अनेक ध्वम्बोकी उपस्थिति मी यहाँ प्रकाशमें नियन्त्रण न होनेपर अमिषा द्वारा और यहाँ प्रकाशमें नियन्त्रण हो जानेपर ध्वनन मा ध्वनना द्वारा होती है जैसे अश्रुतेके ध्वम्बध्वेय और अर्थ-ध्वेय दो मेव मान गये हैं। प्राचीन व्याचार्योंने 'सबदोभाषका' [पृष्ठ ११९ देखिये] आदि समाज ध्वम्बका ध्वम्बध्वेय माना है। इसमें दोनों अर्थोंको बोधन करनेवाले ध्वम्ब अलग-अलग ही हैं। एक पक्षमें 'सबद' भाषका ध्वम्ब है और दूसरेमें 'सबदा उभाषका' ध्वम्ब है। दोनों अधबोधक ध्वम्ब विद्यमान ही हैं इसलिये दोनों अमिषाशक्तिये अपने अपने अर्थको बोधन करण देते हैं। दूसरे अमह व्याचार्य अधध्वेयमें यद्यपि 'अ-बोध-ध्वम्ब' यह एक ही ध्वम्ब सुनाई देता है परन्तु अधबोधके समस्त ध्वमानानुपूर्वीक इसी ध्वम्बकी 'ध्वम्ब ध्वम्बाः मिध्वम्बे' इस म्यायके अनुसार वृत्ताय कल्पना की जाती है और वह कल्पित हुआ वृत्त ध्वम्ब अमिषा द्वारा द्वितीयाधका बोधन करता है।

प्राचीन विश्वश्रीमें प्रोक्तिकाओंके रूपमें वैदग्ध्यप्रकाशक प्रश्नोत्तरका एक विशेष प्रकार पता जाता है। इस सम्बन्धका विशिष्ट ग्रन्थ 'विदग्धमुत्तरप्रश्न' है। इस प्रश्नोत्तरप्रकारके अनुसार 'कः इतो वाकति' आर 'किमुत्तरविधिरथ इतो वाकति' कौन इधर दौड़ रहा है और किस गुणके मुक्त इधर दौड़ रहा है, का प्रश्न है। इन दोनों प्रश्नोंका एक उत्तर 'स्वैतो वाकति' है। पहिले प्रश्न 'कः इतो वाकति'के उत्तरमें उक्तके 'रथा इतो वाकति' यह दो लक्ष्य किये जाते हैं और द्वितीय प्रश्न 'किमुत्तरविधिरथ इतो वाकति'के उत्तरमें 'स्वैतो वाकति' यह एक लक्ष्य देता है। इस प्रकार दो अर्थ बोध करनेक लिये दो बार ध्वम्बकी कल्पना की जाती है। इन अधध्वेय और प्रश्नोत्तरादिके प्रश्नोंमें द्वितीय ध्वम्बकी उपस्थिति प्रकाशमें नियन्त्रण न होनेसे अमिषा द्वारा ही होती है इसलिये यह सब वाक्य स्वैयम्बद्वारा उदाहरण होते हैं।

परन्तु 'कुतुम्भमपपुगापुनरिदम् [१२५ पृ]] इत्यादि उदाहरणोंमें प्रकरणवचन अमिषाके निरन्तर दो अर्थमें द्वितीय बार पदकी उपस्थिति अमिषाके न साकर ध्वननम्पापरने होती है और ध्वननम्पापरने अमिषा श्रुतेके बाद ध्वम्ब अमिषाशक्तिमें द्वितीयाधका बोधन करता है। इस

यथा वा—

इत्थानन्दाः प्रमानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः,
पूर्वाह्ने विप्रकीर्णां विशि विशि विरमत्वह्नि संहारमाद्यः ।
शीघ्रांशोर्षोर्षिदुःस्रप्रममममभयोवन्वदुत्तारनाभो,
गावो बः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पाद्यन्तु ॥

पूजाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽर्मान्तरे, वाक्यस्यासम्प्रदायार्थ-
मिवावित्त्वं मा प्रसांकीदित्यप्राकरणिकप्राकरणिकार्यैरुपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः ।
सामर्थ्यादित्यर्थाभिप्राज्यं दृष्टेपो न सन्तोपास्य इति विभिन्न एव दृष्टेपाद्नुत्थानोपम-
व्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्विषयः ।

प्रकार यथा द्वितीयावकी प्रतीति अभिधासे ही होती है परन्तु उस शब्दकी उपस्थिति ध्वनन वा
सञ्जानाम्पापार हाय होनेसे इसको शब्दशक्तिमूलत्वनि ही कहा जाता है ।

द्वितीय मन्त्र अनुसार प्रथम प्राकरणिक रूप अभिधासे उपस्थित हा जाता है, उसके बाद
प्रकरणादिक्य अभिधाका एकाग्रमें नियन्त्रण होनेपर मी जे अप सामर्थ्य, छात्रपादि ई उसके
कारण अभिधाशक्ति प्रतिप्रसृत पुनरुत्पत्तिवित-सी हो जाती है । इस प्रकार द्वितीयाव अभिधाशक्तिसे
ही बोधित होता है । द्वितीयावके बोधन हो जानेके बाद उस अप्राकरणिक रूपकी प्राकरणिक अर्थात्
छाप भावन्त अन्तर्महार्थकता न हो जाय इसलिए उन दोनों धर्मोंके उपमानोपमेयभाव आदिकी
कल्पना की जाती है । यहाँ यह कल्पना स्वहानावृत्तिका नियम होती है । इसीलिए वहाँ उपमासङ्कार
सङ्ग्रह कहा जाता है । प्रथम कुन्तुमसमययुगमुपसंहारन'वासे उदाहरणमें रूपकक सञ्जानावृत्तिका
विषय होनेसे रूपसङ्कार सङ्ग्रह है । इसीलिए इसको शब्दशक्तिमूलत्वनि करते हैं ।

आगे शब्दशक्तिमूलत्वनिका तीसरा उदाहरण देते हैं ।

अथवा सैसे—

समुचित समय [सूर्यकिरणपक्षमें प्रीप्स भ्रतु भौत गायपक्षमें श्राद्धनपूयकाल]
पर आह्वय [समुद्रादिमें वाप्यकरणमें आह्वय, पक्षान्तरमें अयनमें घड़ायं द्रुप] आर प्रदत्त
अथ तथा पुग्धोसे प्रजाको आत्मन् देवेधासी प्रातःकाल [सूर्योदयके कारण, पक्षान्तरमें
घरने जानेके कारण] धारो विशामोंमें कैल जानेवाली आर स्यात्कालके समय [सूर्यास्तके
कारण पक्षान्तरमें घरकर छोटे जानेके कारण] एकर हो जानेवाली, शीर्षकालध्यापी
नुसके कारणमूल भयसागरको पार करनेके लिए नीकारूप, विशयके पवित्र पक्षार्थोंमें
सर्पोत्पृष्ट गौर्धोके समान सूर्यदेवकी किरणें तुम्हें अमृत सुख प्रदान करें ।

इस [१] कुन्तुमसमययुगमुपसंहारन २ उन्नता प्रोक्तसञ्चार, ३ इत्थानन्दा इत
तीनों] उदाहरणोंमें प्राक्-शक्तिसे अप्राकरणिक द्रुमट अर्थके प्रकाशित होनेपर वाक्यकी
असम्प्रदायार्थोपकता न हो जाय इसलिए प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थोंका
उपमानोपमेयभाव कल्पना करना चाहिये । इस प्रकार शब्दसामर्थ्य [साहचर्यादि] का
द्वेषे आशित्यर्थमें उपस्थित हाता दं, न कि दाम्पित्यरूपमें । इसलिए [इस उदाहरणों-
में] दमेयसं अनुत्थानसमिधम संरूप्यकमप्यङ्गयत्र विषय अलग ही है ।

अन्येऽपि चाङ्गहारः शब्दशक्तिमूलानुस्मानरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जनी सम्भवन्त्येव । यथा हि विरोधोऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्मानरूपो दृश्यते । यथा स्वाण्वाश्रयसम्भजनपद्मवर्णने भट्टबाणस्य—

“यत्र च मातङ्गनामिन्यः शीलवत्यश्च, गीर्षो विमवरस्ताश्च, दयामा पथ रागिण्यश्च, भयलक्ष्मिअनुषिबन्ना मदिरामोदश्चसनाश्च” प्रमदाः ।”

इत्यत्र अभिप्राय यह हुआ कि १ अशान्ते, २ उग्रता ३ दयानन्दाः इन तीनों उदाहरणोंमें प्रकरव्यय अभिधाका एकार्थमें नियन्त्रय हा जानते प्रस्तुत अर्थकी प्रतीति अभिधासे हो जानेके बाद शब्दशक्ति अथवा अभिधामूला स्वञ्जनासे व्याकृतिक वृत्ते अथवा प्रतीति होती है । इन वाच्य और व्यङ्ग्य प्रस्तुत और अप्रस्तुत वर्णोंमें यदि किसी प्रकारका सम्बन्ध न हो तो वाच्यमें अनन्वितार्थबोधकत्व होय हो जायगा । इत्यर्थ उक्तका उपमानोपमेयभावसम्बन्ध कल्पना करना अथवा स्वञ्जनागम्य मानना होता है । इत प्रकार चाण्डार्य प्रस्तुत होनेसे उपमेय और व्यङ्ग्यार्थ अप्रस्तुत होनेसे उपमानरूपमें प्रतीत होता है । इत प्रकार द्वितीय अथ वाच्य न होनेसे, शब्दोपस्थ न होनेसे, श्लेषका विषय नहीं है अतः शब्दशक्तिमूल [अङ्गहार] ध्वनिका विषय है । इत प्रकार श्लेष और ध्वनिका विषयविभाग स्पष्ट हो जाता है । ‘उपमानोपमेयभावः कल्पयित्वा’से यह स्पष्ट किया है कि अङ्गहारध्वनिमें स्वयं स्थितेभ्यः निम्न आदि व्यापार ही आस्वादप्रतीतिके प्रधान विभान्तिस्मान होते हैं, उपमेयादि नहीं ।

शब्दशक्तिमूल विरोधामास अङ्गहारध्वनि

शब्दशक्तिमूल संख्यक्रमव्यङ्ग्यव्यञ्जनिमें [पूर्वोक्त रूपमाके अतिरिक्त] और भी अङ्गहार हा ही सकते हैं । इसीसे शब्दशक्तिमूल संख्यक्रमव्यङ्ग्यव्यञ्जनि विरोध [अङ्गहार] भी दिखाई देता है । जैसे धानेश्वर नामक मगरके घर्षण [प्रसङ्ग] में थाण्मदृक्—

अहो गजगामिनी और शीलवती [वृत्तरे पक्षमें मातङ्गका अर्थ चाण्डाल, मातङ्गगामिनी अर्थात् चाण्डालसे भोग करनेवाली और शीलवती यह विरोध प्रतीत होता है जो गजगामिनी अर्थ करनेसे नहीं रहता] । गीर्षण और धैर्यनिम्न [वृत्तरे पक्षमें गीरी पापती और भय—दिय विमय शिबभिद्य, से रमण करनेवाली यह विरोध हुआ जो प्रथम अर्थ करनेपर नहीं रहता । ‘दयामा योयन मधुस्था’] तरुणी आर पद्मराग मणियों [के अङ्गहारों] से युक्त [पञ्चाश्वरमें श्यामवर्ण और कमलके समान रागयुक्त यह विरोध हुआ जो प्रथम अर्थ करनेपर नहीं रहता । निर्मल मासशके समान पवित्र मुत्तवाली और मदिरागन्धयुक्त दयासयाली यह विरोध] शुद्ध दन्तयुक्त लक्ष्म मुक्तवाली [अर्थ करमसे परिहृत हो जाता है] स्त्रियाँ हैं ।

आश्चर्यकारक है अतिरिक्त यह उद्देश्य पूरा नहीं किया है । अन्तिम ‘प्रमदा’ एक पूर्व पार पक्षों इसी प्रकारके विरोधोंकी और भी हैं । परन्तु इतने ही अर्थसे उदाहरण पूरा बन जाता है

१ मधुमदृक् नि ही ।
 २ ‘कल्पयित्वा’ शिबिबोधेकव्यङ्ग्यव्यञ्ज अमुकव्यङ्ग्याः कल्पयित्वाश्च वृत्तक्रमध्वनिबो इति कल्पयित्वाश्च व्यङ्ग्यव्यञ्जने अमुकव्यङ्ग्याश्च अथप्रमदाः प्रमदोपमेयव्यङ्ग्याश्च अथैतदुक्ता मातङ्ग इत्या वाच प्रमदाः क पूर्व और है । नि ही ।

अत्र हि वाच्यो विरोधस्तच्छ्रयानुग्राही वा श्लेषोऽप्यमिति न ह्यन्यं वक्तव्यम् । साक्षाच्छ्रयेन विरोधालङ्कारस्याप्रकाशितत्वात् । यत्र हि साक्षाच्छ्रयत्ववितो विरोधा छद्धारस्तत्र हि श्लेषोऽपि वाच्यालङ्कारस्य विरोधस्य श्लेषस्य वा विपर्ययत्वम् । यथा तत्रैव^१—

‘समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम् । तथाहि, सभिहितवाङ्मन्त्रकारापि मास्वन्मूर्तिः^२ ।’ इत्यादौ ।

इत्यपि ग्रन्थकारने शय मागन्ने छेद दिया है । निषवशागतेष संस्करणने उठ परित्यक्त मागन्ने मी १७७ पर छेदकके मंतर देकर मूल ग्रन्थके साथ ही छाप दिया है । परन्तु वह बहुत मूल ग्रन्थका पाठ नहीं है ।

यहाँ विरोधालङ्कार अथवा विरोधच्छ्रयानुग्राही श्लेष वाच्य है यह नहीं कह सकते हैं क्योंकि साक्षात् श्राव्यने विरोधालङ्कार प्रकाशित नहीं हुआ है । अहाँ विरोधा लङ्कार श्राव्यसंसाक्षात् बोधित होता है उस स्थिति वाच्यमें ही विरोध अथवा श्लेष [तन्मूलक सन्देहमङ्कार]क वाच्यालङ्कारस्य विपर्यय हो सकता है । [यहाँ विरोध अथवा श्लेषमें वाच्यालङ्कारस्य फल जा सकता है] जैसे वहाँ [‘हर्षपरिते के उसी प्रसङ्गमें]—

विरोधी पदार्थोंके समुदायके समान [ये] । जैसे, [बाल भ्रमीडरूप अन्धकारसं युक्त सूर्यकी मूर्ति यह विरोध हुआ पक्षान्तरमें] अन्धकार [रूप] वृष्णाकशोंसं युक्त मी इवीप्यमान् मूर्ति थ ।

इत्यादिमें [श्राव्यदात्मिकमूल विरोधामास अलङ्कारव्यति ह] ।

इस प्रकार वहाँ श्लेषानुग्राहित विरोधामासकी प्रतीति होनेपर मी विरोधामासक वाच्य ‘अपि’ शब्दके अभावके कारण विरोधामासके वाच्य नहीं कहा जा सकता है । इसी प्रकार प्रस्तुत और अग्रस्तुत दोनों अर्थोंके वाच्य न होकर अग्रस्तुत अथवा प्रतीति अभिप्रायका अन्वयनाते होनेके कारण श्लेषके वाच्य नहीं कहा जा सकता है, अतः अन्वय ही है । अन्वय पर अभिप्रायका अन्वयान् व्यतिहा उदाहरण है ।

जिस श्लेषयुक्त वाच्यमें विरोध साक्षात् श्राव्यते बोधित होता है वहाँ वाच्य विरोधामास अलङ्कार अथवा श्लेषालङ्कार वाच्यक विपर्यय होता है । ‘अपि’ शब्द अथवा विराम शब्द ही विरोधके वाच्यक शब्द हैं । अगले ‘समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्’ इत्यादि उदाहरणमें विरोध शब्द होनेसे विरोधालङ्कार वाच्य है और उसका उपकारी श्लेष मी उसक असुरोपसे वाच्य ग्यना जाता है ।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि ‘अपि’ शब्द और ‘विरोध’ शब्दका तो आप विरोधक वाच्यक शब्द मानते ही हैं परन्तु उनके अतिरिक्त पुनः-पुनः प्रयुक्त तन्मूलकवाच्यक ‘व’ शब्दका भी विरोधका वाच्यक शब्द मानना चाहिये । ‘मत्स्यतद्वागमिन्य’ शौलकस्य, गाथों विम्बरदाभ’ इत्यादि उदाहरणमें और ‘मन्त्रितशब्दप्रकार मास्वन्मूर्तिश्च’ इत्यादि उदाहरणमें पञ्जरस्य पुनः-पुनः प्रयोग होनेसे विरोधालङ्कारके वाच्य ही मानना चाहिये ग्यह्य नहीं । इत्यदि वहाँ भी ‘मास्वन्मूर्तिश्च’

१ कविशुभ्र ही० ।
 २ मीचके आगार हर्षपरिते नि ही० ।
 ३ व अतिह है नि ही ।

यथा वा ममेव—

सर्वैश्चाराण्यमक्षयं, अधीशमीशं धिया, इरिं कृष्णम् ।

चतुरास्मानं निष्कियं, अरिमर्धनं नमत चक्रवर्तम् ॥

अत्र हि शम्भुशक्तिमूलास्तुस्वानरूपां विरोधः स्फुटमेव प्रतीयते ।

एवंविधो व्यतिरेकोऽपि नश्यते । यथा ममेव—

सौ यस्त्युक्त्वलयन्ति छूनवमसा धे वा नदीद्वयसिना,

ये पुष्पन्ति सरोरुहभियमपि क्षिताङ्गमासश्च ये ।

ये मूषस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये भ्रामरुणां क्षिपं

स्तुक्कामस्त्युभयेऽपि वे दिनपतेः पादाः भिये सन्तु वा ॥

समान 'शैलबलभ आग्निं विराधाङ्गद्वारका वाच्य ही मानना चाहिये इस अक्षिको मनमें रणकर भगना बनाया वृक्ष उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं ।

अथवा जैसे मेरा ही—

सबके परमात्र शरण, आश्रयस्वाम और अधिनाशी [पञ्चाक्षरमें शरण और क्षय वामो शब्दोंका अर्थ गूढ़ होता है । इस वशमें सबके गूढ़ और अक्षय अगूढ़ यह विरोध आता है आ प्रथम अर्थमें नहीं रहता ।] 'अधीश ईशं धियां' जो सबके प्रभु और बुद्धिके स्वामी हैं [पञ्चाक्षरमें ईश धिया बुद्धिके स्वामी और अधीश आ धीश बुद्धिके स्वामी नहीं हैं यह विरोध आता है आ प्रथम अर्थस परिहृत होता है] यिष्णु [स्वरूप] कृष्ण [पञ्चाक्षरमें हरित और कृष्ण वर्णका विरोध प्राप्त होता है उभका परिहार प्रथम अर्थस होता है] सर्वहर्म्यरूप निष्किय [पञ्चाक्षरमें पराप्रमयुक्त और निष्किय] अरियोंके नाश करनेवाले चक्रवर्ती [यिष्णु पञ्चाक्षरमें चक्रके अर्थय अरोंके नाश करनेवाला चक्रवर्ती केम हागु यह विरोध प्रथम अर्थस दूर होता है] को नमस्कार कर ।

इस [उदाहरण]में विरोधाङ्गद्वार शम्भुशक्तिमूल संलक्ष्यकप्रपञ्चव्यतिके रूपमें स्पष्ट प्रतीत होता है ।

इस प्रकारका [शम्भुशक्तिमूल संलक्ष्यकप्रपञ्चव्यतिकरूप] व्यतिरेकाङ्गद्वार भी पाया जाता है । जैम, भग ही [बनाया निम्नलिखित श्लोक इसका उदाहरण है]—

इतमें सर्वक प्रसिद्ध विष्णुरूप पाद और विमलबरेकतापत्रके अतुंगार देवपाटी स्वके चरकरूप पाद इन दोनों प्रकारक पादोंकी स्तुति की गयी है और उनमें व्यतिरेकाङ्गद्वार स्पष्ट है । अन्ततः इस प्रकार होगा—

[सर्वहर्म्यक] अर्थकारका मान्य करमवाले जो [किरणरूप] पाद आकाशको प्रकाशमान करते हैं भार आ [चरणरूप पाद] सर्वोत्तम सुशोभित [तथा आकाशको उद्भासित न] करनेवाले हैं आ [सूर्यकिरणरूपमें] कमलोंकी धीका भी पुष्ट करते हैं और [चरणरूपमें] कमलोंकी शामाकी निरन्तर करत हैं आ [पदोंके निम्नपर दागिन दागे हैं अथवा] क्षितिभृतां राजाओंके निम्नपर अवमानित होते हैं और [प्रणाम-काममें] दयनाओंके पिरोका भी अतिप्रमत्त करते हैं सूर्यदेवके वे वामो [प्रकारके] पाद [किरण भार चरणरूप] मुम सबके लिय कर्याणकर हो ।

एवमन्येऽपि सप्तशक्तिमूलानुखानरूपम्यङ्ग-पञ्चनिमकायाः सन्ति ते सङ्घटयैस्वयं
 मनुसर्वेभ्यः । इह तु प्रत्यविस्तारमयाम तत्रपञ्चः कृतः ॥२१॥

अर्थशाक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थ स 'प्रकाशते ।

यस्तात्पर्येण घस्त्वन्यव् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वत ॥२२॥

इस प्रकार सप्तशक्तिमूल संलक्ष्यमम्यङ्ग-पञ्चनिके और भी [असङ्घट तथा
 वस्तुरूप] प्रकार होते हैं । सङ्घट्य उनका स्वयं अनुसन्धान कर लें । प्रत्यविस्तारके
 मयने हमने यहाँ उनका प्रतिपादन नहीं किया है ।२१।

प्रत्यकारने इस स्वरूपमें नस्योद्गाही, कर्मकाण्डिके विरह्यत करनेवाले और एवाभ्योके
 मलकर शोभित होनेवाले चरणोंकी अपेक्षा भावाद्योके प्रकाशित करनेवाले, कर्मोंको विकसित
 करनेवाले, और देवताओंके शिरोका अतिरम्यत करनेवाले किरणरूप पदोंका आधिपत्य होनेसे स्पष्टिक
 भक्त्यार माना है । परन्तु वह सर्वैकशरणं भाति पहिले श्लोकके समान विरोधाङ्कारका उदाहरण
 भी हो सकता है ।

विक्रिधान्यपरवाप्य [अभिधामूल] प्निके अलक्ष्यमम्यङ्गपञ्च और संलक्ष्यमम्यङ्गपञ्च दो भेद
 किये थे । संलक्ष्यमम्यङ्गपञ्चके त्रि सप्तशक्त्युत्पन्न अथशक्त्युत्पन्न और उभयशक्त्युत्पन्न तीन भेद किये गये
 हैं । इनमेंसे सप्तशक्त्युत्पन्न प्निका बहुत विस्तारपूर्वक विचार नहीं किया गया है । इसीलिए इस २१वीं
 कारिकाकी इतनी कड़ी स्मृति हो गयी है कि पाठक उनसे क्लेश है । परन्तु त्रि भी प्रत्यकारन
 इस धारे विचचनमें वस्तुपनिका कहीं नाम नहीं दिया है । बार-बार पुनः त्रिपकर भक्त्यारपनिका
 ही विचार किया है । असङ्घटपनिके स्पष्टीकरणके लिए जो इतना अधिक प्रयत्न प्रत्यकारन किया
 है वह सम्भवतः उसके विवादास्पद स्वरूप और भक्त्योके ध्यानमें रखकर किया है । वस्तुपनिके
 अधिक स्पष्ट और व्यापकदिव शैलेके कारण ही उसका विवेचन नहीं किया है । उक्तकहीं आपायोने
 वस्तुपनिकी भी उदाहरण विवेचना कर इस कमीका पूरा कर दिया है ।२१।

अर्थशाक्त्युत्पन्न प्निके

सप्तशक्त्युत्पन्नके बाद अथशक्त्युत्पन्न संलक्ष्यमम्यङ्गपञ्च वर्णन क्रमशः है । नवीन आपायोने
 उनके स्वतन्त्रमयी, कश्चिदाशक्तिविद्ध और त्रिपदवक्तृप्रायोक्तिविद्ध ये तीन भेद भार उनमेंसे
 प्रत्येकके वस्तुते वस्तु वस्तुने असङ्घट, असङ्घटने वस्तु और असङ्घटने भक्त्यार प्निके, चार,
 कुल मिलाकर १ × ४ = १२ भेद किये हैं । आद्योक्त्याने भी ये भेद किये हैं परन्तु उक्त स्पष्ट
 नहीं हुए हैं ।

संलक्ष्यमम्यङ्गप्निके प्रथम सप्तशक्त्युत्पन्न भेदके मन्वितर निरूपणके बाद उक्त कृत
 भेद अर्थमन्वितर संलक्ष्यमम्यङ्गपञ्च निरूपण करत हैं—

अर्थशाक्त्युत्पन्न [नामक संलक्ष्यमम्यङ्ग-पञ्चनिका] मूलया भेद [यह] है जहाँ
 येमा अर्थ [अभिधासे] प्रतीत होता है जो साङ्घटपापारके विना [उचननयापापारके]स्वतः
 ही तात्पर्यविषयीभूतरूपसे अर्थान्तरकी अभिव्यक्त कर ।२२।

यहाँ तात्पर्य मन्वितो पनागकीगम्य वाक्यागशोभो मन्वितो तात्पर्याया मन्वितो नही,
 अत्रि प्निकापापारका मन्वित गमना प्यार्य ।

१ मन्वितमने वि० ही ।

पत्रार्थः स्वसामभ्यादर्वांतरमभिव्यनक्ति शब्दव्यापारं विनैव सोऽर्वांशक्त्युद्भवो
नामानुत्थानोपमव्यङ्ग्यो ध्वनिः ।

यथा—

एवं वादिनि देवर्षी पार्श्वे पितुरधोमुखी ।

स्त्रीकामलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

अत्र हि स्त्रीकामलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्वांतरं
ध्वमिचारिभावच्छरणं प्रकाशयति ।

न वायमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनेर्मियमः । एतो अत्र साक्षाच्छब्दनिषेधितेभ्यो
विभाषानुभावव्यभिचारिभ्यां रसादीनां प्रतीतिः स एव्य केवलस्य मार्गः ।

जहाँ अर्थ [वाच्यार्थ] शब्दव्यापारके बिना अपने [ध्वनय] सामर्थ्यने अर्थांतरको
अभिव्यक्त करता है वह अर्थांशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि है ।

जैसे—

देवर्षि [सप्तर्षिमण्डल] के ऐसा कहने [शिवके साथ पार्वतीके विवाहकी अर्थां
और शिवकी स्तुति प्रकट करने] पर पिता [पार्वतयजमान हिमालय]के पास बैठी हुईं
पार्वती मुँह नीचा करके स्त्रीकामलकी पंखुडियाँ गिने लगी ।

यहाँ स्त्रीकामलपत्रोंकी गणना [रूपपार्वतीका व्यापार] स्वयं गुणीभूतरूप
होकर शब्दव्यापारके पिता ही [लोचनकारके मतमें छाया और विभवापने मतसे
अप्यद्विधाकरण] ध्वमिचारिभावरूप अर्थांतरको अभिव्यक्त [प्रकट] करती है ।

लोचनकारने इसे लक्ष्य रूप ध्वमिचारिभावका अभिव्यक्त माना है परन्तु साहित्यरूपकारने
अवहित्वाक उदाहरणमें इस लक्ष्यको उद्धृत किया है । 'अवहित्वा'का अर्थ इस प्रकार किया गया
है—'ममगौरवञ्जादेरपापाकारगुमिरवहित्वा । व्यापारान्तरात्किं अन्वयामापवित्कोकनादिकरी ।
अप गौरव लम्बा आविक कारण व्यापारान्तर, अन्वयामापव या अन्वयवित्कोकनादि जनक
आधारगामनका नाम अवहित्वा है । इस अवहित्वाय मी लम्बाका सम्यग्ग राता है और मव,
गौरव लम्बा आदि आकारगुमिके हेतुअर्थमेंसे यहाँ लम्बा ही हेतु है इसलिये विभवाय और अन्वय
कारक अर्थमें तात्त्विक भेद न होनेसे विशेषकी उद्घा नहीं करनी चाहिये ।

यह [अर्थ वादिनि आदि श्लोक] असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [रसादि] ध्वनिका ही
उदाहरण [मी] नहीं है । क्योंकि जहाँ साक्षात् शब्दसे ध्वनित विभाव, अनुभाव और
ध्वमिचारिभावोंने स्वाधिकी प्रतीति होती है वहाँ केवल उम [असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य
ध्वनिक] मार्ग है ।

परिच्छेद पर लिख आये हैं कि ध्वमिचारिभावोंका वाच्यक्रमोंने कल्पन उचित नहीं है और
वदा उनका वाच्यत्व व्यङ्ग्यनिषेधित होनेसे ही स्वादि प्रतीति होते हैं वर वर रहे हैं । ये बातें शार्दूल
परमपर विरुद्ध हैं । ऐसी उद्घा उदाहरण हा जो उनका लक्षण वर है कि वाच्यार्थकीप्रतिम अप्यवहित
यों [वाच्यारथकी प्रतीति दीनी चाहिये नहीं वहाँ साक्षात् व्यङ्ग्यनिषेधितव्ये अभिव्यक्त है । ध्वमिचारि
भावका वाच्यत्व इस नहीं है ।

यथा कुमारसम्ममभे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरणं वदन्त्या वक्ष्या आगमनादिवर्णनं मनोभवशरम-धानपर्यन्तं क्षम्योदकं परिकृत्तधैर्यस्य चैव्राविशेषवर्णनादि साक्षाच्छब्दनिषेधितम् ।

इह तु सामध्याक्षितम्पमिभारिमुत्सेन रसप्रवीतिः । तस्मात्त्रयमन्वाप्त्रनेः प्रकारः । यत्र च शब्दध्यापारसहायोऽर्षोऽर्मान्तरस्य व्यङ्ग्यत्वेनोपादीयते स नास्य प्त्रनेर्विषयः ।

यथा—

सङ्केतकाष्ठमनसं विटं छात्वा विदग्धया ।

हसन्नेत्रापिंताकृतं खीलापदानिमीळितम् ॥

अस्य 'कुमारसम्ममभे'के वसन्तवर्णनप्रसङ्गमें वासन्ती पुष्पांके माभूयणोस अत्र प्रकृत इषी पार्श्वती [आसन्नमयिमाव]के आगमस लेकर कामत्रेयके शरमन्धानपर्यन्त [अनुमायवर्णन] और धैर्यव्युत् दिवकी चैव्राविशेषवर्णनादि [व्यभिचारिमाव] साक्षात् शब्दनिषेधित है । [अतः यहाँ असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसव्यनि है ।]

[कुमारसम्ममभे'के प्रकृत श्लोक निम्नलिखित प्रकार है—

१—निषाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं सन्धुस्यन्तीय प्रपुगुणन ।

अनुप्रयाता धनत्रेयतामिरहृदयत स्वाधरराजकम्या ॥

२—प्रतिगृहीतुं प्रणयिप्रियत्यात् त्रिस्तावनस्तामुपचक्रम य ।

सम्माहृतं नाम ख पुष्पधम्या अनुप्यमाभ समघस सायकम् ॥

३—इरस्तु किञ्चित् परिकृत्तधैर्यव्योदपारम्भ इषाम्बुराशिः ।

उमामुखे विम्बकलाधरोष्ठे ध्यापारयामास विलोखमानि ॥

यहाँ [पर्यं यादिनि वेषर्पीव्यं] तो [खीलाकमलके पत्रोंकी गणना द्वारा] सामर्थ्यसे आक्षिप्त [सखारूप] व्यभिचारिमाय द्वारा रमकी प्रतीति हाती है । इसलिये [रसव्यनि रूप अर्थात्सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य] के अर्थसे निषेध अर्थात्सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य] यह दूसरा ही ध्यनिका प्रकार है ।

इसमें यह सूचित किया कि यद्यपि रसादि सदा व्यङ्ग्य ही होते हैं बाध्य नहीं परन्तु उनका अर्थव्यङ्ग्यक्रमव्यङ्ग्य होना अनिवार्य नहीं है । वह कभी सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अथवासलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य प्रकृत द्वारा भी प्रतीत हो सकता है । परन्तु उच्चरकों आचार्य रसादिध्वनिको अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही मानते हैं । सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके जितने भेद उन्तोंने किये हैं उन सबके उदाहरण कल्पनि वा अल्पद्वारध्वनिके ही लिये हैं ।

अहाँ शब्दध्यापारकी सहायतासे अथ दूसरे अर्थका अमिष्यक्त करता है यह इस [अध्यापारव्यङ्ग्य सलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य] ध्यनिके विषय नहीं जानता [यहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य ही जाता है] ।

अस्य—

[नायकके शृङ्गारमहायक] विट [सम्भागहीनसम्पद् विटस्तु घृतः कर्लकदेशन ।

येदापयारगुशमो मधुरोऽथ बहुमता गोप्याम् ॥] की सङ्केतकाष्ठ [मायक-आयिकाके मितनममय] की शिक्षामाको समशरक घतुरा [नायिका] न नेत्रोम [अपता] अमिष्यक्त करने हुए हैंमते हुए [अपने दायके] खीलाकमलका बन्ध कर दिया ।

अत्र लीलाकमलमिमीलनस्य व्यञ्जकत्वमुक्त्यैव निवेदितम् ॥२२॥

तथा य—

वाच्यार्थशास्त्र्याक्षितोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुन ।

यत्राधिष्णियते स्वोक्त्या सान्पैवालङ्कृतिर्ध्वनेः ॥२३॥

अत्र शब्दशास्त्र्या, अर्थशास्त्र्या, शब्दार्थशास्त्र्या वाक्षितोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनयत्र
स्वाशब्दा प्रकाशीक्रियते सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्ग्यपाद् ध्वनेरन्य व्यालङ्कारः । अलङ्कार
कमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वनेः सति सम्भवे स तादृगन्याऽलङ्कारः ।

यहाँ लीलाकमलमिमीलन [द्वारा सञ्ज्ञितकाव्य]की व्यञ्जकता [‘नत्रापि ताकुतं
पद्मं] शब्द द्वारा ही सूचित कर दी । [अतः अर्थशास्त्रसुद्भय ध्वनिका नहीं, गुणीभूत
व्यङ्ग्यपादा उदाहरण है ।] ॥२२॥

व्यङ्ग्यार्थकी स्वशब्दोक्ति होनेपर ध्वनि नहीं

और इसीसे [कहा भी है कि]—

शब्दशक्ति अर्थशक्ति अथवा शब्द अर्थ उभय शक्तितस आक्षित [व्यङ्ग्य होने
पर भी नहीं व्यङ्ग्य अर्थका कवि पुनः अपन वचन द्वारा प्रकट कर देता है यह
[व्यङ्ग्य-पार्थके वाच्यमिच्छिषा अलङ्कार गुणीभूत यत् आत्मक कारण] ध्वनिसे भिन्न
अर्थ ही [‘इत्येव भाषि] अलङ्कार है ॥२३॥

शब्दशक्ति अर्थशक्ति अथवा शब्दार्थोभय-शक्तितस आक्षित हानपर भी व्यङ्ग्य
अर्थका अहाँ कवि फिर अपनी उचितस [मी] प्रकाशित कर देता है यह इस अनुस्वानोपम
[‘संक्षयप्रमदव्यङ्ग्य] ध्वनित अलङ्कार ही [‘इत्येव भाषि] अलङ्कार होता है । अथवा अर्थात्
क्याक्रमव्यङ्ग्य-व्यमिका यदि कोई इस प्रकारका उदाहरण मिल सके तो [वाच्यालङ्कारसं
मिध] यह उक्त प्रकारका [विशय समत्कारजनक] अर्थ ही अलङ्कार होता है ।

एत कारिकाये पुन शब्दशक्तिसम्बन्धव्यमिका शब्दशक्तिसुद्भय और अर्थशक्तिसुद्भय व्यङ्ग्य दो
भेद किये थे । फलतः एत कारिकाय उभयशक्तिसुद्भय तृतीय भेद भी सूचित किया है । ‘उभय
अथवा ‘ति शब्दार्थी’ इतन निग्रह शब्दशक्तिसुद्भय तथा अर्थशक्तिसुद्भय और ‘ति शब्दार्थी य
शब्दार्थी शब्दशक्तिसुद्भय इत प्रकार इन्द्रजित्तमसे प्रकट करके ‘उभयार्थी’ पद ही उभयशक्तिसुद्भय
तृतीय भेदका भी प्रतिपादन किया है ।

साव्यवाच्य-शक्तिध्वने की व्याख्या भी बुद्धिधारने दो प्रकारसे की है । एक पक्षमें ‘ध्वनेः’ पद
को प्रत्ययान्त और मूलशब्दमहा शोभक मानकर ‘ना’रमादनुस्वानोपमव्यङ्ग्यपाद् ध्वनेरन्य व्यालङ्कारः
पर व्याख्या की है और दूसरे पक्षमें ध्वन को अर्थशब्दसम्बन्धव्यमिका वाचक और पठ्यतः पर
मानकर ‘संक्षयप्रमदव्यङ्ग्यपद’ वा ध्वन मूल शब्द न तादृगन्याऽलङ्कार पर व्याख्या की है ।
‘व्यङ्ग्यार्थके स्वशब्द कथन कर देना उक्तकी प्रधानता नष्ट हो जाती है और व्यंग्यार्थ अलङ्कारोंकी
प्रधानता हो जाती है । अतः यहाँ व्यङ्ग्य-पद गुणीभूत वा ध्वनमें ‘ध्वनि’ ध्वनहार न होकर स्वंग्यार्थ
अलङ्कारका ध्वनहार होता है ।

वत्र शब्दशक्त्या यथा—

यस्ते मा गा विपार्यं, श्वसनमुकुज्वं सन्त्यञ्चोर्ष्वप्रवृत्तम् ,
कम्पः को वा गुरुस्ते, भवतु' यज्ञमिवा भूमिमेतान्ना याहि ।
प्रत्याख्यानं सुगणामिवि मयशमनछन्नाना कारयित्वा ,
यस्मै छस्मीमशाद् वाः स दहतु दुरितं मन्वमृता पयोधिः ॥

अर्घ्यशक्त्या यथा—

अन्वा देवेऽत्र पृथा, परिषत्त्रयसाममप्रीरत्रतावा,
निःशेषागारकर्मभ्रमशिविल्लनुः, कुम्भवासी यथात्र ।

यस्मै शब्दशक्तिसे [आश्रित दाम्पशक्त्युद्गृथ ध्वङ्गव स्वशब्दसे कथित हाम
ने गुणीभूत और इलेगालद्वार प्रभाव हो गया है उसका उदाहरण] जैने—

[समुद्रमन्थनयेसामे स्यमायत सुकुमारी होनेके कारण समुद्रकी भीरण
तरङ्गोंको देखकर मयमीत] मन्थनमे भीत श्वमीका [उसके पिता] समुद्रने मय दूर
करनेके बहाने [यह कहकर कि] बंटी घबराओ नहीं [ध्वङ्गवार्थ 'विपमसीति विपार्यः
विपको महण करनवासे मयामक शिषके पास मत जाना] तीव्रगतिसे घबनेवाली
छम्पी उसासोंको बन्द करे [ध्वङ्गवार्थ तीव्रगतिवाले मयदूर वायु और ऊर्ष्वम्बलम
स्वभावघाले मयदूर अग्निदेयताकी पात छोड़ो], यह इतना काँप फ्यों रही हो और शक्ति
को नष्ट करनेवाली हम जँमाइयोंको जग बन्द करे [ध्वङ्गवार्थ 'यं ज' पाटीति कम्पः
वरण' कः प्रजापतिः प्रज्ञा कम्प मघात्] वरणवेष और प्रजापति प्रज्ञा तो तुम्हारे
गुरु पितृ-सदृश है । 'अग्निपतेन वलमिद्र मयानु वेध्वार्थमवमक्त इन्द्रवेषको भी छोड़ो
इस प्रकार मय शमन करनेके बहाने अम्य छय द्यताओं [के साथ यियाइ]का प्रत्या
ख्यान [निषेध] करवाकर और यहाँ [विष्णुके पास] आओ परना कहकर जिन [विष्णु]को
[मपनी पुत्री] छद्मीको [धधूकरणमें] प्रदान किया थे [विष्णु] तुम्हारे दुःखोंको दूर करें ।

यहाँ देवताओंके प्रत्याख्यानका शब्दक अर्थ व्याख्य होता परन्तु 'मयशमनछन्ना'में छय छन्द
श्राप कथिने उसकी व्याख्याको शब्द बना दिया दलीये कामिनीकुचकहवाक्य गणनद्वय धारस्व न
रदनेसे यह संकल्पप्रामादकध्वनिका उदाहरण नहीं है । 'कारयित्वा'में त्रिषु मस्य समर्पनश्च सूचक
है, अपराहत्प्रश्ननका नहीं । अर्थात् देवताओंका प्रत्याख्यान करनेकी प्रेरणा पिताने नहीं की अपितु
स्वमी द्वारा किये गये प्रत्याख्यानका समर्पनमात्र किया । यही त्रिषुमा तात्पर्य है । 'इन्द्रवन्धरन्वाम'
सूचने छम्पीकी कम सहा दुर् है ।

अर्घ्यशक्तिसे [आश्रित अर्घ्यशक्त्युद्गृथ ध्वङ्गव जहाँ शब्दसे कथित होनेसे
गुणीभूत और इलेगालद्वार प्रभाव हो गया है उसका उदाहरण] जैने—

बूढ़ी माताजी यहाँ खोती हैं, भाग पूखोंके अमगप्य पिताजी यहाँ । सार घर
का काम करनेसे अत्यन्त यकी दूर दारमी यहाँ सती है । मैं अमागिनी त्रिसक पति
कुछ दिनमें परवना चल गये हैं हम [कमर]में भजेनी पड़ी रहती है । हम प्रकार

1 भिमिहरी ।

अस्मिन् पापाहमेका कविपयविषसप्रापितप्राणनाथा,
पान्वापेत्थं तरुण्या कवितमवसरख्याह्वित्म्यानपूर्वम् ॥

उभयशक्त्या यथा, 'हृष्या केशव गोपरागहृतया' इत्यादौ ॥२३॥

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर सम्भवती स्वतः ।

अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो घस्तुनोऽन्यस्य क्षीपकः ॥२४॥

तरुणीने अवसर बतातेके लिए बहानेसे पयिकको यह [सवके स्वामेका स्थान और व्ययस्था भादिका पूर्वोक्त विपरण] कहा ।

यहाँ तरुणीकी सम्मोषेष्ठा और अनिर्वच्य वषेष्ठ सम्मोषक अवसरके सूचनारूप को व्यङ्ग्य है उसको कविने 'अवसरत्याह्वित्म्यानपूर्वम्'से व्यपन शब्दमें ही कर दिया इसलिये यह संक्षेपक्रम अपना अर्थव्यपक्रमव्यङ्ग्यत्वनिष्ठा उदाहरण नहीं रहा अथिष्ठ व्यङ्ग्यके गुणीभूत और अन्तःपुरके प्रधान हो जानेसे स्मोषका उदाहरण बन गया है ।

[इसी प्रकार] उभय शक्तिसे [आकृति उभयशक्त्युत्पत्त्य व्यङ्ग्य जहाँ शब्दसे कथित होनेसे गुणीभूत और स्मोषासङ्कार प्रधान हो गया है उभय उदाहरण] जैसे 'हृष्या केशव गोपरागहृतया' इत्यादि [पृष्ठ १२४ पर पूर्व बन्धुभूत व्याख्यात द्रष्टेक]में ।

'हृष्या केशव गोपराग' इत्यादि उभयशक्त्युत्पत्त्य व्यङ्ग्यत्वनिर्मे उभयशक्त्युत्पत्ताका सम्भव शोपनकारने इस प्रकार किया है कि गोपरागदि पदोंमें स्मोष होनेसे उस अंशम शब्दशक्त्युत्पत्ता और प्रकरवशपात् अथशक्त्युत्पत्ता आनेसे यह उभयशक्त्युत्पत्ताका उदाहरण होता है । परन्तु नवीन आचार्य ऐसे स्मोषपर उभयशक्त्युत्पत्ताका सम्भव शब्दपरिवृत्तिसहस्य तथा शब्दपरिवृत्ति असहस्यक आधारपर करते हैं । उनके मतसे यहाँ 'केशव गोपराग' शब्दोंके रहनेपर ही ज्ञानिकी सत्ता रहती है और यदि उनको वरवकर शकके पयावशापक स्नेहादि शब्द रूप दें तो ज्ञानिकी सत्ता नहीं रह सकती, इसलिये शब्दपरिवृत्तिसहस्य हानिक कारण यह ज्ञानिक शब्दशक्त्युत्पत्त है । परन्तु आगे 'रन्ध्रिष्ठामि' इत्यादिमें शब्दका परिवर्तन करके 'पठिष्ठामि' आदि रूप देनेपर भी व्यङ्ग्यमें कोर बाधा नहीं पड़ती इसलिये उस अंशक परिवृत्तिसहस्य हानिके अर्थशक्त्युत्पत्त्य अन्वय होता है । अतः एक अंशमें शब्दशक्त्युत्पत्त और दूसरे अंशमें अथशक्त्युत्पत्त होनेसे यह उभयशक्त्युत्पत्ता उदाहरण है । इस प्रकार शब्दपरिवर्तनका महन न कर सकनेवाले गुण अन्तःपुरत्वनि आदिकी शब्दनिष्ठ, तथा शब्दपरिवर्तनका महन करनेवालेमा अर्थनिष्ठ मानकर शब्दपरिवृत्ति असहस्य और शब्दपरिवृत्तिसहस्य के आधारपर ही नवीन आचार्य शब्दनिष्ठता या अर्थनिष्ठताका निश्चय करते हैं । १३।

अर्थशक्त्युत्पत्त ज्ञानिके भेद

एत प्रथम संक्षेपक्रमव्यङ्ग्यत्वनिष्ठे शब्दशक्त्युत्पत्त, अथशक्त्युत्पत्त और उभयशक्त्युत्पत्त तीन भेद प्रकृतिये उनमें शब्दशक्त्युत्पत्तका लक्षणा विवेचन हो चुका । यह उभय अर्थशक्त्युत्पत्तका विवेचन चल रहा है । अब अर्थशक्त्युत्पत्तके स्पष्टनामकी और [कविमीशान्तिमिद कविनिवृत्तकत्तु मा । शिष्टमिद दोषोषो विना] प्रागेक्तिमिद वा करते हैं ।

अथ वस्तु [अन्तःपुर या घस्तु] का अभिप्रेत्यशक्त अथ भी स्पष्टनामम्भयी तथा प्रौढोक्तिमात्रनिष्ठ [इसमें कविमीशान्तिमिद तथा कविनिवृत्तकत्तुप्रौढोक्तिमिद ये दो अर्थ शब्दनिष्ठ हैं] इस प्रकारका दो प्रकारका [पालयमें तीन प्रकारका] दाता है । २४।

अर्थात्कस्तुद्रबालुराजनस्यभ्यङ्गये ध्वनी यो व्यङ्गकोऽर्थे वृत्तस्तस्यापि द्वौ प्रकाशो,
 क्वेः, कविनिबद्धस्य वा वस्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एका, स्वतःसम्भवी च द्वितीयः ।
 कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथा—

सखेहि सुरहिमासो ण दास धपेइ सुअइअणसककमुदे ।

अहिणवसइआरमुइ णवपइअणपत्ते अर्णगस्त हरे ॥

[सखयति सुरयिमासो न तावदपयति युवतिजनत्मस्यगुलान् ।

अभिनवसहकरमुलान् नवपत्तवपप्रलामनङ्गस्य शरान् ॥ इतिच्छाया]

कविनिबद्धवस्तुप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथोदाहृतमेव—‘शिखरिणि’ इत्यादि ।

ये तीन प्रकारके भ्यङ्गक अर्थ वस्तु तथा अन्वहारमेव ही दो प्रकारके होकर $१ \times २ = २$
 भ्यङ्गक अर्थ, और उसी प्रकार ३ भ्यङ्गनाथ, कुछ मिटाकर $[१ + २ = ३]$ अथवास्तुद्वयके बाहर
 मेरु हो जाते हैं । इन बाहर मेरुका कर्त्तन नवीन व्याख्यानसे अधिक स्पष्ट रूपसे किया है ।

अर्थात्कस्तुद्रवक्रण संलक्ष्यकमप्यङ्गयभ्यनिर्मे ओ व्यङ्गक अर्थ कहा है उसके
 भी दो मेरु होते हैं । एक [तो] कवि या कविनिबद्धयत्नाकी प्रौढोक्तिमात्रसे सिद्ध और
 दूसरा स्वतःसम्भवी ।

कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध [का उदाहरण] जैसे—

[कामदेयका सखा] वसन्त मास युवतिजनको अक्षय बनाने [बिन्दू करने] घांटे
 मुकों [अन्नभाग-फलभाग]से युक्त नवपत्तुओंसे पत्र [पात्रके पिछले भागमें खगे पंखोंसे]
 युक्त, सङ्कार प्रभृति कामदेयके बाणोंका निमाण करता है [परन्तु] अभी [प्रहारायर्ष
 उसको] देता नहीं है ।

यहाँ कलठ बाण बनानेवाला है कामदेव उनका प्रयोग करनेवाला कवी या वादा है आम
 मञ्जरी प्रादि बाण हैं और मुक्तियों उनका अक्षय है इत्यादि अर्थ कविप्रौढोक्तिमात्रसे सिद्ध है ।
 श्लोकमें इत प्रकारका न कोई पाशुकि दीखता है, न उसके बाण । इसीसे कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे
 मन्तो-मन्त्रका प्राप्ति और उचरोत्तर उसका विभूतस्वरूप वस्तु व्यङ्ग्य है । इस प्रकार यह कवि-
 प्रौढोक्तिमात्र वस्तुसे वस्तुव्यङ्ग्यका उदाहरण है ।

कविनिबद्धवस्तुप्रौढोक्तिमात्र उदाहरण ‘शिखरिणि’ इत्यादि [श्लोक] पहले ही
 [पृ० ५६ पृ०] से चुके हैं ।

उत्तमं चो चमत्कारजनक भ्यङ्ग्य अथ है उत्तम प्रीति कविनिबद्ध सामिप्याय तदवस्था
 चमत्कारी विशेष्यसे ही होती है । अल्पया उसी बातको केवल कविचि हस्तमें अथवाके समान चिम्बपत्र-
 को होता काट रहा है इत रूपमें कह दिया अथ तो उत्तमं कोई भी चमत्कार नहीं आता है । इसीलिप्य
 सङ्घटन पुरस्य कविप्रौढोक्तिमात्रसे कविनिबद्धवस्तुप्रौढोक्तिमात्रको अधिक चमत्कारजनक मानते हैं
 और उसकी मन्त्रा कविप्रौढोक्तिमात्रसे अलग करती हैं । कविमें स्वतः रागाधानिपत्ता नहीं होती परन्तु
 कविनिबद्धमें रागाधानिपत्ता होती है । इसीसे उत्तमं अथवा चमत्कारजनक होता है ।

१ उदाहृतमेव यह पाठ कि शी० में नहीं है ।

२ इत्यादी वि ।

यथा वा—

साभरविद्विष्णुभोम्बजहृत्पान्दम्य समुष्णमन्तेहिम् ।

अभ्युद्गार्ण विअ मन्महस्त दिष्णं तुह अणेहिम् ॥

[सादरविनीचयौवनहस्ताबलस्य समुष्णमद्भ्याम् ।

अभ्युद्गानमिव मन्मयस्य दत्तां तव स्वभाभ्याम् ॥ इतिच्छाया]

स्वतःसम्भवी य धौक्षित्येन बहिर्दिपि सम्भाष्यमानसद्भावो न केवलं मणितिवशे-
नेवाभिनियम शरीरः । यमोदाहृतम्—‘यमवादिनि’ इत्यादि ।

यथा वा—

सिद्धिपिच्छकृष्णपूर आधा वाहरस गन्विरी ममइ ।

मुक्ताफळरूपमसाहणार्णं मग्ने सवर्षीणम् ॥

[शित्तिपिच्छकृष्णपूर आधा भ्यापस्य गन्विरी भ्रमति ।

मुक्ताफळरचितप्रसापमानां मग्ने सपत्नीनाम् ॥ इतिच्छाया ॥२४॥]

अथवा जैम [कथिनियद्वयकृतमौडालिमिदका दुमरा उवाहरण]—

आवगुणक महारा वने ह्य यापनके महार उठमेवालं मुन्दारे म्लन [उठ कर]
कामदयक [स्वागतमें] अभ्युरयान-सा प्रदान कर रहे हैं ।

[कथि और कथिनियद्वयी कल्पनाके भावसे] पाहर भी उचित रूपसे जिनके
अस्तित्वकी सम्भाषना हो केवल [कथि या कथिनियद्वयी] उक्तिभावसे ही मिद म
होता हा यह स्वतःसम्भवी [कहलाता] है । जैमे [१३२ पृष्ठपर] ‘पर्ययाविति व्ययं
इत्यादि उदाहरण द चुके हैं ।

अथवा [कथिनियद्वयकृतमौडालिमिदका तीसरा उवाहरण] जैम—

[केवल] माग्नाका कणपूर पहले ह्य उपाधकी [जयीन] पत्नी मुक्ताफळोंके
माभूयजोम अष्टकृत सपत्नियोंके वीच अभिमानसे फुली हुए फिरती है ।

यहाँ उपाधात् वन्तु कथन कारकस्मृतिसिद्ध नहीं है अर्थात् वास्तवमें शकमें भी उपाधा
अश्लेष नामसे है अण्यत् वद स्व्य नामसे है । गणका कारण यह है कि जब शालिष्येक दिन से ठह
रा गया दापी आदि आरहर लाता या शिमसे मुक्ताभूषण घना से । परन्तु मेरे यालने या निरुद्धनेका
अवकाश ही नहीं मिलता है । यह भागाप्राप्तिव्यवस्था है ।

इस प्रकार मन्मयगीत ‘उप-व्यतिनि’ तथा शित्तिपिच्छ दा, कथिनियद्वयकृतमौडालि
मिद ‘मिद-व्यतिनि’ भार सादर दा गणा कथनार्थमिदुप-व्यतिनि नामक वस्तु पा
उदाहरण है । इस नाम का वस्तुत्व है आगे अण्यत् अवकाशव्यवस्था विवक्षित
करा है । त

१ शित्तिपिच्छे यथा वा भार इत्ये अत उद्वरण उदाहरण नहीं दिया है ।

अर्धशक्तेरलङ्कारो यथाप्यन्य प्रतीयते ।

अनुस्थानोपमन्यङ्ग-य स प्रकारोऽपरो ध्वने ॥२७॥

वाक्यालङ्कारवृत्तिरिच्छो यथान्योऽलङ्कारोऽर्धसामर्थ्यात् प्रतीयमानोऽवभासते
सोऽर्धशक्त्युद्भवो नामानुस्थानरूपक्यङ्ग-योऽन्यो ध्वनिः ॥२७॥

तस्य प्रविरलक्षियस्यमाशङ्कयेत्सुष्यते—

रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यतां अितः ।

स सर्वो गम्यमानत्वं विभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः ॥२६॥

अन्यत्र वाच्यत्वं प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया वाङ्म
ध्वने प्रदर्शितस्य मन्त्रिर्मेष्टेऽङ्गादिभिः । तथा च सन्देशादिपुष्पमारूपकातिशयोक्तीनां
प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितमित्यालङ्कारान्तरस्यालङ्कारास्तरे व्यङ्ग्यत्वं न बलप्रतिपाद्यम् ॥२६॥

इयम् पुनरुच्यते एव—

अर्धशक्त्युद्भव अलङ्कारध्वनि

अहाँ अर्धशक्तिसे [वाच्य्यालङ्कारसे भिन्न] दूसरा अलङ्कार प्रतीयमान होता है वह
ध्वनि [काव्य] का दूसरा [अलङ्कारत्वं अलङ्कारव्यङ्ग्य-य] संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-य [सामक]
मन्त्र है ॥२७॥

अहाँ वाच्य अलङ्कारसे भिन्न दूसरा अलङ्कार अर्धसामर्थ्यसे व्यङ्ग्य-यरूपसे प्रतीत
होता है वह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-यरूप अर्धशक्त्युद्भव ध्वनि [का अलङ्कारसे अलङ्कार
व्यङ्ग्य-यरूप दूसरा मन्त्र] काव्य है ॥२७॥

अलङ्कारध्वनिका विषय प्रकृत है

उस [अर्धशक्तिमूल अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्य-यध्वनि]का विषय प्रकृत ही कम
हागा येनी आदादासे [ही भागे] यह कहते हैं कि—

[साधारणता] वाच्यरूपसे प्रतीत जानेवाला जो रूपक आदि अलङ्कारसे मूढ है
वह [दूसरे व्यङ्ग्यपर, दूसरे उदाहरणमें] सब गम्यमानरूपमें [महोद्भटादिने] प्रचुर
मात्रामें दिखलाया है ॥२६॥

अन्य उदाहरणमें वाच्यरूपसे प्रसिद्ध जो रूपकवि अलङ्कारसे मूढ है वह अन्य
व्यङ्ग्यपर प्रतीयमानरूपसे महोद्भटादिने प्रकृत [विस्तारसे] दिखलाया है । इसीसे
सन्देशादि [अलङ्कारों]में रूपक, रूपमा अतिशयोक्ति आदि [अलङ्कारावर्गों]का प्रतीय
मानत्व [व्यङ्ग्य-यत्वं] दिखलाया है । इसलिए अलङ्कारका अलङ्कारान्तरमें व्यङ्ग्य-यत्वं
[अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्य-य] का संकटा है इसका प्रतिपाद्यम प्रयत्नसाध्य [कठिन]
गर्ही है ॥२६॥

अलङ्कारध्वनिमें अलङ्कारकी प्रधानता

[किंग मी केयल] इतनी पाठ [विशेष रूपमें] कहते ही हैं कि—

अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते ।
तत्परस्य न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥२७॥

अलङ्कारान्तरेषु स्वतुरजनरूपालङ्कारप्रतीतौ तस्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्य-
प्रतिपादनोन्मुख्येन वाच्यत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः । तथा च वीपकाङ्कारे
उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन वाच्यत्वाभ्यवस्थानात् ध्वनिभ्यपदेशः । यथा—

पद्ममङ्गुलिं भिसा पल्लिनी कमलेदि कुसुमगुच्छेदि लला ।

हंसेदि सरलसोहा कञ्चकहा सञ्जनेदि करइ गरइ ॥

[चन्द्रमूलैर्निशा, नलिनी कमलै कुसुमगुच्छैलला ।

हंसैरशारदशोभा, कञ्चकभा सञ्जने क्रिमो गुर्वी ॥ इतिच्छया]

इत्यादिपूपमागमत्वेऽपि सति वाच्यालङ्कारमुख्येनैव वाच्यत्वं व्यवतिष्ठते न व्यङ्ग्या-
लङ्कारतात्पर्येण । तस्मात्तत्र वाच्यालङ्कारमुख्येनैव काव्यभ्यपदेशो न्याय्यः ।

यत्र तु व्यङ्ग्यपरस्यनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यङ्ग्ययमुख्येनैव व्यपदेशो युक्तः ।
यथा—

[एक वाच्य अलङ्कारम वृत्तम्] अलङ्कारान्तरेषु प्रतीति जानपर भी जहाँ वाच्य
[अलङ्कार] तत्पर नहीं [प्रतीयमान अलङ्कारका प्रधानतया वाच्यता नहीं करता] है [हमार
मतमें] यह ध्वनिका विषय नहीं माना जा सकता है ॥२७॥

[वीपक भादि] वृत्तमे अलङ्कारमें संसङ्गपद्ममङ्गुलि-य [उपमादि] वृत्त अलङ्कारकी
प्रतीति जानपर भी जहाँ वाच्य [वीपक भादि अलङ्कार]की व्यङ्ग्य-य [उपमादि] प्रतिपादन-
प्रयणताम ही वाच्यकी प्रतीति नहीं जाती है यह ध्वनिका मार्ग नहीं है । इसीमें वीप-
कादि अलङ्कारमें उपमाके गम्यमान होनेपर भी उक्त उपमा]के प्राधान्यमे वाच्यकी
व्यवस्था न होनेसे [यहाँ उपमान्तरमें] ध्वनिव्यवहार नहीं जाता है । जैसे—

ध्वजमाकी किर्णोम राशि कमलपुष्पोम नलिनी पुष्पमन्यकोमे लता हंसोम
दागुके र्मन्द्य भार मञ्जनोंम काव्यकाकी शारयवुक्ति जाती ह ।

इत्यादि [वीपक अलङ्कारके उदाहरण]में [गुच्छरूप एकधामिसम्बन्ध
माहृदयके कारण] उपमाके मध्यपतित जानपर भी वाच्य [वीपक] अलङ्कारके कारण ही
वाच्य स्थित होता है व्यङ्ग्य-य [उपमा] अलङ्कारके तात्पर्य [प्राधान्य]न नहीं । इसलिए
यहाँ वाच्य [वीपक] अलङ्कारके द्वारा ही काव्यव्यवहार करना उचित है ।

भार जहाँ वाच्य [अलङ्कार] की स्थिति व्यङ्ग्य-य [अलङ्कार] परतया [व्यङ्ग्यकी
प्रधानतापरक] ही है यहाँ व्यङ्ग्य-य [अलङ्कार]के अनुसार ही व्यवहार [नामकरण]
करना उचित है । जैसे—

१ अलङ्कारान्तरेषु स्वतुरजनरूपालङ्कारप्रतीतौ नि ही ।

२ वीपकाङ्कारे नि ही ।

३ यथा ही ।

प्राप्तभीरेप कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्वस्येर्व विद्व्या
 मित्रामप्यस्य पूर्वाभनलसमनसो नैव सम्भाषयामि ।
 सेतुं वचनाति मूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात
 स्वध्यायाते वितर्कानिति ब्रूत इवामाति कम्पः पयोधैः ॥

पया वा ममेव—

यहिले भागे व्यङ्ग्य अलङ्कारके अनुसार नामकरण अथात् अक्षर होना चाहिये इसको स्पष्ट करनेके लिए अलङ्कारचरित्रिके ११ उदाहरणोंको लेकर विस्तारपूर्वक इष्ट विषयकी विवेचना की है। ऐसे अलङ्कारचरित्रिके प्रसङ्गमें जहाँ वाच्य अलङ्कार व्यङ्ग्य अलङ्कारको स्पष्ट करता है वहाँ अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्य होता है। कहीं-कहीं वाच्य अलङ्कार खटा तो है परन्तु वह व्यङ्ग्य नहीं होता और कहीं वाच्यअलङ्कार होता ही नहीं। इन दोनों स्थितियोंमें अलङ्कारसे भिन्न वस्तुमात्रजामित्यङ्ग्य होता है। अतएव इन उदाहरणोंमें वस्तुसे अलङ्कारव्यङ्ग्य माना जाता है। भाग दिये गये अलङ्कारचरित्रिके म्यात्र उदाहरणोंमें दोनों प्रकारके उदाहरण हैं। फिर उक्त व्यङ्ग्य साम्प्रदायिके स्वरुधाम्नी, कवि प्रौढोक्तिविद्य और कविप्रौढोक्तिविद्यके मी मेरु होता है। आलोचकारने उदाहरणोंका समन्वय करते समय इन भेदोंका समन्वय नहीं किया है। परन्तु फिर भी समन्वय करते समय उनका ध्यान रचना अन्वय ही होगा। एही आधारपर नवीन व्याचारेणने अथवाक्यसुप्रसंगके १२ भेद किये हैं।

१ इसको [तो पहले ही] लक्ष्मी प्राप्त है फिर यह मुझे यह पृथानुभूत मन्थन [अन्वय] दुःख फर्या होगा। [इस समय] आद्यस्वरहित मतके कारण इसकी पहिले जैसी [वीर्यकाळीन] मित्राणी भी कोई सम्भाषणा नहीं जान पड़ती। सार हीर्षोंके राजा [ता] इनके अनुसर हो रहे हैं फिर यह दुःखसेतुवन्धन फर्या करेगा। हे राजन्, तुम्हारे [समुद्रतटपर] जानेसे मामो इस प्रकारके सन्वयोंके धारण करनेसे ही समुद्र काँप रहा है।

यहाँ समुद्रके स्वामित्व का अन्वयव्यतिरिक्तक अन्वयव्यङ्ग्यक रूपमें विद्याल सेना समेत समुद्रतटपर आवे हुए राजाको देखकर मन्थन वा सेतुवन्धाति अन्वयव्यतिरिक्तक मन्थनव्यङ्ग्य रूपक मन्थना उल्लेख की गयी है। इत्यर्थे वहाँ अन्वय और उल्लेखका अन्वयव्यङ्ग्य अलङ्कार [कविप्रौढोक्तिविद्य] वाच्यअलङ्कार है, उसके वाच्यकी वानुदेवकथा अर्थात् राजासे वानुदेव का आरोपस्वरुप रूपक अलङ्कार व्यङ्ग्य है। इस प्रकार यह कविप्रौढोक्तिविद्य अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य रूपकचरित्रिका उदाहरण है।

यहाँ यह ध्याता हो सकती है कि वानुदेवकी अपेक्षा राजासे प्राप्तभीक्य अनन्वयसमनस्कार, और हीयनापानुगत्य आदि बर्णोका आधिक्य प्रतीत होनेसे वानुदेवामेवकथन रूपकअलङ्कार नहीं अपितु व्यतिरेकात्कार व्यङ्ग्य ही सकता है। परन्तु यह व्यतिरेक वास्तव नहीं है। वानुदेवका जो स्वरुप वतमानमें प्रसिद्ध है उसमें उनके साथ भी प्राप्तभी आदि यह सब भय विद्यमान ही हैं अतः व्यतिरेकके अभावसे होनेसे, और अन्वयव्यङ्ग्यमें जोर वाच्य न होनेसे यहाँ रूपकचरित्रि ही है। व्यतिरेकात्कार व्यङ्ग्य नहीं है।

अथवा जीसे मेरा ही—

अवण्यन्नन्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽरिमात्
स्मेरेऽधुना तव मुन्ने तरलापवाधि ।
धोर्मं पदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुठयक्तमेव अस्तराक्षिर्यं पवोधिः ॥

इत्येवंविधे विषयेऽनुराजनरूपरूपकामयेण' काव्यवारुत्वव्यवस्थानाद् रूपकप्यनि
रिति व्यपदेशो न्याय्यः ।

उपमाप्यनिर्यया—

वीराय रमह पुसिणरुणम्मि ज तदा पिआयणुच्छङ्गे ।
दिट्ठी रिआमङ्गुमत्तजम्मि अह बहत्तसिन्दूरे ॥
[वीराया रमते पुसुणारुणे न तथा मियास्तनोत्सङ्गे ।
इटी रिपुगमकुम्भस्पठे यथा बहत्तसिन्दूरे ॥ इतिच्छाया]

२. [प्रसन्नताके कारण अञ्जलता और विकाससे युक्त धतपत्र] हे अञ्जल और
धीर्मानेत्रधारिणी [मिये], अब [कोपकालुप्यके यात्र प्रसादोन्मुख मुक्कके] छावण्य [संस्थान-
सीष्ठय] और कर्मित्तं दिग्दिगस्तरको [पूर्णमाके चन्द्रके समान] परिपूर्ण कर वेमेवाले
सुम्हारं मुगके मन्दमुमकनयुक्त होने [स्मेर] पर भी इस [ममुद्र] में तनिक भी
चम्प्यसता दिग्छाया नहीं पड़ती है इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह पयोधि
[निग] अलराशि [आव्यपुत्र तथा अलममूहमात्र] है ।

यदि यह अह नहीं, छद्मव होता तो पूर्णचन्द्रसदृश तुम्हारे मुक्कको देलकर उसमें गदन
विहाररूप क्षेम और सुन्दरमें बदि चन्द्रमा और तुम्हारे मुगके क्षीन्दवगत तारतम्यको समझनेकी बुद्धि
होती तो उसमें चन्द्रम भी अर्पिक सुन्दर तुम्हारे मुक्कको देलकर अन्तःकाल्यरूप क्षेम अवश्य होता ।

यह कविनिबद्ध नायककी उक्ति है । अलराशिमें स्पेयकद्वार बाध्य है उससे नायिकाके मुगपर
वृत्तिस्यपन्नका आरोपण रूपकद्वार स्पष्ट है । इत्यर्थे वर कविनिबद्धकृतमात्रोचितिद्ध
अन्तःकाल्य अन्तःकाल्य अन्तःकाल्य उदाहरण है ।

रूपकप्यनि

इस प्रकारके उदाहरणों [विषय]में अलक्ष्यकमध्यस्थ रूपकके आशयसे ही
काव्यका चारुम्य व्यक्तित्त हाता है इमलिप [यहाँ] रूपकप्यनि व्ययहार [नामकरण]
ही उचित है ।

उपमाप्यनि [के उदाहरण] जैसे—

३ वीराकी इति मियतमाके बुद्धमरुत्तित उदाहरणमें उतनी नहीं रमती शिगती
मिन्दूरम पुत्त ह्यु ७ बुके हाथियोंके कुम्भप्यमांमें [रमती है] ।

परीत वीररुद्रि मियात्त स्तनोमान्में रमती अनेका रिपुगमके बुद्धमरुत्तित उदाहरणमें
अभिप्राय प्रतिपादनमें अन्त नाम ही स्पष्टिद्वारम गजगुम्भकर्म [गजगुम्भकर्मगुपायिक] मियाके

१ अनुपमरूपकद्वारम नि ही ।

यथा वा ममैव विषमभाणञ्जीलयामसुरपराक्रमणे' कामदेवस्य—

तं ताण सिरिसहोदररजणाहरणम्मि दिव्यधमहरसम् ।

बिम्बाहरे पित्राणं विधेसिञ्जं कुसुमभाणेन ॥

[तत्तेषां भीतहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम् ।

बिम्बाहरे प्रियाणां विधेसितं कुसुमभाणेन ॥ इतिच्छाया]

दुर्बोके [विवाहपुत्रदुर्बलप्रतियोगिक] सादृश्यरूप उपाय झङ्गप है। उसके कारण उन कुम्भमय्यैक सरनमें बीरोंको अधिक आनन्द आता है। इस प्रकार झङ्गप उपमामूलक बीरव्यक्तियुक्तके पम्पकारकनक होनेसे यह स्वतःसम्भवी अलङ्कारसे अलङ्कारपञ्चप उपमापञ्चिका उदाहरण है।

अथवा जैसे 'विषमभाणञ्जीला' [नामक खरचित काम्य] में [धैर्योपयविजयी] कामदेवके [असुरविषयक पराक्रमके] धणन [के प्रसङ्ग]में मेरा ही [बताया निम्नलिखित श्लोक उपमापञ्चिका सूत्र उदाहरण] है।

४ अङ्गीके सहोदर [अत्यन्त उत्कृष्ट] रङ्गके माहरणमें तत्पर वन [असुरों] के उस [सदैव युद्धोद्यत] हृदयको कामदेवने प्रियाओंके अघरविम्व [के रसालान्] में तत्पर कर दिया।

यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार बाण्य है और उतसे प्रियाका अघरविम्व सङ्करलक्षणरूप कौलुम अधिक समान है यह उपमाअलङ्कार झङ्गप है। अतः कविमीहीधिसिद्ध अलङ्कारसे अलङ्कारपञ्चप रूपमापञ्चिका उदाहरण है।

काम्यप्रकाशकाने पयाय अलङ्कारके उदाहरणरूपमें इस श्लोकको उद्धृत किया है और उसके टीकाकारोंने इसका अर्थ भी अस्य प्रकारसे किया है। भीतहोदररजणाहरणे'के स्थानपर उन्होंने 'भीतहोदररजनामलन यह छावानुवाद किया है, परन्तु मूल प्राकृत स्थानमें 'रजणाहरणम्मि' यही पाठ रखा है। इस प्राकृत पाठका छावानुवाद ही 'रजनाहरणे' ही हो सकता है 'रजनामले' नहीं। इत्यर्थ 'काम्यप्रकाश'के टीकाकारोंका छावानुवाद ठीक नहीं है। इत्यर्थमें उसके आधारपर जो व्याख्या उन्होंने की है वह भी ठीक प्रतीत नहीं होती। उन्होंने श्लोकका अर्थ इस प्रकार रखा है कि 'भीतहोदररजन अर्थात् कौलुममणि विनका आमरण है ऐसे विष्णुमें एकरस एकाग्र देखोंका मन, मोहिनीरूपचारिणी प्रियाके अघरविम्वके वनमें कामदेवने प्रवृत्त कर दिया'। यह अर्थ भी ठीक नहीं है। मूलमें 'प्रियाणां' वह स्पष्ट ही बहुवचन है, उससे एक मोहिनीके साथ उसकी सङ्गति नहीं हो सकती है। वह स्पष्ट ही उनकी अपनी प्रियाओंका शोचक है मोहिनीका नहीं। फिर विष्णुमें अतुर्गोके हृदयकी एकाग्रता, एकरसता भी अतङ्गत है। टीकाकारोंने यह सब अनप्य पमावाचका रूप समन्वित करनेके लिए किया है। अनुश्रुता हृदय परीमे विष्णुमें एकरस या, कामदेवने उसको प्रियाओंके अघरविम्वमें गया दिया। इस प्रकार 'एकं क्रमेण अनेकान् क्रियते' इस पयाय अलङ्कारके अर्थका सम्भव करनेका प्रयत्न उन्होंने किया है। परन्तु उनका और स्वयं काम्यप्रकाशकार सम्भवावाचका यह प्रयत्न श्लेषन का और इस पद्यके निर्माता स्वयं पन्थाश्लोककार—जिन्होंने इसे उपमापञ्चिका उदाहरण माना है—के आभिप्रायक विरुद्ध है। शोचनकारकी प्रामाणिक व्याख्या सामने रखते हुए भी इन लोगोंने अपने दृष्टिकोणमें इस प्रकारका गल्ल अर्थ किया है।

आशेषव्यतिबन्धा—

स वस्तुमखिलान् शक्तो हयप्रीषाम्भिवान् गुणान् ।

योऽभ्युक्तस्मैः परिच्छेदं क्वातुं शक्ये महोदधेः ॥

अथातिशयोक्त्या हयप्रीषगुणानामव्यतिबन्धाप्रतिपादनरूपस्यासाधारणवद्विषय प्रकाशनपरस्य आक्षेपस्य प्रकाशनम् ।

अथान्तरन्यासप्रति। शब्दशक्तिमूलात्पुनरुत्पन्नरूपवद्गुणान् शब्दशक्तिमूलात्पुनरुत्पन्नरूपवद्गुणान् सम्भवति । तत्रासाधारण्यम्—

वेद्याण्यमि फले किं कीदृशं यतिजं पुणा भविता ।

फकिद्वयस्त्रयाः पद्वार्णो क्षण्णण न सरिच्छा ॥

[वैषाण्यं फलं किं विद्यतामतावत् पुनर्भवाम् ।

रथनाकपस्तना पस्तनानामन्वेषां न तदसा ॥ इतिच्छेदा]

पदप्रकाशरथां ध्वनिरिति वाक्यम्वाचान्तरतात्पर्येऽपि सति न विरोधः ।

आशेषव्यति [का उदाहरण] जीव—

७ आ पामीकं यद्वैतं [जायकर] समुद्रके परिमाणकं ज्ञानं सक्ता है घटी हयप्रीषके समस्त गुणोंके समान फलमें समर्थ है सक्ता है ।

यदा अतिशयाति [वाक्यालङ्कार]मे हयप्रीषके समस्त गुणोंकी अव्यतिबन्धा प्रतिपादनरूप [गुणोक्ति] असाधारण्य विशेषताप्रकाशनपरक आक्षेप अलङ्कार व्यङ्ग्य है [मता यह कविप्रौढाक्षिपिज अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्य आक्षेपव्यतिकर उदाहरण है] ।

अथान्तरन्यासप्रति शब्दशक्तिमूलक असङ्ख्यप्रमाणवद्गुण और ध्वनिशक्तिमूलक संसङ्ख्यप्रमाणवद्गुण [शब्दोत्तरवद्गुण] हो सक्ता है । उनमेंसे प्रथम [शब्दशक्तिमूलक संसङ्ख्यप्रमाणवद्गुणव्यति]का उदाहरण [निम्नलिखित है]—

१. पत्रं मायकं धर्षीय है [हममें हम] क्या करें [पुत्र भी नहीं कर सकते हैं] । फिर भी इतना [ता] कहत है कि रथनाक [पुत्र]क पक्ष अथ पक्षोंके समान नहीं होत ।

यह व्यति पदप्रकाशय भी होता है इसलिये वाक्यक अथान्तर [अप्रस्तुतप्रतीक्षा] में तात्पर्य जानकर भी [अथान्तरन्यासक पदप्रकाशय जानकर] कार्य विरोध नहीं होता है ।

यहाँ अथान्तरन्यास और अप्रस्तुतप्रतीक्षा दो अलङ्कार व्यङ्ग्य हो सकते हैं । सामान्य और विशेषतः समान्यप्रमाणक जानकर अथान्तरन्यास और तात्पर्यप्रमाणक जानकर अप्रस्तुतप्रतीक्षा होती है ।

“तामान्यं वा विरोधं विरोधान्न वा यदि ।

समर्थेन - - - - - अथान्तरन्यास ॥”

वर्तिर विरोधं सामान्यात् सामान्यं वा विरोधः ।

द्वितीय उद्योतः

पृ २७]

द्वितीयस्योद्वाहरणं यथा—

द्विअअट्टाविअमण्णुं अवरुण्णमुद्धं हि मं पसाअन्त ।
अवरुत्तस्स वि ण हु वे पडुवाणअ रोसिउं मअस्स ॥
[इदयस्यथापितमन्युमपरोपमुत्थीमपि मां प्रसादयन् ।
अपरदस्यपि न ललु ते बहुत्त रोपितुं शक्यम् ॥ इतिच्छाया]

अत्र हि वाक्यविशेषेण सापरघस्यपि बहुत्तस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थकं सामान्यमन्वितमन्यत्तात्पर्येण प्रकाशते ।

व्यतिरेकध्वनिरप्युभयरूपः सम्भवति । उत्रापस्योद्वाहरणं प्राक् प्रदर्शितमेव । द्वितीय-स्योद्वाहरणं यथा—

माएअअ मणुरेमे सुवअ अिअ पाअओ^१ गअिअवओ ।
मा माणुसम्मि ओए वाएअरसो वरिओ अ ॥

अप्रलुतात् प्रलुतं वेद् गम्यते पञ्चपा उत ।
अप्रलुप्रघंसा स्वात् ॥

यह अर्थांतरन्यास तथा अप्रलुतप्रघंसाक उक्त हैं ।
अप्रलुत रत्नाद्योक्त इत्थंके इच्छन्ते कोकोचर प्रयत्न करनेपर भी विफल होनेवाले किसी

व्यक्ति की प्रघंसारूप प्रलुतकी प्रतीति होनेसे अप्रलुतप्रघंसा अवहार होता है । परन्तु फल शब्दसे भाग्यवश होनेवाली विपद्यका समर्थक पहिले ही प्राप्त हो जाता है । इसलिये यहाँ प्रकृत्य शब्दकी शक्तिसे सामान्यतः विशेष समयनरूप अर्थांतरन्यास अवहार स्पष्ट हो जाता है और उसकी परसे प्रथम प्रतीति हो जानेसे यह अर्थांतरन्यासजनिका ही उदाहरण है वाक्यमध्य अप्रलुतप्रघंसाजनिका नहीं । ज्वनिक अन्ते भेद किय गये हैं वे परप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य होते हैं यह भागे करगे— यहाँ अर्थांतरन्यासजनिक परप्रकाश्य और अप्रलुतप्रघंसा वाक्यप्रकाश्य है, इसलिये विशेष नहीं है ।

दूसरे [अर्थशक्तिमूल ससक्यप्रमथ्यइय]का उदाहरण—

७ इदयमे क्रोधे मरा होनेपर भी मुलपर उमका [क्रोधका] माय प्रकृत म करनेवाली मुमको भी तुम मना रहे हो इसलिये [प्रकृत भावसे अधिक इदयस्थित भाव को भी जाननेवाले] हे बहुत्र तुम्हारे अपराधी होनेपर भी तुमसे क्या नहीं जा सकता । यहाँ वाक्याप्यविशेषमे बहुत्तके सापरघ हातेपर भी [उमपर] क्रोध करना सम्भव नहीं है यह समर्थक, अर्थ सामान्य तात्पर्यसे सम्बद्ध अन्य विशेषको अभिव्यक्त करता है [मता अर्थांतरन्यासजनिक हैं] ।

व्यतिरेकध्वनि भी [शब्दशक्त्युत्थ भाग अर्थशक्त्युत्थ] दोनों प्रकारका हो सकता है । उनमेंसे प्रथम [शब्दशक्त्युत्थ]का उदाहरण [नं वेऽरुमुवसयन्ति० इत्यादि पृष्ठ १३० पर] पहिले दिखा ही चुके हैं । दूसरे [अर्थशक्त्युत्थका] उदाहरण जैसे—

८ [प्रकाशत तिज्जन्] यममे पअरहित बुयका वृत्त बनकर मसे ही पैदा हो जाऊँ परन्तु शानकी उचियुक्त और वरिद्र होकर मनुष्यलोकमें पैदा न होऊँ ।

१ अर्थयामास्यं नि ही ।
२ अर्थयामास्यं नि ही ।

द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

द्विभक्त्याविभक्तमण्युं अक्षरणासुहं हि मं पसाधन्त ।
अक्षरस्यस्य वि ण हु वे बहुजाप्यम रोचिर्कं सक्षम ॥

[इदमस्यापितमन्मुपरोपमुक्तीमपि मां प्रसादयन् ।
अपराधस्यापि व लसु वे बहुञ्च रोपितं शक्यम् ॥ इतिच्छाया]

अत्र हि वाच्यविशेषेण सापरारभस्यापि बहुस्यस्य कापः कर्तुमशक्य इति समर्भक^१
सामान्यमन्वितमन्यत्वात्पर्येण प्रकाशते ।

व्यतिरेकप्रतिरूप्यमयत्तुः सम्भवति । उदाहरणस्योदाहरणं प्राक् प्रदर्शितमत्र । द्वितीय-
स्योदाहरणं यथा—

जाप्यञ्च अणुरेमे सुवञ्च विभक्त पाठ्या^१ गद्विभक्तौ ।
मा माणुसमि छोए ताएकरसो वरिदो अ ॥

अप्रस्तुतात् प्रस्तुतं चेद् गम्यत पञ्चमा तत् ।

अप्रस्तुतप्रसंसा म्नात् ”

यह अर्थांतरन्यास तथा अप्रस्तुतप्रसंसाच रूप्य है ।

अप्रस्तुत रकाणोक्त वृत्तके वृत्तमते लोकोत्तर प्रथम क्रमपर भी निकल होनेवासे किसी व्यक्तिकी प्रसंसाकप्र प्रस्तुतकी प्रतीति होनेसे अप्रस्तुतप्रसंसा अस्कार होता है । परन्तु एक शब्दसे माग्यवत् होनेवाली विषयका समर्भक पहिले ही प्राप्त हो जाता है । इसलिये यहाँ पञ्चम्य शब्दकी शक्तिसे सामान्यसे विद्येय सम्यक्त्व अवन्तरन्यास अस्कार स्वल्प होता है और उसकी पदसे प्रथम प्रतीति हो जानेसे यह अर्थांतरन्यासप्रतिका ही उदाहरण है वाक्यगम्य अप्रस्तुतप्रसंसाप्रतिका नहीं । प्रतिक्रिये मेव किये गये हैं वे कप्रकाश और वाक्यप्रकाश होते हैं यह धारणें—
यहाँ अर्थांतरन्यासप्रतिका पदप्रकाश और अप्रस्तुतप्रसंसा वाक्यप्रकाश है, “उत्थिपि विधेय नहीं है ।

वृत्तरे [अथशक्तिमूल संसृष्ट्याप्रमण्यज्ञय]का उदाहरण—

० इदमर्थमे ध्येय भवा होनेपर भी मुख्यण उसका [अथक्य] माय प्रकृत न करनेवाली मुख्यता भी तुम मना रहे हो इसलिये [प्रकृत माधमे अधिक इदयस्थित माय-
को भी जाननेवाले] द बहुञ्च, तुम्हारे अपराधी होनेपर भी तुमसे कठ नहीं जा सकता ।

यहाँ वाक्यार्थविशेषसे बहुञ्चके सापरारभ होनेपर भी [उत्सर्ग] क्रोध करना सम्भव नहीं है यह समर्भक, अर्थ सामान्य तात्पर्यसे सम्भव अन्व्य विशेषकी समिप्यका करता है [अतः अर्थांतरन्यासप्रतिका है] ।

व्यतिरेकप्रतिका भी [शब्दशक्त्युत्थ भाग अर्थ-शक्त्युत्थ] दोनों प्रकारका हो सकता है । उनमेंसे प्रथम [शब्दशक्त्युत्थ]का उदाहरण [सं येत्युत्थलपत्ति० इत्यादि पृष्ठ १३० पर] पहिले दिखा ही चुके हैं । वृत्तरे [अर्थ-शक्त्युत्थका] उदाहरण जैसे—

८. [एकान्त निर्जन] धर्ममे प्रसंस्कृत कुपका वृत्त वनकर मले ही पैदा हो जाऊँ परन्तु वानधी दक्षिणुक्त और वरिद्र होकर मनुष्यलोकमें पैदा न होऊँ ।

१ अर्थसामान्य वि धी ।

२ अर्थभक्तौ = अर्थिपका नि , धी ।

[आपय वनोद्देशं कुञ्ज एव पादपो गलितपत्र ।

मा मानुषं लाके त्यागैकरता दरिद्रश्च ॥ इतिश्रया]

अत्र हि त्यागैकरसस्य दरिद्रस्य अन्मानभिनन्दनं मुटितपत्रकुञ्जपादपजन्मानभिनन्दनं च साक्षात्प्रत्यक्षवाक्यम् । तथाविधावपि पादपात् सादृशस्य पुंस उपमानोपमेयत्वप्रतीतिपूर्वकं शोभ्यतायामाधिक्यं तात्पर्येण प्रकाशयति ।

उत्प्रेक्षाव्यनियथा—

धन्वनासक्तमुजगनिःश्वासानिभमूर्च्छितः ।

मूर्च्छयत्येव पथिकाम् मघी मलयमाहवः ॥

अत्र हि मघी मलयमाहवस्य पथिकमूर्च्छाकारित्वं मन्मथाग्माब्जवायित्वेनेव । तस्य धन्वनासक्तमुजगनिःश्वासानिभमूर्च्छितत्वेनोत्प्रेक्षितमित्युत्प्रेक्षा साक्षादनुक्तपि वाक्यार्थं सामर्थ्याद्गुरुरभतरुपा छन्दयते । न चैवंविधे विषये इवादिशब्दप्रभागमन्तरेणासम्बद्धत्वैवैतत्प्रकृत्यत्वं वक्तव्यम् । गमकत्वाद्यस्यत्रापि तदप्रयोगं तदर्थोपगतिवर्त्तमानम् । यथा—

यहाँ दानकी रुधिराळे दरिद्र [पुरुष] के जन्मकी निन्दा और पथविहीन कुञ्ज वृक्षके जन्मका अभिनन्दन शब्दोंसे साक्षात् वाक्य है । भार यह [वाक्य] उस प्रकारके बृहत्से भी उस प्रकारके पुरुषकी शाश्वतीयताके आधिक्यका वाक्यसे उपमानोपमेयमात्र [सादृश्य] प्रतीतिपूर्वक तात्पर्यरूपसे व्यञ्जना द्वारा प्रकाशित करता है [अतएव यहाँ मयशक्तिमूल व्यतिरेकत्वनि है] । यहाँ वाक्य कई अलङ्कार नहीं है अतएव स्यतः सम्भवी पस्तुल व्यतिरेकालङ्कारत्वनि व्यवहृत्य है] ।

उत्प्रेक्षाव्यति [का उदाहरण] जैसे—

१. धन्वन [पुरुष]में छिपटे हुए सफ़ोंके निःश्वासवायुस [मूर्च्छित] बुद्धिहत यह मलयानिभ वसन्त ऋतुमें पथिकाको मूर्च्छित करता है ।

यहाँ वसन्त ऋतुमें बामोद्दीपन द्वारा पीडाकारी होनेसे ही मलयानिभ पथिकाको मूर्च्छाकारी दाता है । परन्तु यह वह [मूर्च्छाकारित्व] धन्वनमें छिपटे हुए सफ़ोंके निःश्वास वायुस मूर्च्छित—बुद्धिहत—होनेके कारण उत्प्रेक्षित किया गया है । [विश्राफ्त वायुके मिल जानेस मलयानिभ मूर्च्छाकारी दाता है । अथवा पथिकाओंमें पथकी मूर्च्छा अन्योद्दीपी चैवंभ्युति द्वारा उसके मूर्च्छका कारण बन सकती है] इस प्रकार उत्प्रेक्षा साक्षात् [उत्प्रेक्षावाचक इवादि शब्दोंसे] कथित न होनेपर भी वाक्यार्थ सामर्थ्यसं संक्षेपकमपह्नवकारणमें प्रतीत होती है । [इसलिये यहाँ कवि प्रौढाफित सिद्ध वस्तुसे उत्प्रेक्षाकारणत्वनि व्यवहृत्य है] । इस प्रकारके उदाहरणों [विषय]में [उत्प्रेक्षावाचक] 'एव' आदि शब्दोंके प्रयोगके बिना [उत्प्रेक्षा] आदिका सम्बन्ध नहीं हो सकता यह नहीं कहा जा सकता है । [वाक्याकी प्रतिमाके सहयोगसं सम्मानस्य इत्यादि विशेषणके उत्प्रेक्षा] पोजक हाननं अन्व उदाहरणोंमें भी उम [इयादि]के प्रयोगके बिना भी उम [उत्प्रेक्षा]की प्रतीति लक्षी जाती है । जैसे—

१ अन्ववदेव नि ही ।

२ अन्ववद नि ही ।

इसा कद्रुसस वि सुह मुहसस ण एस पुण्णिमावन्वो ।

अअ सरिसत्तर्ष पाविअम अङ्ग विअ ण माइ ॥

[इप्यकद्रुपस्यापि त्व मुत्तस्य नन्वेप पूर्णिमावन्द् ।

अथ सहरत्तर्ष प्राप्य अह्मा एव न माति ॥ इतिष्ठायाम्]

यथा वा—

त्रासाकुञ्जः परिपठम परिवो निष्केताम् ,

मुष्मिन्नं कैशियदपि धन्विभिरन्वत्रन्वि ।

तस्वी तथापि न भृगाः कविपङ्गनामि

राकर्षपूर्णनयनेपुह्लोङ्गनाम्नीः ॥

शब्दार्थस्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम् ।

भाज यह पूर्णिमावन्द् सुम्हारे इप्यासे मच्चिन् मुत्तकी मी समानता पाकर मामो अपने शरीरमें समाता ही नहीं है ।

जहाँ पूर्णिमावन्द्का सब दिशाओंको प्रकाशसे भर देना जो एक स्वाभाविक क्राय है वह मुखसारस्यपातिरेनुकल्पेन उल्लेखित है । यहाँ प्राकृत स्मोक्में 'विम' पाठ है । उक्तका छायानुषाङ्ग एक किया गया है । जैसे उसका हव अनुवाद भी हो सकता है परन्तु यहाँ इस स्मोक्को इसी बातके सिद्ध करनेके लिये जो उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है कि यहाँ 'इव' शब्दका प्रयोग न होनेपर भी उल्लेख है । 'विम' के 'एव' अनुवाद करनेसे अपनी सङ्गति अधिक बलवती हो जाती है । फिर भी यदि कोई आपत्ति करे तो उक्त उल्लोपके लिये अन्यकार इसी प्रकारका वृत्त उदाहरण भी देते हैं—

अथया [वाचकके अभावमें मी उल्लेखका दूसरा उदाहरण] जैने—

मयस ध्याकुञ्ज, पर्योके पारो ओर भूमते हुए इम हिरणका किन्हीं धनुषांरी पुण्योंने पीछा नहीं किया, फिर मी क्षिपोंके कानोंतक फैले हुए मयनोंके बावोंसे अपनी [अपनी सधसभूत] तपनधरीके तट कर दिये जानेके कारण ही मामो कहीं टहर नहीं सका ।

शब्द और अर्थके स्पष्टाहारमें [सहवयानुमपरूप] प्रसिद्धि ही [अर्थप्रतीतिमें] प्रमाण है ।

यहाँ मी 'इव' शब्दके अभावमें हेतुल्लेख प्रतीत होती है । इसलिये इबादि शब्दके अभावमें असम्भवापकता नहीं करी जा सकती । यहाँ फिर यह शङ्का भी हो सकती है कि 'चन्दनासक्त' इबादि स्मोक्में इव शब्दके अभावमें उल्लेखकी असम्भवापकताकी जो शङ्का हमने भी भी उक्त सङ्गन करनेके लिये आपने यह उदाहरण दिया है परन्तु वह उदाहरण मी तो उसी प्रकारका है । इसलिये यहाँ असम्भवापकता नहीं है इसमें ही क्या विनिगमक होगा । इस शङ्काक समाधानके लिये अन्यकारने 'शब्दाभाववहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम्' यह पंक्ति लिखी है । इसका अभिप्राय यह है यहाँ इबादि अभावमें मी सहृदय शब्ग उल्लेखका अनुभव करते हैं । अतएव शब्दार्थस्यवहारमें प्रसिद्धि अथवा सहृदयीका अनुभव ही प्रमाण है । उक्त अनुभवसे यहाँ इबादिके अभावमें मी प्रतीति दानसे असम्भवापकता नहीं हो सकती ।

इच्छेपध्वनिर्यथा—

गम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः रागं विविक्तं इति वचयन्तीः ।

यस्यामसेवन्त नमस्त्वमीकाः समं वधूमिर्वैद्यमीर्युयातः ॥

अत्र वधूमिः सह वज्रमीरसेवन्तति वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं वध्व इय यत्तस्य इति इच्छेपप्रतीतिरक्षाप्यर्थसामर्थ्यान्मुस्यत्वेन वर्तते ।^१

यथासंख्यध्वनिर्यथा—

अङ्कुरितः पस्त्रवितः कोरकितः पुष्पितश्च सहकारः ।

अङ्कुरितः पस्त्रवितः कोरकितः पुष्पितश्च इति मदनः ॥

अत्र हि यथादेशमनूहेसे यथाहत्वमनुरणनरूपं मदनविशेषमसाङ्कुरितादिशब्दात् तन्मदनसहकारयोस्तुस्ययोगितासमुच्चयस्यैवाह वाक्यावृत्तिरिष्यमानमाहस्यते ।

एवमन्वेऽप्यलङ्कारय यथायोगं योजनीयाः ॥२७॥

इच्छेपध्वनि [का उदाहरण] जैसे—

१० जिस [गगरी]में नवयुवकगण अपनी सुस्वरताके लिए प्रसिद्ध [अमुक सुस्वर है इस प्रकारकी प्रसिद्धिको प्राप्त] एकान्त अथवा शुद्ध उज्ज्वल [विपभूपादि] होनेसे अनुयागको बढ़ानेवाली निबन्धीयुक्त [अपनी] वधुओंके साथ, रमणीयताके कारण पताकामोंसे अलङ्कृत एकान्त होनेसे कमोद्दीपक और हुके रूप उज्ज्वलसे युक्त, अपने कूटागारों [गुप्त निजी कमरों] का सेवन करते थे ।

यहाँ वधुओंके साथ [बलमियों] कूटागारोंका सेवन करते थे इस वाक्यार्थ प्रतीतिके बाद वधुओंके समान कूटागार हम स्त्रेपकी प्रतीति भी अर्थसामर्थ्यसे मुख्य रूपमें होती है [अतः यहाँ स्वतामन्मयी यस्तुसे अलङ्कारव्यङ्ग्यरूप स्त्रेपध्वनि है] ।

यथार्थव्य [अलङ्कार] ध्वनि [का उदाहरण] जैसे—

११ आमके ब्रह्ममें जैसे पहिले [पत्तोंके] अङ्कुर निकले, फिर वह पक्ष्म बन गये, फिर शीरकी कडी भायी और वह खिल गयी इसी क्रमसे [जलीके साथ-साथ] इत्यर्थमें कामदेव अङ्कुरित पस्त्रवित मुकुटित और विकसित हुआ ।

यहाँ [यथा उद्देश्य] प्रथम वाक्यपठित क्रमके अनुसार अङ्कुरित यदि शब्दोंके उन्मी क्रमसे [अनूदेश] वुपाय करनेसे मदन विशेषणरूप अङ्कुरितादि शब्दोंमें जो संमन्वयक्रमव्यङ्ग्यवाच्यत्व प्रतीत होता है वह कामदेव और मातृवृक्षके तुस्ययोगिता या समुच्चयनक्षण वाक्यवाच्यसे उत्पन्न बिलम्बाइ होता है । [अतएव यहाँ स्वताः सम्मयी अलङ्कारस अलङ्कारव्यङ्ग्यरूप यथासंख्य अलङ्कारध्वनि स्पष्ट है ।]

इस प्रकार अन्य [ध्वनिरूप] अलङ्कार भी यथोचितरूपसे [स्वयं] समस्त लेने चाहिये ।२७।

१ काम् वि ।

२ विवर्तते नि ही

एवमलङ्कारध्वनिमार्गं व्युत्पाद्य तस्य प्रयोजनवशां स्थापयितुमिष्टमुच्यते—

शारीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न न्यवस्थितम् ।

तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गता ॥२८॥

ध्वन्यङ्गता चोमाभ्यां प्रकाराभ्यां, व्यञ्जकत्वेन व्यङ्ग्यत्वेन च । तत्रह प्रकरणाद् व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम् । व्यङ्ग्यत्वेऽप्यलङ्काराणां प्राधान्यविषयतायामेष सत्यां ध्वनावन्तः पाद्यः । इतरथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं प्रतिपाद्यिष्यते ॥२८॥

अङ्गित्वेन व्यङ्ग्यतायामपि अलङ्काराणां द्वयी गति । अत्रादिद् वस्तुमात्रेण व्यङ्ग्यन्ते कदाचिदलङ्कारेण । तत्र—

व्यङ्ग्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा ।

धुवं ध्वन्यङ्गता तासां,

अत्र ह्यु—

काव्यवृत्तेस्तवाभ्रयात् ॥२९॥

अलङ्कारध्वनिका प्रयोगः

इस प्रकार अलङ्कारध्वनिके मार्गका [विस्तारपूर्वक] प्रतिपादन करके [अथ] उक्त [व्युत्पादन]की सार्थकता सिद्ध करनेके लिये यह कहते हैं—

[कण्ठ-कुण्डलस्थानीय] जिन अलङ्कारोंकी वाक्यावस्थामें शरीररूपताप्राप्ति [भी] निश्चित नहीं है व्यङ्ग्यरूपताको प्राप्तकर वे अलङ्कार भी [न केवल माध्यायन शरीरको अपितु] परं वाक्यको प्राप्त हो जाते हैं ॥२८॥

अथ 'वाच्यत्वेन'को एक पद मानकर वाच्यरूपसे अशरीरभूत कण्ठ-कुण्डलस्थानीय जिन अलङ्कारोंका शरीररूपतापरम [ध्वनिकरण मुक्तियोग] किए अयनसम्याय होनेसे मुनिचित है वे अलङ्कार भी व्यङ्ग्यरूपताको प्राप्त कर अत्यन्त चौन्दनको प्राप्त हो जाते हैं । यह अर्थ भी सा सकता है ।

[अलङ्कारोंकी] ध्वन्यङ्गता व्यञ्जकरूप और व्यङ्ग्यरूप दोनों प्रकारसे हो सकती है । उनमेंसे, यहाँ प्रकरणवश व्यङ्ग्यतया ही [ध्वन्यङ्गता] समझनी चाहिये । अलङ्कारोंके व्यङ्ग्य होनेपर भी [व्यङ्ग्यरूप] प्राधान्य विषयता होनेपर ही ध्वनिमें अन्तर्भाव हो सकता है नहीं तो [अप्रधान होनेकी दशामें] गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व ही [प्रतिपादन किया] माना जायगा ॥२८॥

अलङ्कारोंके प्रधानरूपमें व्यङ्ग्य होनेमें भी दो प्रकार हैं । कभी वस्तुमात्रमें व्यक्त होते हैं और कभी अलङ्कारमें । उनमेंसे—

जब अलङ्कार वस्तुमात्रमें व्यङ्ग्य होते हैं तब उनकी ध्वन्यङ्गता [प्राधान्य] निश्चित है ।

इसका कारण [यह है कि]—

[यहाँ] काव्यका व्यापार ही उन [अलङ्कार]के अधिकृत है ॥२९॥

यस्मान् तत्र तत्राविषम्यङ्ग-पालङ्कारपरत्वेन कार्यं प्रवृत्तम् । अन्यथा तु तद्-
वाच्यमात्रमर्थं स्यात् ॥२९॥

वासामेपालङ्कृतीनाम्—

अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यभावे,

पुनः—

ध्वन्यङ्गता भवेत् ।

चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यत ॥३०॥

वृत्तं छेत्ता, चारुत्वोत्कर्षनिवधना वाच्यव्यङ्ग्ययाः प्राधान्यविवक्षा इति ।
वस्तुमात्रव्यङ्ग्यत्वे चालङ्कारापानन्तरोपदर्शिवेभ्य एवोदाहरणेभ्यो विषय उन्नेयः ।
तदेवमवमात्रेचालङ्कारविशेषरूपेण वाच्येन, अर्थान्तरस्यालङ्कारस्य वा प्रकाशने चारुत्वात्कर्ष-
निवधने सति प्राधान्येऽर्थस्यस्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यया ध्वनिरवगन्तव्या ।

क्योंकि यहाँ उस प्रकारके व्यङ्ग्यचालङ्कारके बोधनके लिये ही काव्य प्रवृत्त हुआ
है । अन्यथा तो वह [वस्तुमात्रप्रतिपादक अन्तस्कारणस्य] केवल वाच्यमात्र वह जायगा ।
[काव्य ही यहाँ रहगा ।] ॥२९॥

उर्ध्वा अलङ्कारोंके—

दूसरे अलङ्कारोंके व्यङ्ग्य-शोभेपर

फिर—

[व्यङ्ग्य अलङ्कार] ध्वनिरूपता [ध्वन्यङ्गता] होती है ।

यदि धारत्यके उत्कर्षने व्यङ्ग्यका प्राधान्य प्रतीत होता है तो ॥३०॥

यह कह चुके हैं कि वाच्य और व्यङ्ग्यको प्राधान्यकी विवक्षा [उनके] चारुत्यके
उत्कर्षके कारण ही होती है । वस्तुमात्रके व्यङ्ग्य अलङ्कारों [उदाहरण अलग नहीं
दिये जाये हैं इसलिये उक्त]का विषय पूर्वप्रदर्शित उदाहरणोंमेंसे ही समझ लेना चाहिये ।
[इसमें 'आलाङ्करीपिका' व्याख्यानमें यथास्थान वस्तुव्यङ्ग्य अलङ्कारोंको प्रदर्शित कर
दिया है ।] इस प्रकार वस्तुमात्रमें अथवा अलङ्कारविशेषरूप अर्थसे दूसरे वस्तुमात्र
अथवा अलङ्कारके प्रकाशनेमें चारुत्वात्कर्षके कारण प्राधान्य होनेपर अर्थस्यस्युद्भव
रूप संलक्ष्यकमव्यङ्ग्यवाच्यनि सामझना चाहिये ।

यहां यह स्पष्ट कर दिया है कि वस्तु और अलङ्कार दोनों व्यङ्ग्य और दोनों व्यङ्ग्य हो सकते
हैं । "उत्तर १ वस्तुमें वस्तुमात्र २ वस्तुमें अलङ्कारव्यङ्ग्य ३ अलङ्कारके वस्तुव्यङ्ग्य और
४ अलङ्कारमें अलङ्कारव्यङ्ग्य ये चार भेद हो सकते हैं । पहिले स्तम्भमेंही कश्चिदौचित्यिक और
कश्चिदव्यङ्ग्यप्रतिपक्ष ५ तीन भेद अथवास्तुव्यङ्ग्य ध्वनिक क्रिये ६ । उन तीनोंमेंसे प्रत्येक भेदके १
वस्तुमें वस्तु २ वस्तुमें अलङ्कार, ३ अलङ्कारके वस्तु ४ अलङ्कारके अलङ्कारव्यङ्ग्य ये चार भेद
होकर [१×४=४] कुल चार भेद अर्थवस्तुव्यङ्ग्य ध्वनिक हो सकते हैं । इन्हें अतिरिक्त अन्य

एवं ध्वनेः प्रमेदाम् प्रतिपाद्य तदामासविभेदं ऋतुमुच्यते—

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते ।

वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ॥३१॥

द्विविधोऽपि प्रतीयमानः स्फुटोऽस्फुटश्च । तत्र य एव स्फुटः क्षण्दशब्दस्याप्येव
शब्दस्या वा प्रकाशते स एव ध्वनेमार्गो नेवरः स्फुटोऽपि योऽभिधेयस्याङ्गत्वेन प्रतीयमानो
धमासते सोऽस्यासुरूपनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरगोचरः । यथा—

कमलाभरा षं मलिना हंसा उड्गाविआ ण अ पिउच्छा ।

केण वि गामतङ्गाप अर्म्मं वशाणर्म्मं फळिहम् ॥

[कमलाभरा षं मलिना हंसा उड्गाविआ ण अ पिउच्छा ।

केनापि गामतङ्गापे, अर्म्ममुत्तानितं क्षितम् ॥ इतिच्छाया]

अत्र हि प्रतीयमानस्य सुगन्धवन्ना अलघरप्रतिविम्बदर्शनस्य बाष्पभाङ्गत्वमेव ।

एवंविधे विषयेऽन्यत्रापि यत्र व्यङ्ग्यभाषेद्यया वाच्यस्य वारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या प्राधान्य

शक्त्युत्पत्तं वस्तु तथा अङ्गाररूप दो भेद उभयान्तस्तुत्पत्ता एक और अर्द्धस्वरप्रत्यङ्ग्य एक, ए
प्रकार कुछ क्षेत्र में विवक्षितान्तरवाच्य अमिचामुक्त्यनिके और दो भेद व्यवस्थितवाच्यव्यक्ति
अपान्तरसदृशमितवाच्य और अस्तन्वितिरक्षितवाच्य । तबको मिश्रकर ध्वनिके कुछ अग्राह्य भेद
हूय । १ ।

अमिचामूल ध्वनिका गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व

इस प्रकार ध्वनिके प्रमेदोका प्रतिपादन करके उस [ध्वनिके] आमास [ध्वम्य
मास गुणीभूतव्यङ्ग्य-य]को समझाने [पृथग् बान भेदज्ञान कारणे]के लिए कहते हैं—

जहाँ प्रतीयमान अर्थ अस्फुट [प्रम्लिष्ट] रूपसे प्रतीत होता है अथवा वाच्यक
अङ्ग बन जाता है वह इस ध्वनिकर विषय नहीं होता । ३१ ।

[अविश्लिष्ट वाच्य या अज्ञानामूल और विवक्षितवाच्यपरवाच्य या अमिचामूल
ध्वनि] दोनों ही प्रकारका व्यङ्ग्य अर्थ स्फुट और अस्फुट [दो प्रकारका] होता है
उनमेंसे शत्रुशक्ति अथवा अर्थशक्तिसे जो स्फुटरूपसे प्रतीत होता है वही ध्वनिक
विषय है । दूसरा [अस्फुटरूपसे प्रतीत होनेवाला ध्वनिका विषय] नहीं [अपितु ध्वम्य
मास] होता है । स्फुट [व्यङ्ग्य-य]में भी जो वाच्यके अङ्गरूपमें प्रतीत होता है वह ए
संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यव्यवस्था विषय नहीं होता । जैसे—

अथ पुमादी [पितृष्यन्] । [दिशो ता] न ताशाप ही मीला हुमा भीर न हं
ही उडे । [पितृ भी] इस गीयके ताशापमें किसीने बादरका उलटा करके [कितन
सपरामे] रख दिया है ।

यहाँ मासी माडी [प्राप्त]वधूकर मेघप्रतिविम्बदर्शनरूप व्यङ्ग्य वाच्यका मा
ही [वना हुमा गुणीभूत व्यङ्ग्य-य] है ।

इस प्रकारके उदाहरणोंमें और जगह भी जहाँ वारुत्वोत्कर्षके कारण व्यङ्ग्यक
अपेक्षा वाच्यक प्राधान्य फलित होता है यहाँ व्यङ्ग्यकी यह [अपेक्षा] कारणों प्रती

भवतीत्यते, सत्र ध्वङ्ग-धरभाङ्गत्वेन प्रतीतेर्भनेरविषयत्वम् । यथा—

वाणीरकुङ्कुङ्गाङ्गीणसज्जिकोळाहं सुर्पतीप ।

धरकंसवात्रहाप बहुप सीर्भति जंगारं ॥

[वाणीरकुङ्कुङ्गोङ्गीणसज्जिकोळाहं भृशन्त्या ।

यूहकर्मभ्यापृताया बध्वा सीर्भन्त्यङ्गानि ॥ इतिष्ठाया]

एवंविधा हि विषयः प्रायेण गुणीभूतध्वङ्ग-यस्तोपाहरणत्वेन निर्वेक्ष्यते ।

यत्र तु प्रकरणादिप्रतिपत्त्या निर्धारितविद्योपो वाच्योऽर्थः पुनः प्रतीयमानताङ्गत्वेनैवा
भासते सोऽप्रयैवालुरूपनरूपध्वङ्ग-यस्य ध्वनेर्मात्रोः । यथा—

अधिष्णु पदिम कुसुमं मा धुण सेष्टानिर्भ हाधिष्णुते ।

अह वे विपमविद्योपो समुरेण मुखो वलमसदो ॥

[अधिष्णु पदिमं कुसुमं मा धुनीदि सेष्टानिर्भ हाधिष्णुते ।

एव ते विपमविद्योपो एवमुरेण भुतो वलमसदो । इतिष्ठाया]

अत्र अधिनियमपठित्वा सह रममाणा सखी बहिःशुचवचवचकककया सक्या प्रति

क्षामक कारण [यह] ध्वनिका विषय नहीं होता । [अपित्तु वाच्यमित्य-यङ्ग नामक गुणी
भूतध्वङ्ग-यका भेद होता है ।] जैसे—

[अपने प्रणवीसे मिछमेका स्थान और समय नियत करके मी समयपर नियत
स्थानपर न पहुँच सकनेवासी नायिकाके] चेतससत्तापुत्रके उकृते रूप पतिपौके कोछा-
हकका सुनकर घरके काममें खगी हुई यहके अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं ।

इस प्रकारका विषय प्राया गुणीभूतध्वङ्ग-यक उवाहरणोंमें दिखलाया जायगा ।

इसी कारण काव्यप्रकाशकार तथा साहित्यदर्पणकारने इस क्लेशको गुणीभूत-
ध्वङ्ग-यके असुन्दर ध्वङ्ग-य नामक भेदका उवाहरण दिया है । यहाँ वचसद्वेत पुत्र
कता गृहमें पहुँच गया यह ध्वङ्ग-य अर्थ है । परन्तु उसकी अपेक्षा 'वध्वाः सीर्भन्त्यङ्गानि'
यह वाच्यार्थ ही अधिक समस्कारजनक प्रतीत होता है । अतएव यह ध्वनिका विषय
नहीं अपित्तु ध्वन्याभास अर्थात् असुन्दर ध्वङ्ग-यक गुणीभूतध्वङ्ग-यका उवाहरण है ।

जहाँ प्रकरण आविही प्रतीतिष विशेष अर्थका निर्धारण करके वाच्यार्थ फिर
प्रतीयमान अर्थके अङ्गरूपसे भासता है वह इसी संलक्ष्यकमध्यध्वङ्ग-यध्वनिका विषय
होता है । जैसे—

हे रूपक [की पुत्र] ययू । [नीच] गिर हुए पूछोंका ही वीन शंकासिका [हर-
मिहागकी आँखोंको मत दिसा । जारने वालनवाले तेर कङ्कणकी भाषात्र एवमुर्जाते
सुन सी है ।

यहाँ किष्ठी आर [अधिमवपठि]के साथ सम्मेलन करती हुई मन्वीको बादरने
उसके वसवकी भाषात्र सुनकर मन्वी साथभात करती है । यह [ध्वङ्ग-यार्थ] वाच्यार्थ

वोच्यते । एतद्वेषेणैषीयं वाच्यमायप्रतिपत्तये । प्रतिपन्ने च वाच्येऽर्थे^१ तस्याभिनयप्रच्छादन-
तास्पर्येणामिधीयमानस्वान् पुनश्च यद्वाङ्मस्वमेवेत्यस्मिन्नुरणरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जनावन्तर्भावः ॥ ३१ ॥

एवं विवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः प्रस्तुते सत्यविवक्षितवाच्यस्यापि तं
कर्तुमाह—

अव्युत्पत्तेरशक्तोर्वा नियन्त्रो यः स्वलद्वगते ।

शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिमिर्विषयो ध्वनेः ॥ ३२ ॥

स्वलद्वगतेः शब्दरितस्य शब्दस्य अव्युत्पत्तेरशक्तोर्वा निष्प्रयो यः स च न
ध्वनेर्विषयः ।

पठः—

सर्वेष्वेष प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् ।

यद् व्यङ्ग्यस्याङ्गिमूतस्य तत्पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥ ३३ ॥

तद्योदाहृतविषयमेव ।

इति श्रीमदाचार्यविरचिते श्रीमद्भाष्यविरचिते ध्वनितोके द्वितीय उद्योतः ।

की प्रतीतिक छिप्य अपेक्षित है । [उस]वाच्यार्थकी प्रतीति हो जानेपर उस [वाच्यार्थ]
के [सजीके परपुरुषोपभोगरूप] अभिनयको छिपानेके अमिप्रायसे ही कथित होनेसे
फिर [अभिनयप्रच्छादनरूप] व्यङ्ग्यका मङ्ग ही हो जाता है अतएव यह संक्षेपरूप-
व्यङ्ग्यध्वनिमें ही अन्तर्भूत होता है । ३१ ।

लक्षणामूल ध्वनिक गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य

इस प्रकार विवक्षितवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके ध्वन्यामास [गुणीभूतस्य]
विषयके प्रसङ्गमें [उसके निरूपणके बाद] अधिपक्षितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनिकी मी
आमासता [गुणीभूतस्य] विधेयत करनेके लिए कहने हैं—

प्रतिमा या शक्तिः अभावमें जो लाक्षणिक या गीण [स्वलद्वगति—वाचित
विषय—] शब्दका प्रयोग हो उसके मी विद्वानोंको ध्वनिका विषय नहीं समझना
चाहिये । ३२ ।

स्वलद्वगति अर्थात् गीण शब्दका प्रतिमा या शक्तिके अभावमें जो प्रयोग है वह
मी ध्वनिका विषय नहीं होता । ३२ ।

क्योंकि—

[ध्वनिके] सभी मेंदोंमें प्रधानभूत ध्वनिकी जो स्फुटरूपसे प्रतीति जाती है यही
ध्वनिकी पूरा लक्षण है ।

उसके विषयमें उदाहरण दे ही चुके हैं ।

इति श्रीमदाचार्यविरचिते ध्वनितोके श्रीमद्भाष्यविरचिते ध्वनितोके 'आद्येऽर्थोपिध्वन्याय'

द्वितीय उद्योतः ।

१ नि में अर्थों काट नहीं है ।

२ पठक नि-ही ।

तृतीय उद्योत*

एवं इवङ्ग-पद्युल्लेनीयं च्यनः प्रदर्शिते सप्रभेदे स्वरूपे पुनर्भ्यङ्गकमुल्लेनेतत् प्रकाशयते—

अविधक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता ।

तदन्वस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च इवनेः ॥१॥

अथ आलोचनीयवित्तां तृतीय उद्योतः

इस प्रकार [गठ उद्योतमें] इवङ्ग-यं श्राय ही [इवङ्ग-यकी दृष्टिले] मेरों सहित ध्वनिका स्वरूपनिरूपण करनेके बाद व्यङ्ग्यकं श्राय [व्यङ्ग्यककी दृष्टिले यहाँ] फिर [उसके मेरोंका] निरूपण करते हैं—

ध्वनिके पदप्रकाश्य तथा वाक्यप्रकाश्य मेद

अविधक्षितवाच्य [अज्ञानामूल्य ध्वनि] और उससे मिश्र [विधक्षितान्यपरवाच्य-का मेद] सर्वस्वप्रक्रम्यङ्ग्यध्वनि [अर्थात् ध्वनिके १८ मेरोंमेंसे एक, असौलक्ष्यक्रमको छोड़कर शेष १७ मेद] पद और वाक्यसे प्रकाश्य होता है ।१।

द्वितीय उद्योतमें 'आलोचनीयिका' टीकाके पृष्ठ १५१ पर अविधक्षितवाच्य अर्थात् अज्ञानामूल्य-ध्वनिक १ अर्थात्तरलक्षमितावाच्य तथा १ अल्पतरलक्षमितावाच्य ये दो मेद, और विधक्षितान्य परवाच्य अर्थात् अविधामूल्यध्वनिका अलक्ष्यप्रक्रम्यङ्ग्य एक + संलक्ष्यप्रक्रम्यङ्ग्यकं शब्दशक्तुत्प दो मेद + अयशक्तुत्पके ११ मेद + उममशक्तुत्पका एक मेद, इन प्रकार २ अविधक्षितवाच्य + [१ + १ + ११ + १] १६ विधक्षितवाच्य कुल मिलाकर ध्वनिके १८ मेरोंकी गणना कर चुके हैं । इस तृतीय उद्योतमें उन मेरोंका और अधिक विचार करेंगे । उसमेंसे एक उममशक्तुत्पको छोड़कर शेष सत्रहके परम्परापक्ष और वाक्यप्रकाशतामेवले दो प्रकारके मेद और होते हैं । अतएव ध्वनिके कुल को $16 \times 2 = 32$ मेद बन जाते हैं उनमेंसे विधक्षितान्यपरवाच्यके अल्पशक्तुत्पके आ शत्रु मेद करे हैं वे परम्परापक्ष भी होते हैं । उनकी परम्परापक्षताके बाहर मेद और मिला कर $32 + 12 = 44$ और एक उममशक्तुत्प, जो केवल वाक्यमात्र इवङ्ग्य हो सकता है, उसको मिलाकर $44 + 1 = 45$, और अलक्ष्यप्रक्रम्यङ्ग्यके १ परांघ, २ वच, ३ रचना और ४ प्रचनवत् ४ मेद और मिलाकर ध्वनिक कुल $45 + 4 = 49$ मेद हुए होते हैं । इस प्रकार ध्वनिके इकावन मेरोंकी गणना की गयी है । इस उद्योतमें उन्हीं शिल्पके मेरोंके प्रकाशान्तरले पद और वाक्य आह्वयमेवले मेद प्रदर्शित करते हैं । गठ उद्योतमें जो ध्वनिविभाग किया गया था वह इवङ्ग्यकी दृष्टिले किया गया था वहाँ स्व-वाक्य-आह्वयलके मेदले जो विभाग इस उद्योतमें किया गया था वह स्वङ्ग्यमेदकी दृष्टिले किया गया विभाग है । इस प्रकार गठ उद्योतक साथ इस उद्योतके विभाग का सम्बन्ध करते हुए प्रत्यक्षाने नवीन उद्योतका प्रारम्भ किया है ।

१—अधिबसितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रमेदे' पदप्रकाशता यथा महर्षे-
व्यासस्य—

'सतैवाः समिधः भिजः ।'

यथा वा कालिदासस्य—

'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेभ्रेत आयाम् ।'

यथा वा —

'किमिध हि मधुराणां मण्डनं नाहृतीनाम् ।'

एतेपूषाहरणेषु 'समिध' इति 'सन्नद्ध' इति 'मधुराणामिति' च पदानि स्वसूक्त-
त्वाभिप्रायेणैव कृतानि ।

१—अधिबसितवाच्य [स्रसणामूख्यनि]के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य [नामक]
मेवमे पदव्यङ्ग्य [का उदाहरण] जैसे महर्षि व्यासका—

'सतैवाः समिधः भिजः । यद्वा सात लक्ष्मीकी समिधार्थे ।'

अथवा जैसे कालिदासका—

'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेभ्रेत आयाम् ।'

तरे आये विरहविधुरा कौन आया न सेये ?

अथवा—

'किमिध हि मधुराणां मण्डनं नाहृतीनाम् ।'

'मधुराणामिति के जनक का फौज विभूषण नाहि

इस उदाहरणोंमें 'समिध', 'सन्नद्ध' और 'मधुराणाम्' पदव्यङ्ग्यत्वके भूमि
प्राप्त्ये ही [प्रयुक्त] किये गये हैं ।

महर्षि व्यासका पूरा श्लोक निम्नलिखित प्रकार है—

वृषि एषा दवा शौर्यं कारुण्यं वामनिन्दुर ।

मित्राणां चानमिद्राह सतैवाः समिधः भिजः ॥

इस श्लोकमें आये सतैवाः समिधः भिजः इस चरणमें 'समिध' शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य
है । 'समिध' शब्द मुख्यतः यज्ञकी समिधाभौत स्थि प्रयुक्त होता है । ये समिधार्थे यज्ञीय अग्निको
बढ़ानेवासी—प्रस्तुत करनेवासी होती हैं । 'वम्बा समिदीरपीडुरो कृतन बभयामधि' इत्यादि मन्त्र
प्रतिपादित बभयतावर्षसे यहाँ 'समिधः' शब्द कस्वीकी अन्वयानेय इन्द्रिणताका बोधित करता
है । अतएव अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यवचनिका उदाहरण होता है ।

'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेभ्रेत आयाम्' यह पदव्यङ्ग्य उदाहरण कालिदासक 'मिपतूत'क
लिखा गया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

स्वाम्यकदं पवनन्दशौमुहृषीशातकान्ता

प्रेक्षिष्यन्ते पकिवनिता प्रत्यवासावस्यन् ।

२—उत्सवेवावास्तरसङ्कमितवाच्ये यथा—

‘रामेण प्रियञ्जीवितेन तु कृतं प्रेम्याः प्रिय नाञ्चितम् ।’

अत्र रामेण इत्येवम् पदं साहसैकरमस्वादिभ्यश्चामित्सकमितवाच्यं व्यञ्जकम् ।

कं लन्द्य विरहविपुलं लस्युपेक्षेत् आवां,

न स्वादस्योऽप्यहमिष जनेन न पयपीनवृषिः ॥

अर्थात् हे मेघ ! बामुमागते आते हुए तुमको पथिकोंकी प्राप्तमनुका म्निर्घो शर्योको हापये काम कर, अब उनके पति आते होंगे इस विश्वाससे भय धारण करती हुए देखगी । क्योंकि मेरे समान पयपीनको छोड़कर तुम्हारे आ जानेपर अपनी विरहपीडिता पनीकी कौन उपेक्षा करेगा ।

इस श्लोकमें ‘सम्पन्न’ शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिका उदाहरण है । सम्पन्न शब्द ‘यह सम्पन्न पात्रसे बना है । उसका मुस्कार कम कर हुआ, कचनानि धारण किये हुए होता है । यहाँ उसका यह मुस्कार अन्वित नहीं होता है अतएव यहाँ अपने मुस्कारको छोड़कर यह उत्पलका वाचन करता है इस प्रकार अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य है ।

तीर्थया उदाहरण ‘उत्पलका’ से लिया है । पूरा श्लोक निम्नलिखित प्रकार है—

उत्पलकमुविद्धं शौचध्वनानि रत्नं,

मस्तिन्नमपि हिमशोर्धरम स्मसीं वनाति ।

इवमपिकम्मोहा वस्त्रध्वनानि तन्वी

किमिष हि मधुराया मण्डनं नाहृतीनाम् ॥

कम्मका पूरु सिधारसे कियता होनेपर भी मुन्दर लगता है । चन्द्रमाका काल कलङ्क भी उसकी घोमा बढ़ाता ही है । यह तन्वी शुकुस्तस्य इस वस्त्रध्वनको धारण किये हुए होनेपर मी और अधिक मुन्दरसे बोल पड़ती है । मधुर आहृतिवाच्योके किये कौन-सी बल भासूपण नहीं है ।

इस श्लोकमें मधुरसका वाचक ‘मधुर’ शब्द अपने उस अर्थको छोड़कर ‘मुन्दर’ अथवा शोक होनेसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिका उदाहरण है ।

२—उसी [अथिवदित्तवाच्य उत्सवामूलध्वनि]के अर्थात्तरसङ्कमितवाच्य [नामक भेदके उदाहरण]में जैसे—

हे प्रिय वैदेहि ! अपने जीवनके सोमी रामने प्रेमके अतुरूप [कार्य] नहीं किया ।

इस [स्ताक]में ‘राम’ यह पद साहसैकरसत्त्व [सत्यसम्बन्ध] भावि व्यङ्ग्य [विशिष्ट रामरूप अर्थात्तर]में सङ्कमित वाच्य [रूपमें अर्थात्तरसङ्कमितवाच्य] व्यञ्जक है ।

पूरा श्लोक इस प्रकार है—

मयात्मनातयाः कृतं तमुचितं कृत्यं तं स्वस्य

शोभं तच्च तथा तथा बुद्धिनी भवे यथोच्यैः चित्तः ।

एवमस्यति विभ्रता पतुरिदं स्वध्मापदः साधियाः

रामेण प्रियञ्जीवितेन तु कृतं प्रेम्याः प्रिय नाञ्चितम् ॥

शूर रासल वाचन तुम्हारे कम्भीकार करनेपर उस निराधर्य्य भाषके अतुरूप ही तुम्हारे वाच्य प्रवहार किया । और तुम्हें भी उसका शूर स्ववहारको इस प्रकार बौद्ध्यापूर्वक रहन किया कि आज भी बुद्धिपूर्वक उत्पल धारण करना फिर ऊँचा उठाने हैं । इस प्रकार तुम दोनों अपने-अपने

तृतीय उद्योता

परिका १]

पया वा—

पमेव जपो तिस्सा देव कपोलोपमाइ ससिर्विवम् ।
परमस्यविद्यारे वण बंदो चंदो विद्य बराओ ॥

[एवमेव मनस्तस्या वदाति कपोलोपमायां शशिविन्मम् ।
परमापविद्यारे पुनरुचन्द्ररुचन्द्र इव वराक ॥ इतिच्छाया]

अथ द्वितीयश्चन्द्रशब्दोऽर्थांतरसङ्क्रमितवाच्यः ।

३—अविद्यक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रमेदे वाक्यप्रकाशता यथा—
या निशा सर्वमूतानां, तस्यां आगतिं संयमी ।
यस्यां आमति मूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

अनेन वाक्येन निशाचो न 'ब' वागारणार्थः कश्चिद् विद्यक्षितः । किं तर्हि ?
तत्त्वज्ञानावहितस्य अतस्त्वपरराजमुदात्तं च मुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृतवाच्यस्यास्य
व्यङ्ग्यत्वम् ।

४—तस्यैवार्थांतरसङ्क्रमितवाच्यस्य वाक्यप्रकाशता यथा—

अनुस्य काव क्रिया परन्तु तुम्हारी विपत्तिके साक्षी बनकर मी आज्ञा भय ही इस अनुस्यको धारण
करनेवाचे—अपने जीवनके सोमी इस राम, ने हे भिन्ने वैदेहि ! अपने प्रेमके सोम्य कार्य नहीं किया ।
अथवा जैसे—

उसके गालोंकी उपमामें खोग [उपमात्तरूपमें] अम्प्रविन्मको यों ही रज देते हैं ।
वास्तविक विचार करनेपर तो विचार 'चन्द्रमा' चन्द्रमा ही है ।
यहाँ दूसरा 'चन्द्र' शब्द [अथित्व विनामनशस्यत्व मलिनत्वादिविशेष चन्द्र
अर्थमें] अर्थांतरसङ्क्रमितवाच्य है ।

३—अविद्यक्षितवाच्य [संज्ञानामूलरूपनि]के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यमेवम् वाक्य
प्रकाशता [का उदाहरण] जैसे—
सो अन्य सय प्राणियोंकी रात्रि है उसमें संयमी [तत्त्वज्ञानी जितेन्द्रिय पुरुष]
जागता [रहता] है । और जहाँ सय प्राणी जागते हैं वहाँ तत्त्वज्ञानी मुनिकी रात्रि है ।
इस वाक्यसे निशा [पशु] और जागरण [बोधक 'जागति' तथा 'आमति' शब्द]
का यह कोई अर्थ [मुण्यार्थ] विद्यक्षित नहीं है । तो [किर] पया [विद्यक्षित] है ? [त
ज्ञानी] मुनिकी तत्त्वमाननिष्ठता और अतस्त्वपरराजमुदात्तता प्रतिपादित है । इत्यदिप वाक्य
तिरस्कृतवाच्य [निशा तथा आगति] जागति आदि अनेक शब्दरूप वाक्यकी
व्यङ्ग्यता है ।

४—उन्नी [अविद्यक्षितवाच्यरूपनि] अर्थात् संज्ञानामूल रूपाणि]के अर्थ
सङ्क्रमितवाच्य [सिधु]की पदप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे—
१ (न) निशाचो न (ब) वागारणार्थः ही । न वागारणार्थः नि ।

विसमह्रओ' काण वि काण वि चाळेइ अमिअणिम्माओ' ।

काण वि विसामिअमआं काण वि अविषामओ काळे ॥

[विषमवित' केषामपि प्रयात्यमृतनिर्माण ।

कषामपि विपासृतमय केषामप्यविपासृत क्वत् ॥ इविच्छया]

अत्र हि वाक्ये 'विपासृत' शब्दाभ्यां दुःखसुखरूपसङ्गमितवाच्यत्वाभ्यां व्यवहार इत्यर्थान्तरसङ्गमितवाच्यस्य व्यञ्जकत्वम् ।

१—विषयविधायिभेद्युत्थानुरूपनरूपव्यङ्ग्यस्य शब्दसङ्गत्सुखे प्रभेदे पदप्रकाशता तथा—

किन्हींका समय विषमय [दुःखमय], किन्हींका अमृतकूप [सुखमय] किन्हींका विष और अमृतमय [सुखदुःखमिश्रित] और किन्हींका न विष और न अमृतमय [सुख दुःखरहित] व्यतीत होता है ।

इस वाक्यमें विष और अमृत शब्द दुःख और सुखरूप अर्थान्तरसङ्गमितवाच्य रूपमें व्यवहारमें आये हैं । इसलिये अर्थान्तरसङ्गमितवाच्य [अन्तेकपदरूप वाच्य]का ही व्यञ्जकत्व है ।

'या निद्या और 'केषामपि इन दोनों श्लोकोंमें अनेक श्लोक होनेसे ये वाक्यगत व्यञ्जकत्वक उदाहरण हैं । 'विषमवित' विषमवता प्राप्त' विषमवित शब्दका अर्थ विषरूपताको प्राप्त है । इस श्लोकमें काणको चार अर्थोंपर्यं प्रतिपादित की हैं । एक विषरूप वृत्ती अमृतरूप तीसरी उभयात्मक अर्थात् विषामृतरूप और चार्थी अनुभवात्मक अविषामृतरूप । पापी और अतिविषेक्षियोंके लिये काण विषरूप अर्थात् दुःखमय किन्हीं पुण्यात्माओंकी अथवा अत्यन्त अनियोजितोंके लिये अमृतमय अर्थात् सुखरूप किन्हीं मित्ररूप और विद्वेषाक्षिणोंके लिये उभयात्मक सुख दुःखरूप और किन्हीं अत्यन्त मूढ़ अथवा योगभूमिकाको प्राप्त लोगोंके लिये अनुभवात्मक अर्थात् सुख-दुःखसे रहित है । प्रत्येक अवस्थाके साथ उदाहरण और निष्कर्षताकी चरम सीमा सम्बन्ध है । अत्यन्त पापीके लिये पापोंके फलरूप दुःखभोगके कारण काण दुःखमय है और अत्यन्त विवेकी भी पूज्य वैराग्ययुक्त होनेसे काणको सुखरूप मानता है । यहाँ विष और अमृत शब्द सुखदुःखमयताको बोधन करते हैं अतलिये अर्थान्तरसङ्गमितवाच्यके उदाहरण हैं ।

अविषयितावाच्य अर्थात् अविषयामृतत्वानिके अर्थान्तरसङ्गमितवाच्य और अत्यन्तविरक्तवाच्य रूप दोनों भेदोंके पदप्रकाशता तथा वाक्यप्रकाशताभेदसे सुख चार भेद हुए । उन चारोंके उदाहरण हेतु अत्र विषयितावाच्य अर्थात् अविषयामृतत्वानिके उदाहरणमेव १५ अर्थान्तर भेदोंमेंसे कुछ उदाहरण माने देते हैं—

१—विषयितावाच्यपरवाच्य [अर्थात् अविषयामृतत्वानिके] [अन्तर्गत] संज्ञक्य अत्यन्तविरक्त-शब्दके शब्दवाच्यसुख [नामक] भेदमें पदप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे—

१ विसमह्रये विम वि ।

२ अमिअमओ नि ।

३ विषमय इव नि ।

४ अमृतमवा नि ।

प्राप्सुं धनेरविजनरथ बाभ्रुं, वेबेन सृष्टो यत्रि नाम नास्मि ।
पथि प्रसभाम्बुपरस्तडागः, कृपोऽथवा किन्न जडः कृतोऽहम् ॥

अत्र हि 'जड' इति पदं निर्विण्णेत वक्ष्यात्मसमानाधिकरणतया प्रयुक्तमसुराणन रूपतया कूपसमानाधिकरणतां स्वशक्त्या प्रतिपद्यते ।

२—तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा हर्षपरितं सिद्धानावाक्येषु—

'वृत्तेऽस्मिन् महाप्रकृत्ये परणीपारणायाधुना त्वं छेपः ।'

यदि दैवमे मुझे धनोमे याफकजनोंकी इच्छा पूर्ण करने योग्य नहीं यनाया तो स्वच्छ जलसे परिपूर्ण रास्तेका ताडाय या जड [परदुःखालमित्र किमका फिस घस्तुकी भावदयकता है इसके समझनेकी शक्तिसे रहित अतएव जड और शीतल अयात् नियेय सन्तापादिरहित] कुंथा फ्यों न बना दिया ।

यहाँ किन्न [कूप] वकाने 'जड' शब्दका प्रयोग [आत्मसमानाधिकरणतया अथात् अपनको बोध करनेवाले 'अहम्' पदके साथ 'जडाऽहम्' इस रूपमें समानविमक्ति समानवचनमें] अपने छिप किया या परन्तु संलक्ष्यक्रमरूपसे [स्वशक्ति-शब्दमें 'शक्ति' अथात् अमिधामूल व्यञ्जना] द्वारा यह [कूपसमानाधिकरण] कूपका विदोषण धन जाता है ।

वृत्तिकारका आसन यह है कि वचन 'जड' शब्दको 'जडोऽहम्' इस प्रकार अपनेको बोध करानेवाले 'अहम्' पदके साथ समानाधिकरण—समानविमक्ति, समानवचनमें प्रयुक्त किया या । समानविमस्वन्त-समानाधिकरणपरिच्छेद परस्पर अमेदसम्बन्धने ही अन्वय होता है । क्योंकि निपाता विरिण्णतय नामायाहवस्य अमेदातिरिक्तस्य चेतान्त्वयोऽप्युत्तम" इस सिद्धान्तक अनुसार विशेष-विशेषका अमेदान्वय ही होता है । जैसे 'नीले उत्तमम्' इन दोनों प्रातिपदिकार्थोंका अमेदसम्बन्धने अन्वय होकर 'नीलमिन्न उत्तम' 'नीलगुणवापिप्रमुत्तमम्' इस प्रकारका शब्दबोध होता है । इसी प्रकार यहाँ जडः पदका अहम् और कूपके साथ अमेदान्वय होगा । दृष्टिगतक कारण यानक जनोंकी इच्छापूर्तिमें अहमर्ष अतएव किन्न कूप वकाने, मुझको ज' अर्थात् पावकोंकी भावस्यकता समझनेमें अहमर्ष अतएव निर्वे-सन्तापने रहित अर्थमें जड शब्द अपने छिप प्रयुक्त किया या परन्तु शब्दशक्ति [अमिधामूल व्यञ्जना जि यह 'जड' पद कुंथाका विचारण बन जाता है । और जड अयात् शीतल जलसे युक्त अतएव शीतल पथिकोंके दितलापक परोपकार धर्म, इस अर्थको व्यक्त करता है ।

२. उम्मी [शिवशिताम्परयाध्य अर्थात् अमिधामूलव्यनिके धन्तगत संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यके शब्दशक्त्युत्थमेव]की वाक्यप्रकाशता [का उदाहरण] देने [वाणमकृत] हर्षपरितं [के पष्ठ उच्छ्वास]में [नेनापति] सिद्धानावके वाक्योंमें—

इस [अर्थात् तुम्हारे पिता प्रभाकरवर्धन और ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धनकी मृत्यु रूप] महाप्रसन्नके हा जानेपर पृथिवी [अथात् राज्यमार]को धाम्य करनेके लिए अथ तुम 'शेप' [दोषनाम] हो ।

एवञ्च वाक्यमनुरजनरूपमवान्तरं शब्दशक्त्या स्फुटमेव प्रकाशयति ।

३—अस्यैव कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीत्यार्षशक्त्युद्भव मन्त्रे पदप्रकाशता यथा हरिविजये—

ब्रूयद्गुरवञ्जं सं 'छपमप्यसरमहृष्यणमणहरसुयामोभम ।

असमपिपत्रं पि गद्विभं कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्मिमुहम् ॥

[भूताङ्गुलावतंसं 'क्षणप्रसरमहार्धमनोहरतुरामोवम् ।

असमपितमपि गृहीतं कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्मीमुलम् ॥ इतिच्छाया]

अत्र असमपितमपि कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्म्या युक्तं गृहीतमित्त्वसमपितमपीत्ये तद्वत्स्वामिधायि पदमयशक्त्या-कुसुमशरस्य ब्रह्मात्कारं प्रकाशयति ।

यह वाक्य [इम महाप्रसयक हा जानेपर पृथिवीक धारण करनेके लिए अकेल शोपनागके समान] संलक्ष्यकमप्यङ्गय [शोपनागरूप] अयान्तरको स्वशक्तिस स्पष्ट ही प्रकाशित करता है ।

विभक्तित्वात् अथात् अमिधामूलव्यनिक १ शब्दशक्त्युत्प २ अथशक्त्युत्प और ३ उमशक्त्युत्प ये तीन भेद किये थे । उनमें शब्दशक्त्युत्प प्रथम भेदके पदप्रकाशता और वाक्य प्रकाशताक ही उदाहरण ऊपर दित्तम् दिये हैं । अब दूसरे अथशक्त्युद्भवभेदके उदाहरण दिनायगे । इस अथशक्त्युद्भवव्यनिके भी १ स्वतन्त्रमयी २ कविप्रौढोक्तिविद् और ३ कविनिषद्प्रौढोक्तिविद् ये तीन भेद हात हैं । इनमें कविनिषद्प्रौढोक्तिविद्को कविप्रौढोक्ति विद्म अन्तर्भूत मानकर उसके अलग उदाहरण नहीं दिये हैं । आगे कविप्रौढोक्तिविद्की पदप्रकाशता और वाक्यप्रकाशताक उदाहरण देते हैं—

३—इसी [विभक्तित्वात्परत्वात् अथात् अमिधामूलव्यनिक] कविप्रौढोक्ति मात्रसिद्ध अर्घशक्त्युद्भवभेदमें पदप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे [प्रवरसेनद्वय प्राकृत रूपक] 'हरिविजय'में—

आद्यमङ्गणिस विभूयित क्षण [अर्थात् बमस्तात्सच]के प्रसारस अत्यन्त मना हर मुर [अर्थात् कामदेव]के समत्कारसे युक्त [पक्षान्तरमें यहूमूय्य सुम्बर सुयकी सुगन्धिसे युक्त] पासन्ती लक्ष्मीके मुख [प्रारम्भ]को कामदेवने बिना दिये हुए भी [ब्रह्मात्कार उपरदस्तीसे] पकड़ लिया ।

यहाँ कामग्रहण बिना दिये हुए भी यसन्तलक्ष्मीका मुख पकड़ लिया इसमें बिना दिये हुए भी इम [मवाहा नायिकाकी] अवस्थाका सूक्ष्म शब्द, अर्घशक्तिसे कामदेवके [दृष्ट कामुक व्यवहाररूप] ब्रह्मात्कारका प्रकाशित करता है [इसलिए यह कविप्रौढोक्ति निन्द्य वस्तुमें वस्तुमप्यङ्गय अर्घशक्त्युद्भवव्यनिका उदाहरण है] ।

१ छपपरमई पदमहुरामोवम् वि ।

२ महद्बनमधुयामोवम् वि ही ।

४—अत्रैव प्रभेदे वाक्यप्रकाशता यथोदाहृतं प्राक्—

“मन्त्रेहि सुरमिमासो” इत्यादि ।

अत्र सञ्जयति सुरमिमासो न तावदप्यस्यनाङ्गाय स्रगन्तिस्वयं वाक्यार्थः क्वि प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो मन्मथो मायकृतावस्थां वसन्तसमयस्य सूचयति ।

५—स्वतःसम्भाषितशरीरावस्थास्त्युद्भवप्रभेदे पदप्रकाशता यथा—

बाणिजम हृत्तिदन्ता कुक्षो व्यङ्गाण मायकिन्ती च ।

साव लुब्धिलालकमुही परस्मि परिसङ्घप मुह्य ॥

[वपिजक हस्तिदन्ता कुक्षोऽस्माकं व्यामङ्कलपरव ।

यापस्तुस्त्रिलालकमुही गृहे परिव्यङ्क्ते स्तुपा ॥ इतिपद्याया]

अत्र ‘लुब्धिलालकमुही’ इत्येतत् पदं व्याचक्ष्वाः स्वतःसम्भाषितशरीरार्थवत्स्या सुरतर्फीशामक्तिं सूचयन्तरीयस्य मह्यैः सततसम्मोगक्षामतां प्रकाशयति ।

६—सत्यैव वाक्यप्रकाशता यथा—

सिद्धि पिच्छकण्णज्जय वहुधा बाह्वस्स गण्ठिरी ममइ ।

मुच्छाफलरुद्धपसाह्वाणं मन्त्रे सञ्चरीणम् ॥

४—इती [विषक्षिताम्यपरवाक्य अर्थात् अभिधामूलध्वनिके अर्थशक्त्युद्भव संसङ्ग्यकमप्यङ्गव] मेवमे वाक्यप्रकाशता[का उदाहरण] जैते ‘सञ्जयति सुरमिमासो’ इत्यादि पहिले [पृ० १३७ पर] उदाहरण दे चुके हैं ।

यहाँ वसन्त मास [चैत्र मास] बाणीको बनाता है परन्तु कामदेवको दे महीं रहा है यह कथिप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वाक्यार्थ वसन्तसमयकी कामोद्दीपनातिशयजम्प [विरहिजमोंकी] सुरयस्यापो सूचित करता है ।

आगे विषक्षिताम्य अर्थात् अभिधामूलध्वनिके अर्थशक्त्युद्भवमेवके अन्तगत स्वतःसमयी मेवके पदप्रकाशता आर वाक्यप्रकाशताके वा उदाहरण देत हैं ।

५—[विषक्षिताम्यपरवाक्य अर्थात् अभिधामूलध्वनिके] स्वतःसमयी अर्थ शक्त्युद्भवमेवमे पदप्रकाशता [का उदाहरण] जैते—

हे वपिज, अथतक अञ्जल अलकों [ज्यों]ने एक मुक्याली पुत्रवधू परमे घूमती है तयतक हमारे यहाँ हाथीदंत और व्याघ्रचर्म कहाँस आये ।

यहाँ ‘लुब्धिलालकमुही’ यह पद स्वतःसमयी अर्थशक्तिमे व्याचक्ष् [पुत्रवधू] की सुरतर्फी प्रौढोक्तिको सूचित करता हुआ ठमके पति [व्याघ्रपुत्र]की निरन्तर सम्मोगसे उत्पन्न दुर्बलताको प्रकाशित करता है ।

६—इती [संसङ्ग्यकमप्यङ्गवके अर्थशक्त्युद्भव स्वतःसमयी पस्तुसे पस्तु-प्यङ्गव]की वाक्यप्रकाशता [का उदाहरण] जैते—

१ मन्मथोपमाकृतापात्रावस्थामयं नि ही ।

२ सूचयन्तरीयस्य नि ही वा ।

[शिलिपिच्छकणपूरा भार्या व्याघस्य गर्विणी भ्रमति ।

मुष्णफल्परचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीभाम् ॥ इतिच्छ्रया]

अनेनापि वाक्येन व्याघ्रवध्याः शिलिपिच्छकणपूरया नवपरिणीतायाः कस्याश्चित्
सौभाग्यातिशयः प्रकाश्यते ।

'तत्सम्भोगैकरतो मयूमात्रमारजसमर्थः पतिर्जात इत्यर्थप्रकाशनात् सवन्वासां
विरपरिणीतानां मुष्णफल्परचितप्रसाधनानां सौभाग्यातिशयः स्याप्यते ।

तत्सम्भोगकाले स एव व्याघ्रः करिवरमपव्यापारसमर्थ आसीदित्यर्थप्रकाशनात् ।

✓ ननु प्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तं तत्कथं तस्य पदप्रकाशता ? काव्यविशेषो हि
विक्षिप्तार्थप्रतिपक्षितुः शब्दसन्दर्भविशेषः । तद्भाषदश्च पदप्रकाशस्ये नोपपद्यते । पदान्तं
स्मारकत्वेनावाचकत्वात् ।

[केचल] मोरपङ्कजा कर्णपूर पहिने हुए व्याघ्रकी [नवपरिणीता] पत्नी मुष्ण
फलोंके आभूषणोंमें मल्लकृत सपत्नियोंके बीच भूमिमानसे फूली हुई फिरती है ।

इस वाक्यमें मोरपङ्कज कर्णपूर धारण किये हुए नवपरिणीता किसी व्याघ्र
पत्नीका सौभाग्यातिशय सूचित होता है । [रात दिन हर समय] उसके साथ सम्भोगमें
रत उसका पति [अथ] कवस मयूमात्रक मारनमें समर्थ रह गया है इस अर्थके प्रका-
शनस पहिलकी व्याही हुए मातियोंके आभूषणोंस सजी अन्य पत्नियोंके सम्भोग-
कालमें ता पही व्याघ्र बड़-बड़े हाथियोंके मारनमें समर्थ था इन अर्थके प्रकाशनसे
उनका सौभाग्यातिशय प्रकाशित होता है ।

इस वृत्तीय उद्योतकी प्रथम कारिकामें अतिवर्णितवाच्य, और विक्षिप्तवाच्यमें संकल्पक्रम
व्यङ्ग्य नामक भेदक अन्तर्गत पदप्रकाश और वाक्यप्रकाशरूपमें दो भेद किये थे । और
उदनुद्यार अतिवाच्यवाच्यके अभास्वरतन्त्रमित्वाच्य तथा अस्तन्त्रितरन्त्रितवाच्य दोनों भेदोंके, और
विक्षिप्तवाच्यके शब्दसन्दर्भविशेष तथा अर्थसन्दर्भविशेष तथा अर्थसम्भोग
भेदोंके उदाहरण लिखा चुके हैं । अब एकत्रकमुक्ते किये गये पदप्रकाश और वाक्यप्रकाश इन
दो भेदोंके नियमों पुराणकी यह शब्दा दे कि प्वनिकी वाक्यप्रकाशता या टीक है परन्तु प्वनिको
पदप्रकाश नहीं माना जा सकता क्योंकि प्वनि तो काव्यविशेषका नाम है । अन्ना प्रथम उद्योतकी
"मन्त्राद्ये वाच्ये वा तमन्मन्त्रार्थनीकृतत्वात् । एतत्क काव्यविशेषे स प्वनितिष्ठि एतन्मन्त्राद्ये
॥११॥ में कहा गया है । "तका समाधान करनेके लिए पूर्वप्र उद्योत हैं—

[प्रथम 'काव्यविशेष' स प्वनिः इत्यादि कारिकांशमें] काव्यविशेषका प्वनि
कहा है तो यह [काव्यविशेषरूपप्वनि] पदप्रकाशय कैसे हो सकता है । [वाच्य और
व्यङ्ग्यरूप] विशिष्ट अर्थकी प्रतीतिके हनुमूल शब्दसमुदायको काव्य कहते हैं ।
[प्वनिके] पदप्रकाशत्व [पद]में [विशिष्टार्थप्रतिपक्षितुं दाशार्थसम्भोगरूप] काव्यत्व
नहीं बन सकता । क्योंकि पदोंके स्मारक होनेस उनमें वाचकत्व नहीं रहता । [पद
कवस पदार्थस्युक्तिके हनु हो सकते हैं । इसलिये यह पदार्थसंमर्गरूप वाक्यार्थके वाचक
नहीं होते हैं । तप प्वनिकाव्यमें पदप्रकाशत्व कैसे रहेगा ?]

१ नि ही में यह अनुष्ठेद नहीं है ।

कथ्यते । स्वावेप क्षीपो यदि वाचकत्वं प्रयोजकं ध्वनिव्यवहारे स्वात् । न त्वेवम् ।
तस्य व्यञ्जकत्वेन व्यवस्थानात् ।

किञ्च काम्यानां शरीरिणामिह संस्थानविशेषाद्युपपन्नसमुदायसाध्यापि चारुस्य
प्रतीतिरन्वयव्यतिरेकाभ्यां मार्गेषु कस्यच इति पदानामपि व्यञ्जकत्वमुक्तेन व्यवस्थितो
ध्वनिव्यवहारो न विरोधी^१ ।

अनिष्टस्य भुक्तिर्यद्वशापावयति दुष्टवाम् ।

भुक्तिदुष्टादिषु व्यक्तं वद्वक्तिप्रसृतिर्गुणम् ॥

पदानां स्मारकत्वेऽपि पदमाश्रायभासिनः ।

तेन ध्वनेः प्रभेदेषु सर्वेष्वेवास्ति रम्यता ॥

विच्छिद्यितोमिनेकेन भूपणेनेव कामिनी ।

पदशोत्पेन मुक्त्वेर्ध्वनिना भाति भारती ॥

[उत्तर] कहते हैं । आपका कहा श्लोक [पदोंके अवाचक होनेसे ध्वनिमें पद
प्रकाशताकी अनुपपत्ति] तब आता यदि वाचकत्वको ध्वनिव्यवहारका प्रयोजक माना
जाय । परन्तु ऐसा तो ही नहीं । ध्वनिव्यवहार तो व्यञ्जकत्वसे व्यवस्थित होता है ।

तात्पर्य पर है कि यदि वाचकत्वके कारण ध्वनिव्यवहार होता तब तो पर कहा जा सकता
था कि पदोंके वाचक न होनेसे ध्वनि पदप्रकाश नहीं हो सकता । परन्तु ध्वनिव्यवहारका नियामक
था वाचकत्व नहीं, व्यञ्जकत्व है । इसलिए पद स्पष्ट ही स्मारकमात्र रहें वाचक न हों तो भी पर
ध्वनिक व्यञ्जक तो हो ही सकते हैं । इसलिए आपका श्लोक ठीक नहीं है । यह यथाच उत्तर नहीं
बलित् प्रतिष्ठा उत्तर है । बोधनकारने उसे 'अधोत्तर' कहा है । अतः दूसरा यथार्थ उत्तर वृत्ते है—

इसके अतिरिक्त जैसे शरीरधारियों [नायक-नायिकादि]में सौम्यर्यकी प्रतीति
अपयपसहृदयानिरोधरूप 'समुदायसाध्य होनेपर भी अन्वयव्यतिरेकसे [मुक्तादिरूप]
अवयवोंमें मानी जाती है । इसी प्रकार व्यञ्जकत्वमुक्तसे पदोंमें ध्वनिव्यवहारकी
व्यवस्था माननेमें [कोई] विरोध नहीं है ।

जैसे [पाणिपुस्तकपेक्ष्यः इत्यादि उदाहरणोंमें पेल्य आदि शब्दोंके असम्बन्धको
वाचक न होनेपर भी व्यञ्जकमात्र होनेमें] धुक्तिदुष्टादि [क्षोपस्वसों]में अनिष्ट अर्थके
श्रवणमात्र [अनिष्ट अर्थकी सूचनामात्र]से [काव्यमें] दुष्टता भा जाती है । इसी प्रकार
[ध्वनिव्यवहारे] पदोंसे इष्टार्थकी स्मृति भी गुण [ध्वनिव्यवहारप्रवर्तक] हो सकती है ।

इसलिए पदोंके स्मारक होनेपर भी एकपदमात्रसे प्रतीत होनेवाले ध्वनिके
सभी प्रभेदोंमें सम्भ्यता रह सकती है ।

[और] विशेष शोभाशाली एक [ही मङ्गमें धारण किये हुए] आभूषणसे भी जैसे
वामिनी शोभित होती है इसी प्रकार पदमात्रसे धातित होनेवाले ध्वनिसे भी मुक्तविकी
भारती शोभित होनी है ।

१ प्रयोजकं च नि ।

२ विरोधि नि० वाचकत्वात् ।

इति परिकरश्लोका ॥१॥

यस्सबलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिवर्णपदादिषु ।

धाक्ये सङ्घटनायां च स प्रचन्देषुपि दीप्यते ॥२॥

उत्र वर्णानामनवर्णत्वाद् शोतकत्वमसम्भवि इत्याहङ्ग्येषुच्युते ।

घायी सरेफसंयोगी हकारद्वयापि न्युपसा ।

विरोधिनः स्यु शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युतः ॥३॥

त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा ।

तदा तं दीपयन्त्येष ते न वर्णा रसच्युतः ॥४॥

श्लोकद्वयेनाम्बयव्यतिरेकाभ्यां वर्णानां शोतकत्वं दर्शितं भवति ।

ये परिकरश्लोक ॥१॥

असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके चार मेद

अविश्लिष्टवाच्यध्वनिके दोनों अन्तर मेंदोंके और उसके बाद विश्लिष्टवाच्यध्वनिके संक्षयक्रमव्यङ्ग्यके अन्तर मेंदोंके व्यङ्ग्यमुखसे प्रकाश और वाच्यप्रकाश दोनों मेद शोदाहरण प्रदर्शित कर दिने । यह विश्लिष्टवाच्यध्वनिके दूसरे मेद अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके १ वर्णपदादि २. वाच्य ३. सङ्घटना और ४. प्रबन्धभेद चार मेद दिखाते हैं । यहाँ वर्णपदादिपुत्री एक ही मेद माना है । जैसे प्रवृत्तिप्रत्यय आदि मेदसे इसके अनेक मेद हो सकते हैं । परन्तु उग्रवाचके अनुगार इन पदपदाधिकी गणना एक ही मेदमें की जाती है । अतः अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके चार मेद ही परिगणित होते हैं । इस उद्योतक प्रारम्भमें ध्वनिके ५२ मेंदोंकी गणना करत हुए हमने इन चारोंको दिखा दिया था । मूल कारिकाकार उन चारों मेंदोंको दिखाते हैं—

और जो अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [अभिधामूलव्यङ्ग्यके] है यह १. वर्णपदादि २. वाच्य ३. सङ्घटना और ४. प्रबन्धभेद भी प्रकाशित होता है । १।

१. वर्णोंकी रसद्योतकता

उत्तमसे वर्णोंके अन्तर्गत होमसे उत्तमका ध्वनिद्योतकत्व असम्भव है इस आशयसे [सम्भव है कोई ऐसी आशय करे इसलिये] यह कहते हैं—

रेफक मयोगमे युक्त हा य मौग हकारका यहस्ययोग रसच्युतः [[रमापकारक] हानेमे शृङ्गाररसमें विरोधी होते हैं । [अथवा ज्ञेयनमें ते न की दो पद् और रसच्युत पाठ मानकर, वे वर्ण रसको प्रवाहित करनेवाले नहीं होते यह व्याख्या भी की है] । १।

और जब वे ही वर्ण बीभत्सादिरसमें प्रयुक्त किये जाते हैं तो उस रसको वीत करते ही हैं । ये वर्ण रसहीन नहीं होते । [अथवा तनके एक पद् और रसच्युत पाठ मानकर इसलिये यह वर्ण रसके शरण करनेवासे प्रवाहित करनेवाले होते हैं यह व्याख्या भी ज्ञेयनमें की है] । २।

यहाँ इन दोनों रसकोंसे वर्णोंकी द्योतकता अन्वयव्यतिरेकसे प्रदर्शित की है ।

पदे बाह्यस्यक्रमव्यङ्ग्यस्य द्योतनं पदा—

दृक्कल्पिनी भयपरिस्फुरिताङ्गुलान्ता,
ते लोबने प्रतिविशं विधुरे क्षिपन्ती ।
द्रूपेण वारुणतया सहसैव दग्ना,
धूम्राचरेण दहनेन न वीक्षिताऽसि ॥

अथ हि 'ते' इत्येतत् पदं रसमयत्वेन स्फुटमेवावभासते सहृदयानाम् ।

इन दो श्लोकींमें अन्वय-व्यतिरेकत कर्णोक्ते द्योतकता छिद्र है । अन्वय-व्यतिरेकमें साधारणतः पहिले अन्वय और पीछे व्यतिरेकका प्रदर्शन होता है परन्तु यहाँ प्रथम श्लोकीमें व्यतिरेक और दूसरेमें अन्वयका प्रदर्शन किया गया है । इतकिया बुद्धिकारने श्लोकान्तां न कहकर श्लोकद्वयेन करा है । इसका अभिप्राय यह हुआ कि यहाँ अन्वय-व्यतिरेकका पद्यासंज्ञ अन्वय न करके पद्यायोग्य अन्वय करना चाहिये । कारिकामें 'कर्णपशुवियु' यह निमित्त समी कर्णादिकी सहकारिता द्योतनके लिये ही है । रसामिम्पकमें कत तो केवल सहकारिमात्र है । मुख्य कारण तो विभाषादि हैं ।

२ पदद्योस्य असंसृष्ट्यक्रमव्यङ्ग्यनि

पदमें असंसृष्ट्यक्रमव्यङ्ग्यस्यके द्योतनका [उदाहरण] जैसे—

[कसराज उद्वन अपनी कनी बालबद्धाके आगमें अन्नकर मर जानेका समाचार सुनकर विस्मय कर रह हैं, उली प्रलम्बसे यह श्लोक है । उदा कर रहे हैं—]

[भागके ऊरसे] कर्णपती हुई, भयस विगडितयमला उन [कातर] नेत्रोंको [रसाकी आशामें] स्व दिग्भाषोंमें फँकती हुई, तुलको, अत्यन्त निन्दुर पक्ष धूमाम्भ अग्निमें [एक पाग] दखा भी नहीं और निर्दयतापूर्वक पकड़म सखा ही डाका ।

यहाँ 'ते' यह पद सहृदयोंको स्पष्ट ही रसमय प्रतीत होता है ।

यहाँ 'दृक्कल्पिनी' पदसे बाह्यदद्याक भयानुभाषीका उद्योभव है । ये पद उसके नेत्रोंके स्वतंत्र अनिश्चनीय, विभ्रमैकापठनत्वादि अनन्त गुणगल्बी स्मृतिका द्योतक होनेसे रसामिम्पकिका असाधारण निमित्त हो रहा है । और उसका समवगाण सौन्दर्य उस समय अविद्यय शोकावेद्यमें विभावकपताको प्राप्त हा रहा है । इस प्रकार 'ते' पदके विशेष रूपसे रसामिम्पकका हानेमें वहाँ शाक रूप व्याविभाषकाका कर्णरत प्रभावतया इस 'ते' पदसे अभिव्यक्त हो रहा है । रसमयीति यद्यपि मुक्ततः विभाषादिते ही होती है परन्तु वे विभाषादि अब किसी विशेष रूपसे असाधारण रूपसे प्रतीत हात हैं तब यह पदद्योतकनि कहलाता है ।

निष्पत्तागतीय संस्कारण्ये, इतक बाद यह श्लोक भी पया जाता है—

सगति कनकचिमे तत्र ह्ये कुरहे,
रसविश्रमितासो दृष्टिगतः प्रियाया ।
पवनकिमुक्त्वानामुत्सवानी पथाय—
प्रकरमिव किन्ता स्मर्यमणा वहन्ति ॥

उस निमित्त कनकमृगको वहाँ देखते ही बगते लिक उठनेवाले और पवनविश्रमिता उन्मत्तोंके पथमूर-त चारों ओर विलेते हुए प्रिया [स्त्री]के ये दृष्टिगत पाद आकर भाव कषाते हैं ।

१ द्योतकत्वं वि ही ।

पदाशयवेन घोटनं यथा—

श्रीङ्गयोगान्तवदनया समिधाने गुरुष्या,
बद्धोत्कर्म्यं कुबकस्ययोर्मन्युमन्तर्निगृह्य ।
तिष्ठेस्युच्छं किमिव न तथा यत् समुत्सृज्य वाप्यं,
मप्यासक्त्यकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥

इत्यत्र 'त्रिभाग' शब्दः ।

वाक्यरूपवाक्यक्रममप्यङ्गयो ध्वनिः ह्युखोऽङ्गहारसङ्कीर्णशेषेति द्विधा मतः । तत्र ह्युखस्योदाहरणं यथा रामाम्बुदये, 'कृतककुपितैः' इत्यादि श्लोकः ।

यहाँ भी 'त' शब्द अक्षयक्रममप्यङ्गया घोटक है । खेचनकारने इस श्लोकपर कोई टिप्पणी नहीं की है । अतः वह मूल्याङ्कन नहीं मान पड़ता इसीसे हमने मूल्याङ्कनमें उसको स्थान नहीं दिया है ।

पदाशयघोस्य असलक्ष्यक्रमध्वनि

पदाशय [असलक्ष्यक्रमक] घोटन [का उदाहरण] जैसे—

गुरुजनों [सास-दशसुर आदि]के समीप होनेके कारण खञ्जासे सिर झुकाये, कुबकलक्ष्योंको विकम्पित करनेवाले मम्यु [गुणवायोग]का हृदयमें [ही] दयाकर [मी] भाँसू टपकाते हुए अकित हरिणी [के दृष्टिपात]के समान हृदयपाक्यक नेत्रत्रिभाग [से जो कटाक्ष] जो मुझपर फेंका सो क्या उससे 'तिष्ठ'—टहराये, मत जाओ—, यह नहीं कहा ?

यहाँ 'त्रिभाग' शब्द । [गुरुजनोंकी उपेक्षा करने भी जैसे-तैसे अभिज्ञाप, मम्यु शून्य गर्वादिसे मन्थर जो मेरी ओर देखा था उसके स्मरणसे प्रवास-विप्रलम्भका उदीपन मुच्यताः लम्बे समस्तपदके अवयवरूप 'त्रिभाग' शब्दके सहयोगसे होता है । अतः यह [पदाशयघोस्यध्वनि द्वि] ।

३ वाक्यघोस्य असलक्ष्यक्रमध्वनि

वाक्यरूप असलक्ष्यक्रममप्यङ्गध्वनि शुख और अलङ्कारसङ्कीर्ण दो प्रकारका होता है । हममें शुखका उदाहरण जैसे रामाम्बुदयमें 'कृतककुपितैः' इत्यादि श्लोक ।

पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

कृतककुपितैर्वाप्याम्बोभिः सदैवनिष्कामि
वनमपि गता मस्तु प्रीत्या भूतापि तथाऽम्बवा ।
नवकक्षभस्वामा पस्वन् दिशो मवर्ती किना
कठिनहृदयो ज्येवत्येव मिये स त्व मिया ॥ [रामाम्बुदये]

माता [कीर्णलया]के उस प्रकार रोकनेपर भी मिस्र [राम]के प्रेमके कारण तुम [सीता]नि वन आनका कर भी उठाया । हे मिये ! तुम्हारा वर कठोरहृदय मिया [राम] अभिमत अलक्षरोंसे स्वामर्ष विरक्तहृदको बनावदी श्रेष्ठमुक्त अभुपूज और दीन नेत्रोंसे दलता हुआ भी ही रहा है ।

श्रीधरतिथकारने प्रथम पदके विशेषणोंको 'वनमपि गता'के साथ जोड़ा है । अथवा बनावदी श्रेष्ठ आदि हेतुओंसे वनको भी गयी—यह अर्थ किया है ।

एतद्धि वाक्यं परस्परानुरागं परिपोषमात्रं प्रवक्ष्यात् सर्वैष एव परं रसतत्त्वं प्रकाशयति ।

अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णो यथा, “स्मरनवनदीपूरेजोडा” इत्यादि श्लोकः ।

अत्र हि रूपकेण ययोक्तव्यञ्जकलक्षणानुरागेन प्रसाधितो रसः सुतराम भिद्यम्यते ॥४॥

अलङ्कारप्रमथङ्गणः सहटनार्था' भासते ध्वनिरित्युक्तं, तत्र सहटनास्वरूपमथ वाचमिरूप्यते—

यह वाक्य, परिपुष्टिको प्राप्त [सिता और रामके] परस्परानुरागको प्रदर्शित करता हुआ सब ओर [सब छात्रोंसे, सम्पूर्ण वाक्यरूप]से ही रसतत्त्वका अभिव्यक्त कर रहा है ।

अलङ्कारान्तरमे सङ्कीर्ण [मिश्रित वाक्यप्रवाह्य अमलङ्कारप्रमथङ्गणध्वनिका वदाहरण] जैसे—“स्मरनवनदीपूरेजोडाः इत्यादि श्लोकः ।

पूरा श्लोक इस प्रकार है—

स्मरनवनदीपूरेजावाः पुनर्गुण्ठेभ्यः,
यदपि विपृठास्तिप्रन्त्यारादपूजमनोरथा ।
तदपि मिलितप्रकारेण परस्परानुरागा,
नयननखिनीनामनीतं पिबन्ति रसं प्रियाः ॥ [अमलङ्कारक, १०५]

‘काम’रूप अभिनव नदीकी बगलमें बहते हुए [परन्तु गुरु अर्थात् माता-पिता, सात-असुर आदि गुरुजन और पञ्चान्तरेण विद्यारण्य] गुरुजनरूप विद्याके बौध्दोंसे रोके गये अपूजकाम प्रिय [प्रिया और प्रिय] यद्यपि दूर-दूर [अथवा अथवा या पार-पार] ‘आराद् ब्रह्ममीपयो’ आरात् पद दूर-समीप दोनों कालोंका बोधक होता है ।] जैसे रहते हैं परन्तु निबन्धितसदृश [निरचर] अर्थात् [अप्युक्तमे गृहीत] एक-दूसरेके निहाले हुए नेत्ररूप कमलनाभ हाथ बन्दे गये [स्वीन जाते हुए] रसका पान करते हैं ।

यहाँ ध्वञ्जक [अमलङ्कार] के यथोक्त [दूसरे उद्योतकी १८ वीं कारिकामें कहे हुए विद्यारण्यतत्परण्ये, भाति निर्वहणैपिता इत्यादि] छल्लणोंसे युक्त [अभिर्घुण्ड] रूपक [अलङ्कार] से अलङ्कृत [विभाषादिके अलङ्कृत होनेसे रमको मी अलङ्कृत कहा है] रस मली प्रकार अभिव्यक्त होता है ।

यहाँ ‘स्मरनवनदी’से रूपक प्रारम्भ हुआ और ‘नयननखिनीनामनीतं पिबन्ति रसं’से समाप्त । परन्तु बीचमें नायकयुगलपर हंसादिभ्य आरोप न होनेसे रूपक अभिर्घुण्ड रहा ।

सहटनाम्यञ्जकत्वके प्रसङ्गसे सहटनाके तीन भेद

अलङ्कारप्रमथङ्गणध्वनिके सहटनामें [मी] अभिव्यक्त होता है यह [पृ० १२४ का० २ में] कहे चुके हैं । उसमें [से ९ कारिकातक] सहटनाके स्वरूपका ही सबसे पहिले निरूपण करते हैं—

असमासा, समासेन मध्यमेन च भूयिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता ॥५॥
वैदिषत् ॥५॥

१ [सर्वथा] समासरहित, २ मध्यम [श्रेणीके, छोटे-छोटे] समासोंसे बद्धकृत, और ३ दीर्घसमासयुक्त [दोनेस] सङ्घटना [रीति] तीन प्रकारकी मानी हैं ॥५॥
[सामन, उद्घट भादि] कुछ [विद्वानों] ने ।

रीतिलघुदाय साहित्यका एक विशेष लक्षण है । इस सप्रदायके मुख्य प्रतिपादक बामन हैं । उन्होंने अपने 'काव्यालङ्कारसूत्र'में 'रीति'को काव्यका आत्मा मना है । 'रीतिरस्य काव्यस्य' [का अ २६] यह उनका प्रतिज्ञ सूत्र है । 'रीति'का अर्थ 'विशिष्टपरचना रीति' [का अ २,७] और विशेषका अर्थ 'विशेषे गुणस्य' [का अ० २,८] किया है । अर्थात् विशिष्ट-परचनाका नाम 'रीति' है । परचनका विशेष्य उसकी गुणसम्पत्ता है । इस प्रकार गुणसम्पत्त परचनका नाम 'रीति' है । यह 'रीति'का अर्थ हुआ ।

'या त्रिधा वैदमी, गौडीया पाञ्चाथी चेति' [का अ २ ९] यह रीति तीन प्रकारकी मानी गयी है—१ वैदमी २ गौडी और ३ पाञ्चाथी । 'विदमारिपु हस्त्यात् हस्तमापन्ना' [का अ २, १] विदमारि प्रदेशोंके कवियोंमें विशेष रूपसे प्रचलित होनेके कारण उनके वैदमी आदि वेदसंज्ञामूलक नाम रख दिये गये हैं । उनमेंसे 'समप्रगुणा वैदमी' [का अ २, ११] भोज प्रगाधारि सम गुणोंसे युक्त रचनाको वैदमी रीति कहते हैं । 'भोज कान्तिमती गौडी' [का अ २ १२] भोज और कान्ति गुणोंसे युक्त रीति गौडी कही जाती है । इसमें माधुर्य और सौकुमार्यका समाव रहता है सम्यक्बहुक उप फलोंका प्रयोग होता है । 'माधुर्यसौकुमार्ययोरपन्ना पाञ्चाथी' [का० अ २ १३] माधुर्य और सौकुमार्य युक्त रीति पाञ्चाथी कहल्यती है । 'सापि सम्यक्साध्यं शुद्धा वैदमी', जिसमें सर्वथा सम्यक्का समाव हो उसे विशेषरूपसे शुद्धा वैदमी कहते हैं । इस प्रकार बामनने रीतियोंका विवेचन किया है ।

बामनने पूरा इस 'रीति' शब्दका प्रयोग नहीं किया है । दक्षीने इसीको 'मार्ग' नामसे व्यवहृत किया है परन्तु अधिक प्रचलित न होनेसे उसका अर्थ नहीं किया है । और दक्षीने पूर्वकी साहित्यशास्त्रके आद्य भाषार्थ भाष्यमें तो न 'मार्ग' अथवा 'रीति' शब्दका उल्लेख ही किया है और न और अर्थ अर्थ । इस प्रकार रीतिलघुदायके आदि प्रतिपादक बामन ही उदरते हैं । रचनाकी विशेष पहचिना नाम 'रीति' है । दक्षी उल्लेख 'मार्ग' नामसे करते हैं । आधुनिक हिन्दीमें उसका 'शैली' कहते हैं । आनन्दचरनाचारोंने उसीको 'सङ्घटना' नामसे निर्दिष्ट किया है । बामनने तीन रीतियों मानी थीं । आनन्दचरनाचारोंने भी १ 'अलगा'से वैदमी, २ 'सम्यक्मेन मध्यमेन च भूयिता'से पाञ्चाथी और ३ 'दीर्घसमासे' गौडीका निरूपण करते हुए तीन ही सङ्घटनाप्रकार या रीतियों मानी हैं । राजशेखरने तथापि 'कूर्मसङ्घटी'की नान्दीमें 'मार्गवी रीति'का भी उल्लेख किया है परन्तु वैसे ही ही रीतियों मानी हैं । फिर भी श्रीमती मार्गवी रीतिके निर्देशसे उनके मने आनेकी प्राप्ति परिकल्पित होती है । शैलीयके उन चारमें एक 'अथिना रीति'का नाम और आदि दिया और इस प्रकार तीन रीतियों मानी हैं । बाँ हर बेराथी रीतिमें कुछ वैकल्प हो सकता है । यह उचित विभाग नहीं तो अन्य विभाग हो जायेंगे । इतन्विषय सुधरत ही ही रीतियों मानी गयी हैं, उन्हीका निर्देश नहीं किया है ।

तां केवलमनूषोऽमुष्यते—

गुणानाभित्य तिष्ठन्ती, माधुर्यादीन्, व्यनक्ति सा ।
रसान्,

यद्यपि आनन्दवर्णनाचार्य रीतिप्रवृत्त्यायके माननवाचे नहीं हैं अतिशु ने प्लिनिसप्रवृत्त्याय के संस्कारक हैं; वे 'रीति' को नहीं अतिशु प्लिनिको काव्यका आत्मा मानते हैं फिर भी उन्होंने रीतियोंका विवेचन बड़े विस्तारके साथ किया है। 'रीति'का रखे पनिष्ठ सम्बन्ध रहता है इस तथ्यका विवेचन आनन्दवर्णने ही सबसे परिष्कृत किया है। प्रकृत प्रसङ्गमें 'सहृदनात्मरूपमेव तापसि-स्त्वपेते सहृदना भवत्' 'रीति'के विवेचनके आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा कर, बहुत विस्तारपूर्वक उसकी विवेचना प्रारम्भ करते हैं । १५।

४ सहृदनाका व्यञ्जकत्व

उस [पूर्ववर्ती] वामन आदि प्रतिपादित रीति अथवा सहृदना]का केवल अनुवाद करके यह कहते हैं—

माधुर्यादि गुणोंको आशय करके स्थित हुए यह [सहृदना] रसोंको अभिव्यक्त करती है ।

'गुणानाभित्य' कारिकाके इन शब्दोंसे सहृदना और गुणोंका सम्बन्ध प्रतीत होता है। इस सम्बन्धके विषयमें तीन विकल्प हो सकते हैं। वामनने 'विशिष्टवदरचना रीतिः' और 'विशेषेण गुणात्मा' किया है। इससे 'विशिष्टवदरचना'रूप रीतिको गुणात्मकत्व अर्थात् गुणोंसे अमेव वामनकी अभिप्रेत प्रतीत होता है। इसविषय परिकर एक गुण और रीतिको 'अमेव' पक्ष बनता है। इस पक्षमें कारिकाके 'गुणानाभित्य' आदि भागकी व्याख्या इस प्रकार होगी—'गुणान्, आत्मयुक्तान् माधुर्यादीन् गुणान्, आभित्य तिष्ठन्ती सहृदना रसादीन् व्यनक्ति' अर्थात् अपने स्वरूपमूल माधुर्यादि गुणोंके आभित्य स्थित सहृदना रसोंको व्यक्त करती है। इस पक्षमें गुण और सहृदनाके अभिन्न होनेपर भी होनेवाला आभित्यव्यवहार गीक है।

दूसरे पक्षमें गुण और रीति भिन्न भिन्न मानी गयी हैं। इन भिन्नताचारियोंमें भी दो विकल्प हो जाते हैं। एक 'सहृदनाभवा गुणः' अर्थात् सहृदनाके आभित्य गुण रहते हैं और दूसरा 'गुणाभवा वा सहृदना' सहृदना गुणोंके आभित्य रहती है। इन दोनों मेंसे 'सहृदनाभवा गुणाः' यह पक्ष महत्त्वपूर्ण आदिका है। उन्होंने गुणोंको सहृदनाका कम माना है। कम सवा शब्दोंके आभित्य रहता है इसविषय गुण सहृदनाके आभित्य रहते हैं। अर्थात् गुण आशय और सहृदना आधाररूप है। इस पक्षमें 'गुणानाभित्य तिष्ठन्ती' इस कारिकाकी 'आशेयमूलात् गुणान् आभित्य' अर्थात् आशेयरूप गुणोंके आभित्य, उद्योगसे सहृदना रसादिको व्यक्त करती है—इस प्रकार व्याख्या होगी।

तीसरा 'गुणाभवा सहृदना अर्थात् सहृदना गुणोंके आभित्य रहती है' यह सिद्धान्तप्रवृत्ति है। यही आनन्दवर्णनाचार्यका अभिमत पक्ष है। इसमें 'गुणानाभित्य तिष्ठन्ती' अर्थात् आधारमूल गुणोंके आभित्य स्थित होनेवाली सहृदना रसादिको व्यक्त करती है। इस प्रकार वाद्यपि अन्तिम पक्ष ही भाष्यकारका अभिमत पक्ष है फिर भी उन्होंने तीनों पक्षोंमें कारिकाकी सङ्गति जगान और तीनों पक्षोंके अनुसार सहृदनाका रसाभिव्यक्तिके साथ पनिष्ठ सम्बन्ध विवक्षितानेका यत्न किया है। यही उनका मूल पक्षियोंका साधन है। उनका सम्बन्धवाद इस प्रकार है—

१ वि सा संस्करण में 'रसान्' की जगह 'रसाः' पाठ है और यही कारिका एक मात्र सती है ।

‘सा सङ्घटना रसादीम् व्यनक्ति गुणानाभिस्य विघ्नन्तीति । अत्र च विकल्प्यं, गुणानां सङ्घटनायाश्चैक्यं व्यतिरेके वा । व्यतिरेकेऽपि द्वयी गतिः । गुणाभया सङ्घटना, सङ्घटनाभया वा गुणा इति ।

तत्रैक्यपक्षे सङ्घटनाभयगुणपक्षे च गुणानात्मभूषाम्, आधेयभूषाम् चाभिस्य विघ्नन्ती सङ्घटना रसादीम् व्यनच्छीत्ययमर्थः । यथा तु नानात्वपक्षे गुणाभयसङ्घटना पक्षः, तथा गुणानाभिस्य विघ्नन्ती गुणपरतन्त्रत्वमात्रा न तु गुणरूपैवेत्यर्थः ।

किं पुनरेवं विकल्पनस्य प्रबोधनमिति ?

अभिधीयते । यदि गुणाः सङ्घटना चेत्येकं तत्त्वं, सङ्घटनाभया वा गुणाः, तथा सङ्घटनाया इव गुणानामनियतविषयत्वप्रसङ्गः । गुणानां हि माधुर्यप्रसादप्रकर्षः कश्चन विप्रसम्मग्नहारविषय एव । रौद्राद्भुताविषयबभोवः । माधुर्यप्रसादौ रसमाश्रयतामास

गुण और सङ्घटनाके सम्बन्धविषयक चीन पक्ष

यह सङ्घटना गुणोंके आश्रित होकर रसादिको अभिष्यक्त करती है । यहाँ [इस प्रकार] विकल्प करने चाहिये । गुणोंका और सङ्घटनाका [विकल्प] अमेद है अथवा भेद [व्यतिरेक] । [व्यतिरेक] भेदपक्षमें दो मार्ग हैं । गुणाश्रित सङ्घटना [है] अथवा सङ्घटनाश्रित गुण [है] ।

इसमेंसे १. ‘अमेदपक्ष’ में और २. ‘सङ्घटनाश्रित गुणपक्ष’ आत्मभूत [‘अमेद पक्ष’में] अथवा आधेयभूत [‘सङ्घटनाश्रित पक्ष’में] गुणोंके आश्रयसे स्थित होती हुई सङ्घटना रसादिको व्यक्त करती है—यह अर्थ होता है । अब [गुण और सङ्घटनाके] भेदपक्षमें ‘गुणाश्रित सङ्घटनापक्ष [निश्चयान्तपक्ष] से तब गुणोंके आश्रित स्थित [अथात्] गुणोंके अधीन स्वभाषया—गुणस्वरूप ही नहीं—[सङ्घटना रसोंको अभिष्यक्त करती है] यह अर्थ होगा ।

गुणोंको सङ्घटनाश्रित या सङ्घटनारूप माननेमें दोष

[प्रश्न] इस प्रकार विकल्प करनेका क्या प्रयोजन है ?

[उत्तर] बताते हैं । यदि गुण और सङ्घटना एक तत्त्वं हैं [इनका अमेद है यह मार्गें तो] अथवा सङ्घटनाके आश्रित गुण रहते हैं [यह पक्ष मार्गें] तो सङ्घटनाके समान गुणोंका भी अनियतविषयत्व हो आयागा । गुणोंका [विषय नियत है ‘विषय नियमो व्ययस्थितः’ इन भागोंके शब्दोंसे अन्वय है] तो विषय नियमनिश्चित है । जैसे, कश्चन और विप्रसम्मग्नहारमें ही माधुर्य और प्रसादका प्रकर्ष [होता है], भोज रौद्र और अकृत विषयमें [ही प्रधानता रहता है] माधुर्य और प्रसाद रस माष

१. सां वि तथा ही में नहीं है ।

२. पक्ष तु आश्रयपक्षो वि ही ।

३. गुणपक्षः सङ्घटनापक्षश्च वि । गुणाश्रयसङ्घटनापक्षश्च ही ।

४. गुणाश्रयसङ्घटनापक्षश्च ही ।

विपयाशेय । इति विपयनियमो व्यवस्थितः । सङ्घटनायास्तु स विपटवे । तथाहि शृङ्गारेऽ-
पि दीर्घसमासा दृश्यते^१, रौद्रादिव्यसमासा^२ चेति ।

तत्र शृङ्गारे दीर्घसमासा यथा,—“मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका” इति ।

यथा या—

अनवरतनयनञ्जलञ्चनपतनपरिमुपितपप्रलेखं^३ वे ।

करतलनिपण्णमपळे वदन्निर्व कं न वापयति ॥

इत्यादी ।

तथा रौद्रादिव्यसमासा दृश्यते^४ । यथा—“यो यः शक्यं विमर्ति स्वभुजगुरुमदः”

इत्यादी ।

तस्मान्न सङ्घटनास्वरूपाः, न च सङ्घटनाभया गुणाः^५ ।

और तद्वामानविपयक ही होते हैं । [इस प्रकार गुणोंका विपयनियम यथा हुआ है । परन्तु] सङ्घटनार्थ यह विगड़ जाता है । क्योंकि शृङ्गारमें भी दीर्घसमासा [रचना—सङ्घटना—] पायी जाती है और रौद्रादि रसोंमें भी समासरहित [रचना पायी जाती है] ।

उनमेंसे शृङ्गारमें दीर्घसमासघाटी [रचना—सङ्घटनाका उदाहरण] जैसे—‘मन्दार कुसुमरेणुपिञ्जरितालका’ यह पद्य । [यह उदाहरण शृङ्गारमें दीर्घसमासघाटी रचनाका विद्या है । परन्तु पूर्ण प्रकरण सामने न होनेसे यहाँ शृङ्गारकी कोई प्रतीति नहीं होती । इसलिए यह उदाहरण ठीक नहीं है, यदि कोई ऐसी आशङ्का करे तो उनके सन्तोषके लिए दूसरा उदाहरण देते हैं ।]

अथवा जैसे—

दे भवसे निरन्तर अधुपिन्दुओंके गिरनसे मिठी हुई पञ्चायतीबासा और इयेरी पर रखा हुआ [सुखका अभिन्यञ्जक] तुम्हाय मुझ किसके सन्तत नहीं करता । इत्यादिमें ।

और रौद्रादिमें भी समासरहित [रचना—सङ्घटना] पायी जाती है ।

जैसे—“यो यः शक्यं विमर्ति स्वभुजगुरुमदः इत्यादि [पृ० १८ पर पूर्व उदाहृत श्लोक]में [समासरहित सङ्घटना है] ।

यदि गुणोंको सङ्घटनासे अभिन्न या सङ्घटनापर आश्रित मानें तो जैसे अम्यास और दीर्घ समासरचनाकी नियमभङ्गसा नहीं पायी जाती है उनी प्रकार गुणोंको भी विपयनियम रहित धनना होगा । परन्तु गुणोंका विपयनियम व्यवस्थित है ।

इसलिए गुण न तो सङ्घटनारूप हैं और न ही सङ्घटनाश्रित हैं ।

१ दृश्यते ति दी० ।

२ अममामाश्वेति ति ही ।

३ पत्रलेखान्नाम् ति ही ।

४ दृश्यते ही ।

५ ति तथा ही० में इय गुणा परसे तस्मान्नके बाद रखा है ।

ननु यदि सङ्घटना गुणानां नाशयस्तत् 'किमात्मन्वता एते परिकल्प्यन्ताम्' ।
वक्ष्यते । प्रतिपादितमेवैवामात्मन्वनाम् ।

'तममवमवत्मन्वते येऽङ्गिनं ते गुण्याः स्यूताः ।
अङ्गाभित्वास्त्वच्छ्राय मन्तव्याः फटकादिभ्यः ॥'

अथवा भवन्तु शष्पाभया एव गुण्याः । न चैषामनुमासादिष्वस्त्वम्' । यस्मात्
नुमासाद्योऽनपक्षितार्थस्यधर्मा एव प्रतिपादिताः । गुण्यास्तु व्यङ्ग्यपक्षेपात्रभासि

गुणोका वास्तविक आशय

[प्रश्न] यदि सङ्घटना गुणोका आशय नहीं है तो फिर इन [गुणों]का किस
आशय मानेंगे ?

[उत्तर] इनका आशय [द्वितीय उपासकी छोटी कारिकामें] वता ही चुके हैं ।
वह कारिका नीचे फिर उद्धृत कर दी है । जैसे—
जा उस प्रधानभूत [रत्न]का अलम्बन करते हैं [रत्नके आशय रखते हैं] ये
'गुण' कहलाते हैं । और जो उसका अङ्ग [शब्द तथा अर्थ]के आशय रखते हैं वे फटक
कुण्डल आदिके समान अलङ्कार कहलाते हैं ।

प्रश्नकर्ताका आशय यह है कि शब्द अथ और उद्धटना ये तीन ही गुणोंके आशय हो
सकते हैं । उनमेंसे शब्द वा अथका गुणोंका आशय माननेसे तो वे शष्पाङ्कार अथवा अपाङ्कार
रूप ही हो जायेंगे । गुणोंका अलङ्कारोंसे अलग व्यक्तिल बनानेके लिए एक ही प्रकार है कि उनको
उद्धटनारूप अथवा उद्धटनाश्लि माना जाय । यदि आप उनका भी लक्षण करते हैं तो फिर गुणोंका
आशय और क्या होगा ?

इसके उत्तरका आशय यह है कि गुणोंका आशय मुख्यत इत ही भिन्न कि वृत्ते उद्योगकी
छोटी कारिकामें कहा जा चुका है । और गौरुपसे उनको शब्द तथा अर्थका धर्म भी कह सकते हैं ।
गौरुपसे शब्द तथा अर्थका धर्म माननेपर भी शब्दाङ्कार और अर्थाङ्कारसे उनका अर्थ
नहीं होगा क्योंकि अनुमासादि अलङ्कार अपविचारित शब्दधर्म है अथवा अनुमासादिमें अ-
विचारकी आवश्यकता नहीं होती । और गुण अङ्गधार्यावगमक वास्तवसे शब्दधर्म है । अर्थात्
गुणोंकी स्थिति के लिए अङ्गधार्यावगमक विचारकी आवश्यकता होती है ।

अथवा [उपचारसे] गुण शब्दाश्लि ही [कहे जा सकते] हैं । [फिर भी] वे
अनुमासादि [शष्पाङ्कार]के समान नहीं [समझ जा सकते] हैं । क्योंकि अनुमासादि
अर्थनिरपेक्ष शब्दमात्रके धर्म ही बताये गये हैं । और गुण वा [श्रद्धापादिरसरूप]
व्यङ्ग्यपक्षेपात्रके अभिव्यञ्जक, आख्यायके प्रतिपादनमें समर्थ शब्द [अर्थसापेक्ष शब्द]के

१. तर्हि ही ।

२. परिकल्प्यन्ते नि ।

३. इसके बाद शब्दधीयन् पाठ ही में अपि है ।

४. अन्वेषितार्थविलास शब्दधर्मा एव नि ही ।

५. नि ही में प्रतिपादिता नहीं है ।

वाच्यप्रतिपादनसमयशब्दधर्मो एव' । शब्दधर्मत्वं चैवामन्याप्रयत्नेऽपि शरीरमयत्वमिष क्षौर्यादीनाम् ।

ननु यदि शब्दाभया गुणास्तत् सङ्घटनारूपत्वं त्वामयत्वं वा सेपां प्राप्तमेव । न ह्यसङ्घटिताः शब्दा अर्थविशेषप्रतिपाद्यरसाद्याभितानो' गुणानामवाचकत्वादाभया भवन्ति । नैवम् । वर्णपङ्कथङ्ग-यत्वस्य रसादीनां प्रतिपादितत्वात् ।

धर्म कहे गये हैं । इन [गुणों]की शब्दधर्मता [यस्तुतः] अन्य [अर्थात् आत्माका] धर्म होते हुए भी दौर्यादि गुणोंके शरीरधित धर्म [मानने]के समान [केवल भीषणारिक गीण व्यवहार] है ।

[प्रत्य] यदि [भाष उपचारसे ही सही] गुण शब्दाध्यय हैं [यैसा मान लेते हैं] तो उनका सङ्घटनारूपत्व अथवा सङ्घटनाधितत्व [स्वयं] ही सिद्ध [प्राप्त] हो जाता है । क्योंकि सङ्घटनापहित शब्द अवाचक होनेसे अर्थविशेष [शृङ्गारविरसके अमिम्यजनमें समर्थ घाच्य]से अमिम्यक रसादिके आधित रहनेवाले गुणोंके आध्यय नहीं हो सकते हैं ।

[उत्तर] यह बात मत कहो । क्योंकि इसी उद्योतकी दूसरी कारिकामें—रसादिकी, [अवाचक] वर्णपङ्कथि [से भी] व्यङ्ग्यताका प्रतिपादन कर चुके हैं ।

पूवपक्षका आशय यह था कि जब उपचारसे भी गुणोंको शब्दका भव माना जाय तो उसका भय यह होगा कि शृङ्गारदि रसामिम्यक वाच्यप्रतिपादनसामर्थ्य ही शब्दका मापुर्ण है । तब यह वाच्यप्रतिपादनसामर्थ्य तो प्रकृति-व्यत्ययके योगसे सङ्घटित शब्दमें ही रह सकता है । रसकिये गुणोंको लेते उपचारसे शब्दधर्म मानते हो वेते ही उनको सङ्घटनाभम भी स्वयं ही माना जा सकता है । क्योंकि असङ्घटित एव तो वाचक नहीं होते और बिना वाचकसे रसादिकी प्रतीति नहीं हो सकती ।

उत्तरपक्षका आशय यह है कि अवाचक वग और परादिसे भी रसप्रतीति हो सकती है । रसकिये उसको सङ्घटनाधर्म माननेकी आवश्यकता नहीं है । हाँ कल्पना या गीणी वृत्तिसे गुणोंको शब्दधर्म तो कहा जा सकता है ।

गुणों और सङ्घटनाके सम्बन्धमें तीन विकल्प किये थे । उनमेंसे गुण और सङ्घटना अमिष हैं यह प्रथम विकल्प 'विशिष्टान्तरवना रीतिः' 'विशेषे गुणाम्ना' कहनेवाले कामनका मत है और दूसरा पक्ष, गुण और सङ्घटना अस्मा-अस्मा हैं परन्तु गुण सङ्घटनामें रहनेवासे सङ्घटनाभित धर्म हैं यह मझे सन्देहक मत है । इन दोनों पक्षोंका लक्षण कर यदौतक यह स्थिति किया जा चुका है कि गुण न सङ्घटनारूप हैं और न सङ्घटनामें रहनेवासे धर्म हैं अपितु वे गुणवत्ता रखते धर्म हैं । परन्तु कभी कभी 'माकार एवास्व शब्द' आदि स्ववहारमें आत्माके शौर्यादि वगका शेषे शरीरभितल भी उपचारसे मान किया जाता है इसी प्रकार गुण गुणवत्ता रसनिष्ठ धर्म है परन्तु उपचारसे रसामिम्यक वाच्यप्रतिपादनसमर्थ शब्दके धर्म भी माने जा सकते हैं ।

इसपर गुणोंको सङ्घटनाभित धर्म माननेवासे भरोहरादिवा कहना यह है कि जब उपचारसे गुणोंको शब्दधर्म मान लेते हो तो फिर सङ्घटनाधर्म तो वे स्वयं सिद्ध हो जाते हैं । क्योंकि आपने

१ गुणस्तु व्यङ्ग्य विशेषतः अमिम्यवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मो एव' नि में नहीं है ।

२ अर्थविशेष प्रतिपाद्य रसाद्याभितानो नि ही ।

अभ्युपगते वा वाक्यव्यङ्ग्यत्वे रसादीनां न नियता काचित् सङ्घटना वेपामाभ्रवत्वं प्रतिपद्यते इत्यनियतसङ्घटनाः शब्दा एव गुणानां व्यङ्ग्यविशेषानुगता आभ्रवाः ।

ननु माधुर्ये यदि नामैवमुक्तवत् तदुच्यताम् । ओजसः पुनः कथमनियतसङ्घटन-
सङ्घटनप्रत्ययम् । न ह्यसमासा सङ्घटना कदाचिदोजस आभ्रवतां प्रतिपद्यते ।

मतानुसारं शब्दरसाभिव्यङ्ग्यकं व्याख्ययतिपादनममत्र ही धर्मशास्त्रिका याचुव है । "तद्विषय रसामि-
व्यङ्ग्यके विषय अपकी अपेक्षा है । और पर वाचकत्व लङ्घित शब्दरूप वाक्यमें ही होता है, अपेक्षे
क्यों वा पदोंमें नहीं क्योंकि केवल वचन ही अनर्थक है और वचन पर स्मारकत्व है, वाचक
नहीं । "तद्विषय वाचकत्व केवल लङ्घित शब्दों अर्थात् वाक्यमें ही रह सकता है । और ज्यों वाचकत्व
रह सकता है वही उपचारसे माधुर्यादि गुणोंकी स्थिति हो सकती है । इतद्विषय वाचकत्वके धर्मरूप
वाचननिष्ठ होनेसे माधुर्यादि गुण भी उपचारसे लङ्घटनात्मक ही हुए । "तद्विषय लङ्घटनामित्त गुणवाचका
सर्वथा स्मरण नहीं किया जा सकता है । वह गृह्योद्देशके मरका सार है ।

इस मरक अनुसार मरकमरक भी फरको अभावक केवल स्मारकमान मानते हैं । इस
स्मारकवाचकी चला इसी उद्योतम हो चुकी है । परन्तु वहाँ भी फरको 'स्मारकत्व' और 'वाचकत्व'
पदक निषयको धर्मकारने टाक दिया जा । अब वही धर्म वहाँ फिर उपस्थित हो जाता है । परन्तु
वहाँ भी धर्मकारने उसका निषय करनेका प्रयत्न नहीं किया है । "तथा धर्मिण्यत्र यद् है कि फरको
वाचकत्व है, वा धोचकत्व, अथवा स्मारकत्व वह एक अर्थमा प्रयत्न है । उसके निषयको छोड़कर भी
गुणोंके स्मरण, और उपचारसे धर्मधर्मत्वके निषयन किय जा सकते हैं । अतएव उस धर्म और
गीत धर्मको वहाँ भी छोड़ दिया है ।

अब रह जाता है मरकमरक लङ्घटनात्मक गुणवाचके औचित्य या अनौचित्यके निषयका
प्रयत्न । उसके निषयमें धर्मकार वह करते हैं कि यदि 'दुष्कृतोपन्याय'से गृह्योद्देशक अनुसार
शब्दोंके स्मारकत्व, और कथन वाक्यके वाचकत्व, को भी मान किया जाय तो भी निरुक्त लङ्घटनावासे
सभी धर्म वर्तान्त वाक्य अर्थक वाचक हो सकते हैं । परन्तु असमासा रचनाध शब्दारे समान
भाजके आधय रोगादिकी भी अभिव्यक्ति हो सकती है और समासबहुका वा दीर्घमाया सङ्घटनासे
रोगादिके समान शब्दारेकी भी अभिव्यक्ति हो सकती है । इतद्विषय शब्दारेकी अभिव्यक्तिके विषय
किसी निरुक्तलङ्घटनाका निषय न होनेसे माधुर्यादि गुणोंको निरुक्तलङ्घटनामित्त धर्म नहीं माना जा
सकता है । इसी बातको धारण करते हैं—

[दुर्जनतोपन्यायसे] यदि रस आविके वाक्यव्यङ्ग्य ही मान लिया जाय
[अथान् वर्णयवादिना रसामिव्यङ्ग्यकं न ममा जाय] तो भी कोई नियतसङ्घटना [जैसे
असमासा वा दीर्घसमासा भाषि] वचन [रसों]का आधय नहीं होती इतद्विषय व्यङ्ग्य
विशेषसे अनुगत [शब्दारे] अभिव्यक्तसङ्घटनावासे शब्द ही गुणोंके आधय हैं [अथान्
गुण सङ्घटनात्मक नहीं हैं] ।

[प्रत्य—अनियतसङ्घटनावासे शब्द ही गुणोंके आधय होते हैं] यह बात यदि
आप माधुर्यके विषयमें कहें तो कह सकते हैं परन्तु भोज तो अनियतसङ्घटनाधित
कंस हो सकता है ? क्योंकि [मात्रकी प्रकाशक तो दीर्घवामाससङ्घटना विषय ही है]
असमासा [अथान् समासवदित] सङ्घटना कमी भाजक आधय नहीं हो सकती है ।

लभ्यते । यदि न प्रसिद्धिमात्रमहृद्वृत्तं चेतस्तदत्रापि न न भूमः । भोजसः
कथमसमासा सङ्घटना नामयः । यतो रौत्रादीन् हि प्रकाशयतः काव्यस्य वीतिरोज इति
प्राक् प्रतिपादितम् । तद्यौगो यद्यसमासायामपि सङ्घटनायां स्यात्, तस्को दोषो भवेत् ।
न चाचारुत्वं सङ्घटयद्दयसंबोधमपि । तस्मादनियतसङ्घटनाश शक्यत्वे गुणानां न
काचित् क्षतिः । तेषां तु चक्षुरादीनामिष यथास्वं विषयनियमितस्य स्वरूपस्य न
कदापिद् व्यभिचारः । तस्मादन्ये गुणाः अन्ये च सङ्घटना । न च सङ्घटनाभिदा
गुणा, इत्येकं दर्शनम् ।

अथवा सङ्घटनास्या एव गुणाः । यच्छूक्तम् 'सङ्घटनावद् गुणानामप्यनियतविषयत्वं
प्राप्नोति सङ्घे व्यभिचारवृत्तानात्' इति । तत्राप्येतदुच्यते—यत्र सङ्घे परिकल्पितविषय
व्यभिचारस्तद् विरूपमेवास्तु ।

कथमचारुत्वं तादृशे विषये सङ्घटयानां नावभातीति चत् ?

[उत्तर] कहते हैं यदि केवल प्रसिद्धिमात्रके भावसे [आपका] मन दूषित न हो
तो यहाँ भी हम [भोजकी प्रतीति असमासा रचनासे] नहीं [होती यह] नहीं कह सकते
हैं [अर्थात् केवल प्रसिद्धि की बात छोड़कर विचारें तो असमासा रचनास आजकी
प्रतीति होती है] । असमासा रचना भोजका भाव्य फ्यों नहीं होती [अर्थात् अयश्य
होती है] क्योंकि रौत्रादि रसोंको प्रकाशित करनेवाली काव्यकी वीतिका नाम ही तो
आज है । यह बात पहिले कह चुके हैं । और यह वीतिरूप आज यदि समासरहित
रचनामें भी रहे तो क्या क्षति है । [अर्थात् कोई दोष नहीं है । उस समासरहित रचना
से आसम्भवात्तमें] किमी प्रकारका अचात्त्य सङ्घटयद्दयके अनुपपत्ति नहीं आता ।
इसलिए गुणोंके अनियतसङ्घटनावाले शब्दोंका धर्म यदि [उपचारस] मान लिया जाय
तो कोई हानि नहीं है । और चक्षुरादि इन्द्रियोंके समान उक्त अपने अपने विषय
नियमित स्वरूपका कभी व्यभिचार नहीं होता । इसलिए गुण अलग ह, सङ्घटना अलग
है और गुण सङ्घटनाके आश्रित नहीं रहते यह एक सिद्धान्त है [यह व्याभिक्त
सिद्धान्तपक्षपा उपमंहार किया] ।

अथवा [वामनमतानुसारी प्रथम पक्षमें] सङ्घटनारूप ही गुण है । [अर्थात्
गुणोंका सङ्घटनारूप माननेवाले इस वामनमतमें भी कोई हानि नहीं है । इस पक्षमें जो
दोष दिया था उसका समाधान करते हैं] और जो यह कहा था कि सङ्घे [अर्थात् 'यो
यः शम्भ तथा 'अनघरतनयनकलरप्य० आदि उदाहरणों] में [सङ्घटनानियमका]
व्यभिचार पाये जानने सङ्घटनाके समान गुणोंमें भी अनियतविषयस्य प्राप्त होगा
उक्तका भी समाधान यह है कि जिन उदाहरणमें [सङ्घटनाके] परिकल्पित विषयनियम-
का व्यभिचार पाया जाय उसकी [सङ्घटना]को [विरूप] दूषित ही मानना चाहिये ।

[प्रश्न—यदि 'या यः शम्भ विमर्ति इत्यादिकां सङ्घटना दूषित है ता] उस
प्रकारके विषयोंमें सङ्घटयोंकी अचात्त्यकी प्रतीति फ्यों नहीं होती ? [यह शङ्का हा ता]

१ वि ही में केवल एक ही न है ।

२ नादतविषय वि ही ।

३ प्रतिभाति नि (न) प्रतिभाति ही ।

कविशक्तिविग्रहितत्वात् । द्विविधो हि दोषः, कबेरभ्युत्पत्तिहृतो, अशक्तिहृतश्च । तत्राभ्युत्पत्तिहृतो दोषः शक्तिविरहहृतत्वात् कदाचिन्नश्यते । यस्तत्रशक्तिहृता दोषः स शक्तिरि प्रतीयते । परिकरश्लोकश्चात्र—

अभ्युत्पत्तिहृतो दोषः सक्त्वा संश्रियते कवेः ।

यस्तत्रशक्तिहृतस्तस्य^१ स शक्तिरिबभासते ॥

तथाहि — महाकवीनामभ्युत्पत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसम्मोगशृङ्गारनिर्भयनाघर्षोचित्यं शक्तिविरहहृतत्वात्^२ प्राम्थवेन न प्रविभासते । यथा कुमारसम्भवे देवीसम्मोगवचनम् ।

एवमासी च विषय^३ यथाश्रित्यात्यागस्तथा रक्षितमेवामे ।

[उत्तर] कविकी प्रतिमा [शक्तिके बस]मे वच जानेस [तियोहित हा जानसे वह अचाहस्य प्रतीत नहीं होता] । वा प्रकारके दोष [काव्यमें] हो सकत है—१ [कविकी] अभ्युत्पत्तिहृत और २ [कविकी] अशक्तिहृत । [कविकी मवनयोग्यप्रशास्त्रिणी-अर्षनीय यस्तुक नये-नये ढंगस यमक कर सकवेकी प्रतिमाका 'शक्ति' कहते हैं । और उसके उपयुक्त समस्त यस्तुओंके पौर्णपर्यन्त विषयनकीशरका भ्युत्पत्ति कहते हैं । इन्हीं शक्ति या भ्युत्पत्तिकी स्पृहतास काव्यमें दोष भा सकत है] उनमेंस अभ्युत्पत्तिहृत दोष शक्ति [प्रतिमाके प्रवाह]से वच जानके कारण कमी-कमी अनुमय नहीं होता । परन्तु जो अशक्तिहृत दोष है वह तुरन्त प्रतीत हो जाता है । इस विषयमें परिकर श्लोक भी है—

अभ्युत्पत्तिके कारण होमथाका दोष कविकी शक्तिके बळस छिप जाता है । परन्तु कविकी अशक्तिके कारण जो दोष होता है वह तुरन्त प्रतीत हो जाता है ।

जैन वि [अन्निदान्म भावि] महाकवियोंके उत्तमदेवताविषयक प्रसिद्ध सम्मोग-शृङ्गाराधिके वर्णनका [माना-पिताके सम्मोगवर्षनके समान भयमल भवुवित हात द्रुप मी] अनीचित्य मी शक्तिये वच जानेके कारण प्राम्थकसे प्रतीत नहीं होता है । जैसे कुमारसम्भयमें देवी [पार्वती] के सम्मोगका वर्णन ।

इस प्रकारके उदाहरणमें मीधित्यके अत्यागका [उपादान] कैसे किया जाय यह भागे [इसी उपाठमें १० से १४ कारिकातक] विस्तारपा ही है ।

यहाँ कवि कालिदाने प्रतिभाकसे शिव और पार्वतीके सम्मोगशृङ्गारका वर्णन इत सुन्दरता से किया है कि पाठकका हृदय उसका रतासाधर्म ही मग हो जाता है और उक्त अनीचित्य-अनीचित्यके विषयका भयसर ही नहीं पाता है । जैसे मत्स्युद या लेक भाविकी किसी प्रतिग्रहिततामें तापुपाचक स्थानार भागीपाचक योग्य किसी छोटे म्भिकके कीर्णको देगकर प्रेत्कक मुँहस हयान् तापुपाचक निकल बड़ता है आर उक्तका अनीचित्य प्रतीत नहीं हाता, उसी प्रकार कविकी प्रतिभाकस हृदय

१ यस्तत्रशक्तिहृतोऽस्य वि ।

२ शक्तिविरहहृतो वि ।

३ यथाश्रित्यात्यागः वि ।

शक्तिविरस्कृतत्वं भ्रान्त्यभ्यतिरेकाभ्यामवसीयते । तथाहि शक्तिरहितेन कविना
एवंविधे विषये शृङ्गार उपनिबन्धमानः स्फुटमेव दोषत्वेन प्रतिभासते ।

नन्वस्मिन् पक्षे 'यो यः शस्त्रं विभर्ति' इत्यादौ किमपाठत्वम् ?

अप्रतीयमानमेवारेपयामः ।

उक्त शृङ्गारमें इतना ठम्मम हा जाता है कि उते भौचित्य-अनौचित्यकी मीमांसाका अपसर नहीं
मिळता । यही शक्तिरहिते दोषका शिरस्कृत हो जाना भयसा दख घना है ।

यहाँ इतिहर जिस खे रहे हैं 'दधितमेवात्रे', अथात् आगे दिखल्लवा आगगा, परन्तु भूतायक
'क' प्रत्ययका प्रयोग कर रहे हैं । इसकी सङ्गति इस प्रकार स्थानी चाहिये कि प्रत्यकार इतिक् पूर्व
कारिकाओंका निमाण कर चुके थे । इती आशयसे इतिमें 'दधितम्' इस पदसे मूलकारका निर्देश
किया है ।

[अभ्युत्पत्तिरुक्त दोषका] शक्तिविरस्कृतत्व भ्रान्त्यभ्यतिरेकसे सिद्ध होता है ।
क्योंकि शक्तिरहित कवि यदि ऐसे [उत्तम वेवताविके] विषयमें शृङ्गारका वर्णन करे तो
[माता-पिताके सम्मोगवर्णनके समान] स्पष्ट ही दोषरूपसे प्रतीत होता है [और महा
कवि काश्चिदास जैसे प्रतिभायान्ता किया हुआ पायतीका सम्मोगवर्णन दोषरूपमें
प्रतीत नहीं होता अतः भ्रान्त्यभ्यतिरेकसे दोषका शक्तिविरस्कृतत्व सिद्ध होता है] ।

[प्रश्न—गुणोंको सङ्गटभाकरूप माननेमें विषयनियमका अतिक्रमण करनेवाली
सङ्गटभाको श्रुति सङ्गटभा टट्टरनेका जो मत आपने स्थिर किया है उसके अनुसार]
इस पक्षमें 'यो यः शस्त्रं विभर्ति' इस उदाहरणमें क्या अघोरत्व है ?

[उत्तर—पास्तबमें कोई अघोरत्व अनुभवमें नहीं आता फिर भी] हम लोग
[इयर्थ ही] अविद्यमान अघोरत्वका आरोप करते हैं ।

अविद्यमान अप्रतीयमान अघोरत्वके मी आरोप करनेका मास यह है कि सङ्गटना और
गुणके अनिमत माननेवाले कामनके पक्षमें 'यो यः शस्त्रं विभर्ति' इत्यादि उदाहरणोंमें श्रेयादि रसमें मी
समाशरहित अतएव आश्रयिहीन रचनाके पाये आनेके कारण सङ्गटनाके विषयनियमकी अनुपपत्ति
आती है और उसके कारण 'माधुर्यप्रसादप्रकरण कृष्णविप्रब्रह्मशृङ्गारविषय एव । श्रेयाद्वृत्तादि
विषयमेव' । इत्यादि गुणोंका जो निधारित विषय है वह मी अव्यवस्थित होने लगता है, तब गुणोंके
विषयनियमकी रक्षाक बिध इस प्रकारके उदाहरणोंको दोषप्रसक्त मानना ही अप्पज है । इस प्रकारके
अपवादरत्नकोंके हट जानेसे गुण और सङ्गटना दोनोंका विषयनियम व्यवस्थित हो सकता है । गुण
और सङ्गटना दोनोंका विषयनियमको व्यवस्थित करनेका यह एक प्रकार है ।

इस प्रकारमें व्यवस्थाका निबामक रसतत्वको माना है । फिर मी इस प्रकारमें 'यो यः
शस्त्रं विभर्ति' इत्यादि कुछ उदाहरणोंको दोषकी प्रतीति न होनेपर मी वृत्त मानना पन्ता है । वह
कुछ अच्छी बधिकर बात नहीं है । इतीएव प्रत्यकार विषयनियमक व्यवस्थापक अन्व तत्त्वोंकी बधा
आगे कर रहे हैं जिससे उन नियामक तत्वोंकी दृष्टि गुण और सङ्गटनाको एक माना अप्य पा
अमग प्रत्येक दशामें विषयनियमका उपपादन किया जा सक । इती दृष्टिसे रसातिरिक्त निबामक
तत्वोंकी बधा प्रारम्भ करते हैं ।

तस्मात् गुणव्यतिरिक्तत्वे गुणरूपत्वे च सङ्घटनाया अन्यः कश्चिन्निमित्तहेतुवत्त्वः ।
इत्युच्यते—

‘तन्निमित्तमे हेतुरीषित्य वक्तृयाव्ययोः ॥६॥

तत्र वक्ता, कविः, कविनिवद्धो वा । कविनिवद्धश्चापि रसभावपहिणो रसभाव
समन्वितो वा । रसोऽपि कथानायकप्रयत्नपूर्विकप्रज्ञाप्रयो वा । कथानायकत्वं भीरोदात्त
दिनेश्मिन्नः पूर्वस्तदनन्तरो वेति विकल्पः ।

वाच्यं च, ध्वन्यात्मरसाङ्गं रसामासाङ्गं वा, अभिनेयार्थमभिनेयाथ वा, उत्तम
प्रकृत्याभयं तद्विपर्ययं वेति बहुप्रकारम् ।

सङ्घटनाका नियामक तत्त्व

इसलिए [सङ्घटनाके गुणव्यतिरिक्त माननेपर सङ्घटनानियामक कोरं हेतु ही न
हाने और सङ्घटनारूप माननेमें रखको ठीक तरहसे नियामक नहीं माना जा सकता है
क्योंकि 'यो वा इत्यादिमें उसका व्यभिचार विज्ञाया जा चुका है। अतएव] गुणव्यति
रिक्त्य और गुणरूपत्व [दोनों ही परां]में सङ्घटनाके नियमकार्य कोरं और ही हेतु
वतछाना चाहिये। इसलिए कहते हैं—

उस [सङ्घटना] के नियमनका हेतु वक्ता तथा वाक्यका भीक्षित्य [ही] है । और
उसमेंसे वक्ता कवि या कविनिवद्ध [वा प्रकारका] हो सकता है । और

कविनिवद्ध [वक्ता] भी रसभाव [आदि] रहित अथवा रसभाव [आदि] युक्त [वा प्रकार
का] हो सकता है । [उसमें] रस भी कथानायकनिष्ठ अथवा उसके विरोधी [प्रतिनायक]
निष्ठ [वा प्रकारका] हो सकता है । कथानायक भी धीरोदात्तादि [धर्मयुद्धधीरोदात्तानो
धीरोदात्तः । धीरोदात्तप्रधानो धीरोदात्तः । धीरोदात्तप्रधानो धीरोदात्तः । दानधर्मवीर
शान्तप्रधानो धीरोदात्तः । इति चत्वारो नायकाः क्रमेण सास्वती भार्गवी कैशिकी
प्राग्वीर्यसम्पुक्तिप्रधानाः ।—'यशकपक' टीका] मेंदसभिन्न मुख्य नायक अथवा उसके
पात्रका [उपनायक—पीठमर्त] हो सकता है । इस प्रकार [वक्ताके धर्मक] विकल्प है ।

वाच्य [अर्थ भी] ध्वनिरूप [प्रधान] रसका मह [अभिप्रेयङ्क] अथवा रसा
मासका मह [अभिप्रेयङ्क], अभिनेयार्थ या अभिनेयार्थ उत्तम प्रकृतिमें आधित
अथवा उससे निम्न [मध्यम अघम] प्रकृतिमें आधित इस तरह नामा प्रकारका
हो सकता है ।

अभिनेयाथ और अनभिनेयार्थ य दोनों वाक्यके मेरु हैं अतएव वहाँ उक्त विभाग हैं ।
साधारणतः पदुनीदि तमास 'अभिनेय' अर्थो यस्य लोऽभिनेयार्थं क अतएव अर्थ करनेसे 'यस्य'
एव ही वाक्यका ही परमपदक होगा । उस दृश्यामें 'वाच्य' और 'अर्थ' दोनोंके एक हो जानेसे 'राष्ट्रो
धिपः इत्यादि प्रयोगके समान स्वपदैशिकप्रायकी कल्पना करनी होगी । अतएव इसकी व्याख्या
१ नि में इस कारिकाप्रमाणको वहाँ बुद्धिकल्पमें छापा है और पहिले कारिका एक साथ रखी है ।
२ कविर् नि० ही में अर्थक है ।

तत्र यदा कविरपगतस्समाधौ वक्ता एवा रचनायाः कामचारः । यदा हि कवि निषङ्गो वक्त्र रसभावरहितस्तदा स एव । यदा तु कविः कविनिषङ्गो वा वक्त्र रस भावसमन्वितो, रसत्रय प्रधानाभितत्वात्^१ ध्वन्यात्ममूढस्तदा^२ नियमेनैव तत्रासमासमध्य समासे एव सङ्गटने । करुणविप्रलम्भगृह्णारयोस्त्वसमासेव सङ्गटना ।

कवमिति वेत्, वक्ष्यते । रसो यदा प्राधान्येन प्रतिपाद्यस्तदा उत्पत्तीति व्यवधायका विरोधितश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः । एवं च दीर्घसमासा सङ्गटन्य, समासानामनेक-प्रकारसम्भावनाया, कदाचिद् रसप्रतीति व्यवधायकीति तस्यां नात्यन्तमभिनवेशः शोभते । विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये । एतोऽन्यत्र च विशेषतः करुणविप्रलम्भगृह्णारयोः । तयोर्हि सुकुमारतरत्वात् स्वस्वयामप्यस्वच्छायां क्षणार्थयोः प्रतीतिर्मन्वरीभवति ।

‘अभिनेयो बागाहस्तत्वादायैः आमिमुक्त्वेन साक्षात्कारमात्रे नेपो अर्थो व्यङ्ग्यरूपो ध्वनिस्वभावो यस्य तदभिनेयाथ बाध्यं’ इस प्रकार करनी चाहिये । इसका भाव यह हुआ कि बाधक आहिक, सात्विक और आदाव-आरोपित चेशदि द्वाप आमिमुक्त्वेन अथात् साक्षात्काररूपणाको भिषका व्यव्यय या ध्वनिरूप अर्थ नेव हो उस बाध्यको अभिनेयार्थ बाध्य करना चाहिये । इस प्रकार सङ्गटनाये निवामक वक्ता तथा बान्धके अनेक भेद प्रदर्शित कर अब उनके औचित्यसे सङ्गटनाके नियमका निरूपण करते हैं—

उन [अनेकविध-वक्ताओं] मेंसे जय रसमाधरहित कवि [शुद्ध कवि] वक्ता हो तब रचनाकी स्वतन्त्रता है । और जय रसमाधरहित कविनिषङ्ग वक्ता हो तब भी वही [कामचार] स्वतन्त्रता है । जय कि कवि अथवा कविनिषङ्ग रसभावसमन्वित वक्ता हो और रस भी प्रधानाधित होनेसे ध्वन्यात्ममूढ हो तब वहाँ नियमसे ही असमान अथवा मध्यमसमासवाली रचना ही करनी चाहिये । करुण और विप्रलम्भगृह्णारमें तो समासरहित ही सङ्गटना होनी चाहिये ।

क्यों ? यदि यह प्रश्न हो तो उत्तर यह है कि जय रस प्रधानरूपसे प्रतिपाद्य है तब उसकी प्रतीतिमें विप्र ज्ञाननेवासे और उमके विरोधियोंका पूण रूपसे परिहार ही करना चाहिये । इस प्रकार [एक समस्त पदमें] अनेक प्रकारके समास [विग्रह] की सम्भावना होनेसे दीर्घसमासवाली रचना रसप्रतीतिमें कदाचित् बाधक हो इसलिए बस [दीर्घसमासरचना]के विषयमें अत्यन्त आग्रह अच्छा नहीं है । विशेष रूपसे अभिनेयार्थक काव्यमें । [क्योंकि दीर्घसमासवाली पदोंको असंग किये विना उनका अभिनय ठीक तरहसे नहीं हो सकता है । और न कानुने दोस्य अथ, और धीच-धीचमें प्रसादायक हान्य गान आदिकी सङ्गति ही ठीक होती है इसलिए अभिनेय ध्वन्य-व काव्यमें भी दीर्घसमासा रचना ठीक नहीं होती] और उमसे मित्र [काव्य] में विशेषतः करुण तथा विप्रलम्भगृह्णारमें [दीर्घसमासरचना उचित नहीं है । क्योंकि] उनके

१ प्रधानमूलत्वाद् नि ही ।

२ यदापि नि ही ।

रसान्तरे पुनः प्रतिपाद्ये रीत्यादौ मध्यमसमासापि सङ्घटना कदाचिद् बीर्योद्धतनायक-
सम्बन्धव्यापारप्रभेज, दीर्घसमासापि वा तदाज्ञोपादिनामाविरसोचितवाच्यमापेक्षया न
विगुण्य भवतीति सापि नात्यन्तं परिहाराय ।

सर्वास्तु च सङ्घटनास्तु प्रसादाच्यो गुणो व्यापी । स हि सवरससाधारणः स च
सङ्घटनासाधारणश्चेत्युक्तम् । प्रसादातिष्ठन्ने ससमासापि सङ्घटना कथप्यविप्रलम्भगृह्णायै
न ध्वनति । तदपरित्यागे च मध्यमसमासापि न न' प्रकाशयति । तस्मात् सर्वत्र
प्रसातोऽनुसर्तव्यः ।

अतएव च 'यो सः शस्त्रं विमर्ति' इत्यादौ यद्योजसः शितिर्नैष्यते तत् प्रसादाच्य
एव गुणो न माधुर्यम् । न चाचाकृत्यम् । अमिप्रेवरसप्रकाशनात् । शितिर्नैष्यते तत् प्रसादाच्य

अत्यन्त सुकृमार [रस] होनेसे धाम्य और अर्थकी वनिक-सी भी अस्पष्टता होनेपर
[रसकी] प्रतीति सिधिल हो जाती है ।

और रीत्यादि दूसरे रसोंके प्रतिपादनमें तो बीर्योद्धत नायकके सम्यग्ध या
व्यापारविक्रे सहारे मध्यमसमासा सङ्घटना अथवा दीर्घसमासा रचना भी उस [दीर्घ
समासा रचना]के बिना प्रतीत न हो सकनेवाले किन्तु रसोचित वाच्यार्थप्रतीतिकी
भावप्रयुक्ततावश [इस पदका समास इस प्रकार करना चाहिये 'तस्याः दीर्घसमास
सङ्घटनायाः य आसेपः तेन यिना यो न भवति व्यङ्ग्याभिम्यङ्गकः तादृशो रसाधितो
रसव्यञ्जकतयोपादीयमानो वाच्यस्तस्य यासावपेक्षा दीर्घसमाससङ्घटना प्रति सा
अर्थगुण्ये हेतुः'] प्रतिकूल नहीं होती है इसलिये उसका भी अत्यन्त त्याग नहीं कर
देना चाहिये ।

प्रसाद नामक गुण सब सङ्घटनाओंमें व्यापक है । यह समस्त रसों और समस्त
रचनाओंमें समान रूपसे रहनेवाला साधारण गुण है यह [प्रथम उद्योतमें] कहा
जा चुका है । [यह कथनमात्र कदाचित् पर्याप्त न समझा जाय इसलिये अन्वय
व्यतिरेकसे भी प्रसाद गुणकी सर्वरस और सर्वसङ्घटनासाधारणता सिद्ध करते हैं]
प्रसादके यिना समासोचित रचना भी करण तथा विप्रलम्भगृह्णायै अमिप्यक्त
नहीं करती है [यह व्यतिरेक हुआ—'तदभावे तदभाषो व्यतिरेकः'] और उस [प्रसाद
गुण]के होनेपर मध्यमसमासवाली रचना भी [करण या विप्रलम्भगृह्णायै] नहीं
प्रकाशित करती है यह बात नहीं है । [अर्थात् प्रकाशित करती ही है यह अन्वय
हुआ ।] इसलिये प्रसादका सर्वत्र [सय रसों और सब रचनाओंमें] अनुसरण करना
चाहिये ।

इसलिये 'यो वा शस्त्रं विमर्ति' इत्यादि [उदाहरण] में [दीर्घसमासा रचना न
होनेके कारण] यदि भोज गुणकी स्थिति अमिमत् नहीं है तो [उत्तरमें] प्रसाद गुण ही है
माधुर्य नहीं । और [सवरससाधारण उस प्रसाद गुणके होनेसे] किसी प्रकारका
अवागम्य नहीं होता है । क्योंकि [प्रसाद गुणसे भी] अमिप्रेत [रीत्र] रसकी अमिप्यक्ति
हो सकती है ।

वि ही में च न पाठ नहीं है ।

तस्माद् गुणाम्बतिरिक्तत्वे गुणव्यतिरिक्तत्वे वा सङ्घटनाया यथोक्तार्थोचित्याद् विषयनियमोऽस्तीति तस्या अपि रसव्यञ्जकत्वम् । तस्यादत्र रसामिष्यक्तिनिमित्त मूलाया योऽधमन्त्वरोच्छे नियमहेतुः स एव गुणानां नियमो विषय इति गुणामयेण व्यवस्थानमप्यविरुद्धम् ॥६॥

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं ता नियच्छति ।

कान्यप्रमेदाश्रयतं स्थिता भेषवती हि सा ॥७॥

वस्तुवाच्यगतौचित्ये सत्यपि^१ विषयाश्रयमन्यदौचित्यं सङ्घटनां नियच्छति । यतः कर्मस्य प्रमेदा मुक्तकं^२ संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिवर्द्धं, सन्दानितक-विशेषक-कल्पक-

इसलिए [सङ्घटनाको] गुणोंसे अभिन्न मानें या भिन्न [क्षेत्रों अथवास्थानोंमें] उक्त [वक्ता तथा वाच्यके] औचित्यसे सङ्घटनाका विषयनियम [यह ही जाता] है इसलिये यह भी रसकी अभिव्यञ्जक होती है । रसकी अभिव्यक्तिमें हेतुमूल उक्त [सङ्घटना] का नियामक जो यह [वक्ता और वाच्यका औचित्यरूप] हेतु अभी [ऊपर] कहा है यही गुणोंका नियम विषय है । इसलिये [सङ्घटनाकी] गुणाश्रयरूपमें व्यवस्थामें भी विशेष नहीं है ।

इस प्रकार यदि गुण और सङ्घटना एकस्य अर्थात् अभिन्न हैं तो गुणोंका जो विषयनियम है वही सङ्घटनाका भी विषयनियम होगा इसलिये कामनोक्त अमेदपक्षमें कार शेष नहीं है । इसी प्रकार गुणाधीन सङ्घटनापक्ष अर्थात् स्वामिमत विधानपक्षमें भी गुणोंके नियामक हेतु ही सङ्घटना नियामक होंगे अतएव यह भी निरुद्ध पक्ष है । अब रहा चौथय मध्येन्द्रका सङ्घटनाभित्त गुणपक्ष, उसमें भी वक्तव्य-वाच्यका औचित्य सङ्घटनाका नियामक बन सकता है इसलिये उस पक्षकी वृद्धि भी खग सकती है । इन प्रकार इस कारिकाके प्रारम्भमें उक्तये गये तीनों विकल्पोंकी सङ्घति हो जानेसे सङ्घटनाकी रसामिव्यञ्जकता भी बन जाती है ॥६॥

कारूपप्रकारोंका [विषयगत] औचित्य सङ्घटनानियामक

[वक्ता तथा वाच्यके औचित्यके अतिरिक्त] विषयाभित्त औचित्य [अर्थात् काव्य पापवकी समुदायरूपमें स्थिति आदि जैसे सेनारूप समुदायके अन्तर्गत कापुठय भी उस सैनिक मर्यादाका पाठन करता हुआ उचित रूपमें स्थित रहता है उसी प्रकार सन्दानितक आदि भागों कहे गये समुदायारम्भक काव्यवाच्यका औचित्य] भी उक्त [सङ्घटना] का नियन्त्रण करता है । काव्यक [मुक्तक आदि] भेदोंसे भी उस [सङ्घटना] के भेद हा जाते हैं । ७।

यद्यपि तथा वाच्यगत औचित्यके [सङ्घटनानियामक] होनेपर भी दूसरा विषयाभित्त औचित्य भी उस सङ्घटनाका नियन्त्रण करता है । क्योंकि काव्यके संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंशमें नियम १ मुक्तक [स्वयंमें परिपूर्ण स्तुत श्लोक जैसे अमरकशतक,

१ सत्यपि पाठ ही में नहीं है ।

२. मुक्तक श्लोक पूर्वकश्चमात्ररश्मः सताम् ।

कुलकानि^१, पर्यायबन्धः, परिक्रमा, सण्डक्यासकलकमे^२, सर्गबन्धो, धमिनेपार्थ,
धास्यवायिकाकमे^३, इत्येवमाहयः । दृष्टाभबणापि सङ्घटना विनयेपवती भवति ।

(१) एतत् मुक्तकेषु रसपन्थाभिनिवेशिनः कथेष्वहाभयमौचित्यम् । एव इदितमेव ।
अन्यत्र कामधारः । मुक्तकेषु प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवो दृश्यन्ते । एषा
अमरकस्य कथेषुल्लङ्घः गृह्याररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमाताः प्रसिद्धा एव । सन्धानित
काव्ये तु विकटनिबन्धनीचित्यात्मभ्यमसमासादीर्घसमासे एव सङ्घटने । प्रबन्धाप्रयं
पयोक्तप्रबन्धीचित्यमेवानुसर्तम्बम् ।

गाथासप्तशती, अर्यासप्तशती, आदिके इत्येकः, (क) सन्धानितक [दो इत्येकौमं क्रियाका
अन्वय होनपाठे पुम्], (ख) विशेषक [तीन इत्येकौमं क्रिया समाप्त होनपाठे], (ग)
कल्याणक [आश्चर्य एक साय अन्वय होनेपाठे इत्येक], कुलक [पौच या पौचस
अधिक एक साय अन्वय होनेपाठे इत्येक], २. पर्यायबन्ध [यस्यसादि एक पिपयका
पवन करनेपाठा प्रकारण एवायबन्ध कहसाता है], ३. परिक्रमा [धर्म, अर्थ, काम,
मोक्ष इन पुरुषार्थेषुपुत्रपुत्रसं एकके सम्बन्धमें एहुत-सी कथानोंका संग्रह परिक्रमा
कहलाता है], ४. सण्डक्या [किसी बड़ी कथाके एक दृष्टाका वर्णन करनेवाली कथा],
५. सकलकथा [फलपर्यन्त सम्पूर्ण इतिवृत्तकी कथा सकलकथा कहलाती है ।
वण्डकथा और सम्पूर्णकथा दोमाका प्राकृतमें अधिक प्रयोग होनेसे द्विपञ्चान्त
ग्रन्थसमासका रूप दिया है], ६. सर्गबन्ध [महाकाव्य], ७. धमिनेपार्थ [नाटक, प्रकरण
मात्र प्रहसन, किम ध्यायोग समयकार, बीपी, अह आदि ब्राह्मिण रूपक] ८.
आश्चर्यापिका [उपष्टासादि भागोंमें निवद्य वृत्त-प्रतिबन्धा आदि मुक्त कथा आश्चर्या-
पिका और उनसे रहित कथा कथा कहलाती है] और ९. कथा भावि अनेक प्रकार
[काव्यके] हैं । इनके आश्रयसे ही सङ्घटना [रचना] में मेव हो जाता है ।

उत्तमसे (१) मुक्तकौमं रसनिबन्धमें आग्रहवान् कविके सिप [जा] रसाधित
भीचित्य [नियामक और] है उसे निवृत्ता ही चुके हैं । अन्यत्र रसामिनिवेशरहित काव्य
में कवि चाहे किसी रचना करे कामधार [सतम्बता] है । प्रबन्ध [काव्यों] के समान
मुक्तकौमं भी रसका अभिनिवेश करनपाठे कवि पाये जाते हैं । जैसे अमरक कविके
गृह्याररसको प्रवाहित करनेपाठे प्रबन्धकाव्यसदृश [विभाषावित्त परिपूर्ण] मुक्तक
प्रसिद्ध ही हैं । [इम मी पृष्ठ ११७ पर उद्धृत कर चुके हैं] सन्धानितक आदिमें तो
विकट बन्धक उचित होनेसे सभ्यमसमासा और दीर्घमसमासा सङ्घटना ही [होती] है ।
प्रबन्ध [काव्यमें] आधितो [सन्धानितकसे कुलकपर्यन्त भवों] में प्रबन्ध [काव्य] के
पयोक्त [पूर्ववर्णित वृत्त और वाक्यादिगत] भीचित्यका ही अनुसरण करना चाहिये ।

१ इत्याम्बु सुम्बर्क शैर् विमिः इत्येकैचित्पकम् ॥

चतुर्विम्बु कव्यं एवात् पञ्चमि कुलकं मतम् ॥—अभिरुतात्

२ सकलकथावण्डकथा मि ही ।

३ आश्चर्यापिका कथैवबन्धाः । मि रि ।

४ मि ही में रि अत्रिक है ।

(२) पर्यायबन्धे पुनरसमासामभ्यमसमासे एव सङ्घटने । कश्चिद्धीचित्याभ्रयेण वीर्षसमासायामपि सङ्घटनायां, पर्यायाम्ना च वृत्तिः परिहर्तव्या ।

(३) परिक्रयायां क्रमचारः । तत्रेतिवृत्तमात्रोपन्यासेन नात्यन्तं रससम्बन्धा भिनिषेसात् ।

(४) सण्डकभासककृपयोस्तु' प्राकृतप्रसिद्धयोः कुलकादिनिषघनमूयस्त्वाद्

यहाँ प्रबन्धकाम्यके अन्तर्गत मुक्तक भी समस्त स्नेने चाहिये । प्रबन्धकाम्यके प्रबन्धकाम्य और मुक्तक और प्रबन्धकाम्यके महाकाम्य तथा सण्डकाम्य मेद क्रिये जाते हैं । इनमें प्रबन्धकाम्य और मुक्तकमेद से बन्ध वा रचनाके आधारपर क्रिये गये हैं और महाकाम्य तथा सण्डकाम्यमेद विषयके आधारपर हैं । 'पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचरणा क्रियते तन्मुक्तकम्' मुक्तकका प्रत्येक प्रत्येक परिपूर्ण स्वतन्त्र होता है । 'अमरकथतक'का प्रत्येक पद्य स्वयंमें परिपूर्ण है । विहारीके दोहे भी स्वयंमें परिपूर्ण हैं । 'गाथासतशती' और 'आर्यासतशती'के पद्य भी स्वतः परिपूर्ण हैं । ये सब मुक्तक काम्य हैं । प्रबन्धकाम्यके पद्य मुक्तक पद्योंकी भाँति स्वतन्त्र नहीं हैं । उनका पूर्वापरसम्बन्ध होता है । उस पूर्वापरसम्बन्धके बिना जाने उनके रसकी अनुभूति नहीं हो सकती । यह प्रबन्ध और मुक्तक काम्योंका मेद हुआ । भव रह जाते हैं महाकाम्य और सण्डकाम्य । ये दोनों पूर्वोक्त प्रबन्ध काम्यके अन्तर्गत हैं और उनका परस्पर मेद विषयकी व्यापकताके आधारपर किया जाता है । जो जीवनके किसी एक भागका निरूपण करे वह सण्डकाम्य कहलाया है, 'सण्डकार्यं मनेत् काम्यस्यैक देशानुसारि च' [सा ६ ३ ११९] और महाकाम्य एक स्थिति अथवा एक बंधादिके समस्त जीवनचित्रको प्रस्तुत करनेवाला व्यापक मयानके अनुसार मिश्र-मिश्र पद्योंमें निर्मित कवये कम जात सर्गोंके अधिक; गृहकार, वीर अथवा घास्तरसमैये एक रसको प्रधान बनाकर, संघा स्य रजनी चन्द्रमा, प्रभात, मन्वाह आदिके प्रकृतिवर्णनोंसे मुक्त काम्य महाकाम्य कहलया है । सण्ड काम्य और महाकाम्य दोनों प्रबन्धकाम्यके अन्तर्गत हैं । मुक्तक उनसे अलग स्वतन्त्र स्वतः परिपूर्ण काम्य है । स्नेहनकारने यहाँ प्रबन्धकाम्योंके अन्तर्गत भी 'स्वामाश्लिष्व प्रबन्धकुप्तिं भातुरगैः शिष्या याम्' [उत्तरमेघ ४२] को मुक्तक माना है ।

(२) पर्यायबन्धे ['यसन्तवणनादिकेकवर्णनीयोद्देशेन प्रयुक्तः पर्यायबन्धः यसन्तादि किसी एक ही विषयके वर्णनके उद्देश्यसे प्रयुक्त काम्यविशेषको पर्यायबन्ध कहते हैं । इस पर्यायबन्ध नामक काव्यमेद] में [स्वाधारणतः] अस्मासा तथा मध्यमममासा सङ्घटना ही होनी चाहिये । [परन्तु] कभी अर्थके अचिरत्यके कारण वीर्षसमासा सङ्घटना होनेपर भी पद्या और प्राम्या वृत्तिको पचाना ही चाहिये ।

(३) परिक्रया ['एकं धमाविपुदपार्थमुद्दिश्य प्रकार्यैविष्येजानन्तवृत्तान्तवणन प्रकाश परिक्रया', धम अर्थ आदि किसी एक पुरुदपार्थको लेकर अनेक प्रकारसे पद्यन-सी कथाओंका वर्णन परिक्रया कहलाता है । उस परिक्रया नामक काव्यमेद] में क्रमचार [स्वतन्त्रता] है । क्योंकि उन्में केवल कथादा [इतिवृत्त—भास्वयानवस्तु] का वर्णन [सुप्य] जानेसे रसबन्धका विशेष आग्रह नहीं होता ।

(४) प्राकृत [माया] में कुलकप्रति [तत् कार्यं कुलकं स्मृतम्, चारसे अधिक

दीपसमासायामपि न विरोध । वृत्त्योचित्यन्तु पथारसमनुसर्षम्भ्यम् ।

अभ्यत स्त्रोक्]का एक साथ पङ्क्त प्रयोग होनेसे दीर्घसमासा सङ्घटनार्थे भी विरोध नहीं है [परन्तु वृत्तियोंका रसके अनुसार औचित्य अथवा अनुसरण करना चाहिये] ।

इस प्रयत्नमें वृत्ति ध्वन्याका प्रयोग किया गया है । अक्षरप्रधानमें वृत्ति नामसे अनेक काम्यताओंका उल्लेख मिश्रता है । १ ध्वन्यकी अभिप्रा रचना, वात्स्या और भ्यजना व्यक्तियोंको भी वृत्ति नामसे कहा जाता है । २ 'वर्तते अनुप्रासमेव' वायु इति वृत्त्य इत विग्रहके अनुसार अनुप्रासप्रकारोंको भी वृत्ति कहा जाता है । मञ्जुश्रुतने इन्हीं अनुप्रासप्रकारोंको परमा उपनागरिका और धाम्ना तीन वृत्तियोंके रूपमें माना है और उनके उल्लेख इस प्रकार किये हैं—

धाम्ना रैश्वर्ययोगोऽयमर्थे व भोजिता ।
परमा नाम वृत्तिः स्वात् इन्द्राद्यैश्च संयुता ॥
सकृत्संयोगयुता मूर्ति वगन्तयोगिनिः ।
सर्वैर्वता व सम्बन्त उपनागरिकां मुधा ॥
शेषैर्वैयुथायोग कथिता कोमलरुचया ।
धाम्ना वृत्ति प्रसंगति काम्येणारवमुदय ॥—उद्भट, का १५१, ७

नाट्यशास्त्र आदिने नाट्योपयोगी कैथिकी आदि चार प्रकारकी वृत्तियोंका निरूपण किया गया है ।

उद् [नायक] ध्यापारमिका वृत्तिपद्युतां तत्र कैथिकी ।
गीतवृत्त्याविकारादीर्गदुः

विशोक सात्वती छन्दशौर्षत्यागदयाचरि ।
एभिरङ्गैस्त्वगुर्वैव सात्वती भारमयी पुनः ॥
—दशरूपक २ ४७

माधेन्द्रबासवह्यामश्रोबोद्भान्तादिव्येष्टि ।
म्यरती संस्कृतप्रायो वाग्म्यापरो नटाभवाः ॥—इ २ ५६
—इ १ ५

म्यरती कैथिकी वीर सात्वत्यारमयी पुनः ।
रवे दीप्रे व भीमते वृत्तिः सर्वत्र म्यरती ॥—दश २ ६२

इस प्रकार काव्यशास्त्रका 'वृत्ति' ध्वन्य अनेकार्थमें परिभाषित होनेसे बड़ा स्पन्देहजनक है । उसकी यह स्पन्देहजनकता रीति और सङ्घटना ध्वन्यके साथ मिश्रण और भी अधिक बढ़ जाती है । प्रकृत प्रसङ्गमें आनन्दवचनापानने आ वृत्ति ध्वन्यका प्रयोग किया है वह मञ्जुश्रुत भी परमा, उपनागरिका और धाम्ना क्रियका दूसरा नाम कोमला भी है के लिए ही किया है वह जो स्पष्ट है । परन्तु यहाँ उसका सङ्घटनाके साथ सम्बन्ध निकरित होनेसे वृत्ति सङ्घटना और रीति इन तीनोंके मेलका प्रश्न सामने आ जाता है । आलोचकारने यहाँ 'पर्यायवचन'में दीपसमासा रचना होनेपर भी धाम्ना वृत्तिका व्यवहार बर्णित बताया है । इस बचनसे ऐसा प्रतीत होता है कि रचनाको वचन और पदकी दृष्टिसे दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है । यहाँकी दृष्टिसे रचनाके अन्तर्गत धाम्ना और दीपसमासा ने तीन भेद किये जा सकते हैं । आलोचकारने इन्हीं तीनों भेदोंको सङ्घटना ध्वन्यसे कहा है । परन्तु कर्णिके प्रयोगकी दृष्टिसे रचनाक परमा, उपनागरिका वार धाम्ना वा कोमल्य के तीन विभाग मञ्जुश्रुत आदिने किये हैं और उनको 'वृत्ति' कहा है । इसका अर्थ यह है

(५) सर्गवन्द्ये तु रसतात्पर्ये' यच्चारसमौचित्यं, अन्यथा तु कामचारः । द्वयोरपि मार्गयोः सगन्धविषादिनां दशनान्द रसतात्पर्य साधीयः ।

(६) अग्निनेयार्थे तु सर्वथा रसवन्द्येऽग्निनिवेशः कर्षयः ।

(७) आख्यायिकाकथयोस्तु गद्यनिबन्धनवाङ्मत्याद्, गद्ये च छन्दोबन्धमिह प्रस्थानत्वादिह नियमहेतुः कृतपूर्वोऽपि मनाक् क्रियते ॥७॥

परम्पितप्रधान रचनाके स्थि सङ्गटना शब्द तथा वर्णस्थितिप्रधान रचनाके स्थि वृत्ति शब्दका प्रयोग किया गया है । वामनने रचनाप्रकारके प्रसङ्गमें रीति शब्दका प्रयोग किया है । उन्होंने अपनी रीतियोंका सम्बन्ध मनुष्य आदि गुणोंसे जोड़ा है । गुणोंकी अभिव्यक्तिमें पद और वर्ण दोनोंकी विशेष उपयोगिता है । अतएव वामनकी रीतिमें सङ्गटना तथा वृत्ति दोनोंका अन्तर्भाव हो जाता है । इसस्थि वामनके बाद ये रीतियोंका विवेचन किया गया है उसमें रीतियोंके प्रत्येक भेदमें रचनाका एक वर्णगत और एक पदगत भेद स्पष्ट रूपसे जुड़ा हुआ है । जैसे सङ्गटने रीतियोंके अन्तर्गत इस प्रकार किये हैं—

असमस्तैकसमस्ता मुद्या दद्यामिगुणैरत्र वेदमी ।

बगदितीयपदुल्ला स्वस्वभावात्तत्र च मुनिभेदा ॥

इसमें 'असमस्तैकसमस्ता' पर आनन्दवर्धनकी सङ्गटनाके प्रथम भेद असमाहास्य प्रादक है और यह रचनाके पदगत वैशिष्ट्यसे सम्बन्ध रखता है । इस पैदमीका दूसरा भाग 'बगदितीयपदुल्ला' स्वस्वभावात्तत्र है । यह महोद्भूतकी वृत्तिका स्थानीय प्रतीत होता है । रचनाके इन दोनों भागोंका सम्बन्ध गुणोंके स्वरूपसे है । इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वृत्ति और सङ्गटना ये दोनों रीतिके अङ्ग हैं और उन दोनोंकी समष्टिका नाम रीति है ।

(५) सगन्ध [महाकाव्य] में रसप्रधान होनेपर रसके अनुसार मौचित्य होना चाहिये अल्पया [वेचन इतिवृत्तप्रधान महाकाव्य, जैसे भद्रप्रपन्तका काव्यमयीकथासार होनेपर] तो कामचार [स्वतन्त्रता] है । [रसप्रधान और इतिवृत्तमात्रप्रधान] दोनों प्रकारके महाकाव्यनिर्माता वेचने जाते हैं [इनमेंसे] रसप्रधान [महाकाव्य] भेद है ।

(६) अग्निनेयाद्य [नाटक] में तो सर्वथा रसयोजनपर पूर्ण बल देना चाहिये ।

(७) आख्यायिका और कथामें तो गद्यरचना की [ही] प्रधानता रहने और गद्यमें छन्दोबन्ध रचनासे मिथ्य भाग होनेसे उसके विषयमें कोई नियामक हेतु इसके पूर्ण निर्मित न होनेपर भी कुछ थोड़ा-सा [निवेश] करते हैं ।

'द्वयोरपि मार्गयोः'की व्याख्या कुछ लोगोंने 'संस्कृतमाङ्गल्यो' की है । परन्तु यह व्याख्या उचित नहीं है क्योंकि उनमें 'रसतात्पर्य साधीय' रसप्रधानको भेद उद्घराया गया है । इसकी सहायि तो ठीकी ठीक लगती है जब 'द्वयो' से रसप्रधान और इतिवृत्तमात्रप्रधान इन दो भेदोंका ग्रहण किया गया । उन दोनोंमें रसप्रधान महाकाव्य अधिक भेद है । इसस्थि 'द्वयो' मार्गयोःका 'संस्कृतमाङ्गल्य-मार्गयोः' बह अर्थ करना ठीक नहीं है ॥७॥

१ रसतात्पर्येण वि ।

२ छन्दोबन्ध वि ।

एतद् यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् ।

सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि छन्दोनियमवर्जिते ॥८॥

एतेतौचित्यं बन्धबन्धगतं सङ्घटनाका नियामकमुक्तमेतदेव गद्ये छन्दोनियम-
वर्जितेऽपि विषयापेक्षं नियमहस्तुः । तवाद्यत्रापि यथा कविः कविनिबन्धो वा वक्ता रस
भाववद्विस्तृता कामधारः । रसभावसम्बन्धिते तु बद्धरि पूर्वोक्तमेवानुसर्तव्यम् । तत्रापि
च^१ विषयोचित्यमेव । व्याख्यायिकायान्तु भून्ता मध्यसमासादीर्घसमासे एव सङ्घटनं ।
गद्यस्य विकृष्टबन्धमयेयं^२ छायापत्त्वात् । तत्र च तस्य प्रकृष्टबन्धमापत्त्वात् । कथायान्तु
विकृष्टबन्धमायुर्वेऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम् ॥८॥

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता ।

रचना विषयापेक्षं तसु किञ्चिद् विभेदवत् ॥९॥

अथवा पद्यबद् गद्यबन्धेऽपि रसबन्धोक्तमौचित्यं सर्वत्र संश्रिता रचना भावि^३ तसु

गद्यकाव्योर्मि मी उक्त औचित्य आवश्यक है

यह पूर्वपरिचित औचित्य ही, छन्दके नियमसं रहित गद्यरचनामें मी सर्वत्र उस
[सङ्घटना] का नियामक होता है ।८।

सङ्घटनाका नियामक कथगत और वाक्यगत जो यह औचित्य बताया है,
छन्दोनियमरहित गद्यमें मी विषयगत [औचित्य] सहित पही नियामक हेतु होता है ।
रसमिप्य अथ यद्वा^४ [गद्यमें] मी कवि या कविनिबन्ध बन्धा रसभाववद्विस्तृता होता है तब
कृतग्रन्था [कामधार] है । और वक्ताके स्वभावयुक्त होनेपर ता पूर्वोक्त [नियमों] का
ही पालन करना चाहिये । उसमें मी विषयगत औचित्य होता ही है । भाष्यायिक्तमें
तो अधिकतर मध्यसमासा और दीर्घसमासा सङ्घटना ही होती है पर्यन्त कठिन
रचनासे गद्यमें मौन्दर्य भा जाता है । और उस [विकृष्टबन्ध] में रचनासौन्दर्यका प्रकल्प
[विशेषता] होनेसे । कथामें गद्यकी कठिन [विकृष्ट] रचनाका पाहुस्य होनेपर मी
रसबन्ध-सम्बन्धी औचित्यका पालन करना ही चाहिये ।८।

रसबन्धका औचित्य सर्वत्र आवश्यक

रसबन्धमें उक्त [नियमवार्थ प्रतिपादित] औचित्यका आश्रय करनेवाली रचना
सर्वत्र [गद्यपद्य दोनोंमें] शामिल होती है । विषयगत [औचित्य] की दृष्टिसे उसमें कुछ
[घोड़ा] भेद हो जाता है ।९।

अथवा पद्य [रचना] के समान गद्यमें मी रसबन्धका औचित्यका सर्वत्र आश्रय

१. छन्दोनियम नि ।

२. वा नि ।

३. निबन्धावशेन पद्याय नि ।

४. भवति वाक्यनिवा ।

विषयापेक्षं किञ्चिद् विशेषवद् भवति । न तु सर्वाकारम् । तथा हि गद्यबन्धेऽपि अति दीर्घसमासा रचना न विप्रलम्भमृद्धारककृष्णयोःपक्ष्यायिकायामपि क्षोभते । नाटकादावप्य समासैव सङ्घटना । यौत्रवीरादिबर्णने विषयापेक्षं त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपकृष्यते प्रकृष्यते च । तथा द्वाक्यायिकायां नास्त्यन्तसमासा स्वविषयेऽपि, नाटकादौ नातिदीर्घसमासा चेति सङ्घटनाया दिगनुसर्तव्या ॥९॥

लेनेवाली रचना शोभित होती है । यह [औचित्य] विषय [गद्य औचित्य] की दृष्टिसे कुछ विशेष हो जाता है [परन्तु] सर्वथा नहीं । उदाहरणार्थ गद्यरचनामें भी कठण और विप्रलम्भमृद्धारकमें आख्यायिकातकमें भी अत्यन्त दीर्घसमासवाली रचना अच्छी नहीं लगती । नाटकादिमें भी असमासा सङ्घटना ही होनी चाहिये । [नाटकादिमें] यौत्र वीर आदिके वर्णनमें विषयकी अपेक्षा करनेवाला औचित्यप्रमाण [रसबन्धात् औचित्यरूप प्रमाण] के बलसे घट-बढ़ जाता है । जैसे आख्यायिकामें स्वविषय [कठण-विप्रलम्भमृद्धारक] में भी अत्यन्त समासहीन और नाटक आदिमें [स्वविषय यौत्रवीरादिमें] भी अत्यन्त दीर्घसमासा रचना नहीं होनी चाहिये । सङ्घटनाके इसी मार्गका [मार्ग] अनुसरण करना चाहिये । ९।

निम्नवर्गागरीच तथा दीर्घित्दीकाबाधे संस्करणमें इसके बाद निम्नलिखित एक श्लोक भी मिलता है । परन्तु शोचनकारने उसकी व्याख्या नहीं की है अतएव उसकी प्रामाणिकता सन्देह होनेसे बालप्रियामुक्त वाराणसेय संस्करणमें उसको मूल पाठमें नहीं रखा है । इसीलिए हमने भी उसे मूल पाठमें न्दान नहीं दिया है । फिर भी अन्य संस्करणोंमें पाया जाता है अतएव हम उसको नीचे दे रहे हैं ।

इति काव्यापविषेको योऽयं नेतरन्मृद्वितिषिषायी ।

द्विमित्तनुसृतसारैरस्मत्पुत्रो न विस्मायः ॥ इति ।

यह श्लोक स्वयं और उसके अन्तमें प्रयुक्त 'इति' शब्द बलुत्त' ग्रन्थसमाप्तिके अवसरपर अधिक उपयुक्त होते हैं । यहाँ भी वद्यपि एक अमान्तर प्रकरणकी सम्पत्ति हो रही है परन्तु फिर भी यह स्थान उसके लिये उपयुक्त नहीं है । सम्भवतः इसीलिए शोचनकारने इसे अप्रामाणिक मानकर उसकी व्याख्या नहीं की है ।

५. प्रबन्धव्यञ्जकता

दूसरी कारिकामें अमंलस्यद्रमार्जनिके पौत्र व्यञ्जक यतत्त्वात् ये । उनमें १ कथ, २ पदादि, ३ वाक्य और ४ सङ्घटनाका विवेचन बर्तव्य है । अब आगे ५ प्रबन्धकी व्यञ्जकताका निरूपण प्रारम्भ करते हैं—

प्रबन्धान्तगत रत्नामिष्यक्तिक लिये निम्नलिखित पौत्र वाक्योंका ध्यान रखना आवश्यक है—

(१) सबसे पहिले एक सुन्दर मूहकव्यका निवारण, (२) दूसरे, उस कव्यका रसानुसूक्त संस्करण, (३) तीसरे, कव्यवित्तारमें अशोभित लक्षि तथा सन्ध्याकी रचना, (४) चारथे (अ) शौचमें यथास्थान रत्न उद्दीपन-प्रशमन और (ब) प्रबन्धमें प्रधान रसका आन्तिमे अन्ततक अनुसन्धान अगात् अभिस्मरण, (५) पौत्रवै, उचित मात्रामें ही और उचित स्थानोंपर ही अलङ्कारोंका लक्षण । इन्हीं

इदानीमद्यकर्मव्यङ्ग्यो ध्वनिः प्रबन्धात्मा रामायणमहाभारतयो प्रकाशमानः
प्रसिद्ध एव । तस्य तु यथा प्रकाशतं वत् प्रतिपाद्यते—

- (१) विभावभावानुभावसम्बन्धौचित्यधारणः ।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥१०॥
- (२) इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम् ।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तरामीष्टरसोचितकपोलपः ॥११॥
- (३) सन्धिसन्ध्यङ्गघटन रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनच्छया ॥१२॥
- (४) उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा ।
रसस्यारब्धविभ्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिन ॥१३॥
- (५) अलङ्कृतीनां चाकृतावप्यानुस्यूयेण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यङ्ग्यकृत्ये नियन्धनम् ॥१४॥

प्रबन्धोऽपि रसादीनां व्यङ्ग्यक इत्युक्तं तत्र व्यङ्ग्यकत्वं निबन्धनम् ।

(१) प्रथमे तावत्, विभावभावानुभावसम्बन्धौचित्यधारणः कथाशरीरस्य विधिः ।

बङ्गीका कथन इत् १ ते १४ तककी पाँच कारिकाओंमें किया है और उन्हीअ वृत्तिकारने जाने बहुत विस्तारमें विवेचन किया है ।

अब अर्धसंस्कृतव्यङ्ग्य-य (रसादि) ध्वनि का रामायण महाभारत आदिमें प्रबन्धगतकृत्सं प्रकाशित होता हुआ प्रसिद्ध ही है । इसके अति प्रकार प्रकाशान [दोना चाहिये] वह [प्रकार] कहते हैं—

१ विभाव [स्वाधी] भाव अनुभाव और सम्बन्धविभाषक औचित्यम सुन्दर, [वृत्त—पूर्वघटित अर्थात्] एतिहासिक अथवा [उत्प्रेक्षित अर्थात्] कल्पित कथा शरीरका निमाण ॥१०॥

२ एतिहासिक क्रमसं मात दोनपर मी रसके प्रतिवृत्त स्थिति [कथाघाति] को छाड़कर बीचमें कभीए रसके अनुकूल मयौन कल्पना करके मी कथाका संस्करण ॥११॥

३ केवल शास्त्रीय विधानक परिपालनकी इच्छामसे नहीं; अपितु [शुद्ध] रसामि-
व्यक्तिकी दृष्टि सन्धि और सन्ध्यङ्गोंकी रचना ॥१२॥

४. (अ) यथावसर [रसोंके] उद्दीपन तथा प्रशमन [की याजना] और (ब) विभाजन होते हुए प्रधान रसका अनुसन्धान [स्मरण रचना] ॥१३॥

५. [अलङ्कारोंके परोपेक्ष प्रयोगकी पूर्ण] शक्ति दोनपर मी [रसक] अनुकूल ही [परिमित मात्रामें] अलङ्कारोंकी याजना ।

[यह पाँच] प्रबन्धगत-रसके अभिव्यञ्जक हतु हैं ॥१४॥

प्रबन्ध [काव्य] मी रसादिका व्यङ्ग्यक होता है यह [इसी उपायकी बुनरी कारिकाओंमें] कहा है । उसके व्यङ्ग्यकत्पके हेतु [निम्नलिखित पाँच हैं] ।

पथाययं प्रतिपिपादयितरसमावाचपेक्षया य उचितो विभावो भावोऽनुभावः सञ्चारी
वा तदौचित्यकारणः कथाशरीरस्य विभिर्भ्यश्चकृत्वे निबन्धनमेकम् ।

उत्र विभावौचित्यं चापत् प्रसिद्धम् । भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात् । प्रकृतिर्हि,
उत्तममध्यमाद्यभावेन दिव्यमानुपादिभावेन च विभेदिनी । तां पथाययमनुस्त्यासङ्कीर्णैः
स्थापी भाव उपनिबन्धमान औचित्यमागू भवति । अन्यथा तु केवलमानुपाभ्रयेण दिव्यस्य,
केवलदिव्याभ्रयेण वा केवलमानुपस्य, उरसाहादयः उपनिबन्धमाना अनुषिता भवन्ति^१ ।
तथा च केवलमापस्य राजादेर्बर्णने सत्तार्णवकल्पनादिकक्षणा व्यापारा उपनिबन्धमानाः
सौष्ठवसृष्टोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति^२ । उत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः ।

ननु नागलोकगमनादयः सातवाहनप्रभृतीनां भूयस्ते, तद्व्येकसामान्यप्रभावादिशय
वर्णने किमनौचित्यं सर्वोर्बोभरणप्रमाणां क्षमामुजामिति ।

(१) सबसे पहिले विभाव [स्वायी] भाव अनुभाव और सञ्चारिभावके
औचित्यसे सुन्दर कथाशरीरका निर्माण [है] । उचित प्रकारसे प्रतिपादनामिमत रस
माय आदिकी दृष्टिसे जो उचित विभाव [स्वायी] भाव अनुभाव, या सञ्चारिभाव उनके
औचित्यसे सुन्दर कथाशरीरका निर्माण [रसका] समिप्यञ्जक पहिला कारण है ।

उनमेंसे विभावका औचित्य तो [श्लोक तथा भरतनाट्यशास्त्र आदिमें] प्रसिद्ध
ही है । [स्वायी] भावका औचित्य प्रकृतिके औचित्यसे होता है । प्रकृति उत्तम मध्यम
अधम और दिव्य तथा मानुषमेहसे मिश्र प्रकारकी होती है । उसको पद्योचित रूपसे
अनुसरण करते हुए असङ्कीर्ण [विना मिलाबटके शुद्ध] रूपसे उपनिबन्ध स्थायिमाय
औचित्ययुक्त माना जाता है । नहीं तो केवल मानुष [प्रकृति] के आश्रय दिव्य [प्रकृति]
[उरसाहादि] अथवा केवल दिव्य [प्रकृति] के आश्रयके उपनिबन्धमान केवल मानुषके
उरसाहादि [स्वायिमाय] अनुचित होते हैं । इसलिये केवल मानुष [प्रकृति] राजा
आदिके वर्णनमें, सात समुद्र पार करने आदिके उरसाहके वर्णन सुन्दर होनेपर भी
निश्चित रूपसे नीरस ही [प्रतीत] होते हैं । इसका कारण अनौचित्य ही है ।

यहाँ 'व्यापारा उपनिबन्धमाना'में व्यापार शब्द व्यापारोचित उल्लाहका प्रहण करना
वाह्ये । क्योंकि यहाँ स्थायिमायके औचित्यकी चर्चा हो रही है, अनुभवके औचित्यकी नहीं ।
व्यापार तो अनुभावमें आ सकता है, स्थायिमायमें नहीं । अतएव व्यापार शब्द व्यापारोचित स्थायि
ग्रन्थ उल्लाहका ही माहक है ।

[प्रहण] सातपाहन आदि राजाओंके नागलोकगमन आदिका वर्णन मिलता है
तो समस्त पृथिवीके धारणमें समर्थ राजाओंके अलौकिक प्रमायातिशयके वर्णनमें क्या
अनौचित्य है ?

१ वाच् नि ही ।

२ मानुषस्य नि ही ।

३ भास्वि नि ही ।

४ प्रभावादिस्ववर्णने नि ही ।

नैतदस्ति । न चयं भ्रूमे यत् प्रभावातिशयवर्धनमनुचितं राक्षाम् । किन्तु केवल-
मानुपाश्रयेण योत्पाद्यस्तु कथा क्रियत तत्त्वा दिव्यमौचित्यं न योजनीयम् । दिव्यमानुष्या
यन्तु' कथाशामुमौचित्यवाञ्छनमविवक्ष्यते । यथा पाण्डुसहितकथायाम् । सातवाहन
विपु ह्यु वेपु यामरुपदानं' भूयते तेषु साधनाद्यमनुगम्यमानमनुगुणत्वेन प्रविभासते ।
व्यतिरिक्तं तु तेषामेवापनिबन्धमानमनुचितम् ।

तद्व्ययत्र परमार्थः—

'अनौचित्यादृते मान्यत् रसमङ्गलं कारणम् ।

प्रसिद्धौचित्यव्यस्तु रसस्योपनिषत् परम् ॥'

अथ एव न मते 'प्रकृतवस्तुविपर्ययं प्रकृतवस्तुवाच्यतावत्त्वं च नाटकस्यावश्य
कृतवस्तुवस्तुत्वम् । तत्र हि नायकौचित्यानौचित्यविषये कविर्न भ्रामुद्यति । यस्तु
त्पाद्यस्तु नाटकादि कुर्यात्, तस्याप्रसिद्धानुचिततावत्त्वमाप्यवर्धने महान् प्रमादः ।

ननु यद्युत्साहासिभाववर्धने क्वचिन्मिद् दिव्यमानुष्याद्यौचित्यपरीक्षा क्रियते तत्

[उत्तर] यह बात नहीं है । हम यह नहीं कहते कि राजाओं के प्रभावातिशयका
वर्धन करना अनुचित है । किन्तु केवल मनुष्य [प्रकृति]के आधारपर जो कथा कथित
की जाय उसमें दिव्य [प्रकृति]के औचित्यको नहीं छोड़ना चाहिये । दिव्य और मानुष
[उभयप्रकृति] कथामें तो दोनों प्रकारके औचित्योंका वर्धन अधिक है । जैसे पाण्डु
आदिकी कथामें । सातवाहन [की कथा] आदिमें तो त्रिन [के विषय]में मिलना पूर्व
दृष्टान्त [दिव्यप्रकृति सम्बन्धी] सुना जाता है उन [कथाओं]में केवल उतने [अंश]का
अनुसरण तो कथित प्रतीत होता है [परन्तु] उनका ही उससे अधिकका वर्धन अनुचित
है । [यावत्पदानं भूयते] इस मूलमें 'अपदान' शब्द आया है । अमरकोषमें उसका
सर्ष 'अपदानं कर्मवृत्तम्' अर्थात् प्राचीन प्रशस्त धरित किया है ।]

इसलिए इस सबका सारांश यह हुआ कि—

अनौचित्यके अतिरिक्त रसमङ्गल और कई कारण नहीं है और प्रसिद्ध
औचित्यका अनुसरण ही उसका परम रहस्य है ।

इसीलिए मरतक [मातृशाला] में नाटकमें प्रकृत वस्तु [कथा]को विषय और
प्रकृत वस्तु उदात्त मायका रक्षना अनिवार्य [अवश्यकर्तव्य] प्रतिपादित किया है । इससे
मायकक आश्रय-अनाश्रयके विषयमें कथि अममें नहीं पड़ता है । और जो कथित
कथाके आधारपर नाटकादिका निर्माण करता है उससे अप्रसिद्ध और अनुचित मायक
स्वभावादिघणनमें बड़ी मूल हो सकती है ।

[प्रदन्] उत्साह आदि [स्वार्थी] भावोंके वर्धनमें यदि दिव्य मानुष्य आदि

१ दिव्यमानुष्याय मि ही ।

२ 'अपदानं कर्मवृत्तम्' अमरकोष ।

३ प्रकृतवस्तुत्वम् मि ही ।

४ विमुक्त्ये मि ही ।

क्रियताम् । रस्यादौ तु किन्त्वया प्रयोजनम् । रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण विख्यानामपि वणनीयेति स्थितिः ।

नैवम् । तत्रौचित्यातिक्रमेण सुतरां वापः । तथा ह्यधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृतेः शृङ्गारोपनिषधने का भवेन्नोपहास्यता ।

त्रिविधं प्रकृत्यौचित्यं भारते वर्ण्यते शृङ्गारविषयम् ।

यत्तु विषयमौचित्यं तत् तत्रानुपकारकमवेति चेत् ?

न त्वयं विषयमौचित्यं शृङ्गारविषयमन्यत्किञ्चिद् भूमः ।

किं तर्हि ?

भारतवर्षविषये यद्योत्तमनायकेषु राजादिषु शृङ्गारोपनिषधस्य विख्यातयोऽपि शोभते । न च राजादिषु प्रसिद्धमाम्यशृङ्गारोपनिषधनं प्रसिद्धं नाटकादौ, तथैव देवेषु तत् परिदृष्टव्यम् ।

[प्रकृति]के औचित्यकी परीक्षा करते हैं तो करें परन्तु रस्यादि [स्वायिमायके वर्णन]में उस [परीक्षा]में क्या साम ? रति तो भारतवर्षोचित व्यवहारसे ही [विषयों] व्युत्पत्तियों की मी वणन करनी चाहिये यह [भारतके नाट्यशास्त्र २० १०१ का] सिद्धान्त है ।

[उत्तर] यह बात नहीं है । यहाँ [रतिविषयमें] मी औचित्यका उल्लङ्घन करनेमें वाप ही है । क्योंकि उत्तमप्रकृति [के नायक-नायिका]के अधमप्रकृतिके उचित शृङ्गारादि के वर्णनमें कौन-सी उपहास्यता नहीं होगी ?

[प्रश्नकृता—]भारतवर्षमें मी तीन प्रकारका शृङ्गारविषयक प्रकृतिका औचित्य पाया जाता है । [उत्तम मिश्र] जा [काह और] विषय औचित्य है वह उस [रसाभिप्यक्ति] में अनुपकारक ही है [क्योंकि उस विषय रति भादि विषयक संस्कार न होनेसे प्रेक्षकको उमसे रसानुभूति नहीं हागी] ।

[उत्तर] हम शृङ्गारविषयक विषय औचित्य [भारतवर्षोचित औचित्य में] अलग कुछ और नहीं पतलाते हैं ।

[प्रश्नकृता—] तो फिर [आप क्या कहते हैं] ?

[उत्तर] भारतवर्ष[के] विषयमें उत्तम नायक रासा भादिमें जिन प्रकारके शृङ्गारका वर्णन होता है वह विषय [नायक भादि] भाधित मी शामिल हाता है । [और जैन] राजा भादि [उत्तम नायकादि]में प्रसिद्ध आम्य शृङ्गारका वर्णन नाटकादिमें प्रयुक्त नहीं है उसी प्रकार देवोंमें मी उसको वधाना चाहिये [यह हमार कहनका अभिप्राय है] ।

१. विविधं मि ।

२. वाचस्पत्यु मि ।

३. तद्वत् मि ।

नाटकादेरभिनेयार्थत्वाद्भिनयस्य' व 'सम्मोगट्टङ्कारविषयत्वात् सभ्यत्वात् वत्र परिहार इति चेत् ?

न । यथाभिनयस्यैवंविषयत्वात् सभ्यता' तत् कथमस्यैव विषयस्य सा क्लेन निवार्यते । तस्माद्भिनेयार्थेऽभिनेयार्थे' वा क्लेशे यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह प्राम्यसम्मोगवर्णनं तत् पित्रोः सम्मोगवर्णनमिव सुवचनसभ्यम् । तथैवोत्तमदेवता विषयम् ।

न च सम्मोगट्टङ्कारस्य सुरसञ्चयण एषैकः प्रकाशः, यावन्न्येऽपि प्रवेशाः परस्पर प्रेमवृत्तानादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यन्ते । तस्मादुत्साहवद् रतावपि प्रकृत्यप्योचित्वमनुसवत्त्वम् । तथैव विस्मयादिषु । यस्त्वेवविषये विषये महाकवीना मन्थसमीक्ष्यकारिता छन्दसे दृश्यते स दोष एव । स तु शक्तिविरहकृतत्वात्, तेषां न छन्द्यते, इत्युक्तमेव ।

[प्रत्युक्तता—] नाटकादि अभिनयार्थं वाते हैं । सम्मोगट्टङ्कारविषयक अभिनयके असम्प [ता-पूर्ण] होमस नाटकादिमें उसका परिहार किया जाता है [परन्तु काव्यमें तो अभिनय न होनेसे उसको परिहारकी आवश्यकता नहीं है ।] यदि ऐसा कहें तो [उत्तर] उचित नहीं है । यदि इस प्रकारका [सम्मोगट्टङ्कारविषयक] काव्यमें उस [असम्पतापूर्ण] ही तो इस प्रकारके [सम्मोगट्टङ्कारविषयक] काव्यमें उस [असम्पतापूर्ण] को काँन निवारण कर सकता है ? [यहाँ भी यह दोष होगा ही] इसलिए अभिनेयार्थ [समी प्रकारके] काव्यमें उत्तम प्रकृति राजा भाविका उत्तम प्रकृतिकी मायिकाके साथ जो प्राम्यसम्मोगका वर्णन [करना] है वह माता-पिताके सम्मोगवर्णनके समान अत्यन्त [अनुचित और] असम्पतापूर्ण है । उसी प्रकार उत्तम देवताविषयक [सम्मोगट्टङ्कारवर्णन अनुचित और असम्प] है ।

सम्मोगट्टङ्कारका केषळ सुरतवर्णनरूप एक ही प्रकार तो नहीं है । अपितु उसके परस्पर प्रेम वर्णन आदि और भी भेद हो सकते हैं । उत्तम प्रकृतिके [नायकादि] के विषयमें उनका वर्णन क्यों नहीं करते । [अर्थात् उर्ध्वका वर्णन करना चाहिये] इसलिए उरसाहके समान रतिमें भी प्रहृत्योचित्यका अनुसरण करना ही चाहिये । इसी प्रकार विस्मयादिमें भी । इस प्रकारके विषयमें जो [कालिकासादि] महाकवियोंकी असमीक्ष्यकारिता [दुस्मारसम्मयादि] छन्द्यप्रणयोंमें वर्णनी जाती है वह दोषरूप ही है । केषळ उनकी प्रतिभासे अभिमूर्त हो [एव] जानेसे प्रतीत नहीं हाती यह कह ही चुके हैं ।

१. अभिनेयत्वात् नि अभिनेयत्वं नि ही ।
२. सम्मोगट्टङ्कारविषयत्वात् नि ही ।
३. असम्पता नि ही ।
४. अभिनेयार्थे च नि ही ।
५. असम्पत् नि ही ।

अनुमाद्यौचित्यं तु भरताद्यौ प्रसिद्धमेव । इयत्कृष्यते । भरताद्विचिरञ्चितां स्थितिं^१
 चानुवर्तमानेन महाकविप्रवृत्त्यांश्च पर्यालोचयता स्वप्रतिभां चानुसरता कविनाऽप्यहित
 वेत्ससा भूत्वा विमावाद्यौचित्यभ्रष्टपरिस्थाने परः प्रयत्नो विधेयः ।

औचित्यवतः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहो व्यञ्जक इत्यतनेतत् प्रति
 पाद्यति यद्विदिहासादियु कथासु रसवरीपु^२ विविधासु सतीष्वपि यद्यत्र विमावाद्यौचित्य
 वत् कथाशरीरं तदेव प्राह्यं नेतरत् । वृत्तादपि च कथाशरीरदुत्प्रेक्षिते विद्येयतः प्रयत्न
 वता भवितव्यम् । तत्र ह्यनवधानात् स्वच्छतः कवेरभ्युत्पत्तिसम्भावना महती भवति ।

परिकरश्लोकश्चात्र—

कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु काय तथा तथा ।

यथा रसमय^३ सर्वमेव तत्प्रतिभासते ॥

तत्र चाम्युपायः सम्मग्नं विमावाद्यौचित्यानुसरणम् । तच्च दर्शितमेव ।

किञ्च—

अनुमाद्यौक्य औचित्य तो भरतादि [के नाम्पदाख्यादि]में प्रसिद्ध ही है । केवल
 इतना तो [विशेष रूपसे] कहना है कि भरतादि मुनियों द्वारा निघण्टि मयादाका
 पाठन करते हुए, महाकवियोंके प्रवृत्तों [काव्यों]का पर्यालोचन करने हुए भाग अपनी
 प्रतिभाका अनुसरण करते हुए, कविता साधन हाकर विमावादि आचिरत्यम पठित
 होमस बचनेके लिए पूण प्रयत्न करना चाहिये ।

पठिहासिक अथवा कल्पित औचिरत्ययुक्त कथाशरीरका ग्रहण करना [रसका]
 अभिव्यञ्जक होता है इसमें [कारिकाकार] यह प्रतिपादन करते हैं कि इतिहासामादिमें
 [नाघारणजनोंके अभिप्रायसे] रमयती माना प्रकारकी कथाओंके हामेपर भी उनमें जा
 विमावादिके आचिरत्यम युक्त कथावस्तु है उम्मीका ग्रहण करना चाहिय अर्थोंका नहीं ।
 और पठिहासिक कथावस्तुस भी अधिक कल्पित कथावस्तुमें [नाघघान रत्नका]
 प्रयत्न करना चाहिये । यहाँ [कल्पित कथावस्तुमें] अनायधानीम भूल कर जानपर
 कथिकी अभ्युत्पत्ति [प्रदर्शन]की बहुत सम्भावना रहती है ।

इस विषयमें परिकरश्लोक [यह] है—

कल्पित कथावस्तुको इस प्रकार निर्माण करना चाहिये कि जिससे यह मयका
 सब रसमय ही प्रतीत हो ।

उमङ्ग उपाय विमावादिके औचिरत्यका मही प्रकार अनुसरण करना [ही] है ।
 आर उस दिपला ही चुके हैं ।

और भी [कहा है]—

१ भरताद्विचिरि ति ही ।

२ रसवरीपु कथासु वि ही ।

३ सप्तमेयत्तं नि , ही ।

सन्ति सिद्धरसप्रक्या ये च रामायणादयः ।

कथामया न तेषांभ्या स्पष्टा रसविरोधिनी ॥

तेषु हि कथामयेषु सावत् स्वेच्छैव न जायते । यदुक्तम् “कथामार्गे न चास्पोऽ-
प्वतिक्रमः”^१ । स्पष्टतापि यदि योग्या तद्वसविरोधिनी न जायते ।

(२) इदमपरं प्रकल्प्य रसाभिष्यञ्जकत्वं निरूपयन्तम् । इतिवृत्तवसायातां कथाम्बि
प्रसानमुगुणां स्थितिं रयक्त्वा पुनरुत्प्रेक्षाप्यन्तरामीश्वरसाधितकथोन्नवो विधेयः । यथा
काकिकासप्रकल्पेषु । यथा च सबसन्नविरचिते इतिविषयम् । यथा च मरीच एवामुन्नवरिते
महाकाव्यम् । कथिना कथामुपनिबन्धना सर्वोत्तमा रसपरतन्त्रम् अभितथ्यम् । तत्रेतिवृत्तं
यदि रसानुगुणां स्थितिं परयेत् तदेषां मङ्गल्यपि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तर
मुत्पादयेत् । न हि कथेरितिवृत्तमात्रनिर्बहणेन किञ्चित् प्रयोजनम्, इतिहासादेव
वन्निन्देः ।

सिद्ध रसोक्तं समाज [साद्यः आस्यादमात्र यावत् न कि भावनीय या परिकल्पनीय]
कथामार्गे आधय जा रामायणादि [इतिहास] ईं उनके साद्य रसविराधिनी स्पष्टताका
प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

पहिली बात ता यह कि उन कथामार्गे स्वच्छ छगानी ही नहीं चाहिये । उसी
कि कहा है—“कथामे घोड़ा भी डेर-फेर न कर” और यदि [प्रयोजनपर] स्पष्टताका
प्रयोग कर भी ता रसविरोधिनी स्वच्छताका प्रयोग न करे ।

(२) प्रकल्प [काव्य]के रसाभिष्यञ्जकत्वका यह भी [दूसरा] और कारण है कि
पेतिहासिक परम्परासे प्राप्त [इनेपर भी] किसी प्रकार [से भी] रसविरोधिनी स्थिति
[कथा]के छोड़कर और बीचमें कल्पना करके भी अभीष्ट रसाधित कथाका निर्माण
करना चाहिये । उस काकिकासकी रचनामार्गे [रघुवंशमें अज्ञादि राजामार्गा विवाह
घर्षण और ‘धमिजानशाकुन्तलम्’ नाटकमें शाकुन्तलाका प्रत्यागमना आदि इतिहासमें
उस रूपमें वर्णित नहीं है किन्तु कथाके रसानुगुण और राजा दुष्यन्तको उदात्तचरित
बनानके लिए उनकी कल्पना की गयी है] । और जैसे सयमेनविरचित ‘इतिविषय’
[महाकाव्य]में [कथनाके अनुभवके लिए पाणिजातहरणका घर्षण] । और जैसे मरे ही
पनाये ‘अमुन्नवरित महाकाव्यमें [अमुन्नवर पाताळविषयादि उस रूपसे इतिहासमें
वर्णित न होकर भी कथाको रसानुगुण बनानेके लिए कथित किया गया है] । काव्य
का निर्माण करते समय कथिका पूर्णरूपसे रसपरतन्त्र बन जाना चाहिये इसलिए यदि
इतिहासमें रसके विपरीत स्थिति बने ता उसको छोड़कर सतन्त्र रूपसे रसके अनुरूप
दूसरी [प्रकारसे] कथा बना स । इतिवृत्तका निषाह कर यन्मात्रसे कथिका कोर साम
नहीं है क्योंकि यह प्रयोजन ता इतिहासस मी सिद्ध हा सञ्चता है ।

१ न चातिक्रमः वि ही ।

२ प्रकल्पं वि ।

३ ताम् वि ही ।

(३) रसाभिव्यञ्जकत्वे प्रवन्धस्य चेदमन्य-मुच्यं निबन्धनं, यत् सन्धीनां मुसामपि मुखगर्भावमर्शननिबद्धान्स्यानां, तद्वृत्तानां चोपक्षेपादीनां घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया । यथा रजावस्थाम् । न तु केवलं शास्त्ररिवतिसम्पादनेच्छया यथा बेणीसंहारे विलासाभ्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रह्वारसनिबन्धनाननुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमतानुसरणमात्रेच्छया घटनम् ।

(४) इत्थं चापरं प्रवन्धस्य रसव्यञ्जकत्वे निमित्तं यदुद्दीपनप्रसंगे यथावसर मन्तरं रसस्य, यथा रजावस्थामेव । पुनरारम्भविधान्ये रसस्याङ्गिनोऽनुसन्धिघटनं, यथा तापसवत्सरञ्जे ।

(५) प्रवन्धविशेषस्य नाटकत्वे रसव्यक्तनिमित्तमित्थं चापरमवगन्तव्यं यदङ्ग-कृतीनां शक्यप्यानुस्यूयेण योजनम् । शक्यो हि कविः कथायाम् अलङ्कारनिबन्धने तथा

इसी नियमके अनुसार काश्चिदासने 'शकुन्तला' नाटकमें दुर्वासदेके शाप मत्स्यावतारमें अंगुलीका गिरना, शापप्रसूतविलम्बितमूक शकुन्तलाप्रत्याख्यान आदिकी कल्पना कर इतिहास [महाम्बर] के प्रसरणके शुभन्तको उदात्त नायक बना दिया है । और इसीके अनुसार महाकवि मन्मथुनिने 'उत्तररामचरित'के तृतीये अङ्कमें 'अनासीता'की कल्पना कर फणरौंके बहाने और ब्रह्मको गहानेमें समर्थ कल्प रसकी सृष्टि की है—अपि माया रोदित्वपि दमस्ति वस्त्र हृदयम् ।

(३) प्रवन्ध [काव्य]के रसाभिव्यञ्जकत्वका यह और [वीररा] मुख्य कारण है कि [नाट्यशास्त्रोक्तः] मुख, प्रतिमुख, गर्भ विमर्श और निर्वहण नामक [पञ्च] सन्धिघटनों और उनके उपक्षेपादि [१४] अङ्गोंका रसाभिव्यक्तिकी दृष्टिमें जोड़ना । जैसे 'रजावली' [नाटिका]में । न कि केवल शास्त्रमर्यादाका पालन करनेमात्रकी इच्छामें जैसे 'बेणीसंहार' [नाटक]में 'प्रतिमुख सन्धि'के 'विलास' नामक अङ्कके प्रह्वारस [वीररत्न]के विद्यते होनेपर भी भरतमतके अनुसरणमात्रकी इच्छामें द्वितीय अङ्कमें [सुयोधन और मानुमतीके शृङ्गारचर्चनके रूपमें] जोड़ना है ।

(४) (अ)—प्रवन्ध [काव्य]के रसाभिव्यञ्जकत्वका यह और [वीररा] कारण है कि वीर-वीरमें यथावसर रसका उद्दीपन और प्रसंग करना । जैसे 'रजावली'में ही । और (ब)—प्रधान रसके विधान्त [विनिष्पन्न-त्वा] होनेपर उसका फिर संमाल लेना । जैसे 'तापसवत्सरञ्ज'में ।

(५) प्रवन्धविशेष नाटकत्वकी रसाभिव्यक्तिका यह और [पौषर्वी] निमित्त समझना चाहिये कि [अलङ्कारोंके पर्येष्ट प्रयोगकी पूर्ण] शक्ति रहनेपर भी [रसके] अनुरूप ही अलङ्कारोंकी योजना करना । [अलङ्काररचयनामें] मनस्य कवि कभी-कभी अलङ्काररचनानमें ही मग्न होकर रसवन्धकी पर्याह न करके ही प्रवन्धरचना करने

१ किञ्च सा सं —'ये यथावसरं रसस्य'के शीर्षमें पाठ पूरा हुआ है । शिथिलिकरने 'नित्य ज्येष्ठां किञ्चन इत्यस्य पूर्ति की है । वा वि में 'अन्तरा पाठ रखा है ।

२ चावयन्वप्यम् नि ही ।

प्रत्येवानपक्षितरसबन्धः प्रबन्धमारभते तदुपरेशार्थमिहमुक्तम् । एवमन्ते च कवयोऽ-
प्रातिबन्धनेकरसा बन्धनेक्षितरसाः प्रबन्धेषु ॥१४॥

किन्त्व—

अनुस्थानोपमात्मापि प्रमेदो य उदाहृत ।

व्यनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केपुचित् ॥१५॥

अस्य विवक्षितान्तराध्यत्म व्यनेरस्यनरूपव्यङ्ग्योऽपि यः प्रमेद उदाहृतो
प्रकारः सोऽपि प्रबन्धेषु केपुचित् चोतते । तद्यथा मधुमधनविजये पाञ्चजन्याकियु ।

ग्यता है । उसके उपदेशके लिए यह [पञ्चम हेतु] कहा है । काव्योंमें रसकी बिन्ता न
रु बलशुक्तिरूपधर्मों ही आनन्द छिनेवाले कवि भी पाये जाते हैं । १४।

उल्लङ्घ्यक्रमव्यङ्ग्ययुक्त प्रबन्ध भी रसादिव्यङ्ग्यक

१५ वीं कारिकाके पूर्व पार्श्व १४ वीं कारिकातक अंतःकरणक्रमव्यङ्ग्यध्वनिका
स्वरूप चल रहा है और आगे १६ वीं कारिकामें भी अंतःकरणक्रमव्यङ्ग्यका ही बंधन है परन्तु
वीचकी १५ वीं कारिकामें अनुस्थानापम अथात् संस्कारक्रमव्यङ्ग्यका वर्धन प्रतीत होता है । यदि
एक कारिकाकी सीधी व्याख्या करें तो से बीचम इस संस्कारक्रमव्यङ्ग्यकी पक्षां अप्राकृतिक और
दातव्य प्रतीत होगी । अतएव इस कारिका और उसकी वृत्तिमें 'व्यङ्ग्यपत्त्या और 'व्यङ्ग्यकृत्त्या'
पक्षोंका अप्वाहार करके कारिकाके पक्षोंका बन्धन 'अनुस्थानोपमात्मा यो व्यनेः प्रमेद उदाहृतः
केपुचित् प्रबन्धेषु [व्यङ्ग्येषु कृतु] व्यङ्ग्यपत्त्या कित्ते भवति सोऽपि, अस्व अंतःकरणक्रमस्य रसादिष्वने
व्यङ्ग्यकृत्त्या भासते' अर्थात् संस्कारक्रमव्यङ्ग्यका यो मेद, प्रबन्धों साक्षात् व्यङ्ग्य प्रतीत होता
है वह भी उस अंतःकरणक्रमव्यङ्ग्यका व्यङ्ग्यक होता है—इस प्रकार करना चाहिये । अथवा प्रबन्धते
साक्षात् तो संस्कारक्रमव्यङ्ग्यध्वनि अभिव्यक्त होता है परन्तु पीछे उल्लङ्घ्य प्रकृत रसादिरूप अंतःकरण
क्रमव्यङ्ग्यध्वनिक रूपमें पर्यवसान हो जाता है ।

अथवा 'अनुस्थानोपमात्मा व्यनेरुदाहृतो च प्रमेदः केपुचित् प्रबन्धेषु भासते' इस प्रकारका
अन्वय करके अन्तमें कारिकाके 'अस्य' पदका सामर्थ्य आगयी १६ वीं कारिकाके 'व्यतोऽन्तराध्य-
त्मविक्रमे' शब्द करके 'अस्य अंतःकरणक्रमव्यङ्ग्यस्यापि व्यतोऽन्तराध्य-
त्मविक्रमे भवति' कहीं-कहीं
इस संस्कारक्रमका भी योत्सव अंतःकरणक्रमव्यङ्ग्य होता है इस प्रकार उद्धृति कल्पनी चाहिये । तद-
नुसार इन कारिकाकी व्याख्या निम्नलिखित दो प्रकारकी होगी—

१. संसृष्ट्यक्रमव्यङ्ग्यरूप ध्वनिका जो प्रमेद किन्हीं काव्योंमें [साक्षात्]
व्यङ्ग्यरूपसे स्थित [यजित] होता है वह भी [पर्यवसानमें] इस अंतःकरणक्रमव्यङ्ग्य-
ध्वनिके व्यङ्ग्यरूपमें भासता है ।

२. अथवा, अनुस्थानापम संसृष्ट्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिका जो उदाहृत मेद किन्हीं
काव्योंमें प्रतीत होता है, उस संसृष्ट्यक्रमव्यङ्ग्यध्वन भी चोत्सव अंतःकरणक्रमव्यङ्ग्य-
ध्वनिके व्यङ्ग्यरूपमें भासता है ।

इस विवक्षितस्यपरत्याख्य [अभिधामूल] ध्वनिक [शब्दसाफस्युत्सव और अर्थ
शफरमुपमदत्त] का प्रकारका जो संसृष्ट्यक्रमव्यङ्ग्यमेद यजित किया है वह भी

यथा वा ममैव कामदेवस्य सहचरसमागमे विपमबाजलीलायाम् । यथा च गृध्रगोमा
युसबादाशौ महाभारते ।

किन्हीं काव्योंमें व्यङ्ग्य होता है [और असलक्ष्यकमप्यङ्ग्य रमादि ध्वनिका व्यङ्ग्य
भी होता है] जैसे 'मधुमघनविजय' [नामक महाकाव्य]में पाञ्चजम्बकी उत्थिषोमें ।
अथवा जैसे मेरे ही 'विपमबाजलीला' [नामक महाकाव्य]में कामरूपके सहचर [यौवन]
के समागम [के प्रसङ्ग]में । और जैसे 'महाभारत'में 'गिद्ध और शृगालके संघाट
आदिमें ।

१ 'मधुमघनविजय'की पाञ्चजम्बोक्तिमें—

लीलावादाद्युप्युत्सुसम्भ्रमदिमण्डलसत्त्वमन्न ।

कीलमुवाक्यहर तुयम्भार अहम्मि ॥

[लीलावद्भ्राप्रोत्सुककम्महीगण्डस्त्यैवाच ।

करमान्युवाक्यभरणमपि तव गुरु मन्व्यह्ने ॥—इतिष्मप्या]

वासुदेवक प्रति यह 'पाञ्चजम्ब'की उक्ति है । इसका अमिमाय यह है कि बराहाकृतारके
समय जिन वासुदेवने अपनी दाढ़के अप्रमागपर सारी शृङ्खलीका म्भर उठा किया था आज [इतिमणी
के विद्योगमें] गृध्राकके आभरण धारण कर सकना भी उनके किये क्यों भारी हो गया है ? यहाँ
इतिमणीके विरहमें इतिमणीके प्रति वासुदेवका अमिमायरूप अमिप्राय सम्प्रयक्रमरूपसे व्यङ्ग्य होकर
विप्रकम्मशृङ्गाररूप अतंकरूपकमप्यङ्ग्यको अमिम्यक्त करता है ।

२ विपमबाजलीला में कामदेवके सहचर यौवनके समागमप्रसङ्गमें—

तुमि अवहस्थिअरे होमिरकृतो अह विवेभरहिओवि ।

विमिजेति तुममि पुनो मन्ति न पमुमरमि ॥

[मवाप्यपहसितलेभो निरकृतोप विवेकरहितोऽपि ।

स्वप्नोऽपि तव पुनर्भक्ति न प्रम्मरमि ॥—इतिष्मप्या]

यह कामदेवके प्रति यौवनकी उक्ति है । इसका आशय यह है कि मैं मवादाका अतिक्रमण
करनेवाला ["अवहस्थिता रेवा मर्षादा यन ग", रेवा अवात् मवात्का विगाङ्गनाला] मने ही हूँ ।
आज यदि मने ही कहें कि यह यौवन निरस्तुष्ट है या विवेकरहित है परन्तु मैं [यौवन] स्वप्नमें
भी तुम्हारी [कामदेवकी] भक्तिका नहीं मूठता हूँ । "य यौवनकी उक्तिमें यौवनका कामोपासक
स्वभाव व्यक्त होता है और उसका पबनगान प्रकृत शृङ्गाररूप अतंकरूपकमप्यङ्ग्यप्यनिकी
अमिम्यक्तिमें होता है ।

३ महाभारतक 'गृध्रगोमायुसबाद'में कुछ श्लोक मर हुए बाककका संकर समानमें आत
हैं । समानान्तरी गिद्ध और शृगाल दोनों उस समय यहाँ उपस्थित हैं । श्लोकक सम्प्राका समय है ।
गिद्ध बाहवा है कि ये श्लोक इस मरे बाककको छोड़कर अभी बले बापें तो मुझे जानेको मिले ।
शृगाल बाहवा है कि ये श्लोक अत देर और रुकें जिससे घृणाल हो बाप ता फिर रातमें गिद्ध ता
पला बापगा आर हम निर्बिन्ध रूपसे उसका मक्षण करेंगे । एक प्रकार दोनोंकी इच्छा एक-दूसरेम
मिष है । बर दोनों मरे बाककको अपने-आपके आपने-आपने म्भापते समसाते हैं । यही उवाच
'गृध्रगोमायुसबाद' नामक प्रसिद्ध है । उसके श्लोक निम्नलिखित प्रकार हैं—

सुप्-तिङ्-वचन-सम्बन्धैस्तथा कारकवाक्यिभिः ।

कृत-तद्धित-समासैश्च योत्पोऽलक्ष्यक्रमं क्वचित् ॥१९॥

एत उवाच—

कलं भित्वा वमशानेऽग्निम् पृथगोमातुल्यकुम्भे ।

कृद्वाक्यवहसे भोरे सक्प्रथिमपङ्के ॥

न चेह कीकृता क्वचित् कात्तवर्ममुपागतः ।

मिषो वा नदि वा हेयः प्राणिनां गतिरीहयी ॥

गिह बोध—'गिह और शृगालोंसे म्यात, कृद्वाक्योंसे भरे हुए, सब प्राणियोंको मजभीत करनेवासे इत मजबूर हममानमे बैठनसे क्या काम ? जो मर गया वह जी तो सकता नहीं । फिर पाइ वह अपना मिय हां अथवा शत्रु हो । जो मर गया तो लं मर ही गया । सब प्राणियोंकी यही हालत होती है । इसलिए अब माप भोग अपने पर आजो ।' वही गिहका अभिप्राय संलक्ष्यक्रम-सङ्ग्राह है और उसके प्रकृत घान्तरस्वरूप अलक्ष्यक्रमसङ्ग्राहयन्त्रि अतिव्यक्त होता है ।

तत्र शृगाल बोध—

मात्तिलोऽयं स्थितो मृदाः स्नेहं कुदत्त चाग्रयम् ।

बहुविधो मृदुतोऽयं भीवेऽपि कदाचन ॥

अयं कनकवपाम बाह्यप्रतप्तौवनम् ।

पृथवास्मात् कर्पं मृदास्त्वन्ममविद्ययिताः ॥

भरे अभी सूर्य निकलत हुआ है इत बच्चेको प्यार करो । वह सुदुर्लभ वडा विजयम् है लग्न है वह बालक भी हो उठे । भरे मूर्खों सोने जैसे रहके और अप्राप्तसौधन इत सुन्दर बाह्यकके इत गिहके कहनेनु किना किसी सङ्गके छोड़ कर कैसे पसे जाना चाहते हो ।'

एषिमें अपना काम साध सकनेवाके शृगालकी यह उक्ति उसके अभिप्रायको स्पष्ट करती है । और उसका मी पर्यवसान प्रकृत घान्तरस्वरूप अलक्ष्यक्रमसङ्ग्राहकी अतिव्यक्तिमें होता है ।

इत प्रकार मधुमन्थनविषय' विषयशास्त्रीय' और 'महाभारतके इन तीनों उदाहरणोंमें प्रत्यक्षे तात्पर्य तो संलक्ष्यक्रम बहुवचनि स्पष्ट होता है परन्तु उसके पर्यवसान प्रकृत स्वरूप अलक्ष्यक्रमसङ्ग्राहकी अतिव्यक्तनास्पर्यमें होता है । अतः संलक्ष्यक्रमसङ्ग्राहयन्त्रि मी अलक्ष्यक्रम सङ्ग्राहयन्त्रिका अतिव्यक्त हाता है यह अभिप्राय हुआ ॥१५॥

सुप्-तिङ्गादि पदांशोंकी व्यञ्जकता

द्वितीय कारिकामें क्व, पदादि वाक्य लङ्घटना और प्रवचन षोडशके अलक्ष्यक्रम सङ्ग्राहका स्पष्टक कहा बा । इन पदोंकी व्याख्या हो गयी । इनमेंसे पचासि पदांशरत्न व्यनिका केवल एक उदाहरण पुढ १६३ कर दिया बा । उसकी विशेष व्याख्या मुक्तादिकी सङ्ग्राहका दिक्का कर नहीं करते हैं—

सुप् [अपात् प्रथमा भावि विमक्तिर्यौ], तिङ् [अर्थात् क्रिया विमक्तिर्यौ], लवण [एव हि बहुवचन], सम्बन्ध [पृष्ठी विमक्ति], कारकशक्ति, कृत् [धातुसं विहित तिङ् मित्र प्रथय], तद्धित [मातिपदिक्से विहित सुप् मित्र प्रथय] और नमासत्त मी कर्त्त-ही अलक्ष्यक्रमसङ्ग्राहयन्त्रि अतिव्यक्त हाता है ॥१६॥

अलक्ष्यक्रमो ध्वनेरारमा रसादिः' मुद्रिच्छोपैः, तिङ्विच्छोपैः, वचनविच्छोपैः, सम्बन्ध
विच्छोपैः कारकशक्तिभिः, हृद्विच्छोपैः, वद्विच्छोपैः, समासैश्चेति । च शब्दाभिप्रातोप-
सर्गकात्मविभिः प्रयुक्तैरभिप्यम्यमानो हृदयते । यथा—

म्यङ्कारो ह्यमेव मे अवरयस्तत्राप्यसौ तापसः,
सोऽप्यत्रैव, निहन्ति राक्षसकुलं, जीवत्यहो रावणः ।
धिग् धिक् श्रुक्तिर्त्त प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णन वा,
स्वर्गप्राप्तिकाविलुण्ठनयुधोच्छूनैः किमेभिर्मुञ्जेः ॥

छोचनकारने पूर्वकारिकामें दिल्लीवासी इस कारिकाके साथ सहस्रिका ध्यानमें रखते हुए
यहाँ भी "सुबादिभिः योऽनुस्वानोपमे मासते वनत्रमिप्रायादिरूपोऽस्यासि सुबादिभिर्म्यङ्कसानुस्वानोप
मस्य अलक्ष्यक्रमम्यङ्गयो घोस्य क्वचिदिति पूर्वकारिकया सह सम्मील्य सङ्गतिरिति" यह पंक्ति मिली
है । अर्थात् सुबादिसे अभिप्यक्त जो संरक्षकम्यङ्गय वचनका अभिप्रायादिक रूप ध्वनि है उससे भी
अलक्ष्यक्रमम्यङ्गय रसादिध्वनि अभिप्यक्त होता है इस प्रकार पूर्वकारिकाके साथ मिलाकर इसकी
सङ्गति प्रगावी है । पर यह कुछ स्पष्ट-मान-सी जान पड़ती है । वृत्तिप्रत्यये अनुकूल भी नहीं
है । सुबादिसे भी अलक्ष्यक्रमम्यङ्गय घातित होता है यह अर्थ अधिक सीधा और अच्छा है ।

ध्वनिका आत्मभूत [प्रधानभूत] अलक्ष्यक्रमम्यङ्गय रसादि सुब्] विशेष तिङ्-
विशेष घञनविशेष, सम्बन्धविशेष कारकशक्तियों, हृद्विशेष तद्विधविशेष और
समासविशेषसे [व्यक्त होता है] । च शब्दसे [सङ्गृहीत] निपात उपसर्ग काळादिके
प्रयोगसे अभिप्यक्त होता हुआ जाता है । जैसे—

मेरे शत्रु हों यही [बड़ा भारी] अपमान है । उनमें भी यह [विषय मिश्रक]
तापस ! यह भी यहाँ [लज्जामें मेरी नाकके नीचे] ही राक्षसकुलका नाम कर रहा है
और [यह बेशक मेरी] गणक जी रहा है ! यह बड़ा आश्चर्य है ! इन्द्रका विजय
करनेवाले मेघनादको धिक्कार है ! कुम्भकर्णको जगामेने भी क्या काम हुआ ? और
[वृसरोक्षी पात छोड़ो] स्वर्गकी उस छोटी-सी गैडटियाको लूटकर अभिमानसे व्यर्थ
ही फूजी हुए मेरी इन मुजामोंने ही क्या काम है ?

जपने बीपोंकी मरना करने और शत्रुकी तुच्छता भादि वृत्त करते हुए, जपन मिनकोंको
उत्तेजित करनेके लिए यह राक्षसकी गर्भपूज श्रेयोक्ति है जो प्रतिपद म्यङ्गयसे परिपूज है । पहिले तो
शत्रुओंका होना ही मेरे लिए अपमानजनक है । जिसने इन्द्र जैसे देवोंको भी कैद कर लिया हो
यमराज भी जिसने कौण्ट हो उसके शत्रु हों और मरते रहें । कितना आश्चर्य और अनौचित्य है !
यह भाव 'मि' पदसंयुक्त होता है । 'अरम्भ' शब्दत बल्य राक्षसके पूजक इन्द्रविष्वादि शोकात्तर
परित तथा सम्बन्धोपक पद्य निमन्दिने शत्रुओंके साथ अपने सम्बन्धका अनौचित्य चोदित होता
है । और उससे राक्षसके हृदयका शोभ अभिप्यक्त होता है । 'अरम्भ' का बहुवचन उगी सम्बन्धानी
नित्यके अतिशयको बोधन करता है । 'तत्रार्थि' इन निपातमुद्रापने असम्भन्नीपता और तापस'
शब्दके म्लक्ष्ण्य ध्वन् प्रत्ययने पुण्यापादिका अभाव सूचित होता है । पुण्यापरिनि, जीवने, तापस

अथ हि इलोके भूयसा सर्वेषामप्येषां स्फुटमेव व्यञ्जकत्वं दृश्यते । तत्र 'मे पद्वरवाः' इत्यनेन सुप्सम्बन्धवचनानामभिव्यञ्जकत्वम् । 'तत्राप्यसौ तापसाः' इत्यत्र तद्विहित निपातयोः । 'सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः' इत्यत्र त्रिद्वारकसार्थिनाम् । 'धिग् धिक् शकञ्चितं' इत्यादी इलोकार्थे कृत्वत्तद्विहितसमासोपसर्गाभाम् ।

पर्वणिपत्य ष्वञ्जकभूयस्त्वे च घटमाने काम्यस्य सर्वादिशापिनी कन्धच्छाया समुन्मीलति । अथ हि ष्वङ्गभाषभासिनः पदस्वैकस्यैव तावदाविर्भावस्तत्रापि काम्ये कापि कन्धच्छाया किमुत पत्र तेषां बहूनां समवायः । यथात्रानन्तरादित्यन्त्रलोके । अथ हि 'रावण इत्यस्मिन् पदे, अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्येन अग्निप्रभेदेनालङ्कृतेऽपि पुनरनन्तराच्छानां ष्वञ्जकप्रकारणामुद्गासनम् ।

श्लोकवचन संसारका मन्वन्ती करुणायां रावणका शत्रु हो यह कीटी अतम्भन-त्री वात इस लम्ब प्रत्यय हो रही है । 'असौ'के विशेष हीन अर्थका सूचित होती है । यह मिसलगा जिसे पिताने परते निष्काक दिवा है किन्तु न पेठकी रोटी न तनको कपड़ा छुटा है, और जो बन-वन मार-मार छिटा है वह [असौ] मेरा शत्रु है । यह और भी अनुचित है । फिर वह कहीं दूर नहीं [सोऽप्यत्रैव] मेरे शिरपर लड़ा है । और है ही नहीं [निहन्ति राक्षसकुलं] राक्षसवंशका नाश कर रहा है । फिर भी वह रावण भी रहा है । 'रावण' 'रावणतीति रावण' संज्ञासुर समस्त जगत्को कम्पित करने वाला रावणके होते भी यह लज हो रहा है । 'घटं कितवान् इति छत्रिक' इस सूत्रात्मिक 'किन्त्' प्रत्यये सैपनाइके इत्यभिधानमें अनात्म्य सूचित होती है । 'ग्रामटिका' का 'क' रूप तद्विहित स्वर्गाकी अन्त्यस्थ तुच्छताका और 'एभिः', 'इवा', 'उच्छूने' आदि चर वीचर्णादिप्रकारों काभिव्यक्त करते हैं । प्रतिपद्यन्तुनामुक्त इम इलोके रावणके इत्यका गकतइकत्त श्लेषरूप स्वामिभाव अभिव्यक्त होता है परन्तु सामग्रीके अभावमें शीघ्ररूपमें परिकृत नहीं हो पाता है ।

इस इलाकमें प्रायः इन सब ही पदोंका व्यञ्जकत्व स्पष्ट प्रतीत होता है । उनमेंसे 'मे पद्वरवाः' इससे सुप्, सम्बन्ध आर वचनका अभिव्यञ्जकत्व [प्रदर्शित होता है] । 'तत्राप्यसौ तापसाः' यहाँ तद्विहित ['तापस' पदका भण् प्रत्यय] और निपात [तत्र अर्पि], का 'सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः' यहाँ [निहन्ति और जीवति पदोंके] तिक् और [राक्षसकुलं तथा रावणः पदोंमें कर्म तथा कर्तारूप] कारकशापियोंका 'धिग्-धिक् शकञ्चितं' इत्यादि इलोकार्थमें कृत् [दाकञित्का क्तिप् प्रत्यय], तद्विहित [ग्रामटिकाका 'क' प्रत्यय], समास [स्वर्गग्रामटिका], और उपसर्गों [विद्युच्छनका धि उपसर्ग] का [व्यञ्जकत्व है] ।

और इन प्रकारका व्यञ्जकताइस्य हो जानेपर काम्यका सर्वात्कृष्ट रचनातीम्भर्व अभिव्यक्त होता है । जहाँ व्यञ्जकत्वसं प्रकाशमान एक भी पदका आविर्भाव हो उसके उस काभ्यमें भी कुछ अनिवार्यनीय स्वीकार्य आ जाता है ता फिर जहाँ ऐसे बहुत-से पदोंका एकत्र संधिवेश हो जाय उसका ता कटना ही क्या । जैसे इसी ऊपर काट इलोकमें । हममें 'रावण' इस पदके अन्तःतरसङ्क्रमितवाच्य [राक्षसकुलं] व्यभिमेवसे अलङ्कृत हावपर श्री [उत्तमें] अन्तःतरक व्यञ्जकप्रकारोंका [भी] उद्गासन होता है ।

इदमप्येव महात्मनां प्रतिभाविशेषमाद्यो वाहुस्येनैर्बिधा कल्पप्रकाराः । यथा
महर्षेर्व्यासस्य—

अधिकान्तमुखाः कान्ताः प्रत्युपस्थितवारुणाः ।

इवः इवः पापीयविबसा पृथिवी गतयौवना ॥

अत्र हि कृष्णद्विपचनेरुद्धकर्ममध्यमः, 'पृथिवी गतयौवना' इत्यनेन चात्यन्त
तिरस्कृतवाच्यो ध्वनिः प्रकाशितः ।

एषां च सुबायानामकैकशः समुदितानां च व्यञ्जकत्वं महाकवीनां प्रबन्धेषु प्रायेण
इदमप्येव ।

सुबन्तस्य व्यञ्जकत्वं यथा—

तान्तेः शिक्षाद्वयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे,

यामभ्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद् वः ॥

विशेष प्रतिमाशास्त्री महात्माभ्यो [महाकवियों]की इस प्रकारकी रचनाशैलियों
पटुतायतसे पायी जाती हैं । जैसे महर्षि व्यासका—

[भव] समय सुकृषिद्वित और दुःखपरिपूरित हो गये हैं और गतयौवना
पृथिवीके उत्तरोत्तर घुरे दिन जा रहे हैं ।

इस [उदाहरण]में [‘अतिप्रबन्त’ और ‘प्रत्युपस्थित पदोंमें ‘उ’ प्रत्ययरूप] कृत्
[‘पापीय’में ‘उ’ प्रत्ययरूप] तद्वित, [और ‘कान्ता’का यदुपसर्गरूप] वचन [इन सब]में
[नियेवको सूचित करते हुए शान्तरसरूप] असंलक्ष्यकर्ममध्यम [रत्नध्वनि], और
‘पृथिवी गतयौवना इस [में ‘गतयौवना पद]में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य [अधिपक्षित
वाच्य] ध्वनि प्रकाशित होता है ।

इस सुबायिका अलग अलग और मिलकर [दोनों तरहसे] व्यञ्जकस्य महा
कवियोंकी रचनाओंमें पाया जाता है ।

सुबन्तका व्यञ्जकत्व [का उदाहरण] अने—

यजते हुप कर्णो [की मधुर ध्वनि]से मनोहर शालियोंमें मेरी प्रिया द्वारा
नखाया जानेवाला तुम्हारा मित्र नीलकण्ठ [मयूर] दिनके समाप्त होनेपर [राधिको]
अनपरा धैर्यता है ।

यह श्लोक उक्तपदमाग ही यहाँ उद्धृत किया गया है । 'मिपदू'के उत्तरमागका १६ वाँ
श्लोक है । उसका अर्थपर पृथक् इस प्रकार है—

तन्मप्येव च स्वदिकपदका काशनी वासपदि

मूले यदा मृगिमिरनतिप्रौढबंशपदागौ ।

उद्य [श्रीशारीर] के बीचमें स्वदिककी शौकीनाली और नोपे अर्द्धमें कल्पे बौमके समान
[हरिदण] मायम पट्टी हुए [मरकत] गणिकोंके बड़ी हुई सोनेकी छतरी है अन्तर बजते हुए

१ प्रायेणान्यथापि मि ।

विद्वन्तस्य यथा—

अपसर रोठे वि अणिमिआई मा पुंछ मे इ अण्ठीईर ।
ईसणमत्तुम्मचोहिं अहिं दिअर्थं दुइ य णाअम् ॥
[अपसर रोदित्तमेव निर्मिते 'मा पुंस्य हवे अक्षिणी मे ।
दशवमाश्रोन्मात्तम्यां याम्यां तव 'हृदयमेवत्सं न ज्ञातम् ॥

यथा वा—

सा पन्थं उचीओ अपेहि वाअअ अहोसि अहिरीओ ।
अन्हेअ पिरिच्छाओ सुण्णपरं रक्खिअरुअं णो ॥
[मा पन्थानं रुप अपेहि वात्तक अहो अति अट्टीक ।
अयं निरिच्छा ' शून्यगृहं रक्षितव्यं न ॥

—इतिच्छाया]

—इतिच्छाया]

कडुण्यो [की मधुर ध्वनि] से मनोहर ठाकिबोये मेरी मित्रा द्वारा नयावा जानेवाला दुन्द्याप मित्र मधुर दिनके समाप्त होनेपर [रात्रिको] बैठवा है । यहाँ 'ठाके' यह बहुबचन भिषतमाके बहुविध वैदग्ध्य सूचन द्वारा विप्रश्नमाका उदाहरण होता है । अतः यह सुबन्त'के स्वज्ञकत्वका उदाहरण है ।
विद्वन्तका [व्यञ्जकत्वका उदाहरण] जैसे—

[करनेका प्रयास] मत करा । जिम्होंने तुम्हारे दर्शनमात्रसे उन्मत्त होकर तुम्हारे ऐसे यहाँ 'अपसर और 'मा पुंस्य' से विद्वन्त पद सुबन्त अभिम्यञ्जक हैं । अन्य पदोंके उदाहरण से सुस्पष्ट विद्वन्त पदों द्वारा उन्मत्त कुछ समझ नहीं सकता इसलिए पेशोका ओर अपपण नहीं है । हमारे भाव्यम बरी तुम्हारी निपट्टता योगना किस्सा था उसे कौन बदल सकता है । इस अर्थके सूचन द्वारा ईर्ष्याविप्रश्नमा अभिम्यञ्जक होता है ।

अपवा [विद्वन्तके व्यञ्जकत्वका दूसरा उदाहरण] जैसे—
अरे [मासमस] सड़के रास्ता न रोको । आश्चर्य है तुम [अप मी नहीं मानते]
इतने मिलेअ हो । इस [तो] परतन्त्र हैं [पयोकि] हमको तो [अकेले बैठकर] सूते घरकी
रस्ययाली करमी पकती ही [मन हो तब उस शून्य घरमें आ जाना यहाँ रास्तेमें-पयो
छड़ते हो] ।

यहाँ अपेहि और 'मा इव' पर विद्वन्त पद सम्भोगेष्वाके प्रकाशन द्वारा सम्भोग्यद्वारको अभिम्यञ्जक करते हैं । पहिले श्लोकमें विप्रश्नमाद्वारा स्वज्ञाप या इत्थिप यह सम्भोग्यद्वारका सूचण उदाहरण दिया है ।
१ मौलुंमव वि ही ।
२ इत्थं तव न ज्ञातम् ही ।
३ अर्थं वरतन्त्राः यथा शून्यगृहं मामकं रक्षणीयं वर्तते । वाक्यमिवा वि ।

सम्बन्धस्य यथा—

अप्यत्र बह्वाकारक अन्धाभक्ति किं मे पुलापसिपभम् ।

हो जाधामीरुभाणं तदं विअ न होइ ॥

[अन्यत्र अत्र बालक स्नानीं किं मां प्रलोक्यस्येतत् ।

मो जायाभीरुकरणां वटमेव न भवति ॥ —इतिष्ठया]

कृत—‘क’—प्रयोगेषु प्राकृतेषु तद्धितविषये व्यञ्जकत्वमावेद्यत एव । अवज्ञातिशये
‘कः’ । समासानां च वृत्त्यौचित्येन विनियोगने ।

निपातानां व्यञ्जकत्व यथा—

अयमेकपदे तथा वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।

नववारिषयोदयाद्दहोभिर्भविष्यत्यर्थं च निरातपस्वरम्यैः ॥

इत्यत्र ‘च’ शब्दः ।

सम्बन्धका [व्यञ्जकत्वका उदाहरण] जैसे—

भरे रुक्मके, तुम कहीं और जानो, नहाती हूँ मुझको [सस्यूह] फर्मा देख रहे हो ।

[अपनी] पत्नीसे डरनेपासोंके मतलबका यह तट नहीं है ।

यहाँ अनाद्यके वटपर नहाती हुई किरी सैरिणीको सस्यू नत्रोंसे डेलनेवाले विवाहित युवक के प्रति उसके चाहनेवासी स्वरिणीकी यह उक्ति है । उसमें जायाभीरुकाया इस सम्बन्धरीसे उस प्रच्छन्न कामुकीका इर्ष्यादिघन सूचित होता है । और वह इर्ष्या, विप्रलम्भग्रहणको अभिन्नक करती है । ताव ही मीरक परमें जो अवशार्थक ‘क’ प्रत्यय तद्धितका है वह भी अवज्ञातिशय द्वारा इर्ष्याभिप्रणमको परिपुष्ट करता है ।

‘क’ प्रत्ययके प्रयोगमें मुझ प्राकृत पदोंमें तद्धितविषयक व्यञ्जकत्व भी सूचित होता ही है । [जैसे यहाँ] अयमेकपदमें क-प्रत्यय [इर्ष्यादिप्रलम्भक व्यञ्जक] है । वृत्तिके अनुरूप [समासोंकी] योजना होनेपर समासोंका [व्यञ्जकत्व] होता है । उसने उदाहरण यहाँ नहीं दिये हैं ।

निपातोंका व्यञ्जकत्व [का उदाहरण] जैसे—

एक साथ ही उस [हृदयेश्वरी] प्रियाके साथ यह असह्य वियाग भा पड़ा और उमपर नये पादलोंके उमङ्ग भानेसे भातपरहित मनोहर [ययाक] दिन हाने लग [अब यह सब कैसे महा आपगा] ।

यहाँ ‘च’ शब्द [व्यञ्जक] है ।

यहाँ दो बार ‘न’ का प्रयोग किया गया है । वह इस बातको सूचित करता है कि उसके विषयके साथ काकतार्लीपन्थास्य जे व कथके दिन आ पड़ व बलर नमकक समान मापरकक

१. अन्यत्र अत्र बालक वृत्त्यायमानं कथमाभीरुपस्येतत् ।

मो जाधामीरुभाणं वृष्माकं सम्बन्ध एव न भवति ॥—श्री

२. अवज्ञातिशय का यह तट नि ही में नहीं है ।

यथा वा—

मुद्रकुष्ठिसंश्रुतापयोः

प्रतिपेधाक्षरविक्रवाभिरयम् ।

मुखमंसविवर्तिपद्मसाक्षाः कथमप्युन्नमिर्तं न मुद्रितं तु ॥

अत्र तु क्षयः ।

निपातानां प्रसिद्धमपीह द्योतकत्वं रसापेक्षयोक्तमिति द्रष्टव्यम् ।
अपसर्गाणां व्यञ्जकत्वं यथा—नीवाद्याः शुक्रगर्भकोटरमुखप्रटास्तम्भामघाः,
प्रतिगधाः क्वचिद्विद्वुशीफलमिषः सूक्ष्मन्त एषोपलाः ।विद्वबासोपगमाश्चमिन्नगतयः शब्दं सहन्ते शृगाः,
तोवाभारपभाश्च वस्कुलशिक्षानिध्मन्तरेत्याह्विताः ॥

इत्यादी ।

एष्य प्रमाण है । अतएव 'रस्य परसे उहीननिमाक्षर सूचित होता है । इस प्रकार निपातद्वयका प्रयोग किमन्वम द्वाराको अभिप्रेक्ष करता है । यह किमन्वोक्तीय नाटकम पुस्तकाकी उक्ति है ।

अथया [निपातके व्यञ्जकत्वका दूसरा उदाहरण] जैसे—
[मिरे अक्षरवस्ती शुष्मका प्रयत्न करमपर] पार-पार अँगुलियोंसे बड़ें हुए

अपरोष्ठबाळा और [मान जामो जान दो इत्यादि] निपेक्षपरक शब्दोंकी विक्रमतासे मनोहर, तथा कम्बुकी भार सुझा हुआ सुन्दर पलकोंवाली [प्रियतमा शकुन्तला] का मुख किसी प्रकार ऊपर उठा तो लिया परन्तु घूम नहीं पाया ।

यहाँ 'तु' यह शब्द [पद्यात्तापप्यञ्जक भार उम शुष्मनमाश्च छतहृत्यवाका सूचक होनेसे अज्ञानमको अभिप्रेक्ष करता है] ।

निपातोंका द्योतकत्व [हमार उपजीव्य पीयाकरण मतमें] प्रसिद्ध होमपर भी यहाँ रसकी दृष्टिमें [फिरसे] कहा है यह समझना चाहिये ।

बेयाकरण सिद्धान्तमें निपात अथक द्योतक ही होते हैं बाधक नहीं । द्योतका प्रायसो येन निपातारवाद्यो यथा' [ये भू] । उनको बाधक न मानकर केवल द्योतक माननेका कारण यह है कि उनका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता । इस प्रकार द्योतकत्व प्रसिद्ध होनेपर भी यह द्योतकत्व केवल अर्थोंके प्रति विवक्षित है । इसलिये यहाँ निपेक्ष रूपम रसोंके प्रति द्योतकत्व प्रतिपादन किया गया है

अपसर्गाणां व्यञ्जकत्व [का उदाहरण] जैसे—
शुक्रयुक्त काण्डरोंके मुखमें मिरे हुए नीवारकण घुसोंके नीचे विकार पड़े हैं ।

कहीं-कहीं विकर परधर हैं जो इस बातकी सूचना देते हैं कि उनमें इङ्गुलीपत्र तोड़ने का काम लिया जाता है । सर्बथा आन्वस्त होनेसे आनयासोंके शब्दको सुनकर भी शृगोंकी गतिमें कार्य परिवर्तन नहीं होता है और अज्ञाशयोंके मार्ग [स्नानोत्तर गीले] वक्ररसपल्लोम उपकृती हुई शृगोंकी रत्नाओंसे अद्वित है ।

इत्यादिमें ।

यहाँ 'प्रतिगधा' में 'प्र' उदगग 'प्रकणैव लिम्बा' प्रतिगधा' इस प्रकार प्रकणोंको सूचित

द्वित्राणां धोपसर्गाणामेकत्र पदे षः प्रयोगः सोऽपि रसव्यक्त्यनुगुणतयैष निर्दोषः । यथा—

“प्रभ्रदयस्युत्तरीयत्विपि तमसि समुद्रीह्य वीतावृठीम् द्राग् भन्तून्” —

इत्यादौ ।

यथा वा—

“मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तम् ।”

इत्यादौ ।

करता हुआ इन्गुदीफल्यैकी सरस्ताका दोतक होकर आभ्रमके धौन्दर्वातिशयको व्यक्त करता है । कोई-काई यहाँ ‘तापस्यल फलविपयो भमिस्त्रापाविरेको ष्मसते’ शास्त्रका परविपयक भमिस्त्रापका अतिशय यहाँ अनिष्ट होता है यह व्याख्या करते हैं । परन्तु उनका यह व्याख्या सङ्गत नहीं है क्योंकि ‘भमिस्त्रानघाकुन्तक’ नाटकमें यह राजा दुष्यन्तकी उक्ति है । तापसकी नहीं । आसोककारने यहाँ ‘शुकगर्भकोटरमुलभ्रष्टाः’ यह पाठ रखा है । परन्तु दूसरी जगह ‘शुककोटरगर्भमुलभ्रष्टाः’ पाठ पाया जाता है । वह पाठ अधिक अर्थजान पड़ता है ।

दो-तीन उपसर्गोंका जो एक पदमें प्रयोग होता है वह भी रसाभिव्यक्तिके अनुकूल होनेसे ही निर्दोष है । जैसे—

उत्तरीय [रूपद्रा]के समान अर्थकारके गिर जाने [पत्रिके अर्थकारके दूर हो जाने]पर आवरणरहित अन्तुओंको देखकर [सूर्यशतक] ।

इत्यादि [‘समुद्रीह्य’ पदमें एक साथ ‘सम् उत् वि’ इन तीन उपसर्गोंका प्रयोग सूर्यशयकी कृपाके अतिशयका व्यञ्जक और रसानुकूल होनेसे निर्दोष है] ।

अथवा जैसे—

मनुष्यरूपसे आचरण करते हुएको ।

इत्यादिमें ।

‘मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तम् । यहाँ सम्, उप और आच् इन तीन उपसर्गोंका प्रयोग भगवान्ने लोकानुपदेश्यके अतिशयका अभिव्यञ्जक है ।

निजपद्यागरीय तथा दीपितियुक्त संस्करणमें इस श्लोकके बाद एक श्लोक और दिया है । परन्तु बोजनमें उलका उल्लेख नहीं है । अतएव शकप्रियाशास्त्रे संस्करणमें उते मूल पाठमें नहीं रखा है । इतीहिए हमने भी उसे यहाँ मूल पाठमें नहीं रखा है । फिर भी उसकी व्याख्या टिप्पणीरूपमें कर रहे हैं—

मदमुसरकपोतमु-मयूरं प्रविरल्लाम्नहृत्तमिबेधम् ।

वनमिमभगाहृद्यनभीमं व्यसनमिबोपरि शकजलमेति ॥

इत्यादौ प्रथमस्य, औपम्यन्वैतिकस्य च व्यञ्जकत्वमधिकं चालत ।

मदमुसर कपोतों और उपरको मूल उठाये मयूरों अपथा उन्मत्त मयूरोंसे युक्त, बहुत छोटे छोटे और विरल वृक्षोंसुक्त यह वन भावितिक समान या रोगक समान प्रवेद्य करते समथ [प्रारम्भमें] मशानक [लगता है] और आग बलकर शकज कुलदायक बन जाता है ।

1 नि सा नं में वा स्वप्ने सङ्गुपाचरन्त इत्यादा च । इत्यत्र अधिक पाठ है ।

निपातानामपि तथैव । यथा—

‘अहो बवासि सृष्टधीयवीयः ।’
इत्यादी ।

यथा वा—

ये जीवन्ति न भान्ति ये स्ववपुषि प्रीत्या प्रनृत्यन्ति ये,
प्रत्यन्विप्रमदाप्रवाः पुञ्जकिटा दृष्टे गुणिन्मूर्तिवै ।

इत्यादिमें [प्रविरक्तका] प्र' ध्वन् [उत्सर्ग] का और 'औपच्छन्दविक' [इष्ट] का अञ्जकत्वं अधिक वृत्तित शाया है । 'पर्वन्ते यी तथैव श्ये' स्तोपच्छन्दविकं सुधीमिषकम् यद् औपच्छन्दविक' छन्दका कथन है । यहाँ वस्तुमञ्जन द्वारा यह मयानक रसका ध्वञ्जक होता है । इनमेंसे पहिली उदाहरण म्पूरमहके 'दूर्वछन्दक'ठे लिया गया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

प्रभ्रस्यसुतरीवत्किपि समसि समुद्वीक्ष्य बीताहरीन् ब्राह्म
कर्तृकान्नु यथा यानतनु पितनुते किम्परोनिर्मयीवीन् ॥
ते सान्नीभूय सद्यः क्रमविशददशाद्यादशाकीविद्याभ्य
शब्द सन्यादकन्तोऽम्बरममम्बम् मङ्गलं नो दिद्यन्तु ॥
पूठरे उदाहरणका पूरा श्लोक निम्नलिखित प्रकार है—

मनुपहृत्वा समुपाचरन्तं, स्वदुःखिसामान्यहृत्वातुमाना ।
सौमिषरेत्पसुसोपमीयं त्वां सोद्बुभिक्षन्मनुजाः कुतः ॥

यहाँ एक और टीका 'नः सन्ने समुपानतस्य' इत्यादि उदाहरण कुछ पुलकमें पाया गया है । परन्तु उक्तका पूरा पाठ नहीं मिलता है । श्लेषनकारने इष्टपर भास्वा आदि नहीं की है अतएव यह पाठ प्रामाणिक नहीं है ।

निपातोंके विषयमें मी यीसा ही है [अथात् यो-तीम निपातोंके एक साथ प्रयोग होमेपर मी रसध्यातिके अनुरूप होमेसे कोई शीप नहीं होता] । जैसे—
भादा । तुम वड़े सृष्टधीय पराक्रमपासे दो ।

अहो बवासि सृष्टधीयवीय' इत्यादिमें क्रमसे आपसर्ष और लेद धारिके शेषक 'अहो' और 'वद' ये दोनों निपात मदनके परक्रमके अलौकिकत्वएवम द्वारा रसका प्रकाशित करते हैं अतः निर्गुण हैं । यह उदाहरण 'कुमारमम्म' के श्लेष समवे लिया गया है । कामदेवके प्रोत्साहनार्थ इन्द्रकी उक्ति है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—
सुगः समन्वधविदार एते काय मयावामपि विद्यानाम् ।
पानेन ते क्रम, न वासिदिभं, अहो बवासि सृष्टधीयवीय ॥

अथवा [अनेक निपातोंके रसानुगुण सहप्रयोगका दूस्वय उदाहरण] जैसे—
गुणी जनोकी वृद्धि द्यकर, जा जीते हैं जा अपने शरीरमें फूले नहीं समाते और जो आत्मन्मं ज्ञानने सगत हैं उनके आत्मन्दायु पहले छपते हैं, और जिनका
१ यथा सि ।

हा भिक् कष्टमहो न्य यागि क्षरणं तेषां अनानां कृते,
नीतानां प्रलयं शठेन विधिना साधुद्विपः पुण्यता ॥

इत्यादी ।

पद्मोत्तरकर्मस्य च व्यङ्ग्यकृत्वापेक्षयैव कदाचित् प्रमुच्यमानं क्षोभामावहति । यथा—

पद्म वज्रनाहितमतिर्बहुषादुगर्भं,

कार्योन्मुसः खलजनः कृतकं प्रवीति ।

तत् साधनो न न विदन्ति, विदन्ति किन्तु,

कर्तुं कृत्वा प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥

इत्यादी ।

शरीर [मानन्दसे] रोमाञ्चित हो उठता है। हा भिक्कार है, सज्जन पुरुषोंके द्वेषियोंका पापण करनेवाले हुए देखने उनका अत्यन्त घिनाश कर दिया यह वक्के दुःखकी बात है, उनके [प्राप्त करनेके] लिए मैं किसकी शरणमें जाऊँ ।

इत्यादिमें—

यहाँ 'हा भिक्' इत निपातद्वयमे गुणियोंकी अभिवृद्धिसे प्रसभता अनुभव करनेवाले महा पुरुषोंका स्वाभाविक और देवकी असमीक्षकारिणाके कारण निर्वेदातिशय ज्ञानित होता है ।

इत स्वल्पी शेषन टीकाका पाठ निर्णयसागरीय और वाराणसेय दोनों संस्करणमें भ्रष्ट है । निपयसागरीय संस्करणमें तो 'हा भिक्' के बाद कुछ पाठ छूटे होनाका सूचक चिन्तियों की हुई हैं । बर्होका पाठ इस प्रकार छापा है । 'हा भिगिति' तिघयो निर्वेदातिशयश्च ज्ञान्यते ।' वाराणसेय संस्करणमें पाठ इस प्रकार छापा है—'स्वाभाविको निर्वेदातिशयश्च अहो बतेति हाभिगिति च ज्ञान्यते' । यह पाठ भी भ्रष्ट है । इसमें अहो बत' यह अंश इससे पूर्वक उदाहरण 'अहो बतसि स्पृष्टीय नीयः'से सम्बन्ध रखता है । उस उदाहरणके नीचे दिय हुए 'इत्यादी'की व्याख्यामें अहो बतेति' लिखा गया है । जिसका अभिप्राय यह है कि उस उदाहरणमें 'अहो बत इत दो निपातोंका प्रयोग स्वच्छक है । इत प्रकार सबसे पहिले अहो बत' पाठ और उसके अन्तमें विरामनिह्न छापना चाहिये था । उसक बाद 'हा भिगिति च स्वाभाविको निर्वेदातिशयश्च ज्ञान्यते' यह पाठ देना चाहिये । इत अंशका सम्बन्ध प्रकृत उदाहरणसे है । अर्थात् इस उदाहरणमें 'हा' और 'भिक्' ये निपात क्रमशः स्वाभाविक और निर्वेदातिशयको ज्ञक करते हैं । अतएव संश्लेषित पाठ इस प्रकार होना चाहिये—

'अहो बतेति । हा भिगिति च स्वाभाविको निर्वेदातिशयश्च ज्ञान्यते । यह संश्लेषन दोनों संस्करणोंके पाठकी गुरुत्वोंकी पूरा कर देता है ।

कमी-कमी व्यङ्ग्यकृत्यकी दृष्टि ही प्रमुक्त पदोंकी पुनरुक्ति भी सामाजिक जाती है । जैसे—

[पुनर्पुष्पा] घाला बनवाला [और अपना] काम निकालनवाला हुए पुन्य आ पुन्यामयकी बनापटी बातें करता है उसका सज्जन पुरुष नहीं समझते यह [बात] नहीं है एव समझते हैं किन्तु उसके भाग्यकी भस्वीकार करनेमें समर्थ नहीं होते ।

इत्यादिमें ।

काकस्य व्यञ्जकत्वं तथा—

सम विसम निम्बिसेसा समन्तओ मन्मन्संध्याय ।
अथय होदिन्ति पद्दा मनोरथात्तं पि दुस्तंषा ॥
[समविषमनिर्विशेषा समन्ततो मन्-मन्संध्याया ।
अचिराद् भविष्यन्ति पन्थावो मनोरथामपि दुस्तंष्या ॥

—[विच्छेदात्]

अत्र अचिराद् भविष्यन्ति पन्थान इत्यत्र भविष्यन्तीत्यस्मिन् पदे प्रत्ययः काक-
विशेषामिच्छाया रसपरिपोषहेतुः प्रकाशते । अयं हि गायार्थः प्रकाशविप्रसम्भट्टद्वारविभाव
तथा विभावमानो रसवाम् ।

यथात्र प्रत्ययासौ व्यञ्जकस्तथा क्वचित् प्रकृत्यसोऽपि दृश्यते । तथा—

यहाँ पहिले 'न न विदन्ति' नहीं जानते हैं ऐसी बात नहीं है अर्थात् जानते ही हैं । इस नन्
इयक्की बन्धोक्तिसे 'विदन्ति' इस अर्थका रूपन किया । और दुसरा फिर लायात् 'विदन्ति'का प्रयोग
किया है । यह 'न न विदन्ति'की बन्धोक्ति, और उससे प्राप्त 'विदन्ति' पदकी पुनरुक्ति उनके ज्ञाना
तिशयको अभिव्यक्त करती है ।

यहोस्त "पद्मप्रथं य वाक्यारेणैव कथात्ममनुकूलतयम्" लिखकर व्यञ्जनकारने पहले
वाक्यका भी उल्लेख माना है । अर्थात् वाक्यको पुनरुक्ति भी व्यञ्जक होती है । इसका उदाहरण
'रत्नाक्षरी' नाटिकाका निम्नलिखित श्लोक दिया है—

श्रीसदन्मरमादपि मन्मादपि ज्यनिर्धेदसोप्यन्तात् ।
जानैव शठिदि शरवति विविदिमन्तममिसुन्वीयतः ॥

क सुन्दर । श्रीसदन्मरमादपि इत्यादि ।

यहाँ इस श्लोककी आशुति इत्यामकी अयम्भवाविकाको व्यक्त करती है ।

काकका व्यञ्जकत्व [का उदाहरण] जैसे—

[पर्याकासमें मय रास्तोंमें शमी भर जायेसे]सम-विषम [ऊँच-साहें]की विज्ञापता
से पहिल, से अत्यन्त मन्मन्संध्यायुक्त [अत्यन्त म्यून संख्या और मन्मन्संध्याके उच्चार-
युक्त] सार मार्ग हीम ही मनोरथसे भी अगम्य हो जायेंगे ।

यहाँ 'अचिराद् भविष्यन्ति पन्थाना' मार्ग हीम ही [अगम्य] हो जायेंगे इसमें
'भविष्यन्ति' इस पदमें काकविशेष [भविष्यत्कास]का वाचक [स्य] प्रत्यय [पर्याकास
की कल्पना भी विच्छेद जनोंमें कल्प पैदा कर देती है, साक्षात् उसका तो कहना ही
पन्था हम व्यञ्जकार्थके वाचन द्वारा] रसका परिपायक हेतु प्रतीत होता है । गायका
यह मय प्रकाशविप्रसम्भट्टद्वार [उद्दीपन] विभावरूपसे प्रतीत होकर [विचार रूपसे]
सुयुक्त प्रतीत होता है ।

जैसे यहाँ प्रत्यय अंश व्यञ्जक है ऐसे ही प्रकृतिभाग भी [व्यञ्जकरूपमें] एका
ता है । जैसे—

तद् गोई नवमिधि, मन्दिरमिधं छम्पावकाशं दिवा,
सा धेनुर्बर्ही, परन्ति करिणामेवा घनामा पटाः ।
स ह्युग्रो मुसलध्वनिः, कळमिधं सङ्गीतकं योपिता-
माश्चय दिवसैर्द्विमोऽप्यमियतीं भूमिं समारोपितः ॥

अत्र श्लोके 'दिवसै'रित्यस्मिन् पदे प्रकृत्यंशोऽपि द्योतकः ।

सर्वनाम्नां च व्यञ्जकत्वं यद्ब्रह्मणोक्ते' श्लोके । अत्र च सर्वनाम्नामेव व्यञ्जकत्वं
इति व्यवरवाप्य कविना कथेत्यादि शब्दप्रयोगो न कृतः ।

अनया दिशा सहृदयैरन्येऽपि उपञ्जकविज्ञेयाः स्वयमुत्प्रेक्षणीयाः । एतच्च सर्वं
पदभाष्यरचनाद्योतनोक्तस्यैव गतार्थमपि वैशिष्ट्येण व्युत्पत्तये पुनरुक्तम् ।

[कहाँ] वह हूटी-हूटी वीघायोंका घर, और [कहाँ आज] यह आकाशशुष्मी
महल, [कहाँ हमकी] वह बुद्धिया गाय [और कहाँ आज] ये मेघोंके समान [काली
काली और ऊँची] हाथियोंकी पंक्तियाँ भूम रही हैं । [कहाँ] वह मूसलकी झुद्र ध्वनि
और [कहाँ आज सुनाई देनेवाला] यह सुन्दरियोंका मनोहर मङ्गीत । आश्चर्य है, इन
[घोड़े-सं] दिनोंमें ही इन [द्विज] ब्राह्मण [सुशामा]की इतनी बन्धी हालत हो गयी ।

इस श्लोकमें 'दिवसै' इस पदमें प्रकृत्यंश [दिवस शब्द] भी [इस प्रतिपादित
अर्थकी अत्यन्त असम्भाव्यमानताका] अभिव्यञ्जक है ।

सर्वनाम भी अभिव्यञ्जक होते हैं जैसे बनी कहे गये [तद् गोई] श्लोकमें । यहाँ
सर्वनामोंके व्यञ्जकत्वको मनमें रखकर ही कविने 'क' इत्यादि शब्दका प्रयोग नहीं
किया है ।

यहाँ 'तद् गं नवमिधि' में 'तद्' यह सबनाम 'नवमिधि'क प्रकृत्यंशके साथ मिलकर
परकी अत्यन्त दरिद्रताका सूचक मूषकावाकीर्ण बुद्ध्याको व्यक्त करता है । यहाँ केवल 'तद्' सबनाम
ही व्यञ्जक नहीं है । क्योंकि अकस्मै सबनामसे तो परका उत्कण्ठ भी प्रकट हो सकता था । परन्तु
'नवमिधि'क उद्धारस बर परकी हीन अवस्थाका अभिव्यञ्जक होता है । इसी प्रकार 'सा धेनुर्बर्ही'
इत्यादिमें भी प्रकृत्यंश सहृदय सबनामको ही व्यञ्जक मानना चाहिये, कबल सबनामका नहीं । यहाँ
'तद्' शब्द अनुभूतार्थस्मरणत्वेन व्यञ्जक है । इसलिये क्रमशः स्मृति और अनुभवक सूचक 'तद्'
और 'इदं' शब्दके द्वारा स्मृति और अनुभवकी अत्यन्त विस्मयविपयताक सूचनसे आरम्भका उद्दीप्त
प्रतीत होता है । 'तद्' और 'इदं' शब्दक अभावमें बर विद्यय अप प्रतीत नहीं हो सकता है इसलिये
वे सबनाम पद ही प्रधानतया व्यञ्जक हैं ।

इसी प्रकारसे अन्य व्यञ्जकोंको भी सहृदय पुरुष स्वयं समझ लें । यह सब
[सुप् तिङ् आदिकी व्यञ्जकता जो १६वीं कारिकामें कही है दूसरी कारिकामें कहे
हुए] पद वाक्य रचना आदिकी द्योतनोक्तिसे ही गतार्थ हो सकता है फिर भी मिथ
प्रकारसे व्युत्पत्ति [ब्रह्मणोक्ति या बुद्धियैशय]के लिये ही दुषारा कहा है ।

ननु^१ चार्थसामन्वाद्येवा रसाद्य इत्युक्तं, तथा च सुवादीनां^२ 'ध्वज्यकृत्यवेचि
ध्वज्यनमनन्वितमेव ।

वक्तव्यं पदानां ध्वज्यकोत्सवसरे ।

किञ्च, अर्थविशेषाद्येव्यत्वेऽपि रसादीनां तेषामर्थविशेषाणां ध्वज्यकृत्यविनाभा
वित्वाद् तथा प्रदर्शितं ध्वज्यकृत्स्वरूपपरिष्ठानं विभक्त्योपमुच्यते एव । शब्दविशेषाणां
धान्यत्र^३ च चादत्त्वं च विभागानुपदर्शितं तदपि तेषां ध्वज्यकृत्येनैवावस्थितमित्य
वगन्तव्यम् ।

पत्राणि^४ तत् सम्पत्ति न प्रतिभासते तथापि ध्वज्यके रचनाम्यरे च्छ दृष्टं सौष्ठवं

सुभादिकी ध्वज्यकृताका उपपादन

[प्रश्न] अर्थकी सामर्थ्यसे ही रसादिका आत्म्य हा सकृता है यह पहले कहा जा
चुका है । उस दृष्टांतमें [केवल सुवादिके वाचक न होकरसे] सुवादिका नामाप्रकारसे
ध्वज्यकृत्य वर्णन करना असंभव ही है ।

[उत्तर] पदोंकी ध्वज्यकृताके प्रतिपादनके अक्षरपर इस विषयमें [उत्तर] कह
चुके हैं ।

इसका यह उत्तर दे चुके हैं कि अनिश्चयकारमें वाचकत्व प्रतीयक नहीं है अपितु
व्यञ्जकत्व प्रतीयक है । पदोंकी व्यञ्जकताके प्रसङ्गमें यह शब्द उदाही भी कि यह तो केवल
अवस्थानक है वाचक नहीं तब अवस्थानक पदोंसे व्यञ्जककी प्रतीति कैत होगी ? वहाँ उत्तरका सम्प्रधान
यह किया था कि व्यञ्जकताका प्रतीयक वाचकत्व नहीं है इतनी अवस्था प्रतीमें ही व्यञ्जकता रखनेमें
कोई बाधा नहीं है । इस प्रकार एक बार इस विषयका निर्णय हो चुका था परन्तु स्वप्निलक्षण
न्यायसे हट करके सिद्ध फिर दुबारा वहाँ कहा है ।

साथ ही [यह हेतु भी है] अर्थविशेषमें ही रसकी अभिव्यक्ति माननेपर भी
उनकी अर्थविशेषके ध्वज्यक शब्दोंके बिना प्रतीति नहीं हो सकती है । अतएव कैला
कि दिखलाया गया है [इस प्रकार] ध्वज्यकके स्वरूपका अलग-अलग करके ज्ञान
[रसादिकी प्रतीतिमें] उपयोगी है ही । और अन्वय [भ्रामहविचरणमें महोद्भूतम्] शब्द
विशेषोंका जो वाचकत्व अलग-अलग प्रदर्शित किया है यह भी उनके अर्थध्वज्यकत्वके
अक्षर ही व्यवस्थित होता है यह समझना चाहिये ।

और जहाँ [सिद्ध शब्दोंमें] वह [वाचक्य] इस समय [श्रद्धापाक्षिप्यतिरिक्त स्वस
में प्रयोगक्षममें] प्रतीत नहीं होता वहाँ [इस शब्दोंमें] भी ध्वज्यक दूसरी रचनानमें
समुदायमें प्रयुक्त उन शब्दोंका जो सौष्ठवं [वाचक्य] इला धा उन शब्दोंके उस [ध्वज्यक]

१ च तु वि ही ।

२ ध्वज्यकृत्यकृतम् ही ।

३ तत्रात्म्यं च वि ही ।

४ च च्छ प्रतिभासते वि ही ।

तेषां प्रवाहपवितानां, तदेवाग्नासादपोद्भूतानामप्यवसासत इत्यवसातम्पम्^१ । कोऽन्यथा
मुस्ये वाचकत्वे शब्दानां चारुत्वविषयो विशेषः स्यात् ।

अन्य एवासी सङ्ख्यसंबन्ध इति चेत्, किमिदं सङ्ख्यत्व नाम । किं रसभावान-
वेच्छकाभ्यामितसमयविशेषाभिन्नत्वम् उत रसभावादिमयकाव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यम् ।
पूर्वस्मिन् पक्षे तथाविधसङ्ख्यव्यवस्थापितानां शब्दविशेषाणां चारुत्वनियमो न स्यात् ।
पुनः समयान्तरेणाम्यथापि व्यवस्थापनसम्भवात् ।

द्वितीयस्मिन्तु पक्षे रसश्रुतैव सङ्ख्यत्वमिति । तथाविधैः सङ्ख्यैः संबन्धो रसादि
समर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति व्यञ्जकत्वामप्येव^२ तेषां मुख्यं
चारुत्वम् । वाचकत्वामयाणां^३ प्रसाद एवाभिप्रेक्षया तेषां विशेषः । अर्थानपेक्षायां
त्वनुप्रासादिवेव ॥ १६ ॥

समुदायसे अन्तर्ग हो जानेपर मी अम्यासयश वह चारुत्व प्रतीत होता रहता है यह
समझना चाहिये । अन्वया [समी शब्दोंमें] वाचकत्वके समानरूप होनेसे [किन्हीं विशेष
शब्दोंमें] चारुत्वविषयक मेत्र कहाँसे आयेगा ।

सङ्ख्यत्वनादि शब्द गृह्याररसमें चारुत्वम्यञ्जक होते हैं परन्तु बीभ्रत आदिमें वे ही
अन्वयव्यञ्जक होते हैं । इतकिय बीभ्रतादि रसोंमें प्रयुक्त होनेपर वे सङ्ख्यत्वनादि शब्द गृह्य
यदिके समान चारुत्वके म्यञ्जक नहीं होते । फिर मी अनेक बार सुन्दर अर्थके प्रतिपादनसे अपि
वाक्य होनेके कारण उनमें उस अर्थको अभिव्यक्त करनेकी सामर्थ्य माननी ही चाहिये यही चारुत्व
व्यञ्जक शब्दोंका अन्य शब्दोंसे भेद है ।

यदि यह कहें कि [शब्दोंके चारुत्वविशेषका मियामक] सङ्ख्यत्वसंबन्ध कोई अन्य
ही [विशेषता] है, तो [यह पूछना चाहिये कि] यह सङ्ख्यत्व [आपके मतमें] क्या है ?
१ क्या रसभावकी अपेक्षाके बिना ही काव्याभित सङ्ख्यत्वविशेषका ज्ञान रसना ही
सङ्ख्यत्व है ? अथवा रसभावमय काव्यके स्वरूपपरिज्ञानकी कुशलता [सङ्ख्यत्व
है] ? यदि पहिला पक्ष मानें तो इस प्रकारके सङ्ख्यत्वों का निधारित शब्दविशेषोंके
चारुत्वका नियम नहीं बन सकता क्योंकि [दूसरी बार अन्य प्रकारसे ही उन शब्दोंका
सङ्ख्यत्व किया जा सकता है [इसलिए पहिला पक्ष ठीक नहीं है] ।

दूसरे [‘रसमायादिमयकाव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यमेव सङ्ख्यत्वम्’ इस] पक्षमें
रसश्रुतका नाम ही सङ्ख्यत्व हुआ । इस प्रकारके सङ्ख्यत्वोंसे संबन्ध [शब्दविशेषोंके
चारुत्वका नियामक] शब्दोंकी रससमर्पण [रसाभिप्रेक्षि] की व्याभाविक सामर्थ्य ही
शब्दोंकी [चारुत्वघोतनकी नियामक] विशेषता है । इसलिए मुख्यतया व्यञ्जकत्व
[शक्ति]के आधार ही शब्दोंका चारुत्व [निर्धारित होता] है । वाचकत्वाभय [चारुत्व

१ इत्यवसातम्पम् वि ही ।

२ व्यञ्जकत्वाभय एव वि ही ।

३ वाचकत्वामयाणां वि ही ।

४ अर्थविशेषायां वि अर्था(व)पेक्षायां ही ।

परं रसादीनां व्यञ्जकरूपमभिप्राय तेषामेव विरोधिरूपं ह्यसिद्धिमिदमुपक्रम्यते—

प्रथम्ये मुक्तके वापि रसादीन् धन्वुधुमिच्छता ।

यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ॥१७॥

प्रथम्ये मुक्तके वापि रसमाबलिकभर्त प्रत्याहतमत्ताः कविर्विरोधिपरिहारे परं यत्न-
माप्यते । अन्यथा त्वस्य रसमयः श्लोक एकोऽपि सन्याह न सम्पद्यते ॥१७॥

कानि पुनस्तानि विरोधीनि यानि यत्नतः कवेः परिहर्तव्यानीत्युच्यते—

विरोधिरससम्बन्धविभावादिपरिग्रहः ।

विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोज्ञस्य वर्णनम् ॥१८॥

हेतु] इन [शब्दों]के अर्थकी अपेक्षा जानेपर प्रसाद [गुण] ही उनका मेवक है । और
अर्थकी अपेक्षा न होनेपर अनुपमासादि ही [अन्य साधारण शब्दों]से विशेष मेवक है] ।

अर्थात् यहाँ अलङ्कार उपयोग नहीं होता केवल वाचक शब्दोंसे ही वास्तव प्रतीति
होता है यहाँ वास्तवके बोधक शब्दोंमें अन्य शब्दोंसे जो विशेषता होती है वह वाचकके भाषित ही
रहती है और उसके भी दो रूप होते हैं । १ यहाँ केवल शब्दनिष्ठ वास्तवकी प्रतीति हो और उसमें
अर्थज्ञानकी कोह आसम्पत्ता न हो ऐत शब्दनिष्ठ वास्तव्योक्त शब्दोंका अन्वय शब्दसे मेव करने
वाला विशेष बर्त अनुपमासादि शब्दाङ्कुर हैं । और २ यहाँ वास्तवप्रतीतिमें अर्थज्ञानकी वशावत्ता
भी अपेक्षित होती है यहाँ 'प्रसाद गुण' वास्तव्योक्त शब्दोंको अन्य शब्दोंसे भिन्न करता है ।

इस उपोक्तकी दूसरी कारिकामें १ यत्, २ यथादि १ वाक्य ४ सङ्ख्या और ५ प्रथम्य
शब्द अर्थसम्बन्धनि अभिप्रेत हो सकता है वह बात कही थी । उसीका विस्तारपूर्वक विवेचन
इस १६वीं कारिकातक किया गया है । इस प्रकार कर्णादिकी अलङ्कारका "स प्रकार यह प्रकार
समाप्त हुआ ॥१६॥

रसके विरोधी और उनका परिहार

इस प्रकार रसादिके अभिप्रेतशब्दोंके स्वरूपका प्रतिपादन करते [अथ] उन्हीं
[रसादि]के विरोधियोंका स्वरूपप्रतिपादन करनेके लिए यह [अगच्छा प्रकार] प्रारम्भ
करते हैं ।

प्रथम्यकाप्य अथवा मुक्तक [काव्य]में रसादिके निबन्धनकी इच्छा रखनेपाठे
तुदिमात्र [कवि]को [रसके] विरोधियोंके परिहारके लिए प्रयत्न करना चाहिये । १७।

प्रथम्य [काव्य] अथवा मुक्तक [काव्य]में रसप्रथमके लिए समुत्सुक कवि
विरोधियोंके परिहारके लिए पूर्ण प्रयत्न करे । अन्यथा उसका एक भी श्लोक रसमय
नहीं हो सकता है । १८।

रसके विरोधी पाँच प्रकारके होते हैं । अरिकाके आने-आने भागमें एक-एकका बन्धन किया
गया है । इस प्रकार पर शार्द कारिका इस प्रकारकी होती है । परन्तु संख्या देते समय इनपर १८
व्या १९ को ही कारिकाओंकी संख्या दी गयी है जिससे १९ कारिकाका कलेसर तीन पंक्तिका हो
गया है । एक विषयसे सम्बन्ध होनेसे और आगेकी कारिकाओंमें गड़बड़ न हो इतकिए यह संख्या
क्रम रखा गया है । अन्य सब संस्करणोंमें ऐसा ही क्रम है ।

अक्ताण्ड एव विच्छिन्निरक्ताण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोष गतस्यापि पौनःपुन्येन क्षीपनम् ।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृष्यनौचित्यमेव च ॥१९॥

(१) प्रस्तुतसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिनां विभावभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुकः^१ सम्भावनीयः ।

तत्र विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा, शान्तरसविभाषेषु तद्विभाववयैव निरूपिते प्वनन्तरमेव शृङ्गारविधिभाववर्णने^२ ।

विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रणयकञ्जहङ्गपितासु कामिनीषु वैराग्य कथामिरनुनये ।

[रसाधिके] वे विरोधी चिन्ता यज्ञपूषक कथिको बचाना आदित्ये कौम-से हैं यह बतलाते हैं—

- १ विरोधी रसके सम्बन्धी विभाषाविका प्रहृष्य कर लेना ।
- २ [रससे] सम्बन्ध जानेपर भी सम्य यस्तुका अधिक विस्तारसे बखन करना ।
- ३ असमयमें रसको समाप्त कर देना अथवा अनपमरमें उसका प्रकाशन करना ।
- ४ [रसका] पूर्ण परिपोषक हो जानेपर भी धार-धार उसका उद्दीपन करना ।
- ५ और व्ययहारका मनौचित्य ।

[ये पाँचों] रसके विरोधकारी होते हैं ।

रसोंका विरोध तीन प्रकारसे होता है—१ किन्हींका आत्मन ऐसमें २ किन्हींका आश्रम ऐसमें और ३ किन्हींका निरन्तरसे ।

१ (क) वीर और शृङ्गारका; (ख) हास्य, रोद्र और भीमभके साथ सम्योगशृङ्गारका; और (ग) वीर, क्रम तथा रोद्रादिके साथ विप्रक्रमशृङ्गारका विरोध आत्मन ऐससे ही होता है ।

२ आश्रम ऐससे वीर और भयानकका तथा

३ निरन्तर तथा विभाव ऐससे शान्त और शृङ्गारका विरोध हावा है ।

(१) प्रस्तुत रसकी दृष्टिसे जो विरोधी रस हो उससे सम्बन्ध रखनपाले विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावोंका यथ्य [स्यसे पहिजा] रसविरोधी हेतु समझना चाहिये ।

क उसमें विरोधी रसके विभावपरिग्रह [का उदाहरण] जैसे शान्तरसके विभावोंका उसके विभावरूपमें ही बखन करनेके बाद तुरन्त ही शृङ्गारके विभावका वर्णन करने लगना [शान्त और शृङ्गारका निरन्तर्येण विरोध होनेसे ऐसा यथ्य दोषाघायक है] ।

ख विरोधीरसके भाव [व्यभिचारी भाव]के परिग्रहका [उदाहरण] जैसे प्रियके प्रति प्रणयकञ्जहमें कुपित कामिनियोंके वैराम्यसर्वा द्वारा अनुनययणनमें ।

१ हेतुके नि ही ।

२ शृङ्गारविधयैवे नि ।

विरोधिरसानुभावपरिमहो यथा प्रथमकृपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य
कापावस्रविषयस्य योदानुभाववर्षने ।

(२) अर्थ चान्मो रसमङ्गहेतुर्यत् प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्वयस्य कथञ्चिद्वन्ति
तस्मापि विस्तरेण कथनम् । यथा विप्रसम्भृद्द्वारे नायकस्य कस्यचिद् वक्ष्यितुमुपकान्त^१,
कवेर्येमकापावस्रविषयनिबन्धनरसिकतया महता प्रबन्धेन पर्येतादिवर्षने ।

(३) अर्थ सापरो रसमङ्गहेतुरयमन्तव्यो यथाकाण्ड एव विधिच्छती^२ रसस्या
काण्ड एव च प्रकाशनम्^३ ।

ग विरोधी रसके अनुभायके परिग्रह [का यथाहरण] जैसे प्रथमकण्डमें कृपित
मादिनीके प्रसन्न ग जानेपर कापायिष्ट नायकके योदानुभावका वर्णन करना ।

यहाँ याव शब्दसे अभिचारी भावका ही ग्रहण करना चाहिये स्वामी भावका नहीं । क्योंकि
वर्षलायी भावका विष्टेर हुए बिना विरोधी स्वामी भावका उदय सम्भव ही नहीं है । इसलिये
'मम' शब्दको सामन्तभावक होते हुए भी यहाँ अभिचारीभावपरक ही ध्यतना चाहिये ।

इत प्रकारका उदाहरण यह है—

प्रसारे बठैल प्रकटव मुरं तस्यज रूपे,
मिसे झुक्नवहान्यमृदमिष छे लिख्यु बका ।
विधानं सौख्यानां लपमभिमुखं सापय मुण
न मुग्धे प्रायेतुं प्रमथति गता अकस्मिन् ॥

[प्रथम हो जाओ, आनन्द प्रकट करो और शेषको छोड़ दो । मिसे मेरे बहू एले बा रहे
है उनपर अपने बचनानुगतही बका करो । समस्त मुग्धोंक आचारस्वरूप अपने मुखको कर सामने
करो । अथि सरने ! काककप इरिष एक बार बने जानेपर फिर नहीं श्रैर सकता ।]

इत प्रकार यैद्यमङ्गलसे प्रथमकण्डकृपित कामिनीका अनुभव गृह्यारविरोधी होनेसे
परिभाष्य है । क्योंकि वैद्यमङ्गलसे तत्त्वज्ञान हो जानेपर छे फिर गृह्यारमें प्रवृत्ति ही नहीं हो
सकती, अतएव यह देख है ।

(२) यह [वृत्त्य] रसमङ्गका हेतु और है कि प्रस्तुत रससे किसी प्रकार सम्भव
हानेपर भी [रसने मिष] किसी अन्य वस्तुका विस्तारपूर्वक वर्णन । जैसे किसी नायक
के विप्रसम्भृद्द्वारका यजन प्रारम्भ कर कविका यमकादि रचनाके अनुपादसे धारयन्त
विस्तारके साथ पर्येतादिका वर्णन करना [जैसे 'किरातार्जुनीय काव्यमें
सुपाङ्गनाविद्यासादि अथवा 'हयग्रीवयज'में हयग्रीवका अति विस्तृत वर्णन] ।

(३) अकाण्ड [धमयसर] में रसका विधिच्छ कर पना अथवा अनयसरमें ही
उसका विस्तार [करन छगना] यह भी और [नीसर] रसमङ्गका हेतु है ।

१ उपहासालय नि ही ।

२ विच्छिन्ना वा मि ।

३ प्रथमवृत्ति ही ।

तत्रानवसरे विरामो यथा नायकस्य कस्यचित् सृष्टणीयसमागमया नायिकया कथायित् परं परिपोषपद्विं प्राप्ते शृङ्गारे, विदिते च परस्परानुरागे, समागमोपाय विन्तोषितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने ।

अनवसरे च प्रकाशनं रसस्य यथा प्रवृत्ते प्रवृत्तिविषयधीरमंशये कस्यसंक्षयकस्ये सञ्ज्ञामे रामदेवप्रायस्थापि धावन्नायकस्यानुपक्रान्तिप्रलम्भशृङ्गारस्य निमित्तमुपित मन्तरेणैव शृङ्गारकथायायमवतारवर्णने ।

नचैवविधे विपये वैचव्यामोहितत्वं कथापुरुषस्य परिहारे, यतो रसकम्प एव कवेः प्राधान्येन प्रवृत्तिनिष्पन्नं युक्तम् । इतिवृत्तवर्णनं तदुपाय एवेत्युक्तं प्राक् “आलोकार्थी यथा वीपक्षिन्ध्यायां यत्नवान् जनः” इत्यादिना ।

अत एव चेतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्येऽङ्गाङ्गिभावपरिहररसमावनिवृत्तेन च कवीनामेवं

क. उसमें अकाण्डमें विराम [का उदाहरण] जैसे किसी नायकका जिसके साथ समागम उसको अभीष्ट है ऐसी नायिकाके साथ [किसी प्रकार] शृङ्गार [रति] के परिपुष्ट हो जाने और [उनके] परस्पर अनुरागका पता लग जानेपर उनके समागमके उपायके विन्तमयोग्य व्यापारको छोड़कर स्वतन्त्र रूपसे किसी अन्य व्यापारका वर्णन करने लगना [जैसे ‘रत्नापली’ नाटिकामें बाधप्रपके आनेपर सागरिकक्षकी विस्मृति] ।

अ. अनवसरमें उसके प्रकाशन [का उदाहरण] जैसे नामा धीरोंके विनाशक कल्पप्रलयके समान भीषण संभ्रामके प्रारम्भ हो आनेपर विप्रलम्भशृङ्गारके प्रसङ्गके पिना और पिना किसी उचित कारणके रामध्वज सरीन्वे वैषयुरूपका भी शृङ्गारकथामें पड़ जानेका घणन करनेमें [श्री रममङ्ग होता है जैसे ‘वेणीसहार’के द्वितीय अङ्गमें महाभारतका युद्ध प्रारम्भ हो आनेपर भी भानुमती और पुर्णोष्मके शृङ्गारवर्णनमें] ।

इस प्रकारके विषयमें [यहाँ पुर्णोष्मने वैषयुरा व्यामोहमें पड़कर वह सब कुछ किया इस प्रकार] कथानायकके वैषी व्यामोहसे उस दोषका परिहार नहीं हो सकता है क्योंकि रसवन्धन ही कविकी प्रवृत्तिक मुष्प कारण है और इतिहासघणन तो उसका उपायमात्र ही है । यह बात आलोकार्थी यथा वीपक्षिन्ध्यायां यत्नवान् जनः” इत्यादिसे [प्रथम उद्योतकी नयम कारिकामें] पढ़िले ही [पृ० १४ पर] कह चुके हैं ।

इसलिए केवल इतिहासके वर्णनका प्राधान्य होनेपर अङ्ग और अङ्गी भाषका विचार किये पिना ही रस और भाषका नियन्धन करनेमे कवियोंसे इस प्रकारके [मङ्] दाप हो जाते हैं अत रसादिरूप व्यङ्ग्यव्यक्तपरतय ही उनके लिए उचित है ।

१ रसस्य नि मं नहीं है ।

२ प्रवृत्त वा वि ।

३ वैचव्यायस्य नि ही ।

४ रसप्रवृत्ति नि रसवृत्ति ही ।

विधानि स्वच्छित्वाणि मन्थन्तीति रसाविरूपम्बङ्गपतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति वस्तुतोऽस्मानि
 यरम्भो न ध्वनिप्रतिपादनमात्रामिनिषेधेन ।

(४) पुनश्चापमन्या रसमङ्गहेतुरपचारणीयो यत् परिपोर्य गतस्वापि रसस्य
 वीनःपुन्येन दीपनम् । अपमुच्ये हि रसः स्वसामग्रीसम्बन्धपरिपोषः पुनः पुनः परामुद्य
 माणः परिम्बन्तदुसुमकस्याः कस्यते ।

(५) क तथाप्युत्तेर्म्यवहारस्व यदनीचित्वं तदपि रसमङ्गहेतुरेव । यथा नायकं
 प्रति नायिकायाः कस्याश्चिदुचिदां भङ्गिमन्तरेण स्वयं सम्मोगामिकापकथने ।

ज यदि वा वृत्तीयं भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धान-
 मुपनागरिकानां वा यदनीधित्यमधिपये निबन्धनं तदपि रसमङ्गहेतुः ।

इसी दृष्टिसे हमने यह [ध्वनिनिरूपणका] यत्न प्रारम्भ किया है, केवल ध्वनिके प्रति-
 पादनके भावके कारण ही नहीं ।

(४) फिर यह [श्रीया] और रसमङ्गका हेतु समझना चाहिये कि रसके परिपुष्टि
 को प्राप्त हो जानपर भी बार-बार उसको बर्ता करना । अपनी [विभाषादि] सामग्रीसे
 परिपुष्ट और उपयुक्त रस बार-बार स्पर्श करनेसे सुरक्षाये रूप फूलके समान मखिन
 हो जाता है ।

(५) क. और व्यवहारका जो अनौचित्य है वह भी रसमङ्गका ही [परिपोष] हेतु
 होता है । जैसे नायकके प्रति किसी नायिकाका उचित हाव-भावके बिना स्वयं [शुभ्रतः]
 सम्मोगामिकाप कहनेमें [व्यवहारका] अनौचित्य हो जानेसे रसमङ्ग होता है ।

ज अथवा भरतप्रसिद्ध कैशिकी आदि वृत्तियोंका अथवा दूसरे [मामहद्वृत्त]
 'काव्यालङ्कार' [और बरतपर महोद्भूतवृत्त 'मामहद्विधरण'] में प्रसिद्ध उपनागरिक
 आदि वृत्तियोंका जो अनौचित्य अथवा अधिपयमें निबन्धन है वह भी रसमङ्गका
 [परिपोष] हेतु है ।

मन्थके नाव्यपन्नमे कैशिकी, काव्यी भारतीय तथा आरमयी बार वृत्तियोंका वर्णन किया
 गया है । उनके कथन इत प्रकार दिने गये हैं—

कैशिकीलक्षणम्—

या सन्त्यजेत्पञ्चविधोपविष्टा, स्त्रीतनुया या बहुवृत्तिका ।

यामोपमेमप्रमोक्त्याय , तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति ॥

काव्यप्रियलक्षणम्—

वा लालकनेह गुणेन युज्य, म्वायेन वृत्तेन ललकिया च ।

होतेकथं संहृतयोक्त्याया, या काव्यी माम म्नेषु वृत्ति ॥

भारतीयलक्षणम्—

वा यत् प्रथाना पुराणमोत्या, स्त्रीपश्चिदा संस्तुतवाक्ययुज्य ।

स्वनामवेपैर्भरते, प्रयुज्य, सा भारती नाम म्नेषु वृत्ति ॥

अथमत्र वि ।

एवमेपां रसविरोधिनामन्येपाञ्चानया विद्या स्वयमुद्येक्षितानां परिहारे सत्कविमिर
वदितैमवितन्म्यम् । परिहरन्त्रोकाद्वात्र—

मुस्या व्यापारविपयाः सुकवीनां^१ रसाद्यः ।
तेपां निपन्धने माभ्यं तैः सवैवाप्रमादिभिः ॥
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपन्नञ्चो महान् कवेः ।
स सेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतसङ्गणः ॥
पूर्वे विद्वद्भृङ्गिरः कवयः प्रातर्दीर्घयः ।
वाम् समाभित्थ न स्यात्वा नीविरेपा मनीषिणा ॥
वास्मीकिभ्यासमुस्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः ।
वदमिप्रायवाद्योऽयं नास्मामिर्देशिता नयः ॥ इति ॥ १९ ॥

भारमटीकणं गृह्यारतिक्के—

या चित्रमुद्रप्रमण्डपातम्ययेन्द्रजाम्पुष्टिकविहताभ्या ।
भोक्तृस्त्रिगुणधरकन्धगाढा सेवा बुधैः सारमटीति वृत्तिः ॥

इनकी उत्पत्ति भरतमुनिने चारों बेटोंसे इस प्रकार कतलायी है—

१. कम्बेदात् भारती वृत्ति, यजुर्वेदात्तु शास्त्री ।
२. केशिकी कामधेयाच्च, घोषा व्यापक्येयी तथा ॥

इन वृत्तियोंके अनुचित प्रयोगसे, अथवा महोद्भ्रमपरिष्ठापित उपनागरिका आदि वृत्तियों—
विनका कि कवन हम पीछे पृष्ठ १८४ पर कर चुके हैं—के अनुचित प्रयोगसे भी रत्नमह होता है
यह भूमिप्राय है ।

इस प्रकार इन रमयिरोधियों [पाँचों हेतुओं] का भीर इसी मागसे स्वर्य
उल्लेखित अन्य रसमहहेतुओंका परिहार करनेमें सत्कवियोंको सावधान रहना
चाहिये । इस विषयके संग्रहदृष्टीक [इस प्रकार] हैं—

१. सुकवियोंके व्यापारके मुख्य विषय रसादि हैं, उनके निपन्धनमें उन
सत्कवियोंको सवैव प्रमाद्वहित [जागरूक] रहना चाहिये ।

२. कविक्र ओ भीरम काव्य है वह [उसके लिए] महान् अपराध है । उस
भीरम काव्यसे यह कवि ही नहीं रहता । [कविरूपमें] कोई उमका नाम भी याद
नहीं करता ।

३. [इस नियमोंका उल्लङ्घन करनेवाले] स्वरञ्च रचना करनेवाले ओ पूर्वकवि
प्रसिद्ध हो गये हैं उनके [उदाहरणको] लेकर बुद्धिमत् [नवकवि] को यह भीति नहीं
छोड़नी चाहिये ।

४. [क्योंकि] वास्मीकि, व्यास इत्यादि ओ प्रसिद्ध कवीश्वर हुए हैं उनके भूमि
प्रायके विरुद्ध हमने यह भीति मिथारित नहीं की है ।

बिबक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् ।

वाच्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥२०॥

स्वसामग्र्या^१ लब्धपरिपाये तु बिबक्षिते रसे विरोधिनां, विरोधिरसाङ्गानां, वाच्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानां सत्तामुक्तिरक्षोपाः^२ । वाच्यात्वं हि विरोधिनां प्रक्यामिमवत्त्वे सति, नाम्बधा ।^३ तथा च तेषामुक्तिः प्रस्तुतरसपरिपोषायेव सम्पद्यते ।

अङ्गभावं प्राप्तानां च तेषां विरोधित्वमेव निवर्तते ।^४ अङ्गभावप्राप्तिर्हि तेषां

महाभारते व्याकरणशास्त्रके प्रयोगशास्त्रके प्रतिपादन करते हुए महर्षि पद्मभक्तिने 'वेदपुरा'^१ प्रतीकते 'अपस्यम्'ते बचना भी एक प्रयोग बतलाया है। 'वेदपुरा' देखते देखते इति कुर्वन्तः परावभुः । तस्मात् ब्राह्मणेन न श्लेषित नै नापभासित नै । श्लेषते इ वा एव नदपस्यम् । श्लेष्य मा भूमेत्यप्येवं व्याकरणम् । [म भा पत्यशाब्दिक] । अत्र प्रकार वैवाकरणके लिये अपस्यम्का प्रयोग श्लेष्यतापादक होनेसे अत्यन्त परिश्रमनीय है उसी प्रकार कविके लिये नीरस काव्यकी रचना अपस्यम् सदृश होनेसे अत्यन्त गरिब है । वह मात्र यहाँ 'वेदपुरा'में म्नात् कपोःते अमिमत्त होता है ।

अस्तित्व में निरस कर्षया उनके अमिमत्तके अतुच्छ ही हैं । इसलिए यदि कोई पूर्वकवि स्वच्छन्द रचना करके भी प्रसिद्ध हो गये हैं तो कवि मननेके इच्छुक नवकविको उनकी इत स्वच्छन्दताका अनुकरण नहीं करना चाहिये । १९।

विरोधी रसाङ्गोंके नियन्त्रणके नियम

इस प्रकार सामान्यतः विरोधियोंके परिहारका निरूपण करते उस नियमके अन्वयारूप में विरोधियोंका सायन्ध्य वर्जन भी हो सकता है उन विरोधियोंका निरूपण करते हैं—

विवक्षित [प्रधान] रसके परिपुष्ट हो जानेपर तो १. वाच्यरूप अथवा २. अङ्गरूपताकी प्राप्त विरोधियोंका कथन वापरहित है ।

प्रधान रसके अपनी [विभागादि] सामग्रीके आधारपर परिपुष्ट हो जानेपर विरोधियों [अथात्] विरोधीरसके अङ्गोंका, १. वाच्य अथवा २. अङ्गभावको प्राप्त-रूपमें वर्जन करनेमें कोई दोष नहीं है । [यथाकिं] विरोधियों [विरोधी रसाङ्गों] का वाच्यत्व, उनका अमिमत्त सम्मथ होनेपर ही हो सकता है अन्यथा नहीं । अतएव उनका [वाच्यरूप] वर्जन प्रस्तुत रसका परिपोषक ही होता है [इसलिये विरुद्ध रसोंके अङ्ग भी प्रकृत रससे अमिमत्त अर्थात् बाधित होकर उस विवक्षित [प्रधान] रसके परिपोषक ही हो जाते हैं अतः ऐसी दृश्यामें उनका वर्जन करनेमें कोई हानि नहीं है] ।

अङ्गभावको प्राप्त हो जानेपर तो विरोध ही समाप्त हो जाता है । [इसलिये

१ स्वसामग्री वि ही ।

२ अर्थात् वि विरोध ही ।

३ वि० ही में 'तथा च' नहीं है ।

४ तदुक्त्याविरोध एव वि ।

५. 'अङ्गभाव प्राप्तिर्हि तेषां स्वाभाविकी समारोपकता वा । तत्र तेषां वैसर्गिकी तेषां तावदुक्त्याविरोध एव' इत्यत्र वाच्य वि में नहीं है ।

स्वामाधिष्ठी समारोपकृता वा । तत्र येना नैसर्गिकी तेषां चाबदुक्तावविरोध एव । यथा विप्रलम्भशृङ्गारे तदङ्गानां व्याप्यादीनाम् । तेषां च तदङ्गानामेवादीपो नातदङ्गानाम् ।

अङ्गभावको प्राप्त विरोधी इसके वर्णनमें मी कोई हानि नहीं है। उन [विरोधी रसाङ्गों] का अङ्गभाव मी स्वामाधिक अथवा समारोपित [दो] रूपसे हो सकता है। उनमें जिनका स्वामाधिक अङ्गभाव है उनके वर्णनमें ठो अधिविरोध ही है। जैसे विप्रलम्भशृङ्गारमें [उसके अङ्गमूत] व्याधि आदिका [अविरोध है]। उस [व्याधि आदि व्यभिचारी भावों] में उस [विप्रलम्भशृङ्गार] के अङ्गमूत [व्यभिचारियों] का यथन ही दोषरहित है, उससे भिन्न [जो] उस [विप्रलम्भमें शृङ्गार] के अङ्ग नहीं है, उसका नहीं।

‘विप्रलम्भशृङ्गारे तदङ्गानां व्याप्यादीनाम् । तेषां च तदङ्गानामेवादीपो नातदङ्गानाम् ।’ इस पंक्तिका आशय यह है कि रसोंके व्यभिचारी भाव सम्मिश्रित रूपसे २३ मने गये हैं। साहित्य दण्डकारने उनका संग्रह इस प्रकार किया है—

निर्बेदाभेगरेन्वधममदजडता औमयमोहो विषोष
स्वप्नापरमारगर्वा मरणमश्रुतामरनिद्रावहिरया ।
औस्तुक्ष्णोन्मादशङ्का स्मृतिमतिघटिता व्याधिसन्त्रासकळा,
हर्षासूत्राविपादाः सपृथिवप्रकृता न्कानिचिन्ताभिरुक्ता ॥

—शा द ३ १४१

वयस्त्रिघटमी भावाः समाख्यासास्तु नामत

“ - - - - - विज्ञेया व्यभिचारिणः ।

—का प्र ४ १४

इनमेंसे उग्रता, मरण, आकस्म और सुगुप्ताको छोड़कर दोष एवं शृङ्गाररसके व्यभिचारी भाव होते हैं। ‘त्वक्शोभ्रसमरणाकल्पजुगुप्सा व्यभिचारिणः’ [शा द ३ १८६] और कवचरसमें निर्बेदाभेद अपरमार, व्याधि म्यानि स्मृति भ्रम, विपाद अन्ता उन्माद और पिन्ता ये व्यभिचारी भाव होते हैं। ‘निर्बेदमोहाप्यमारव्याधिभ्यानिस्मृतिभगाः । विपादजडतोग्मावपिन्ताया व्यभिचारिणः । [शा द ३ २२५]” इस प्रकार व्याधि आदि शृङ्गार और कवच दोनोंके समान व्यभिचारी भाव हैं। कवच और विप्रलम्भशृङ्गारका आत्मभरीरमेन विरोध ऊपर पृष्ठ २१३ पर लिखाया जा चुका है। व्याधि आदि व्यभिचारी भाव दोनोंके अङ्गोंमें पणित हैं अतः दोनोंके अङ्ग हो सकते हैं और दोनोंके साथ उनका स्वामाधिक अङ्गाङ्गभावसम्बन्ध है। इसलिये जो व्याधि आदि विप्रलम्भशृङ्गारके विरोधी कवचरसके अङ्ग हैं वे विप्रलम्भशृङ्गारके विरोधी हैं। परन्तु उन व्याधि आदिका शृङ्गारके साथ मी स्वामाधिक अङ्गाङ्गभाव है। इसलिये विप्रलम्भशृङ्गारमें मी व्याधि आदिका वजन करनेमें कोई दोष नहीं है। परन्तु आकस्म उग्रता, सुगुप्ता आदि जिन व्यभिचारियोंका शृङ्गारमें अङ्गभाव नहीं है परन्तु कवचरसमें है उनका विप्रलम्भशृङ्गारमें वजन शोभापायक ही होगा। यह उक्त पंक्तिका अभिप्राय है। ‘विप्रलम्भशृङ्गारे तदङ्गानां व्याप्यादीनाम् । का भाव यह हुआ कि व्याधि आदि कवचरसके अङ्ग होनेसे विप्रलम्भशृङ्गारके साथ उनका विरोध हो सकता है परन्तु वह शृङ्गारके मी अङ्ग है इसलिये तदङ्गानां अर्थात् ‘विप्रलम्भशृङ्गाद्यज्ञानां व्याप्यादीनामविरोधः’ । परन्तु ‘व्याप्यादि’ से सभी व्यभिचारी भावोंका प्रत्येक न कर लिया जाय इसलिये आगे ‘तथ च तदङ्गानामेवादीपो

१ तेषां च नि , ही में नहीं है।

उद्भूतत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपम्यासो न भ्यायात्'। आत्मविच्छेदे रक्षसा त्वन्तविच्छेदात्प्राप्तेः। कुरुणस्य तु उभाविवधे विषये परिपोषो भविष्यतीति चेत्, न। उभ्यामस्तुतत्वात्, प्रस्तुतस्य च विच्छेदात्। यत्र तु 'कुरुपरसस्यैव काव्यार्थत्व' उभाविवधोः।

गृहारे वा मरणस्यादीर्घकालप्रत्यापत्तिसम्भवे कदाचिदुपनिषत्प्रसंगो नात्यन्तविरोधी। दीर्घकालप्रत्यापत्तौ तु तस्यान्तरा प्रवाहविच्छेद एतेष्वेवविधेति कुत्रोपनिषत्प्रधानं रसकल्प प्रधानेन कविना परिहर्तव्यम्।

नातदङ्गानाम्। क्लृप्तं यद् युक्तिं किं च न्यापि आदि गृहारेणैव भङ्गं ही उद्गीका वर्णनं हो उक्तं है वो गृहारेके भङ्ग नहीं केवल कवनके भङ्ग है, उनका कवन तो रोपकनक हो गेगा। अतएव उनका कवन नहीं करना चाहिये।

मरणके उस [विप्रलम्भगृहारे] का भङ्ग हो सकनेपर भी उसका वर्णन करना उचित नहीं है। क्योंकि आश्रय [आसन्नतपिभाव] का ही नाश हो जानेसे रसका अरम्यत विनाश हो जायगा। यदि यह कहा कि ऐसे स्थानमें कुरुपरसका परिपोषक होगा [रसका सर्वथा नाश तो नहीं हुआ तो] यह कहना उचित नहीं है क्योंकि कुरुपरस प्रस्तुत रस नहीं है और जो [विप्रलम्भगृहारे] प्रस्तुत है उसका अरम्यत विच्छेद हो जाता है। [हाँ] जहाँ कुरुपरस काव्यका मुख्य रस है वहाँ तो [मरण वर्णनमें भी] विरोध नहीं है।

अथवा गृहारेमें जहाँ शीघ्र ही उनका समागम फिर हो सके ऐसे स्थानपर मरणका वर्णन भी अत्यन्त विरोधी नहीं है। [परन्तु जहाँ] दीर्घकाल बाद पुनः सम्मिलन हो सके वहाँ तो बीचमें रसप्रवाहका विच्छेद ही हो जाता है अतएव रस प्रधान कथिको इस प्रकारके इतिवृत्तके वर्णनको बचना ही चाहिये।

वर्षे आलोकराने किजा है कि मरण विप्रलम्भगृहारेका भङ्ग हो उक्तं है परन्तु कुरुपरसोपममरणकाव्यकुण्डला भूमिचारिण [छा ६ १ १८१] को उद्भूत किना है उसमें मरणको गृहारेका भङ्ग वा न्यापिपारिभाव नहीं माना है।

आत्मस्योपममरणकुण्डलाभिर्वा परिक्लिताः।
उत्पन्नपत्ति गृहारे सन् माया स्वर्गहा ॥—ना छा १ ८

मरणमुनिके नात्यन्तकालके इत स्त्रोत्रमें मरणको भी गृहारेमें वर्णित नहीं किया है। अतः प्रतीत होता है कि मनीन भाषाओंने नायिका या नायकमेंसे किसीकी मृत्यु हो जानेपर विप्रलम्भकी सीमा समाप्त होकर कवनकी सीमा आ जानेसे प्रवाहके विच्छिन्न हो जानेसे मरणको विप्रलम्भका भङ्ग नहीं माना है। परन्तु उनको यह कसना मरणमुनिके अग्निप्रापक विरस प्रतीत होती है। आलोकराने मरणके नात्यन्तकालके आचारपर ही अपना यह प्रकरण लिखा है। मरणमुनिके जो मरणको विप्रलम्भगृहारेमें भी न्यापिपारिभाव माना है वह इसी अदीपकाशीन प्रत्यापत्तिके आचारपर माना

१ न भ्यायात् वि ही ।
२ कुरुपरस वि ही ।

है और उसका वर्णन भी उस रूपमें काश्चित्वास आदिके प्रयोगमें मिलता है। काश्चित्वासे 'रुक्मण्ड'में लिखा है—

“सीये लोयम्यसिक्करमने बहुकृन्पासरयोः
देहन्वासावमरगणनासेलमसाय सपाः ।
पूवाकापयिकचतुरया सङ्गतः काम्त्पासी
स्वीङ्गागारेधरमत पुनर्नन्दनाम्पन्तरेयु ॥”

‘अथ सृष्टेय रत्नहता मरफस्य’ श्लोककर श्लोचनकारने उसकी रत्नहताका पोरण किया है। यह श्लोक ‘रुक्मण्ड’के आठवें शगका अन्तिम श्लोक है। इन्दुमतीके मर जानेपर आठ वर्षकी बीमापीके बाद अजने गङ्गा और सरयूके सङ्गमपर धरीर त्यागकर देवभावको प्राप्त किया और उस देवश्लोकमें पहिले ही पहुँची हुए, पहिलेसे अधिक चतुर कान्ता इन्दुमतीके साथ नन्दनवनके मीतर बने कौटा मन्त्रोंमें रमण किया। यह श्लोकका भाव है। वहाँ वर्णित मरण इसी श्लोकमें वर्णित उरिका अङ्ग है। इस रूपमें मरणको शृङ्गारका अङ्ग माना गया है।

परन्तु मूक प्रश्न तो विप्रकम्मशृङ्गारसे क्या या मरण विप्रकम्मशृङ्गारका अङ्ग हो सकता है या नहीं। इस उदाहरणसे उरकौ विप्रकम्मशृङ्गारके प्रति अङ्गता सिद्ध नहीं होती है। सम्भोग शृङ्गारके प्रति अङ्गता प्रतीत होती है और यह भी किङ्कल कास्मिक है।

पण्डितराज अमराजने अपने ‘रसगङ्गाधर’ नामक ग्रन्थमें शृङ्गारके प्रसङ्गमें अतःप्राय मरण’ अर्थात् मरण शैली स्थिति और ‘चेष्टा आकांक्षित मरण’, दो रूपसे मरणके वर्णनका विधान किया है। जैसे—

“दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती घषने सम्प्रति सा विभोकितासीत् ।
अधुना लल्ल इत्त सा हृन्नाह्नी गिरमह्नीकुस्ते न भाषितापि ॥”

इसमें ‘अतःप्रायमरण’ मरण शैली स्थितिका और निम्नलिखित श्लोकमें मनसे आकांक्षित मरणका बचन किया है।

“येकम्भा परिपूदपन्तु हरियो कङ्कारकोलाहलं
मयं मय्यमुपैतु चन्दनवनीशायो नमस्मानपि ।
मायन्ता कल्पयन्तु पूवशिलरे केयीशिका पङ्कमं
प्राणाः सत्वरमदम्वारकटिना गच्छन्तु गम्भन्तवमी ॥”

इस प्रकार अतःप्राय, मनसा आकांक्षित तथा अचिर प्रत्यापत्तियुक्त इन तीन रूपोंमें शृङ्गार रसमें भी मरणका बचन प्राचीन कविपरम्परामें पाया जाता है और मरठमुनिको भी अभिप्रेत जान पड़ता है। परन्तु वास्तविक आत्यन्तिक मरण किसीको अभिप्रेत नहीं अतएव साहित्यदपनकार आदि किन् आचार्योंने मरणको शृङ्गारमें स्थानिचारिभाव नहीं माना है उनका अभिप्राय वास्तविक या आत्यन्तिक मरणके नियमसे ही है—ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार नैसर्गिक अङ्गभावका निरूपण किया। नैसर्गिकसे मरण अङ्गता समारोपित अङ्गता समझनी चाहिये इत्यस्य उरका लक्षण यहाँ नहीं किया है। उदाहरण आगे देंगे। विरोधी रत्नाङ्गिके १ वाच्यरूप तथा अङ्गाङ्गिभावमें २ नैसर्गिक अङ्गाङ्गिभाव तथा ३ समारोपित अङ्गाङ्गिभाव इस प्रकार तीन रूपोंमें निरूपणमें योग नहीं है यह उरका कारण हुआ। इन तीनोंके उदाहरण आगे देते हैं।

तत्र सख्यप्रतिष्ठे तु विवक्षिते रसे विरोधिरसाह्वानां बाध्यत्वेनोच्चारणोपः । यथा—

क्वाकार्यं सहास्यमजः क्व च कुलं, भूयोऽपि दृश्येत सा,
 दोषानां प्रसमाय मे भुवमहो, कोपेऽपि कान्तं मुसम् ।
 किं वक्ष्यन्त्यपकस्मयाः कृतचिवाः, स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा,
 पेतः स्वार्थ्यमुपैहि कः सल्लु युवा, धम्बोऽचरं पात्यति ॥

यथा वा पुण्डरीकस्य महाश्वेतां प्रति प्रकृतनिमग्नमुद्यगस्य द्वितीयमुनिष्णुमाद्योप-
 वृत्तवचने ।

विरोधी रसाह्नोके बाध्यत्वेन अविरोधके उदाहरण

उत्तमं प्रचानरसके स्रग्धप्रतिष्ठ [परिपुष्ट] हो जानेपर बाध्यरूपसे विरोधी
 रसाह्नोके वर्णनमें वाप नहीं होता [रसका उदाहरण] जैसे—

अन्य अन्तराह्नोके साथ उबसीके स्वयं पछे जानेपर निरदोषकृष्ट राजा पुस्तरबाक मनमें
 उठते हुए अनेक प्रकारके विचारोंका इस पद्यमें बयान करना है । अर्थ इस प्रकार है—

१. कहाँ यह अनुचित कार्य और कहाँ उज्ज्वल काम्यपंथ । [वितर्क]
२. क्या यह फिर कभी देखनेको मिलेगी ? [औरमुक्य]
३. अरे ! मीने तो [कामादि] दोषोंका दमन करनेके द्विय शक्तोंका अथवा
 किया है । [मति]
४. अंधधर्मों भी कैसा सुन्दर [रसका] मुख [सगता था] । [स्मरण]
५. [मिरे इस व्यवहारका] देख कर] धर्मोत्सा पिहान् भोग क्या कहेंगे ? [शङ्का]
६. बह तो अब लजमें भी दुर्लभ हो गयी । [दैन्य]
७. अरे चित्त, धीरज धरो । [वृत्ति]

८. मैं जाने कौन सीमाग्यशाली मुखक उसके अक्षरामृतका पात करेगा । [चिन्ता]

यहाँ विषय संस्मारात् अर्थात् १ वितर्क, २ मति, ५ शङ्का ७ वृत्ति ये आन्तरिकके अविरोधी
 भाव हैं और सम संस्मारात् अर्थात् ३ औरमुक्य, ४ स्मरण, ६ दैन्य और ८ चिन्ता ये शृङ्गार
 रसके अविरोधी भाव हैं । अन्त और शृङ्गाररसका नैरन्तर्य तथा आत्मन देखवमें विरोध होता
 है । नहीं इन दोनोंका नैरन्तर्य ही है और आत्मन देखव में ही है । इसलिये अन्तमन्य नियमके अनुसार
 उनका एकत्र बचन रसविरोधी होना चाहिये था । परन्तु उत्तमं विषय संस्मारात् आन्तरिक अवि-
 रोधी भावोंके सम संस्मारात् शृङ्गाररसके अविरोधी भाव बँपनेवाले हैं । अर्थात् वितर्कका
 औरमुक्यके, मतिका स्मृतिके, शङ्काके दैन्यके और वृत्तिक विन्ताके साथ हो जाता है । इसलिये
 'बाध्यत्वेन कथन' होनेके कारण दोष नहीं है ।

'बाध्यत्वाद्य'की टीकाओंमें काम्यपंथ, भीमत्वेन आदिने इस पद्यके देखवानीको देखनेपर
 राजा बरासिकी उक्ति मयाना है किन्तु यह ठीक नहीं है ।

अथवा मीस [कलुम्बरी में] महाश्वेताके ऊपर पुण्डरीकके अत्यन्त मोहित हो
 जानेपर बृहते मुनिष्णुमारके उपवेशवर्षाममें [प्रवृत्तित शान्तरसके अह्न मुखय शृङ्गार
 रसके अहोस बाधित हो जात हैं और अन्तमें वृत्ति स्थिर रहती है । इसलिये 'बाध्यत्वेन'
 अथवा प्रतिपादन वाप नहीं है] ।

स्वामाधिक्यामङ्गमात्रमात्राद्यशोपो यथा—

(१) भ्रमिमरतिमलसङ्घट्टयतां प्रलयं मूच्छा धमः शरीरसाधम् ।

मरणं च बलव्यमुबगर्भं प्रसङ्गं कुठते विपं वियोगिनीनाम् ॥

इत्यादी ।

समारोपितायामप्यविरोधो यथा—‘पाण्डुक्षाममित्यादी’ ।

यथा वा—‘कोपात् कोमलज्वलबाहुस्तिकापाशेन’ इत्यादी ।

२ विरोधी रसाङ्गोक्ती अङ्गरूपताके अविरोधके उदाहरण—

[विरोधी रसाङ्गोक्ती] स्वामाधिक अङ्गरूपताप्राप्तिसंभवे अशोपता [का उदाहरण]

जैसे—

१ भ्रममरति [इसकी व्याख्या पृष्ठ १२१ पर भी कर चुके हैं] ।

क. मयरूप मुञ्जङ्गसे उत्पन्न विप [अल तथा विप] वियोगिनियोंको खड्ग, वेधीनी मलसङ्घट्टयता, प्रलय [चेतनारूप ज्ञान और वंशका अभाय] मूच्छा, मोह शरीरसभ्रता और मरण उत्पन्न कर देता है । इत्यादिमें ।

यहाँ कल्पितोचित व्याधिके अनुभाव भ्रम आदिका विप्रकृष्टमें भी सम्भव होनेसे नैसर्गिक अङ्गता होनेसे अविरोध है ।

समारोपित अङ्गतामें भी अविरोध [होता है उसका उदाहरण] जैसे—‘पाण्डु क्षामम्’ इत्यादिमें ।

२ अथवा जैसे ‘कोपात् कोमलज्वलबाहुस्तिकापाशेन’ इत्यादिमें ।

‘पाण्डुक्षामम्’ आदि पूरा श्लोक इस प्रकार है—

पाण्डुक्षामं वर्णनं हृदयं सरसं तवावसं च ययुः ।

भावेदपति निरामं धेविपरमं सगि हृदय ॥

हे कवि, तेरा पाण्डुवर्ण मुखसाया हुआ चंद्र, सरस हृदय, और अलस देह तेरे हृदयमें स्थित निराम असाध्य रोगकी सूचना देते हैं [धेविच रोग उसको कहते हैं जिसकी इस शरीरमें चिकित्सा सम्भव न हो अथवा अत्यन्त असाध्य ।—धेविच परंपरे चिकित्स्य ।] ।

इस श्लोकमें कल्पितोचित व्याधिका वर्णन है परन्तु स्पष्टतया यहाँ विप्रकृष्टद्वारमें भी माधिकारमें उनका आरोप कर लिया है । अतएव उनकी शृङ्गारके प्रति समारोपित अङ्गता होनेसे शृङ्गारमें कल्पितोचित व्याधिका वर्णन दोष नहीं है ।

दूसरा ‘कोपात् कोमल’ इत्यादि पूरा श्लोक और उसका अर्थ पृष्ठ ११९ पर दिया जा चुका है । यहाँ ‘कोपात्’, ‘बद्ध्या’, ‘हृदय’ इत्यादि शृङ्गारके अनुभावोंका रूपकस्वरूप शृङ्गारमें आरोपित कर और रूपकका ‘नाति निर्भ्रमैस्त्वा’के अनुभाव अत्यन्त निवारण करनेसे ही उसका अङ्गोक्ती शृङ्गारके प्रति समारोपित अङ्गता होती है । इस समारोपित अङ्गताका कारण ही शृङ्गारमें उनका वर्णन विरोध है ।

एक वाच्यरूपा और नैसर्गिक तथा समारोपित रूपसे दो प्रकारकी अङ्गता, इस प्रकार विरोधी रसाङ्गोक्ती अविरोधकस्यदक तीन हेतु ऊपर बतलाये हैं । अब एक प्रधानके अन्तगत अङ्गभूत दो विरोधी रसाङ्गोक्ती अविरोधका शीघ्र उदाहरण अथवा अङ्गरूपताका तीसरा मेरा और दिखलाते हैं ।

इयं बाह्यभावप्राप्तिरन्या यदाधिकारिकत्वात् प्रधान एकस्मिन् बाह्यकार्ये रसबोधां पबोधा परस्परविरोधिनीवैवोरुमाकामर्न, तस्वामपि न दोषः । यद्योक्तं “क्षितो हस्ता बलान्” इत्यादी ।

कथं तत्राविरोध इति चेत् द्वयोरपि तयोर्न्यपरत्वेन व्यवस्थानात् ।^१

अन्यपरत्वेऽपि विरोधिनाः कथं विरोधनिवृत्तिरिति चेत्, तच्छब्दे, विधौ विरुद्ध समावेशस्य दुष्प्रसङ्गं नानुवादे । यथा—

एहि, गच्छ, पतोत्तिष्ठ च् न मौनं समाचर ।

एवमाज्ञापहप्रसङ्गैः स्त्रीवन्ति धनिनोऽर्थिभिः ॥

इत्यादी ।

अत्र हि विधिप्रतिषेधयोरनूद्यमानत्वेन समावेशे न विरोधस्तत्रापि भविष्यति ।

यह [भाग यहवमाय] अज्ञभाषप्रति दूसरे प्रकार की है कि जहाँ बाधकारिक ज्ञानसे एक प्रधान वाक्यार्थमें परस्पर विरोधी दो रसों या माधोंकी अज्ञरूपता प्राप्त है । उस [प्रकारकी अज्ञतामें भी विरोधी रसाङ्गोंके वर्णन] में दोष नहीं है । जैसे कि—

३ एहिम् [पृष्ठ ८७ पर] ‘क्षितो हस्ताबलान्’ इत्यादिमें कह चुके हैं ।

यहाँ कैसे अविरोध होता है ? यह पूछें, तो उत्तर यह है कि, उन [इर्ष्या विमलम्भ और क्रोध] भावोंके मध्य [शिव प्रमाणातिशयमूलक भक्ति]के अज्ञरूपमें व्यवस्थित ज्ञानसे [अविरोध है] ।

[प्रज्ञ] मध्यके अज्ञ होनेपर भी उन विरोधी रसोंके विरोधकी निवृत्ति कैसे होती है यह पूछते हो तो समाधान यह कि विधि अंशमें दो विरोधियोंके समावेश करनेमें दोष होता है, अनुवादमें नहीं । जैसे—

४ आशाकूप ग्रहके चक्रमें पड़े हुए बाधकोंके साथ धनी अमम ‘जामा माधो पङ्क जामो, सङ्के हा जामा बोधा चुप रहा’, इस प्रकार [कहकर] खेस करते हैं [अर्थात् कमी कुछ कमी कुछ, मनमानी बात कहकर उनसे विरहबाध करते हैं] ।

इत्यादि [उदाहरण] में [विरोधी बातें अनुवादरूपमें कही गयी हैं । अतः दोष नहीं है] ।

यहाँ [एहि गच्छ आदिमें जैसे] विधि और प्रतिषेधके केवल अनूद्यमानरूपमें सधियस करनेसे दोष नहीं है इसी प्रकार यहाँ [क्षितो हस्ताबलान् इत्यादिमें] भी समझना चाहिये । इन श्लोक [क्षितो हस्ताबलान् इत्यादि] में इर्ष्याविमलम्भ और क्रोध विधीयमान नहीं है । विपुरारि शिष्यके प्रमाणातिशयके मुख्य बाधकार्य होने, और

१ अधिकारिकत्वात् वि ।

२ एवमप्यपमप्य वि ही ।

३ नानुवादे वि बाधविधा ।

इसके इस्तिम् ईप्स्याविप्रलम्भगृहकारकव्यवस्तुनोर्न विधीयमानत्वम् । त्रिपुरपरिप्रभावा
विशयस्य वाच्यार्थत्वात् सङ्गत्वेन च तयोर्व्यवस्थानात् ।

[ईप्स्याविप्रलम्भ तथा कदम्ब] इन दोनोंके उसके अङ्गरूपमें स्थित होनेसे [उमका
परस्पर विरोध नहीं है] ।

यहाँ 'एहि' और 'गच्छ' ये दोनों विरोधी हैं । इसी प्रकार 'पत' और 'उत्थिष्ठ' तथा 'बद'
और 'मौनं सम्यक्' ये विरोधी वादें हैं । परन्तु यहाँ इनका विधान नहीं किया गया है अष्टि
धनिकोंके वाचकोंके साथ इस प्रकारके व्यवहारका अनुवादमात्र किया गया है । विधि अंशमें यदि
इस प्रकार विरोधियोंका समावेश होता तो वह दोष होता परन्तु यहाँ अनुवाद अंशमें उनका समावेश
दोषापायक नहीं है ।

एक प्रधानभूत अथके अन्तगत अनेक अप्रधान अथात् गौण अर्थोंका परस्पर सम्बन्ध किस
प्रकार होता है इसका विचार मीमांसाके 'आख्याधिकरण'में किया गया है । ज्योतिष्येण यागात्
प्रकृत्यमें 'अरुणया पिङ्गास्या एकहायन्या गथा सोमं व्रीणाति' यह वाक्य आता है । इस वाक्यमें
ज्योतिष्येण वागमें प्रयुक्त होनेवाले सोम अर्थात् सोमस्तोत्रके ऋ करनेके लिए अरुणवर्णकी, पिङ्गलवर्णके
नेत्रवाली, और एक वर्णकी गौ देकर सोम ऋ करनेका विधान किया गया है । सम्प्रदायकी
प्रक्रियामें नैषाधिकोन 'प्रथमास्तार्थमुप्यविद्येयक' वैयाकरणोंने 'भालवमुप्यविद्येयक' और मीमां-
सकोंने 'भावनामुप्यविद्येयक' धार्यशेष माना है । सव्युत्तर यहाँ मीमांसकमते मावनामुप्य
विद्येय है अतएव आख्यायिका प्रथम भावनाके साथ अन्वय होता है । अरुणया, पिङ्गास्या,
एकहायन्या, इन सबमें तृतीया विभक्ति करणत्व-बोधिका है । अतएव तृतीयाभुक्ति बद्धात् इन सबका
ऋणकरणक भावनामें प्रथम अन्वय होता है । और पीछे वाक्यमसादासे उनका परस्पर सम्बन्ध
होता है । इसी प्रकार 'एहि गच्छ' इत्यादिमें मुख्य शीघ्राथके अङ्गरूपसे 'एहि', 'गच्छ' आदिका अन्वय
'राजनिःकृत्यवस्थित आठव्यविद्येय' व्यावसे प्रथम मुल्यार्थके साथ होता है । अतएव प्रधानके साथ
उनका सम्बन्ध नहीं हो जाता है तत्काल उनका दूसरेके साथ सम्बन्धका व्यवहार ही नहीं आता
और पीछे परस्पर सम्बन्ध होनेपर भी, मुल्यार्थके प्रमादित होनेके कारण उनका विरोध अकिञ्चित्कर
रहता है ।

इसी प्रकार 'क्षितो इत्यावल्ग्नः इत्यादिमें कृष्ण और विप्रलम्भगृहकार दोनों विभके
प्रमावादिशयके अङ्गरूपमें अन्वित होते हैं, इत्यप्य उनमें विरोध नहीं आता ।

विधि भाग अथवा प्रथम अंशमें विरोध होनेपर तो दोष दाया है । सैत उप्युक्त ज्योतिष्येण
ही प्रकरणमें 'अक्षिरात्रे पौर्वाणि यद्वाति' और 'नाक्षिरात्रे पौर्वाणि यद्वाति' ये दो विरुद्ध वाक्य
मिलते हैं । यहाँ विधि अंशमें ही दोनोंका विरोध होनेसे उनका विरुद्ध गानना पड़ता है । यही दोष
हो जाता है । परन्तु गौण अर्थ अथात् अनुवादभागमें जैसे 'एहि गच्छ' इत्यादि शब्दोंके अनुवाद
भाग गौण अंशमें विरोध रहनेपर भी कोई दोष नहीं होता । इसी प्रकार 'क्षितो इत्यावल्ग्नः' इत्यादि
का विरोध प्रधान अंशमें नहीं अष्टि अङ्गभूत अथवा गौण अनुवाद अंशमें होनेसे दोषापायक
नहीं है ।

[प्रश्न] विधि और अनुवाद मीमांसक पारिस्मरिक शब्द हैं । उनका यहाँ असादाव्यवस्था
केन्द्रगतो विधि' असादा अर्थका शापक बेदभाग विधि कहल्यता है । और उनके मध्यमें 'आम्नावत्य
क्रियायन्मादानयव्यवस्तुनानाम्' [मी अ १ पा २ सू १] में निषारित सिद्धान्तके अनुसार

न च रसेषु विष्णुवाद्भ्यवहारो नास्तीति शक्यं वक्तुम्, तेषां वाक्यार्थत्वेनाभ्युपगमात् । वाक्यार्थस्य वाच्यस्य च यौ विष्णुवादी यौ तदाक्षितानां रसानां केन वार्यते । येषां साक्षात् काव्यावयवा रसादीनां नाभ्युपगम्यते तैस्तेषां तन्निमित्तता तावदवश्यमभ्युपगन्तव्या । तथाप्यत्र शब्देकं न विरोधः । यस्माद्गूढमानाङ्गनिमित्तोभयरसवस्तु

याग्यादि क्रिया ही मुख्यतः विधिरूप होती है । उस दृष्टामें रसोंमें तो विधि अनुवादरूपता सम्भव नहीं हो सकती है । तब फिर आपने विधि और अनुवादकी धरम लेकर सङ्घटित रसानका जो प्रकल्प क्रिया है वह कैसे बनेगा ।

[उत्तर] "तका समाधान यह है कि यहाँ विधि और अनुवाद शब्दको [अव्ययमा] मुख्य और गौण अथवा शेषक सम्प्रदाना चाहिये । इस प्रधान भार गौणके साथ भी वाच्य नहीं बोझना चाहिये । अर्थात् जो प्रधानतया वाच्य हो वह विधि और जो गौणतया वाच्य हो वह अनुवाद, ऐसा नहीं करना चाहिये । क्योंकि उस दृष्टामें रसोंके वाच्य न होकर व्यङ्ग्य होनेके कारण ऐ विधिरूप नहीं हो सकते । अतएव विधि शब्द अव्ययमा केवळ प्रधान अर्थको और अनुवाद शब्द अव्ययमा अर्थको दक्षित करता है । इस प्रकारका प्रधान और गौणभाव रसोंमें भी हो सकता है । इसलिये विधि और अनुवादरूपमें जो सम्बन्ध ऊपर किना गया है उसमें कोई शेष नहीं है । यही प्रसन्न और उत्तर सूत्रप्रकटी अगली पंक्तिमें निम्नलिखित प्रकार किये गये हैं—

रसोंमें विधि और अनुवादव्यवहार नहीं होता है यह नहीं कहा जा सकता है । क्योंकि उन [रसों] को वाक्यार्थरूपमें स्वीकार किया जाता है । वाच्यरूप वाक्यार्थमें आ विधि और अनुवादरूपता रहती है उसको उस [वाच्यार्थ] में आक्षिप्त सकती है ता व्यङ्ग्य रसादियमें नहीं रह सकती है यह कौत कहा जा सकता है । उनमें भी अथवा रह सकती है ।]

अथवा अनुपगमनरूपमें विरुद्ध रसोंके एकत्र समावेशकी जो बात कही है उसे आप नहीं मानना चाहते हैं तो उसे छोड़िये । वृष्टी तरलसे सहकारीरूपमें भी उनके अविरोधका उपगमन किना जा सकता है । किसी तीवरे प्रधानके साथ मिलकर जो विरुद्ध सहकारी भी काम कर सकते हैं । जैसे अन्न अग्निको बुझा देता है "संक्षिप्त ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं परन्तु तीवरे प्रधानस्य तन्मूल [वाच्य] या दाक आदि वाच्य बस्तुके साथ सहकारीरूपमें मिलकर ये दोनों एक ओरन मात्रता सिद्ध करते हैं । अथवा शरीरमें विरुद्ध स्वभाववाले बाढ पित्त रूप भी मिलकर शरीर धारणरूप अर्थप्रदान सम्पादन करते हैं । इस प्रकार 'असौ हस्तापन्न' में भी सहकारिभूत दृष्टार और करपरव्यवधानमूल धाम्मवजराग्निरूप्य वुरितदाइके साथ मिलकर शिथिल प्रतापतिघातक्य 'मात्र का दोहनरूप कार्य कर सकते हैं । यही बात अगली पंक्तिमें निम्नलिखित प्रकार करते हैं—

अथवा जो रसादिको साक्षात् काव्य [वाच्यवाच्य] का अर्थ नहीं मानते उनको भी उन [रसादि] की तन्निमित्तता [वाक्यार्थव्यङ्ग्यता] अवश्य स्वीकार करनी होगी । तब भी इस शब्दको [द्विधा हस्तापन्न] में विरोध नहीं रहता है । क्योंकि अनुपगमन आ अङ्ग [अर्थात् रसाङ्गमूल हस्तापेपादि विभाव] तन्निमित्तक जा उभयरसवस्तु [अर्थात् उन हस्तापेपादिस प्रतीत होतयाळ जो उभय अर्थात् कदण और विमलस्य

सहकारिणो विधीयमानांसाद्भावविशेषप्रतीतिरुत्पद्यते तत्रैव न कश्चिद् विरोधः ।
एवमेते हि विद्वद्बोभयसहकारिणः कारणत्वात् कार्यविशेषोत्पत्तिः ।

विद्वद्बन्धोत्पादनहेतुत्वं हि युगपदेकस्य कारणस्य विद्वद्वं न तु विद्वद्बोभयसहकारित्वम् ।

एवमिदं विद्वद्बन्धोत्पादनविषयः कथमभिनयः प्रयोक्तव्य इति चेत् ? अनूद्यमानैर्विषय-
वाच्यविषये सा साक्षात् सात्रापि भविष्यति । एवं, विष्यनुपादनयाभयेणात्र द्रव्येके
परिहृतत्वात् विरोधः ।

शृङ्गाररूप एवमस्तु एतज्जातीय तत्त्व] यह जिसका सहकारी है ऐसे विधीयमान मंत्र
[शाम्भयशराम्निजन्म्य तुरित्वाद्] से भावविशेष [रतिर्वैषादिविषया भाव—प्रेयोच्छृङ्गार
विषय—शिवके प्रतापातिशयमूलक भक्ति] की प्रतीति उत्पन्न होती है । इसविषय कोई
विरोध नहीं है । दो विद्वद् [अच्छ और भन्निरूप शीतोष्ण] जिसके सहकारी हैं ऐसे
[मुख्य] कारणसे कार्यविशेष [बोवन, मात भावि] की उत्पत्ति देखी जाती है ।

[तब तो फिर विरोधका कोई अर्थ ही नहीं रहा यह संधपा भक्तिश्चित्कर हो
जाता है । यह नहीं समझना चाहिये क्योंकि एक कारणका एक साथ [युगपत्]
विद्वद् बन्धोंके उत्पादनका हेतुत्व [मानना यही] विद्वद् है दो विरोधियोंको उसका
सहकारी माननेमें कोई विरोध नहीं है ।

अन्वय इस प्रकार आपने काममें तो कस्य और शृङ्गारके विरोधका परिहार कर दिया ।
परन्तु प्रश्न यह रह जाता है कि यदि अभिनय नाटकमें इस प्रकारका वाक्य भा वाच्य तो उसका
अभिनय करते समय इस प्रकारके विद्वद् बन्धका अभिनय कैसे किया जाय ? इसका उत्तर यह
है कि अनूद्यमान गौण वाच्यार्थके विषयमें 'एहि गच्छ पत उत्तिष्ठ' आदिक अभिनयमें जो प्रकार
अवलम्बन किया जाय वही 'शितो हस्तावल्गना' आदिके विषयमें भी अवलम्बन करना चाहिये ।
इसका अर्थ यह हुआ कि 'शितो हस्तावल्गनाः हस्तादिमें शिवक प्रभावका दौलन करनेमें कस्यके
अधिक उपयोगी होनेसे वह अधिक प्राकरणिक अर्थ है । विद्वद्बन्धशृङ्गार को 'कामीशार्द्रापर्यायः'
इत्यादि उपमावच्छेद आता है और प्रमत्तवातिशयचोदनमें उसका कोई उपयोग नहीं है इसमें यह
दूरत्व अर्थ है । अतएव अभिनय करते समय कस्यरसको प्रमत्त मानकर पहिले 'साधुनेत्रोत्सवामि'
एकका अभिनय कस्योपयोगी अभिनये वक्तके समान भय, पत्रराह्य, विप्लव दधि, अशु आदिका
प्रदर्शन करते हुए, 'कामीशार्द्रापर्याय'पर तनिक-सा प्रत्यक्षोरोचित अभिनय करते फिर 'स ददतु
तुष्टिं'पर उल्लासपूर्व साधेय अभिनय करते म्हेरकरके प्रमत्तवातिशयके चोदनमें अभिनयको समाप्त
करना चाहिये । इती विषयको अगली पंक्तियोंमें स्पष्ट करते हैं—

इस प्रकारका विद्वद्बन्धोत्पादनविषयक अभिनय कैसे करना चाहिये ? यह प्रश्न हो
तो हम प्रकारके [विद्वद्] अनूद्यमान वाच्य [एहि गच्छ, पत उत्तिष्ठ इत्यादि]के विषयमें
जो बात है वही यहाँ भी होगी । [अथात् एहि, गच्छ, पत, उत्तिष्ठ आदिका अभिनय
जिस प्रकार किया जायगा उसी प्रकार 'शितो हस्तावल्गना'में भी कदण और शृङ्गारका
अभिनय किया जा सकता है] इस प्रकार विधि और अनुपादकी नीतिका माध्यम लेकर
हम द्रव्येक [शितो हस्तावल्गना] में विरोधका परिहार हो गया ।

किञ्च, नायकस्वामिनन्दनीबोधपरय कस्यचित् प्रभावातिशयवर्धने तद्व्यतिपद्यार्था
यः कदमो रसः स परीक्षकाणां न वैकल्यवमाहवापि मस्तुव प्रीत्यविम्वमिमित्ततां
प्रतिपद्यते । इत्यवस्तस्य कुण्डलकिञ्चत्वात् तद्विरोधविधायिनो न कश्चिद् दोषः ।
तस्माद् वाक्यार्थीभूतस्य रसस्य भावस्य वा विरोधी 'रसविरोधीति' वक्तुं न्याय्यः न
स्वहृत्भूतस्य कस्यचित् ।

अथवा वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित् कदमरसविषयस्य तादृशेन गृह्यारण्यसुना
मङ्गिद्विरोधाभयेण संशयजनं रसपरिपोषावैक जायते । अतः प्रकृतिमधुर्याः पदार्थाः श्राव
नीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः संस्मर्त्तव्यैर्विज्ञासैरधिकतरं 'दोषाभेदमुपपन्नपन्थि ।
यथा—

अथं स रसमोक्षार्थी पीनस्तनविमर्दनः ।

नाभ्युदग्रपनस्यार्थी नीबीबिसंसनः करः ॥

इत्यादी ।

और किसी प्रशंसनीय अक्षरप्राप्त नायकके प्रभावातिशयके वर्धनमें उसके
शत्रुओंका [शत्रुओंसे सम्बन्ध रक्षनेवाला] या कदमरस [होता है] वह विवेकशील
प्रेक्षकोंका विफल नहीं करता अपितु आमन्यातिशयका कारण बनता है अतएव विरोध
करनेवाले उस [कदम] के कुञ्चित भाषि [विचित्रवृत्तिकर स्वकार्योत्पादनमें असमर्थ]
होनेसे कोई दोष नहीं होता । इसलिये वाक्यार्थीभूत [प्रधान] रस अथवा भावके
विरोधीको ही रसविरोधी कहना उचित है । किसी अहम्भूत [गौण] के [विरोधीको
रसविरोधी कहना उचित] नहीं [है] ।

'विज्ञे इत्यापह्नः'में कदम और गृह्यारण्य विरोधका दो प्रकारसे परिहार दिखना चुके
हैं । अब और प्रकारसे उसी विरोधका परिहार दिखवाते हैं । पहिले सम्बन्धनोंमें कदम और
विषयगृह्यारण्य दोनोंको अन्वय अहम्भूतक तनके अविरोधका उत्पादन किया था । अब इस
वेगरे सम्यग्धनमें गृह्यारण्यको कदमका ही अहम्भूतक समाधान करते हैं—

अथवा वाक्यार्थरूप किसी कदमरसके विषयको उसी प्रकारके वाक्यार्थरूप
गृह्यारण्यके साथ किसी सुन्दर वगान जोड़ देनेपर वह रसध्व परिपायक ही हो
जाता है । क्योंकि स्वभावात् सुन्दर पदार्थ श्रोत्रणीय अवस्थाके प्राप्त हो जानपर पूर्व
अवस्थाके [अनुभूतधर] सौन्दर्यके स्मरणसे और भी अधिक शोकायोगको उत्पन्न करते
हैं । अतः—

५. [मम्मोगापसर्जमें] कदमनीके इटानेवाला, उग्रत उरोर्जाका मर्दन करनेवाला,
नाभि जंघा और नित्रम्बका स्पर्श करनेवाला और मारेको आङ्गनवाला पद [प्रियतम-
का] यही हाथ है ।

इत्यादिमें ।

१. दो साः रसः इतक वाक्ये ही में अधिक है ।

२. शीकवेगं वि, ही ।

तत्र त्रिपुरयुवतीनां शाम्भवाः शरानिरोधरापराधः कामी यथा व्ययहरति^१ तथा व्ययवृत्तवानित्यनेनापि प्रकारेणास्त्येव निर्विरोधत्वम् । तस्माद् यथा यथा निरूप्यते तथा तथात्र दोषभावः ।

इत्थं च—

कामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगच्छैः सदर्भाः स्वलीः,
पादोः पावितयायकैरिव पतद्वाष्पाम्मुषीताननाः ।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्वद्वैरिनार्योऽपुना,
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युघद्विवाहा इव ।

इत्येवमादीनां सर्वेषामेव निर्विरोधत्वमवगन्तव्यम् ।

महामारतक मुद्रमें भूरिभवाक मर धानपर पुद्गलेप्रमे उलके कृते हुए अन्वग पदे हायका रेलकर उलकी फनीक विक्रापके प्रगङ्गम यह स्मोक आया है । यहाँ भूरिभवाके मर पुकनेसे नाविका गत करणरस प्रधान है । पूर्वापस्थानुभूत शृङ्गारका वह स्मरण कर रही है । अतः सम्मर्षमाण वह शृङ्गार यहाँ करणरसका और अधिक उदीरक हो जाता है । इसी प्रकार 'क्षितो हस्ताकस्मन्' में क्षितिसे बल त्रिपुरयुवतियोंका करण, प्रधानरूपसे बान्धाय है । परन्तु शाम्भव शरान्निही पेशाओंके लक्ष्मीकनने पूवानुभूत प्रणयकस्वके वृत्तान्तका स्मरण शोकका उदीपनविभाव बनकर उलके और परिपुत्र करता है ।

इसलिए यहाँ आत्रापरपथ कामी जैसा व्ययहार करता है शाम्भव शरान्निने त्रिपुरयुवतियोंके साथ उसी प्रकारका व्ययहार किया । [अतएव समयमाण कामी व्ययहार वर्तमान करणरसका परिपोषक होता है] इस प्रकारसे भी निर्विरोधत्व ही ही । अतः इसपर क्षितमा-क्षितना अधिक विचार करते हैं उतना ही उतना अधिक दोषा भाव प्रतीत होता है ।

और इस प्रकार—

६ धायल हर्ष कामल अंगुलियोंस रक्त टपकाती बुर अतएव मानां महायग लग हुए धैरोंसे बुद्धाङ्गुल्युक्त भूमिपर बलती हर्ष गिरते हुए औत्तुमांस मुसको धाय हुए, मयमीत हानेसे पतियोंके हाथमें हाथ पकड़ाये हुए, तुम्हारे अनुभोंकी क्षियों इस समय फिर दुपारा विधाहके लिए उद्यत-सी दावाग्निके चारों ओर घूम रही हैं ।

इस प्रकारके सभी [उदाहरणोंमें विद्यय प्रतीत होनेवाले रसाक्षिों] का अर्थ रोध समझना चाहिये ।

यहाँ विवाहकी स्मृति अनुभवियोंके वर्तमान विपत्तिमूलक श्लोकरूप स्वाभिवाचक उदीरन विभाव बनकर दण्डातिरोधको व्यक्त करती है । यहाँ 'बाष्पाम्मुषीतानना' में विवाहकालमें बाष्पाम्मुषा उद्यम होमाधिक धूमने अथवा परिवार और परसे स्वागम्य दुःखके कारण वृमसना चाहिये ।

१ 'म पाद वा नि में अधिक है ।

एवं तावद्रसादीनां
वर्शिताः ॥२०॥

विशेषिरसादिभिः

समावेशसमावेशयोर्बिंपयविभागो

इदानीं तेषामेकप्रथमभक्तिविशेषेण न्याय्यो वा क्रमस्तं प्रतिपादयितुमुच्यते—
प्रसिद्धेऽपि प्रयन्धानां नानारसनियन्धने ।
एको रसाऽद्वीकर्त्तव्यस्तपामुत्कर्षमिच्छता ॥२१॥

प्रबन्धेषु महाकाव्यादियु नाटकादियु वा विप्रकीणतया लज्जाङ्गिभावेन 'बहवो
रसा उपनिबन्धन्त' इत्यत्र प्रसिद्धी सरमामपि यः प्रयन्धानां छायातिशययोगमिच्छति तेन
तेषां रसानामन्यतमः कश्चिद् विवक्षितो रसोऽर्हतिरनेन विनिवेशयितव्य इत्यर्थं युक्ततये
मार्गः ॥२१॥
ननु रसान्तरेषु बहुषु प्राप्तपरिपोषेषु सत्सु रूपमेकरसाङ्गिता न विदुष्यत इत्यास
ङ्गेष्वेवमुच्यते—

इस प्रकार रसादिका विशेषी रसादिके साथ समावेश और अलमावेशका
विषयविभाग प्रदर्शित कर दिया ॥२०॥
काव्यादिमें एक ही रसकी मुख्यता होनी चाहिये

अथ उक्त [रसों] के एक प्रयन्धमें सन्निवेश करनेके विषयमें जो उचित ध्ययस्या
है उसका प्रतिपादन करनेके लिए कहते हैं—
प्रबन्धों [महाकाव्य या नाटकादि] में अनेक रसोंका समावेश प्रसिद्ध [प्रत्य
मुनि आदिस प्रतिपादित तथा प्रशंसित] होनेपर भी उनके उत्कर्षका चाहनेवाले [कवि]
का किन्ती एक रसका अङ्गी [प्रधान] रस [अपश्य] समाना चाहिये ॥२१॥

महाकाव्यादि [अभिमिनय] अथवा नाटक आदि [अभिमिनय] प्रबन्धोंमें [मायक
प्रतिमायक, पताकानायक, प्रकरीनायक आदि निष्ठत्वेन] बिसरे [विप्रकीर्ण] रूपमें
अङ्गाङ्गिभाष्यमें अनेक रसोंका निबन्धन किया जाता है इस प्रकारकी प्रसिद्धि [परिपाटी]
होमपर भी जो [कवि] प्रबन्धके लौन्योतिशयको चाहता है उस उक्त रसोंमेंसे किसी
एक प्रतिपादानामित रसको ही प्रधानरूपसे समाधिष्ट करना चाहिये । यही अधिक
उचित मार्ग है ॥२१॥
एक रसकी मुख्यताका उपपादन

प्रबन्धमें अनेक रस रखते हुए भी एक रसका अङ्गी बनाना चाहिये वह ऊपर कहा है ।
प्रत्य प्रत्य कह है कि वह अन्य रस यदि परियोग्यात हैं उन तो वे अङ्ग नहीं हो सकते प्रधान ही
हीने और यदि परियोग्यात नहीं हैं तब वे रस नहीं करे जा सकते । एही दशमें उक्त और
अङ्गत्व से दोनों बातें बिकर हैं । अत अन्य रसोंक होनेपर वह अङ्ग रह और एक रस अङ्गी बन
अन्य अनेक रसोंके [एक साथ] परिपायप्राप्त होमपर [उक्तमेंसे किसी] एकका
अङ्गी हागा पिराधी क्यों नहीं हागा इस बातकी आशङ्का करके यह कहते हैं—

१ 'वा' वाद अधिक है वि ।
२ प्रायतितधमिच्छति वि ।

रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः ।

नोपहृत्यङ्कितां सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः ॥२२॥

प्रबन्धेषु प्रथमतः प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसंधीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकृद्व्यङ्ग्यापिनो^१ रसान्तरैरन्तरालवर्तिभिः समावेशो यः स नाङ्कितामुपहन्ति ॥२२॥

एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते ।

तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते ॥२३॥

सन्ध्यादिमयस्य प्रबन्धशरीरस्य तथा कार्यमेकमनुपायि व्यापकं कल्प्यते न च सन् कार्यान्तरैर्न सङ्कीर्यते, न च तैः सङ्कीर्यमाणस्यापि तस्य प्राधान्यमपधीयते, तथैव रसस्याप्येकस्य सन्निवेशो क्रियमाणे विरोधो न कश्चित् । प्रस्तुत प्रत्युदितविषेकानामनुसंधानवतां सचेतसां उपायिचे विषये प्रह्लादाविशयः प्रवर्तते ॥२३॥

[प्रधानरसका] अन्य रसोंके साथ प्रस्तुत [प्रधान] रसका जो समावेश है वह स्थायी [प्रबन्धव्यापी] रूपसे प्रतीत होनेवाले इस [प्रस्तुत प्रधानरस] की अङ्किता [प्राधान्य] का विघातक नहीं होता है ।२२।

प्रबन्धों [काव्य या नाटकादि] में [अन्योंकी अपेक्षा] प्रथम प्रस्तुत और बार-बार उपलब्ध होनेसे जो स्थायी रस है, सम्पूर्ण प्रबन्धमें [आधान्त] धर्ममान उस रसका बीच-बीचमें आये हुए अन्य रसोंके साथ जो समावेश है वह [उसके] प्राधान्यका विघातक नहीं होता है ।२२।

इसीके उपपादन करनेके लिए कहते हैं—

सैने प्रबन्धमें [आद्योपान्त] व्यापक [प्रासङ्गिक अथवातर कार्य अथवा आबधान वस्तु]में परिपुष्ट एक प्रधान कार्य [विषय आस्थान वस्तु] रखा जाता है [और अथांतर अनेक कार्य उसको परिपुष्ट करते हैं] इसी प्रकार रसके विधान [एक प्रबन्धव्यापी अथवा रसके साथ अङ्गभूत अथवातर रसोंके समावेश] में भी विरोध नहीं है ।२३।

सन्धि आदिसे युक्त प्रबन्ध [मुक्त, प्रतिमुक्त, गर्भ, विमर्श तथा विर्यङ्ग सन्धि रूप पञ्चसन्धियुक्त प्रबन्ध अथात् नाटकादि] शरीरमें जैसे समस्त प्रबन्धमें व्यापक निरन्तर विद्यमान एक [आधिकारिक वस्तु] कार्यकी रचना की जाती है। यह आधिकारिक वस्तु [कार्य] अथ [प्रासङ्गिक] कार्योंसे सङ्कीर्ण नहीं होता जो सा शत नहीं है। [अन्य प्रासङ्गिक वस्तुओंमें आधिकारिक वस्तुका सम्बन्ध अवश्य होता है] परन्तु उससे सम्बन्ध होनेपर भी उस [आधिकारिक मुख्य कथावस्तु] का प्राधान्य कम नहीं होता है। इसी प्रकार [अङ्गभूत रसोंके साथ प्रधानभूत] एक रसका [अङ्कित्येन] सन्निवेश करनेमें कोई विरोध नहीं होता। अपितु विषेकी और पारस्वी सद्दयोंको इस प्रकार के विषयोंमें और अधिक आनन्द माता है ।२३।

१ मङ्गलरसव्यापिका नि सकृद्व्यङ्ग्यापिता ही ।

ननु येषा रसानां परस्परविरोधः यथा वीरशृङ्गारयोः, शृङ्गारहास्ययोः, शृङ्गारयौः, वीरशृङ्गारयोः, वीरयौत्रयोः, रौद्रकणयोः, शृङ्गारशृङ्गारयोर्वा तत्र भवत्वङ्गा
 जिभावः। येषां तु स कर्म भवेद् येषां परस्परं बाध्यबाधकभावो यथा शृङ्गारभीमस्तयोः,
 वीरभयानकयोः, शान्तरीद्रयोः, शान्तशृङ्गारयोर्वा इत्याहः—
 अधिरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे ।
 परिपोष न नेत्रव्यस्तथा स्यादधिरोधिता ॥२४॥

बध्य-बाधकविरोधमें अङ्गिताका उपपादन

विरोध दो प्रकारका हो सकता है—एक 'सहानवस्थान विरोध और दूसरा बध्य पाठकभाव विरोध'। सहानवस्थान विरोधमें दो पदार्थ समान रूपसे बदलकर ही स्थितिमें एक जगह नहीं रह सकते हैं और 'बध्य-पाठकभाव विरोधमें एकतरफ बध्यका बध नहीं हो सकता जबतक पाठकका उदय नहीं होता। बाधक पाठकके उदय हो जानेके बाद ही अगले क्षणमें बध्यका नाश हो सकता है। इन दोनों प्रकारके विरोधोंमें बध्य-पाठकविरोध ही मुख्य विरोध है। सहानवस्थान पक्ष गौण होनेसे अधिरोधकत्व है। रसोंमें भी कुछ रसोंका परस्पर सहानवस्थानभावमें विरोध है बाधक से समान स्थितिमें एक साथ नहीं रह सकते हैं और कुछका बध्य-पाठकविरोध है। तो जिनका केन्द्र सहानवस्थान विरोध है उनका तो परस्पर अङ्गाङ्गिभाव ही होनेमें कोई कठिनार्थ नहीं है परन्तु जिनका बध्य पाठकविरोध है उनमें परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं बन सकता है। इस दृष्टिसे यहाँ माधुर्य करने उसके समाधानके लिए अगली कारिका लिखी गयी है। इती भावको लेकर अन्तर्लिका करते हैं—

जिन रसोंका परस्पर अपिरोध है [बध्य-बाधकभावविरोध नहीं है] जैसे वीर और शृङ्गारका [पुरुषनीति पराक्रम आविसे कल्पारत्नके क्षममें] शृङ्गार और हास्य का [हास्यके स्वयं पुरुषार्थ न होने और अनुरजनारम्भ होनेसे], रौद्र और शृङ्गारका [मरुतके मात्पशाक्रम में 'शृङ्गारश्च तैः प्रसन्नं सेप्यते में तैः रौद्रप्रसृतिभिः रसोदान योज्यतमनुप्यैः सेप्यते' इस व्याचवासे रौद्र और शृङ्गारका कथञ्चित् अपिरोध है।

केवल नायिकायिपयक उग्रता बधायनी वाहियं।] वीर और अद्भुतका [वीरम्य खीय परकर्म नोऽद्भुतः म० ना०], रौद्र और कण्यका [रौद्रस्यैष च परकर्म स शपः कडयो परकर्म] अथवा शृङ्गार और अद्भुतका [जैसे 'रत्नायली' में चन्द्रजायिकके बर्षणप्रसङ्गमें, वहाँ अङ्गाङ्गिभाव भले ही हो जाय परन्तु उनका यह [अङ्गाङ्गिभाव] कौसे होगा जितका बाध्यपाठकभाव [विरोध] है। जैसे शृङ्गार और भीमत्वका [बाधन्वन्त रूप नायिकामें अनुपकिसं रतिकी और आलम्बनसे पछायमान रूपसे शुश्रुप्साकी उत्पत्ति होती है, वीर इसलिय आलम्बनैक्यमें रति और शुश्रुप्सा दोनोंका बाधयैक्यमें बध्य-पाठकभावविरोध है], वीर मयानकका [मय और उस्ताहका बाधयैक्यमें बध्य-पाठकभावविरोध है], शान्त और रौद्रका [मैरन्तय और विमाधैक्य दोनों रूपमें बध्य-पाठकभावविरोध है], अथवा शान्त तथा शृङ्गारका [विमाधैक्य तथा मैरन्तयमें विरोध है इनमें अङ्गाङ्गिभाव हीने बनेगा] इस आशङ्कासे यह कहते हैं—

दूस्तर रसके प्रधान होनेपर उसके अधिरोधी अथवा विरोधी [किस्ती भी] रसका परिपोष नहीं करना चाहियं। इससे उनका अपिरोध हो सकता है ॥२४॥
 [अन्वयः] परिपोष नहीं करना चाहियं । इससे उनका अपिरोध हो सकता है ॥२४॥

१ परस्परविरोधक वि ही ।

अङ्गिनि रसान्तरे शृङ्गारादौ प्रपञ्चव्यङ्ग्ये सति, अविरोधी विरोधी वा रसः
परिपोष न नेतव्यः ।

तत्राविरोधिनो^१ रसस्याङ्गिरसापेक्षयात्यन्तमाधिक्यं न कर्तव्यमित्यर्थं प्रथमः
परिपोषपरिहारः । उक्त्यर्थेसान्येऽपि तयोः विरोधासम्भवात् ।

यथा—

एकतो रुद्रश्च पित्रा अर्णतो समरतूरणिगभोसो ।

गेहेण रणरसेन च मत्स्यस्य दोलाश्च द्दिशम् ॥

[एकतो रोदिति मित्रा अन्यत समरतूर्यनिर्घोष ।

स्नेहेन रणरसेन च मत्स्यस्य दोलापितं हृदयम् ॥—इतिच्छाया]

यथा वा—

कण्ठाच्छिखामासाबाहयमिष करे हारमावर्तयन्वी,
हस्ता पर्यङ्कबन्धं विषधरपविना मेस्रसाया गुणेन ।

मिथ्यामन्त्रामिषापस्फुरद्बधरपुटव्यच्छिवाभ्यच्छासा

वेशी सन्व्याभ्यमुवाहसितपशुपतिस्तत्र दृष्टा तु वोऽप्यात् ॥

इत्यत्र ।

प्रधानभूत शृङ्गारादि रसके प्रपञ्चव्यङ्ग्य होनेपर उसके अविरोधी अथवा
विरोधी रसक प्ररिपोषण नहीं करना चाहिये [उस परिपोषणके तीन प्रकारके परि-
हार क्रमसे कहते हैं] ।

१ उनमेंसे अविरोधी रसका अङ्गी प्रधानभूत रसकी अपेक्षा अत्यन्त आधिक्य
नहीं करना चाहिये यह प्रथम परिहार है । उन दोनोंका समान उत्कर्ष हो जाना [तक]
पर भी विरोध सम्भव नहीं है ।

जैसे—

एक भोर मिथतमा रो रही है और दूसरी भोर युद्धके पासेका घोष हो रहा है ।
अन स्नेह और युद्धोत्साहसे धीरका हृदय दोलायमान हो रहा है ।

[यहाँ धीर और शृङ्गारका साम्य होनेपर भी अविरोध है]

अथवा [दा रसोंमें साम्य होनेपर भी अविरोधका दूसरा उदाहरण] जैसे—

गलेमेंसे हारको तोड़ [निकाळ] कर हाथमें अपमाढाके समान उसको फेरती
हुई, नागराजके स्थानपर मेघनाम्नसे पर्यङ्कबन्ध आसन बाँधकर झूठमूट मन्त्र
जपके कारण हिलते हुए अधरपुटमें अभिम्यस्र हासको प्रकट करती हुई मन्व्या
नामक [सपत्नी] के प्रति ईर्ष्यावश महाबधका उपहास करती हुई बंधी गयी, बंधी
पार्यती तो मुन्हारी रक्षा करें ।

रसमें [प्रकृत ईर्ष्याधिप्रसम्म, और तद्विरोधी मन्त्रअपादिसे व्यङ्ग्य शान्त रस
दोनों रसोंका साम्य होनेपर भी विरोध नहीं है] ।

अङ्गिरसविरह्यानां धम्मिचारिणां प्राप्नुयेन्नानिवेक्षणम्, 'निवेक्षने वा क्षिप्रमेवाङ्गिरस-
व्यमिधार्येनुवृत्तिरिति द्वितीयाः ।

अङ्गस्वेन पुनः पुनः प्रत्यवेक्षा परिपोषं नीयमानस्याप्यङ्गभूतस्य रसस्येति तृतीयाः ।
अनया विज्ञानयेदपि प्रकारा उच्छेदधीनाः । विरोधितस्तु रसस्वाङ्गिरसापेक्षया कस्यचिन्म्यु-
नया' सम्पादनीया, यथा शास्त्रेऽङ्गिनि गृह्यारस्य गृह्यारे वा हान्तव्यम् ।

परिपोषयित्वा रसस्य कर्म रसस्वमिति चेत्, उक्तमत्राङ्गिरसापेक्षेयैः । अङ्गिनो
हि रसस्य वाचाम् परिपोषस्ताथास्तस्य न कर्तव्यः । 'स्वस्तु सम्भवी परिपोषः केन
वार्यते ।

२. अङ्गिरसके विरह्य, धम्मिचारी मार्षोका अधिक निवेश न करना अथवा
निवेश करकेपर शीघ्र ही अङ्गिरसके धम्मिचारी रूपमें परिणत कर देना यह [परिपोषके
परिहारका] दूसरा [प्रकार] है ।

विरोधी रसके धम्मिचारिमार्षोका यदि निवेश न किया जाय तो उक्त परिपोष ही नहीं होय
और न वह रस कहा जा सकेगा । अतएव 'वा' से पहले विरह्यस्वी प्रवक्ष्या सुचित होती है और
वे दोनों विरह्य अलग अलग नहीं हैं वह भी सुचित होता है । अम्यका टीके के तानपर पार परिहार
पथ वन आये । दूसरा पथ यह है कि विरोधी रसके धम्मिचारिमार्षका निवेश करनेपर भी उक्तके
शीघ्र ही अङ्गी रसके धम्मिचारिमार्षरूपमें परिणत कर देना चाहिये । जैसे पृष्ठ ११६ पर दिखे हुए
कोपाल कोमलमेखलादुस्वस्विकापद्येन" इत्यादि श्लोकमें अङ्गीभूत रसमें अङ्गरूपते को रौद्रके स्वादि
भाव शोधका निवेश किया है उसमें 'वद्व्या इदं' इत पदसे उपनिबद्ध रौद्ररसके धम्मिचारिमार्ष [शोध]
का 'स्वस्तु' और 'इत्त' द्वारा शीघ्र ही रसके धम्मिचारिमार्ष रूपां औत्सुक्य और हर्षस्वमें पूर्व
बधान हो जाता है अतएव रौद्रका परिपोष नहीं हो पाता । यह विरोधी रसके परिपोषपरिहारका
द्वितीय प्रकार हुआ । उसमें विरोधी धम्मिचारिणोंके अनिबधनी अपेक्षा अङ्गिरस धम्मिचारिण
अनुत्पन्न अधिक प्रबल सम्पन्ना चाहिये वह उच्छेदकका शब्दप प्रन्कारने 'वा' पदसे सुचित
किया है ।

३. अङ्गभूत रसका परिपोष करनेपर भी बार-बार उसकी अङ्गरूपताका ध्यान
रखना यह [परिपोषके परिहारका] तीसरा [प्रकार] है । [इस विषयमें 'तापस वस-
राज'में वासराजके पद्यायत्रीविषयक सम्मोगगृह्यारको उदाहरणरूपमें रखा जा सकता
है ।] इस शैलीसे अन्य प्रकार भी [अर्थ] समझ लेने चाहिये । [जैसे] किसी विरोधी
रसकी अङ्गी रसकी अपेक्षा न्यूनता कर लेनी चाहिये । जैसे शास्त्ररसके प्रधान होनेपर
गृह्यारकी अथवा गृह्यारके प्रधान होनेपर शास्त्रकी ।

परिपोष प्राप्त हुए बिना रसका रसत्व ही कैसे चलेगा ? यदि यह पूछा जाय तो
[इसके उत्तरमें] 'अङ्गिरसापेक्षया' कहा गया है । [अर्थात्] अङ्गिरसका जितना
परिपोष किया जाय उतना परिपोष उस [विरोधी रस] का नहीं करना चाहिये । सर्व
दातवासे [साधारण] परिपोषका हीन मना करता है ।

१ निवेशम् मि ।

२ वा सम्पादनीया मि ।

३ स्वगतस्तु सम्भवी मि ही ।

एतच्छापेक्षिकं प्रकृपयोगित्वमेकस्य रसस्य बहुरसेषु प्रबन्धेषु रसानामङ्गाङ्गिभाषमन
भ्युपगच्छताप्यशक्यप्रतिभेपमित्यनेन प्रकारेणाधिरोधिनां विरोधिनां च रसानामङ्गाङ्गिभावेन
समावेशे प्रबन्धेषु स्वाविविरोधः ।

एतच्च सर्वं येषां रसो रसान्तरस्य व्यभिचारी भवति इति दर्शनं तन्मतेनोच्यते ।
मत्तान्तरे तु रसानां स्थायिनो भावा उपनाराद् रसस्यदेनाच्छस्तेषामङ्गत्वं निर्विरोधमेव ।

अनेक रसोंवाले प्रबन्धोंमें रसोंके परस्पर अङ्गाङ्गिभाषका न माननेवाले भी इस
भाषेसिक [प्रधानरसका अधिक और शेष रसोंका कम] प्रकृतिका धण्डन नहीं पर
सकते हैं । इस प्रकारसे भी प्रबन्धोंमें अधिरोधी और विरोधी रसोंके अङ्गाङ्गिभाषसे
समावेश करनेमें अधिरोध हो सकता है ।

जो लोग रसोंका अङ्गाङ्गिभाष या उपकारोपरकारकभाव नहीं मानते हैं उनका कहना यह
है कि रस तो उसीका नाम है जो स्वयं स्वस्वकारक है । यदि उसकी स्वस्वस्वकारकमें विभक्ति
नहीं होती है तो वह रस ही नहीं है । अङ्गाङ्गिभाष अथवा उपकारोपरकारक भाष माननेम वा अङ्गभूत
या उपकारक रसकी स्वस्वस्वकारकमें विभक्ति नहीं हो सकती है अतः वह रस नहीं कहना सकता है ।
रस वह ठीकी हागा वह स्वस्वस्वकारकमें ही उसकी विभक्ति हो जाय । उस दशामें वह किसी दूसरेका
अङ्ग नहीं हो सकता है । इसलिए रसोंमें अङ्गाङ्गिभाष सम्भव नहीं है । बिनका यह मत है उनको भी
अनेक रसोंसे प्रबन्धोंमें किसी वारतम्भको मानना ही होगा । इसी वारतम्भका दूसरा रूप अङ्गाङ्गिभाष
है । इसलिए नामसे वे मते ही अङ्गाङ्गिभाष न मानें परन्तु वारतम्भरूपसे मानते ही हैं । अन्यथा
कथाबल [इतिहाससङ्ग्रह] का निमाण ही नहीं हो सकेगा ।

यह सब बात उनके मतसे कही गयी है जो एक रसको दूसरे रसमें व्यभिचारी
[अङ्ग] होनेका सिद्धान्त मानते हैं । दूसरे [रसका रसान्तरमें व्यभिचारित्य अथात्
अङ्गत्य न माननेवाले] मतमें रसके स्थायिभाव उपधारसे हम शब्दसे कह गये हैं [जसा
समाधान समझना चाहिये] । उन [स्थायिभावों] का अङ्गत्य तो निर्विरोध है [अथात्
स्थायिभावोंको अङ्ग माननेमें उनको भी कोई आपत्ति नहीं है जो रसोंका अङ्गत्य स्वीकार
नहीं करते हैं] ।

रसोंके परस्पर अङ्गाङ्गिभाषक विषयमें ऊपर बिन दो मतोंका उल्लेख किया गया है उनका
आधार भरत नाट्यशास्त्रकः 'माषमङ्गक' नामक छतम अध्यायके अगमग अन्तमें पठित निम्नलिखित
श्लोक है—

बहुनां समवेतानां रूपं यस्य भवद् बहु ।

स मन्तव्या रतः स्वकी शयाः शब्दार्थो मत ॥

—म ना ७ ११९

उक्त शानों मन्त्रासे इस श्लोककी भिन्न-भिन्न प्रकारसे व्याख्या करत हैं । रसोंमें अङ्गाङ्गिभाष
या स्वयं उपकारिभाष माननेवालोंके मतमें इसका अर्थ इस प्रकार हाठा है कि, विस्तृतस्वरूप अनेक

१ निदर्शनं चि ।

२ मत्तान्तरेऽपि चि ।

३ तेषामङ्गित्वे निर्विरोधित्वमेव चि तेषामङ्गित्वे निर्विरोधित्वमेव ही ।

एवमविरोधिनां विरोधिनां च प्रबन्धत्वेनाङ्गिना रसेन समावेश साधारणमविरोधो
 पार्य प्रतिपाद्येदानीं विरोधिविषयमेव' तं प्रतिपादयितुमिदमुच्यते—

म्यामिं भिषका रूपं यदु भगवत् अभिषेक प्रबन्धभाष्ये हो उक्तो म्यामी रस मानना चाहियं और
 शेषका स्वमिचारी रस । इस मन्तमें 'रस रयासी' वह अन्ध-अन्ध पर है । यह रस स्थयी अर्थात्
 अही रस होता है शेष रस सञ्चारी अथवा अद्वरस हात हैं । किसी किसी जगह 'रस' स्थायी रस
 प्रकारके निरवयुक्त पाठके स्थानपर रस स्थायी ऐसा निरवयुक्त पाठ है । उस दशममें इस मतवाले
 'सपरे धारि' इस वार्तिकसे बिसगका वैकल्पिक शेष मानकर सञ्चालि क्यता है । एव प्रकार इस मन्तमें
 मन्तमुनिने रसके रयासी अर्थात् अहीरूप और सञ्चारी अर्थात् अद्वरस दोनों स्वीकार किये हैं ।
 मन्तमुनिने मद्युरिखिनिको रसके म्यामी सञ्चारी माननेबाध फलका समर्थक बताते हुए लिखा है
 कि 'तथा च मद्युरिरस्य' कि रथानामपि स्वामिच्यारिठारसीति आश्रित्वाभ्युपगमेनैवोचरमयोचद्
 शब्दमिति । अतः रसका स्थायी सञ्चारी भाव अर्थात् अज्ञाङ्गिमात्र होता है यह मद्युरिखिनिको
 भी अभिमत है । अतएव इस मन्तको ही प्रधान मानकर आलोचकारने भी विस्तारपूर्वक उक्तके
 उपपादनका प्रयत्न किया है ।

दूसरे मतवाले रसस्वायीको एक समस्त पर मानते हैं और उद्यमे द्वितीयाभिवादीतपक्षिगता
 एवमासाफनी इस पारिनिष्कामे स्थित "गमिगम्भादीनामुपसंभानम् वार्तिकसे समाप्त मानकर
 रथाना रथेयु वा स्थायी रसस्थयी एसा विभ्रद करते हैं । यह रसके नहीं उनके स्वामिभावका अज्ञा
 द्विग्यत्र अथवा स्वाभिसञ्चारिभाव मानते हैं । एक रसमें स्वामिभाव होनेपर भी वह दूसरे रसका
 सञ्चारिभाव हा सकता है । जैसे श्लेष रीतरसका स्वाभिसञ्चार होनेपर भी बीररसमें स्वामिचारिभाव
 होता है । अथवा एक रसमें जो स्वामिचारिभाव है वही दूसरे रसमें स्वामिभाव हो सकता है । जैसे
 एतज्ज्ञानविषयक निर्वैद घान्तरसमें स्वामिभाव होता है वद्यपि अन्य जगह वर स्वामिचारिभाव ही है ।
 अथवा कहीं एक स्वामिचारिभाव भी दूसरे स्वामिचारिभावकी अपेक्षा स्थायी हो जाता है जैसे
 'त्रिभुवेषधीय नागज्जम यतुम अद्भुम उगमाद् । इव प्रकार म्यामीकी स्वाभिता और सञ्चारिताकी प्रति
 पादन करनेके स्थि भरतमुनिने यह स्पेक लिखा है । यह इस मज्जासौका कहना है । वे स्पेकके
 पदोंका समन्वय इत प्रकार करते हैं कि निरवयुक्त रूप अनन्त मार्गमेंसे भिषक अधिक बिलुप्त रूप
 उपलब्ध हाता है वह रथानी भाव होता है और वही रसीकरण योग्य होता है । इसीसे उक्तको रसस्वायी
 करते हैं । शेष सब स्वामिचारी होते हैं । अतः एक रसका स्वाभिसञ्चार दूसरेका स्वामिचारी अथवा एक
 रसका स्वामिचारिभाव दूसरेका स्वाभिसञ्चार हो जाता है ।

इस प्रकार पहिले मन्तमें साक्षात् रसोंका और दूसरे मन्तमें उनके स्थयी मार्गोंका साक्षात्,
 और परत्यय या लक्षणासे रसोंका अज्ञाङ्गिमात्र या उपकारोपकारकभाव हो सकता है । इसस्थि
 दोनों ही मन्तमें विरोधी रसोंके अविरोधका उपपादन किया जा सकता है । १२५।

एकाग्रयमें विरोधी रसोंका अविरोधसम्पादन

इस प्रकार प्रबन्धरूप प्रधान रसके साथ उसके अविरोधी तथा विरोधी रसोंक
 समावेशमें साधारण अविरोधभाषायका प्रतिपादन करके अथ [विशेष रूपसे] विरोधी
 रसके ही उस [अविरोधभाषायक] का प्रतिपादन करनेके छिप यह कहते हैं—

१ विरोधिविषये नि ही ।

विरुद्धैकाग्रयो यस्तु विरोधी स्यायिनो भवेत् ।

स विभिन्नाग्रय कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ॥२७॥

एकाधिकरण्यविरोधी नैरन्तर्यविरोधी चेति द्विविधो विरोधी । तत्र प्रबन्धस्थेन स्यायिनाङ्गिना रसेनौचित्यापेक्षया विरुद्धैकाग्रयो यो विरोधी यथा बीरेण मयानकः स विभिन्नाग्रयः कार्यः । तस्य बीरस्य य आग्रयः प्रधानायकस्तद्बिषयविषयस्ये सन्निवेशयिष्यः । तथा सति च तस्य विरोधिनोऽपि यः परिपोषः स निर्दोषः । विषयविषयस्ये द्विभयातिशयवर्णने नायकस्य नयपराम्प्रादिसम्पत् सुतरायुधादिता भवति । एतच्च मधीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसङ्गे ब्रह्मघने प्रदर्शितम् ॥२५॥

एवमेकाधिकरण्यविरोधिनः प्रबन्धस्थेन स्यायिना रसेनाङ्गमाश्रयाने निर्बिरोधिस्त्वं यथा तथा दर्शितम् । द्वितीयस्य तु सप्रतिपादयितुमुच्यते—

स्यायी [प्रधान] रसका सो विरोधी ऐकाधिकरण्यरूपसे विरोधी हो उसको विभिन्नाग्रय कर देना चाहिये, [फिर] उसके परिपोषमें भी कोई दोष नहीं है ।२५।

विरोधी [रस] दो प्रकारके होते हैं १ ऐकाधिकरण्यविरोधी और २ नैरन्तर्य विरोधी । [ऐकाधिकरण्यविरोधीके भी फिर दो भेद हो जाते हैं आलम्बनके ऐक्यमें विरोधी और आग्रयके ऐक्यमें विरोधी] इनमेंसे प्रबन्धके प्रधानरसकी दृष्टिसे जो एकाधिकरण्यविरोधी रस हो जैसे बीरसे मयानक उसको भिन्न आग्रयमें कर देना चाहिये । [अर्थात्] उस बीरका जो आग्रय प्रधानक, उसके विषय [प्रतिनायक] में [उस मयानकरसका] सन्निवेश करना चाहिये । ऐसा होनेपर उक्त विरोधी [मयानक] का परिपोषण भी निर्दोष है । [क्योंकि] विषय [दात्र] विषयक मयके अतिशयके यत्नसे नायककी नीति और पराक्रम आदिका पाहुन्य प्रकाशित होता है । यह बात मेरे 'अर्जुनचरित [नामक काव्य] में अर्जुनके पातालागमनके प्रसङ्गमें स्पष्ट रूपसे प्रदर्शित की गयी है ।

ऐकाधिकरण्यविरोधीका अर्थ यह है कि समान अधिकरण या आग्रयमें दोनों रस न रह सकें, जैसे बीर और मयानक । वे दोनों रस एक आग्रय अर्थात् एक नायकमें एक साथ नहीं रह सकते हैं । बीरका स्वाभिमाव 'उत्साह' और मयानकका स्वाभिमाव 'मय' ये दोनों एक जगह सम्भव न होनेसे इन दोनोंका आग्रय ऐक्यमें विरोध है । इसका परिहार करनेका सीधा उपाय यह है कि बीर को नायकनिष्ठ, और मयानकको प्रतिनायकनिष्ठरूपसे उपनिष्ठ किया जाय । ऐसा करनेसे उक्त बीरविरोधी मयानकका परिपोष न केवल निर्दोष होगा अपितु बीररसका उत्कृष्टाश्रयक होगा ।२५।

नैरन्तर्यविरोधी रसोका अविरोधमम्पादन

प्रबन्धस्य प्रधानरसके साथ ऐकाधिकरण्यरूप विरोधीका अङ्गमात्र होकर निम्न प्रकार अविरोध हो सकता है यह प्रकार दिखसा दिया । अथ दूसरे [अर्थात् जिनके निरन्तर समावेशमें विरोध होता है उन नैरन्तर्यविरोधियों] के भी उक्त [अविरोधोपपादक प्रकार] को दिखानेके लिए यह कहते हैं—

एकाध्वपत्वे निर्वापो नैरन्तर्ये विरोधवान् ।

रसान्तरव्ययधिना रसो व्यङ्ग्यो' सुमेघसा ॥२६॥

यः पुनरेकाधिकरज्ज्वले निर्बिरोधो नैरन्तर्ये तु विरोधी स रसान्तरव्ययभावेन प्रकल्पे निवेशयितव्यः यथा छान्तरगृह्णायै नागानन्द निवेशायै ।

जित [रज्ज्व] के एक आध्वयमें मिश्रणमें दोष नहीं है [परन्तु] निरन्तर [पास पास अपव्ययहित रूपसे] समावेशमें विरोध आता है, उसको [दोनोंके] बीचमें अधिकारी रसके व्ययतसे व्यवहित करके सुखिमात् कथिका धर्मन करना चाहिये ॥२६॥

और जो [रज्ज्व] एक अधिकरज्ज्वमें अविरोधी है परन्तु नैरन्तर्यमें विरोधी है उसका दूसरे रसके व्यवधानसे प्रकल्पमें समावेश करना चाहिये । जैसे 'नागानन्द'में शान्त और गृह्णार का [बीचमें दोनोंके अविरोधी अद्भुतरसके समावेशसे व्यवहित करके] समावेश किया गया है ।

छान्तरसकी स्थिति

'नागानन्द'में "यगस्यास्यस्मिन्वैमि न च मे प्लोति न प्रत्य" इत्यादि छेकर परार्धघटीर वितरणरूप निर्वहणप्रवृत्त छान्तरक है । और उसका विरोधी मन्वपवटीविषयक गृह्णार है । इस दोनों के बीचमें दोनोंके अविरोधी अद्भुतरसका 'अहो गीतमहो वाचिभम्' आदिसे लम्बेघ और उली-की पुष्टिसे श्लि "म्यच्छिन्नज्ञानवापुना" आदिका समावेश किया गया है । इस प्रकार नैरन्तर्यविरोधी रसोंके बीचमें अविरोधी रसका समावेश कर देनेसे उनका अविरोध हो सकता है ।

यहाँ प्रत्यकारन 'नागानन्द'के शान्त और गृह्णाररसका उदाहरण दिया है । परन्तु कुछ लोग छान्तरसको अलग रस ही नहीं मानते हैं और न 'नागानन्द'को छान्तरप्रधान नाटक मानते हैं बल्कि उसका मुख्य रस दबाबीर मानते हैं । इस विषयका विशेष रूपसे उपपादन श्री धनञ्जयके 'दशरूपक' और उसकी बलिद्विविधित टीकामें पाया गया है । यहाँ आलोचकारने इस मतका मन्वदन करके छान्तरसको अलग रस सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है । छान्तरसको न माननेवाले बलिद्वके लेखका कारण यह है कि—

कुछ ध्यान करते हैं कि भरतमुनिने छान्तरके विभागादिका प्रतिपादन नहीं किया है अतएव छान्तरक नहीं है । दूसरे लोग करते हैं कि अनारिकासीम युगहोरेके प्रपादका स्वभाव उपलब्ध अन्तम्व होनेसे युगहोरेषुप्रवृत्त छान्तरस सम्भव नहीं है । तीसरे लोग और आदि रसमें छान्तररसका अन्तम्व करते हैं । इनमेंसे कोई एक माना जाय वा न माना जाय इसमें बलिद्वको कोई आपत्ति नहीं है । उनका करना तो यह है कि नाटकमें छान्तररसकी पुष्टि नहीं हो सकती है । क्योंकि छान्तरकी स्थितिमें लम्बे लम्बापवटीका विलय हो जाता है । उस लम्बे लम्बापवटीका रूप छान्तररसका अन्तम्व हो ही नहीं सकता है अतएव बलिद्व और धनञ्जय नाटकमें हमारे स्वनिर्मापवटीका निषेध करते हैं— यममसि केचिन् प्राङ्गु पुष्टिर्नैतस्य नास्येपु ।"

निर्देदारिताद्कम्पादस्थायी स्वयमे कथम् ।

वैरस्यास्य लक्ष्मणेनापि स्थानिो मताः ॥—इयं क. ५, ३६

शान्तरस्य तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तस्मिन्नापो रसः प्रतीयत एव । तथा चोक्तम्—

पक्ष्य कामसुखं लोके पक्ष्य दिव्यं महत् सुखम् ।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नाहृतः पोडर्शा कलाम् ॥

यदि नाम सर्वभ्रान्तनुभवगोचरता तस्य नास्ति नैतावताऽसावत्येकसामान्यमनुभाव चित्तवृत्तिविशेषः^१ प्रतिक्षेपुं क्षम्यः । 'न च धीरे तस्यान्तर्भावः कर्तुं युक्तः । तस्याभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात् । अस्य बाह्यकारप्रशमैकरूपतया स्थितेः । तयोर्बैधविधविशेषसङ्गत्वेऽपि यद्येकं परिकल्प्यते तद्वीररीन्द्रयोरपि तथा प्रसङ्गः । दयावीर्यादीनां तु चित्तवृत्तिविशेषाणां सर्वाकारमहङ्काररहितत्वेन शान्तरसप्रभेदत्वम्, इतरथा तु वीररसप्रभेदत्व

अथात् स्वाभिभावका ओ मह लक्षण क्रिया गया है कि—

विरुद्धैर्यदिदृशा भावैर्विच्छिद्यते न यः ।

आत्मभ्रमं नपत्यम्यान् च स्वायी भ्रममाकर ॥—दृष्ट क ४ २४

बहू निर्वेदमें नहीं पड़ता है । इसलिये वह स्वाभिभाव नहीं केवल स्वभिचारिभाव है और उसका सर्वव्यापारोपरत्वरूप होनेसे उसका परिपोष भी नाटकमें नहीं हो सकता है । यदि क्रिया आयेगा तो वह नीरस ही होगा । अतः निर्वेद स्वाभिभाव नहीं है और न शान्तरस ही कोई रस है । रही 'नागानन्द'की बात तो उसमें शान्तरस कताना ठीक नहीं है क्योंकि उसमें मलयवतीके प्रति अनुयाग और भक्तमें विद्याभरजकवर्तिलकी प्रातिक्षा जा वचन है वह श्यामरसके सर्वथा प्रतिरूप है । अत एव उसमें शान्तरस नहीं अपितु दयावीरके अनुरूप उसका शान्तरस स्वाभिभाव होनेसे वीररस है । इस प्रकार शान्तरसका अन्तर्भाव वीररसमें करते हैं । इन्हीं सब पक्षोंका लक्षण करके शान्तरसकी सिद्धि करनेके लिए आक्षेपकारने अगला प्रसंग उठाया है ।

तृष्णानाशमे उत्पन्न सुखका ओ परिपोष तत्स्वरूप शान्तरस प्रतीत होता ही है [अथात् उसका अपलाप, निषेध नहीं क्रिया आ सकता है] इन्हींसे कहा है—

संसारमें जो काम-सुख, और जो भौतिकिक महान् सुख है ये दोनों तृष्णाक्षय [सन्तोषजन्म] सुखकी साठहवीं कलाके परावर भी नहीं हैं ।

यदि [शान्तरस] सर्वसाधारणके अनुभवका विषय नहीं है तो इन्से असाधारण महापुरुषोंके चित्तवृत्तिविशेषरूप शान्तरसका निषेध नहीं क्रिया आ सकता है । और न वीररसमें उसका अन्तर्भाव करता उचित है । क्योंकि वीररस महङ्कारमय रूपमें स्थित होता है और इस शान्तरकी स्थिति महङ्कारप्रशमरूपसे होती है । उन [शान्त और वीर] दोनोंमें इस प्रकारका भेद होते हुए भी यदि वेक्य माना जाय तो फिर वीर और वीरको भी एक ही मानना होगा । दयावीर आदिकी चित्तवृत्ति विनाय यदि सब प्रकारके महङ्कारमें रहित है तब तो उसको शान्तरसका भेद कह

१ विशेषतः नि ही ।
२ धीरे च तस्यान्तर्भावः कर्तुं युक्तः नि ।

मिति व्यक्त्याप्यमाने न कश्चिद् विरोधः । तदेषमस्ति शान्तो रसः । तस्य चाधिक्यं
रसम्भवधानेन प्रकम्बे विरोधिरससमावेशे सत्यपि निर्बिरोधत्वम् । यथा प्रदर्शिते
विषये ॥२६॥

एतदेव स्थिरीकृतमिदमुच्यते—

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि ।

निवर्तते हि रसयोः समावेशं विरोधिता ॥२७॥

रसान्तरव्यवहितयोरैकप्रकम्बस्ययोर्विरोधिता निवर्तते इत्यत्र न कश्चिद् भ्रान्तिः ।
यस्मादेकवाक्यस्थयोरपि रसयोश्चकवा नीत्या विरुद्धता निवर्तते । यथा—

मूरेणुविष्णुभ्रमपरिजातमात्ररजावासिषयाहुमध्याः ।

गाई शिषाभिः परिरम्भमाणान् सुराहनादिषष्टमुज्ज्वलराजाः ॥

सन्नोषितैः कम्पमुखां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीण्यमानाम् ।

संवीजिताश्चन्दनवारिसेकेः सुगन्धिभिः कल्पज्वाहुर्लैः ॥

विमानपद्मकूटसे निरण्याः कुन्दुत्खाविष्टतया तदानीम् ।

निदिशमानान् छन्दनाद्गुप्तीभिर्षीटाः स्वदेहान् पठितानपश्यन् ॥

सकृते ही कम्पया [अहङ्कारमय चित्तवृत्ति ज्ञानपर] धीररसक्य मेह द्राया पेसी व्यक्त्या
करनसे उक्तमें कोई विरोध नहीं होगा । इस प्रकार शान्तरस है । और विरोधी रसक्य
समावेश रहनेपर भी कश्चिद्व रसके व्यवधानसे प्रकम्बमें उनका समावेश करनसे
विरोध नहीं रहता, जैसा ऊपर दिखलाये हुए [‘भाग्यकम्ब’के] विषयमें है ॥२६॥

विरोधी रसोंमें व्यवधान द्वारा अविरोधसम्पादन

इसीको स्थिर करनेके लिए यह कहते हैं—

एक वाक्यमें स्थित होनेपर भी दूसरे [दार्मिके अविरोधी] रससं व्यपहित हुए
दो [विरोधी] रसोंका समावेश होनेपर उनका विरोध समाप्त हो जाता है ॥२७॥

दूसरे रससं व्यवधान हो जानेपर एक प्रपञ्चमें स्थित [विरोधी] रसोंका विरोध
[भी] मिट जाता है इसमें किसी प्रकारका भ्रम नहीं है क्योंकि उपर्युक्त भीतिसे एक
वाक्यस्व रसोंका भी विरोध नहीं रहता है । जैसे—

मधीन परिजातमासाके परगसे सुरमित पद्मकूटवासे सुराहनाओंसे आदि
जित्त उरास्वच्छधाने, कम्पजलसं सिद्ध सुगन्धित कल्पज्वाले [बन] कुफूर्त्त [पत्तों]
द्वारा पंखा किये जात हुए, विमानके पक्षगोंपर पैठ हुए [युद्धमें मारे गये] धीरों,
कीन्दुत्खलशा छन्दनाओं, [कम्पयुक्तों, स्वर्णयुक्तों] द्वारा अङ्गुली [के सङ्केत] से
दिखलाये जात हुए, पृथ्वीकी धूलमें सने हुए, शृगाळियोंसे गाढ आच्छिन्न, और
मांसाहारी पक्षियोंके रक्तमें सने हुए, तथा दिल्लते हुए पंखोंसे हवा किये जाते धीर
[युद्धभूमिमें] पड़े हुए अपने धारीतोंका बला ।

१ विरुद्धोर्विरोधिता वि ही ।

इत्यादौ । अत्र हि गृह्णारधीभस्सयास्वद्वयोश्च धीररसव्यवधानेन समावेशो न विद्यते ॥२७॥

विरोधमविरोधं च सर्वत्रैतथ निरूपयेत् ।

विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमारतमो^१ ह्यसौ ॥२८॥

स्योच्छ्लक्षणानुसारेण विरोधाविरोधौ सर्वेषु रसेषु प्रवक्ष्यन्त्र च निरूपयेत् सहृदयः । विशेषतस्तु गृह्णारे । स हि रतिपरिपोषात्मकत्वाद्, रतेश्च स्वस्वेनापि निमित्तेन भङ्गसम्भवात्, सुकुमारतमः^१ सर्वेभ्यो रसेभ्यो मनागपि विरोधिसमावेश न सहते ॥२८॥

अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः ।

भवेत् तस्मिन् प्रमादो हि ज्ञातित्येषोपलक्ष्यते^२ ॥२९॥

तत्रैव च रसे सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः सीकुमार्यातिशययोगिनि कविरवाचनवान् प्रयत्नवान् स्यात् । तत्र हि प्रमादतत्त्वस्य सहृदयमभ्ये क्षिप्रमेवावज्ञानविषयता भवति ॥२९॥

इत्यादिमें । यहाँ गृह्णार भार धीमत्सरस्य अथवा उनके अहाँ [स्वायिमायाँ—रति तथा सुगुप्ता]का धीररसके व्यवधानसे समावेश विरुद्ध नहीं है ।

यहाँ 'वीच' कृता और 'स्वदेहान्' कर्म है । सारे वाक्यमें अनुगत रूपसे उनकी प्रतीति होती है और समस्त वाक्यमें ही गृह्णार तथा धीमत्स्य अथवा उनके स्वायिमाय रति और सुगुप्ता, स्वापक हैं । अतएव धीररसके बीचमें व्यवधानकी प्रतीति नहीं जान पड़ती है फिर भी 'भूरेणुदिग्धान्' इस विशेषणके बोधसे धीमत्स्य, और 'नवपारिजातमात्मारजोबासिक्ताहुमभ्याः' इस विशेषणके बोधसे गृह्णार, और इन दोनोंके बीच विशेष्य बोधके रूपमें धीररसकी प्रतीति होती है । इस प्रकार यहाँ गृह्णार तथा धीमत्स्यके बीचमें धीररसके व्यवधान होनेसे उनका समावेश उचित है । २७।

विरोध तथा अविरोधका सर्पत्र इसी प्रकार निरूपण करना चाहिये । विशेषकर गृह्णारमें क्योंकि यह सबसे अधिक सुकुमार होता है । २८।

उपर्युक्त अक्षरोंके अनुसार प्रबन्धकाव्यमें और अन्यत्र [मुखकोंमें] सहृदयोंको सब रसोंमें विरोध अथवा अविरोधको पहिचानना चाहिये । विशेषकर गृह्णारमें । क्योंकि यह रतिके परिपोषरूप होनेसे और रतिके तनिकसे भी कारणसे भङ्ग हो जानेसे सब रसोंसे अधिक सुकुमार है और विरोधीके तनिकसे भी समावेशको सहन नहीं कर सकता है । २८।

सत्कविको उसी [गृह्णार] रसमें अत्यन्त स्वायधान रहना चाहिये [क्योंकि] उसमें [तनिकसा भी] प्रमाद मुरन्त प्रतीत हो जाता है । २९।

सब रसोंसे अधिक सुकुमार उसी रसमें कविको स्वायधान [और] प्रयत्न-हीन होना चाहिये । उसमें प्रमाद करमचाला यह [कवि] सहृदयोंके बीच-गीम ही तिर स्फुरकस पात्र हो जाता है । २९।

१ सुकुमारतमः वि ही ।

२ ज्ञातित्येषोपलक्ष्यते ही अगित्येषोपलक्ष्यते वि ।

शृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात् सवरनेम्भः कमनीयतया
प्रधानमृतः । एवं च सति—

विनेपानुन्मुखीकर्तुं काठ्यशोभार्थमेव वा ।

तद्विरुद्धरसस्पर्शास्तदङ्गाना न बुध्यन्ति ॥३०॥

शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः शृङ्गाराङ्गानां च । स न केष्वप्यविरोधसम्भवयोगे सति न

विरोधी रसो मे मी शृङ्गारका पुट

शृङ्गाररस समस्त सांसारिक पुटपोंके अनुभवका विषय अवश्य होता है मताः
सौम्यकी दृष्टिसे प्रधानतम है । ऐसा होनेसे—

शिष्योंको [दिक्षणीय विषयमें] प्रवृत्त करनेकी दृष्टिसे मध्या काव्यकी होनाके
लिये उस [शृङ्गार]के विरोधी [शास्त्र आदि] रसोंमें उस [शृङ्गार]के अङ्गों [ध्वनिवादि-
भाषाविकार]का स्पर्श दूषित नहीं होता । ३०।

श्री ३० अन्वयकारनिर्मित रसोभवे—

ता चन्द्रचूडं वदया स्थण्डी मानेस्वरं मादविभागवता ।

ता चन्द्रकान्ताकृतिपुत्रिचय तद्विद् विद्यीयानि वितीवते मे ॥

इस श्लोकमें चन्द्रचूड शिवकी स्तुति है । शृङ्गारकी पद्धतिमें चन्द्रचूड शिवको पति, और
अपनी बुद्धिशक्तिको चन्द्रकान्तामण्डि निर्मित पुत्रकी समान सुन्दर, अपनी अर्थात् लोचनचक्रिकाकी
पुत्री तथा शिवकी फलीरूप माना है । वह बुद्धिशक्ति अपने विषयमें शिवसे बहुत काफ़ी विमुक्त होनेके
कारण अत्यन्त विचोक्तमन्त्र है । शिवके स्थानमें तदिक देकरे किए बिना एकत्र होनेमें, चन्द्रचूड
शिवका स्पर्श पाकर वह तदाकारणमें होनेसे स्वकर्मविहीन पतिके आसिद्धनमें सर्वोभना विहीन-
हीकर चन्द्रचूड स्पर्शे इतित होकर चन्द्रकान्तपुत्रिकाके समान निम्न ही जाती है ।

यहाँ शास्त्ररसके विम्ब, अनुभव आदिका भी शृङ्गाररसकी पद्धतिसे निकल्य किया
गया है । यदि लोभी शास्त्ररसकी श्रेणीमें इस बातको कहा जाय तो वह, तब चन्द्रचूडको उठनी
बनिकर नहीं होगी जितनी इस प्रकार हो जाती है । यहाँ शृङ्गाररसके विरोधी शास्त्ररसमें भी शृङ्गार
का पुट क्या जानेसे काव्यमें अस्पर्शक आ गया है इतलिये काव्यशोभे इस प्रकारके पुटका एक
प्रयोग है ।

दूसरा मुख्य प्रयोग शिष्योंकी दिक्षणीय विषयमें प्रवृत्ति करना है । इतलिये उपरोक्त
वेदादिको ध्यानप्रधान होनेसे 'ब्रह्मचर्य' और इतिहासपुराणादिका अर्थवाचकप्रधान होनेसे
'गुरुचर्य' तथा कामनाटककारिको रसात्सर्व प्रधान होनेसे 'कान्ताचर्य'क समान माना है ।
जिनमें 'कान्ताचर्य'कामनाटककारिके शिष्योंको रसात्सर्वप्रधान शिष्या मात हानत विनेयोंका
उत्पत्तिकरण उन्का मुख्य प्रयोग है ।

शृङ्गारके अङ्गोंका जो शृङ्गारविरुद्ध रसोंके साथ स्पष्ट है यह केषल पूर्वोक्त
विरोधपट्टाओंके होनेपर ही निर्दोष ही यह बात नहीं है अपितु शिष्योंका उन्मुख

१ शृङ्गाराङ्गानां का० वि० ।

दुष्यति, पाबद्ध विनेयातुन्मुखीकृतं काम्यशोभाबन्धेन वा क्रियमाणो न दुष्यति । शृङ्गार
रसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति । सदाचारोप
देशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी, विनेयबन्धिताधमेव मुनिभिरवतारिता ।

किञ्च शृङ्गारस्य सकलबन्धनमनोहरमिरामत्वात्^१ तदङ्गसमावेशः काव्ये क्षोमातिशयं
पुण्यवीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि^२ रसे शृङ्गाराङ्गसमावेशो न विरोधी । तदन्वय—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः ।

किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गमङ्गलौख्यं हि जीवितम् ॥

इत्यादिपु नास्ति रसविरोधदोषः ॥ ३० ॥

विज्ञाप्येस्थ रसादीनामविरोधविरोधयो ।

विषय सुकषिः काव्य कुर्वन् मुञ्चति न कश्चित् ॥ ३१ ॥

इत्यमनेनानन्तरोक्तेन प्रकारेण रसादीनां रसभावतद्व्यभिचारानां परस्परं विरोध्या-

करने भयङ्ग्य काम्यशोभाकी दृष्टिसे किया जानेपर [मी] दूषित नहीं होता है । शिष्य
गण शृङ्गाररसके अहाँ द्वारा प्रवृत्त कराये जानेपर सदाचारके उपदेशोंको मानम्बपूर्वक
ग्रहण कर लेते हैं । [मरतादि] मुनियोंने शिक्षणीय जनोंके हितके लिये ही सदाचारो
पदेशरूप नाटकादि गोष्ठी [मण्डली] की अथवारणा की है ।

और शृङ्गारके सब लोगोंके मनको हरण करनेवाला और सुन्दर होनेसे उसके
अहाँका समावेश काव्यमें सौम्यके अतिशयकी धृष्टि करनेवाला होता है इस प्रकारसे
भी विरोधी रसमें शृङ्गारका समावेश विरोधी नहीं है । इत्यदिपु—

यह ठीक है कि स्त्रियाँ बड़ी मनोरम होती हैं यह ठीक है कि [पिम्बरी] विभूति
पत्री सुन्दर होती है, किन्तु [उत्कृष्ट भोग करनेवाला यह] जीवन [तो] मत्त स्त्रीके
कटाक्षके अमान अत्यन्त अस्विकर है ।

इत्यादिमें [शान्तमें शृङ्गार द्वारा] रसविरोधका दोष नहीं है ॥ ३० ॥

यहाँ सब अङ्गोंकी अनिलकारण घान्तरसक विभावका बणन करते हुए 'त्वा कन्धसूह'
इत्यादिक समान किसी विभावका शृङ्गारपदस्थिते बणन नहीं किया है । किन्तु 'सत्यं शम्भते मानो
पदद्वयमें प्रवेश कर कवि कहना चाहता कि हम सिखा ही वैराग्यकी बात नहीं करते अर्थात् यह
'रम्याः और 'रम्या विभूतयः' अस्विकर हैं यह जीवन ही इतना अस्विकर है । 'मत्ताङ्गनापाङ्गमङ्ग
शृङ्गाररसका विभावरूप अङ्ग है । मत्ताङ्गनाके स्वामित्वाधीन कर्मधर्मी अस्विकरतासे विरक्तके
'विभूति' और 'रम्या आदि विषयोंकी अस्विकरताकी उपमा देनेसे वैराग्यका विषय सरलतासे समझ
लिया जाता है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार रस आदिके अविरोध और विरोधके विषयको समझकर काव्य
रचना करनेवाला कवि कहीं भ्रममें नहीं पड़ता है ॥ ३१ ॥

इस प्रकार अभी कही रीतिसे रस आदि अथवा रस भाव और तद्व्यभिचारोंके

१ मङ्गलबन्धनमनोहरमिरामत्वात् ही ।

२ विरोधिरने नि , ही ।

विरोधस्य च विषयं विज्ञाय मुक्त्वाः काम्यविषये प्रतिभाविशब्दगुणैः काम्यं कुर्वन् न
कथञ्चिन्मुञ्चति ॥३१॥

एवं रसादिषु विरोधाविराधभिरूपप्यस्योपयोगित्वं प्रतिपाद्य व्यञ्जकवाच्यवाचक
निरूपणरंभापि तद्विषयस्य तद्विषयस्यैव—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।

रसादिविषयेणैतत् कमं मुक्त्यं महाकवेः ॥३२॥

वाचकानामिविभूतविशेषानां वाचकानां च तद्विषयानां रसादिविषयेणौचित्येन
यद् योजनमेतन्महाकवेर्मुक्त्यं कर्म । अत्रमेव हि महाकवेर्मुक्त्यां व्यापारो यद्रसादीनेषु
मुक्त्यतया काव्यार्थादय तद्व्यक्त-यनुगुणत्वेन ज्ञानानामर्थाणां वापमिबन्धनम् ॥३२॥

एतच्च रसादिवाच्यैश्च काव्यनिबन्धनं मर्यादावपि सुप्रसिद्धमवेति प्रतिपाद्यवि
मुमाह—

रसाद्यनुगुणात्वेन व्यवहारोऽर्थज्ञान्वयो ।

औचित्यघान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधा स्थिता ॥३३॥

परस्पर विरोध और अविरोधके विषयको समझकर काव्यके विषयमें अत्यन्त निपुण
[प्रतिभावान्] हुआ सत्कवि काव्यरचना करते हुए कहीं व्यामोह [धम] में नहीं
पड़ता है ॥३१॥

इस प्रकार रस भावित्वे विरोध और अविरोधके निरूपणकी उपयोगिता प्रति
पादन करते, उस [रसादि] विषयके व्यञ्जक वाच्य [कथावस्तु] तथा वाचक शब्दादिके
निरूपणकी भी उपयोगिता प्रतिपादन करते हैं—

वाच्य [कथावस्तु] और [उसके] वाचक शब्दादिकी रसादिविषयक औचित्यकी
दृष्टिसे जो योजना करना है यही महाकविका मुख्य कर्तव्य है ॥३२॥

वाच्य अर्थात् इतिवृत्त [कथावस्तुविशेष] और उन्नक सम्बन्धी वाचक
शब्दादिकी रसादिविषयक औचित्यकी दृष्टिसे योजना करना है यह महाकविका मुख्य
कर्म है । रसादिको मुख्यरूपसे काव्यका विषय बनाकर उसके अनुरूप वाच्य और
अर्थकी रचना करना यही महाकविका मुख्य कार्य है ॥३२॥

वृत्तियोंका विवेचन

रसादिको प्रधान मानकर यह काव्यरचना मरत [क वाच्यशास्त्र] भावित्वे भी
प्रसिद्ध है यह प्रतिपादन करनेके लिय कहते हैं—

रस भाविके अनुकूल शब्द और अर्थका जो उचित व्यवहार है वही वे दो
प्रकारकी वृत्तियों मानी जाती हैं ॥३३॥

१ प्रतिपाद्यविभूतमुच्यते की ।

२ विविधा वृत्ताः वि ।

व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते । अत्र रसानुगुण औचित्यवाम् वाच्यप्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कौशिक्याः वृत्तयः । वाचकाभ्यान्भोपनागरिकायाः वृत्तयो हि रसादितात्वयेण सन्निवेशिताः कामपि नान्यस्य काम्यस्य च छायाभावहन्ति । रसाद्यो हि द्वयारपि तयोर्भावभूताः । इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव ।

अत्र कैचिदाहुः, 'गुणगुणिव्यवहारो रसादीनामितिवृत्तादिभिः सह युक्तो, न तु जीवशरीरव्यवहारः । रसादिमयं हि वाच्यं प्रतिभासते, न तु रसादिभिः पृथग्मुक्तम्' इति ।

अत्राप्यते, यदि रसादिमयमेव वाच्यं यथा गौरत्वमयं शरीरं एवं सति यथा शरीरे प्रतिभासमाने नियमेनैव गौरत्व प्रतिभासते सवत्स्य, तथा वाच्येन सहैव रसात् पोरपि सहृदयस्यासहृदयस्य च प्रतिभासेरम् । न चैवम् । तथा चैतन् प्रतिपादितमेव प्रथमोच्यते ।

व्यवहारको ही 'वृत्ति' कहते हैं । उनमें रसानुगुण औचित्ययुक्त जो वाच्य का व्यवहार है वे कौशिकी भादि वृत्तियाँ हैं । और वाचक [शब्द] भाहित जो व्यवहार है वे उपनागरिकादि वृत्तियाँ हैं । रसादिपरतया [रसादिके अनुकूल रसादिको प्रधान मानकर] प्रयुक्त की गयी [कौशिकी भादि तथा उपनागरिकादि] वृत्तियाँ नाटक और काव्यमें [काम्य] कुछ अनिर्वचनीय सौम्यर्य उत्पन्न कर देती हैं । रसादि इन दोनों प्रकारकी वृत्तियोंके आरम्भभूत हैं और कथावस्तु भादि शरीरभूत हैं ।

जैसा कि ऊपर कहा था वृत्ति है, 'वृत्ति' शब्द साहित्यमें अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है । यहाँ भरतके नाट्यशास्त्रकी कौशिकी भादि और महोद्भट आदिकी अभिमत उपनागरिका भादि वृत्तिका अर्थव्यवहार और शब्दव्यवहाररूपसे मुन्तर और मुनोप भेद किया है । शब्दव्यवहारमें भी शब्द रचनाकी दृष्टि उपनागरिकादि और अपभोषानुकूल व्यापारकी दृष्टि अभिधा-रूपणा भादिको 'वृत्ति' कहा गया है । इस प्रकारकी व्यवस्थासे वृत्ति शब्दके तीन अर्थ विनकुल भ्रमग भ्रमग और स्पष्ट हो जाते हैं ।

रसकी आत्मरूपताका उपपादन

[पूर्वपक्ष] कुछ लोगोंका कहना है कि इतिवृत्त [कथावस्तु] के साथ रसादिका गुण-गुणिव्यवहार ही युक्त है जीव और शरीरव्यवहार नहीं । [फर्सेचि] वाच्य [कथावस्तु गुण रसादिरूप गुणित्व युक्त होनेसे] रसादिमय प्रतीत होता है, [आरमासे मित्र शरीरके समान] रसादिमे पृथक् [प्रतीत] नहीं [होता है] ।

[सिद्धान्तपक्ष] इसपर हम यह कह सकते हैं कि यदि वाच्य [कथावस्तु] गौरत्वमय शरीरक समान रसादिमय ही होता तो जैसे शरीरकी प्रतीति होनेपर [हर एक व्यक्तिका] गौरत्वकी प्रतीति अयदय होती है इसी प्रकार वाच्यक साथ ही सहृदय, असहृदय सचको रसादिकी प्रतीति भी दानी चाहिये । परन्तु ऐसा होता नहीं है इस प्रथम उद्योतमें [शब्दार्थदासन] इत्यादि कारिका ७ पृष्ठ ३२ में प्रतिपादित कर चुके हैं ।

स्यान्मतम्, रत्नानामिष जात्यत्वं प्रतिपद्युषिषेपतः' संबंधं वाच्यानां रसात्
रूपत्वमिति ।

नैवम्, यद्यो यथा जात्यत्वेन प्रतिभासमाने रत्ने रत्नस्वरूपाऽनतिरिक्तव्यमेव
तस्य उच्यते, तथा रसादीनामपि विभाषानुभाषादिरूपवाच्याव्यतिरिक्तत्वमेव उच्यते ।
न चैवम् । नहि विभाषानुभाष्यभिषारिण एव रसा इति कस्यपिद्वयगमः । अत एव
च विभाषाविप्रतीत्यविनामाभिनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेन
व्यवस्थानात् क्रमोऽपश्यन्माभी । स तु आपवाप्त प्रकाशयते' इत्युच्यते' इत्युच्यते' इत्युच्यते' इत्युच्यते'
व्यङ्ग्या रसाद्यः' इत्युच्यते ।

ननु शब्द एव प्रकरणाद्यवच्छिन्नो वाच्यव्यङ्ग्ययोः सममेव प्रतीतिमुपजनयतीति

[पूर्वपक्ष] अत्र प्रकार रत्नोका उक्त्यर्थं [जात्यत्वं उक्त्यर्थं] विशेष्य
[अद्वैती] ही जान सकता है [हर एक व्यक्तिको वह प्रतीत नहीं होता] इसी प्रकार वाच्य
[कथापस्तु] का रसादिरूपत्व [रसादिमयस्वरूप गुणात्कार्य] विशेष्य [सदृश्य] को ही
प्रतीत होता है [सर्वसाधारणको नहीं] यदि यह अभिमत हो तो [उत्तर यह है कि]—

[सिद्धान्तपक्ष] यह ठीक नहीं है । क्योंकि जैसे उक्त्यर्थजातीयरूपसं प्रतीत हो-
नाल रत्नमें यह [उक्त्यर्थ] रत्नके स्वरूपसं अभिध [रत्नस्वरूपमूल] ही प्रतीत होता है ।
इसी प्रकार रसादिकी भी विभाषानुभाषादिसं अभिध [विभाषादिरूप] में ही प्रतीति
हानी चाहिये । परन्तु ऐसा नहीं है । विभाषा अनुभाषा व्यभिचारी माय ही रस है ऐसा
किसीका अनुभव नहीं होता । अतएव विभाषाविप्रतीतिके अभिधामूल [परन्तु उससे
पृथक्] रसादिप्रतीति होती है । अतः उन दोनों [विभाषादि तथा रसादिकी] प्रती-
तियोंके कार्यकारणभावसे स्थित होनेसे [जनमें] भ्रम अवश्यम्भासी है । परन्तु [उत्पल
घातपक्षव्यतिरेक्यत्वं] जैसे कर्मके लो पक्षोंमें सुरं चुभोनेसे यह प्रत्यक्ष पक्षको
भ्रमन ही छद्मगी परन्तु प्रतीत देना होता है कि एक साथ सब पक्षोंको पार कर गयी ।
इसी प्रकार] प्रतीताने कारण वह [भ्रम] विलसार्ह नहीं देता है । इसीलिए रसादि
भ्रमरूपममरूपसे ही व्यङ्ग्य होते हैं यह कहा गया है ।

रस अक्रमता नहीं, अलक्ष्यक्रमम्भङ्गपताका उपपादन

[पृथपक्ष] प्रकरणादिसदृशत दाप्य ही वाच्य और व्यङ्ग्य दोनोंकी एक साथ
ही प्रतीति उत्पन्न कर देता है उसमें क्रमके कल्पना करनेकी क्या आवश्यकता है ।
शब्दकी वाच्य [अर्थ] की प्रतीतिका [सम्बन्ध] परामर्श ही व्यङ्ग्यत्वका कारण हो सा
ता है नहीं । इसीसे [वाच्यार्थके सम्बन्ध या धामके विना केवल स्वरूपगादिके
अनुसार ही] गीत आदिके शब्दोंसे ही रसादिकी अभिधायिका होती है । [आदि शब्दसे

१ प्रतिपद्युषिषेप [त] रसाद्यं कि ही ।
२ वाच्यव्यतिरिक्तत्वमेव उच्यते ही वाच्यव्यतिरिक्तत्वमेव उच्यते कि ।
३ प्रकृतने ही ।

किं तत्र क्रमकल्पनया । न हि क्षणिक्य वाच्यप्रतीतिपरामर्श एव व्यवहृत्ये निवन्धनम् ।
तथा हि गीतादिशाब्देभ्योऽपि रसाभिप्यच्छिरस्ति । न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः ।

अत्रापि मूमः । प्रकरणाद्यवच्छेदेन व्यवहृत्यं शब्दानामित्यनुभवमेवैतदस्माकम् ।
किन्तु तद् व्यवहृत्यं तेषां कदाचित् स्वरूपविशेषनिबन्धनं कदाचित् वाचकशक्ति
निवन्धनम् । तत्र तेषां वाचकशक्तिनिबन्धनं तेषां यदि वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव स्वरूप
प्रतीत्या निवन्धनं तद्भवेन्न तर्हि वाचकशक्तिनिवन्धनम् । अथ तन्निबन्धनं तन्निवयमेनैव
'वाच्यवाचकभावप्रतीत्युत्तरकाकत्वं व्यङ्ग्यप्रतीतिः प्राप्तमेव । स तु क्रमो यदि ङाप
वाम् छद्मयते तर्हि क्रियते' ।

यदि च वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव प्रकरणाद्यवच्छिन्नमनुमात्रसाध्या रसादिप्रतीतिः
स्यात्, तदनन्वयारितप्रकरणानां वाच्यवाचकभावे च स्वयमभ्युत्पन्नानां प्रतिपत्तुर्णां

वाच्य या विद्यापादिके शाब्दिके प्रहण्य होता है] । उन [गीतादिशाब्दोंके भ्रवण और रसाभि
प्यक्ति] के बीचमें वाच्य अर्थका ज्ञान [परामर्श] नहीं होता है [मत्र] शब्द बिना किसी
क्रमके वाच्य और व्यङ्ग्यकी प्रतीति एक साथ ही कर सकते हैं] ।

[सिद्धान्तपक्ष] १ इसमें हमारा कहना यह है कि प्रकरण आदिके सहजत शाब्द
अर्थके व्यञ्जक होते हैं यह बात हमें अभिमत ही है । परन्तु वह व्यञ्जकत्व उन [शाब्दों]
में कमी स्वरूपविशेषके कारण और कमी वाचकशक्तिके कारण होता है । उनमेंसे
जिन [शाब्दों] में वाचकशक्तिमूलक [व्यञ्जकत्व] है उनमें यदि वाच्यप्रतीतिके बिना ही
स्वरूपकी प्रतीतिमात्रसे ही वह [व्यञ्जकत्व] पूर्ण हो जाय तो वह वाचकशक्तिमूलक
नहीं हुआ । और यदि वाचकशक्तिमूलक है तो व्यङ्ग्यप्रतीति भयदय ही वाच्यवाचक
प्रतीतिके उत्तरकाकत्वं ही होगी यह सिद्ध ही है । यह क्रम दीप्तताके कारण यदि प्रतीति
नहीं होता तो क्या किया जाय ।

व्यङ्ग्यप्रतीति मने ही वाच्यप्रतीतिके बाद हो परन्तु वाच्यप्रतीति उक्त व्यङ्ग्यप्रतीतिमें
उपयोगिनी नहीं है, जैसे गीतादि शाब्दोंमें बिना वाच्यप्रतीतिके उभयोंके ही रसादिप्रतीति हो जाती
है रही प्रकार यहाँ होगा । इस पूर्वपक्षकी शङ्काको मनमें रखकर विद्वान्तपक्षी फिर करता है—

[सिद्धान्तपक्ष] २ यदि वाच्यप्रतीतिके बिना ही प्रकरणादिसहजत शाब्दमात्रने
रसादिप्रतीति साध्य हो तो [किन्ती वाच्यविशेषमें] वाच्य-वाचक न समझने [और
सर्व प्रकरण भी नहीं जानने] परन्तु [किन्तीके द्वारा] प्रकरणका ज्ञान कर देनेवाल
वाताको भी कल्पके भयमात्रने रसादिप्रतीति होनी चाहिये [जैसे गीतादि शाब्दसे
बिना वाच्यदिके ज्ञानके प्रकरण आदि सहजत भयमात्रसे रसादिप्रतीति होती है ।
वाच्य और व्यङ्ग्यप्रतीतिके] साथ होनेपर [व्यञ्जकत्वमें] वाच्यप्रतीतिके कोई उपयोग

१ रसाद्यभिप्यशितानि नि ही ।

२ वाच्यवाचकप्रतीत्युत्तरकाकत्वं ही ।

अध्यायीकः [कारिका ३
सहभाषः । सहभाषे च वाच्यप्रतीतेरनुपयोगः, उपयोगे वा न

महीं है। और यदि उपयोग है तो सहभाष नहीं हो सकता [इसलिए जिन शब्दों में वाच्यप्रतीति मूलक व्यवहार्य रहता है उनमें वाच्य और व्यवहारप्रतीतिमें कम व्यवहार्य रहता है]।

यहाँ 'अनवधारितप्रकरणानां नर पाठ अटपट्य और अस्मिन्-सा प्रतीत होता है परन्तु निवन्धवारिच तथा बनारसक दोनो अर्थात् मुद्रित टीनों संस्करणों में यही पाठ पाया जाता है। इसलिये मूल पाठ तो यही मानना चाहिये। परन्तु उसकी व्याख्या विशेष ध्यानसे समझनी चाहिये।

जैसे गीत आदिके शब्दों में वाच्यार्थकी प्रतीतिके बिना भी केवल प्रकरण आदिके सहकारसे रसादिकी अनुभूति हो जाती है उसी प्रकार काव्यमें भी वाच्यप्रतीतिके बिना भी प्रकरण आदिके सहकारसे रसादिकी प्रतीति हो सकती है। इसलिए रसादिकी प्रतीतिमें वाच्यप्रतीतिका कोई उपयोग नहीं है। इस शब्दाके समानानुक्त प्रमाण इस प्रसङ्गमें किया जा रहा है। प्रकृत पंक्तियोंका भाष्य यह है कि यदि वाच्यप्रतीतिके बिना ही प्रकरण आदि सहकृत शब्दमात्रसे रसादिकी प्रतीति सिद्ध हो तो 'अनवधारितप्रकरण अर्थात् प्रकरणको न जाननेवाले और स्वयं वाच्यवाचकभावको न समझनेवाले भावाओंको भी काव्यके शब्दोंके अर्थमात्रसे रसादिकी प्रतीति होनी चाहिये।

शब्दों में वाच्यप्रतीतिके बिना केवल प्रकरण आदिकी सहायतासे रसादिकी प्रतीति सिद्धनाभी भी इसलिये उचित करते समय प्रकरणसहकारको सूचित करनेके लिये 'अनवधारितप्रकरणानां' पाठ होना चाहिये था। उस दृष्टांतमें जिनको स्वयं वाच्यवाचकभावका ज्ञान नहीं है परन्तु प्रकरणका ज्ञान है ऐत श्रोताओंको भी काव्यशब्दोंसे रसादिकी प्रतीति होनी चाहिये यह समानानुक्त शब्दोंकी सहायता नहीं देती है। 'अनवधारितप्रकरणानां'की सहायतासे नहीं देती है। इसीलिये वाच्यप्रतीति। तर्जि, अनवधारित अर्थ प्रकरणं यैस्तीगाम् न च व्याख्यासे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वाच्यवाचक टीकाकार 'अनवधारितप्रकरणानां' यही पाठ मान रहे हैं।

श्रीधरिचकारने प्रकरणको अत्यन्त नहीं अति स्वल्पम् उपयोगी मानकर सहायता जगानेका प्रयत्न किया है। अर्थात् शब्दार्थमें प्रकरणकी स्वरूपसहायता ही रसादिप्रतीतिमें उपयोगी माना है ज्ञानको नहीं। काव्यशब्दोंमें प्रकरण स्वरूपता से विद्यमान है ही और उसके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है इसलिये 'अनवधारितप्रकरणानां' अर्थात् जिनमें प्रकरणको महत्त्व नहीं किया है और स्वयं 'वाच्यवाचकभाव'को भी नहीं जानते उनको भी काव्यशब्दोंके 'व्यक्त' प्राप्तमात्रसे रसादिकी प्रतीति होनी चाहिये। इस प्रसङ्गमें श्रीधरिचकारका खेद इस प्रकार है—

'अदि सवस्य रसादिमहत्त्वप्रतीतौ शब्दभावकप्रत्यक्षैश्च कारणैर्न स्वात् तर्हि येः काव्यशब्दाः प्रमाणः किन्तु तेषां प्रकरणदिप्रहो वाचकशब्दनिर्ग्रामिषामहत्त्व न भाव तेषां वाच्यशब्दतीत्वमात्रेण सप्रवाच्यप्रतीतिषा न मनसि सा बुधा न स्यात् । मनस्यते वाच्यार्थप्रतीतेः कारणपालानां हीकारणात् । इतरस्याकिञ्चिद्व्यक्तत्वात् । प्रकरणदिज्ञानस्य मनस्यते कारणवाचकत्वान्त् स्वल्पकतः प्रकरणानामाद्यथाप्य मर्चेदिति वाच्यम् । प्रकरणदिज्ञानस्य मनस्यते कारणवाचकत्वान्त् स्वल्पकतः प्रकरणप्रकारि क्तत्वाच्च । तस्मात् काव्यशब्दप्रतीतौ वाच्यप्रतीतेः कारणकमनस्वमूढीकरणविमिति माषः।'

येषामपि स्वरूपविशेषप्रतीतिनिमित्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीताविशेषानां, तेषामपि स्वरूपप्रतीतेर्भ्याङ्ग्यप्रतीतेः नियममायी^१ क्रमः । तच्च^२ द्वाभ्यस्य क्रियापूर्वापर्ययमनन्य माध्यतत्फलपटनास्वाद्युमाविनीपु वाच्येनाविरोधिन्यभिधेयान्तरविच्छेदणे रसादी न प्रतीयते ।

इस प्रकार दीधितिकारने मूलके 'अनवधारितप्रकरणानां' पाठकी सङ्गति श्रुतानेकं किये यह कल्पना की है कि पूर्वोक्त गीत आदि द्वाभ्योमें केवल प्रकरणकी स्वरूपसत्ताका उपयोग मानता है उसके ज्ञानका नहीं । परन्तु दीधितिकारकी यह कल्पना निश्चितरूपसे व्याप्य कल्पना नहीं करी जा सकती । पूर्वोक्त प्रकरणको स्वरूपसत् ही उपयोगी मानता है इसका विनिगमक कोई युक्ति या प्रमाण नहीं है । दीधितिकारने केवल 'अनवधारितप्रकरणानां' पाठकी सङ्गति श्रुतानेकं किये ऐसी कल्पना कर ली है ।

श्लोचनकारकी इस सङ्कती व्याख्या भी बहुत स्पष्ट नहीं है । उन्होंने लिखा है—

“ननु गीतद्यत्तवेदेन वाचकशक्तिरन्वाप्यनुपयोगिनी, यच्च स्वचिन्तुतेऽपि काल्ये रसप्रतीतिन मवति सन्नोचितः प्रकरणवाक्यमादिः सहकारी नालीत्याद्यत्तथाह यदि चेति । प्रकरणवाक्यमो हि क उच्यते, किं वाक्यान्तरसहायत्वं, अथ वाक्यान्तराणां सम्बन्धिष्यस्यम् । उदमपरिज्ञानेऽपि न मवति प्रकृतवाक्यावावेदने श्लोचनः । स्वयमिति । प्रकरणमात्रमेव परम केनचिदेतां व्याख्यातमिति [मात्र] । न चान्यप्यन्तरेकवर्ती वाच्यप्रतीतिमहात्स्य, अदृष्टव्युत्पत्त्यामायी धारण्यनाभिती माल्यवादभिर्दं किञ्चित् पुञ्जीत इत्यभिप्रायः ।”

इस व्याख्यामें श्लोचनकारने मूलके 'स्वयं पदको भिन्नक्रम मानकर उसे अनवधारितप्रकरणानांके साथ जोड़कर सङ्गति श्रुतानेका प्रयत्न किया है । अथत् किन्को स्वयं काल्येकाभ्योके वाच्यवाक्यमात्रका ज्ञान नहीं है, जो कारणद्वयोंके अथको नहीं समझते, और अथ न समझनेके कारण स्वयं प्रकरण भी नहीं समझ सकते परन्तु किसी दूसरेने उनको प्रकरण मतला दिया है— 'प्रकरणमात्रमेव परम केनचिद् वच्यं व्याख्यातं', उनका अथके न समझनेपर भी सङ्की प्रतीत होनी चाहिये । परन्तु होती नहीं है । इसलिये रसप्रतीतिमें वाच्यप्रतीतिका भी उपयोग है । इस प्रकारकी व्याख्या श्लोचनकारने की है । उन्हेंकि अभिप्रायक अनुधार हमने अनुवाद किया है । क्योंकि अन्य सब व्याख्याओंकी अपेक्षा यह व्याख्या अधिक सरल और स्वास्तिक व्याख्या है ।

और [दूसरे प्रकारके द्वाभ्योमें] जहाँ [गीताविमें] स्वरूपविशेष प्रतीतिमूलक व्यञ्जकत्वं है, जैसे गीतादि द्वाभ्योमें, उनके यहाँ भी स्वरूपविशेषकी प्रतीति और व्यङ्ग्य की प्रतीतिमें क्रम अवश्य रहना है । किन्तु 'वाच्यकी [वाचकत्वं और व्यञ्जकत्वरूप अथवा अभिधाउपयुक्तरूप] क्रियाओंका परिपापर्यं [क्रम], प्रकाशतरामाप्यपत्तक क्षिप्रमायिनी रचनाओंमें वाच्यके अथितोधी तथा अन्य द्वाभ्योमें विद्वत्क्षय रसादि [रूप व्यङ्ग्यके बोधन] में [यद् क्रम] प्रतीत नहीं होता है ।

'तच्च'से लेकर प्रतीयते पर्यन्त पंक्तिकी व्याख्या श्लोचनकारने इस प्रकार की है । 'ननु

१ निबन्धमापक्रमाः वि ।

२ तच्च तु वि ।

कवचिषु लक्ष्यत एव । यथानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिषु । तत्रापि कथमिति चेदु
 च्यते । अर्थाशक्तिमूलांनुरणरूपव्यङ्ग्ये' एतौ तावन्निधेयस्य तरसामर्थ्याभित्तवस्य
 वाचस्य, अमिधेयान्तरबिच्छन्नतया, अत्यन्तबिच्छन्ने ये प्रतीती तयोरेकवचननिष्ठयो

कचने क्रमः किं न लक्ष्यते इत्याद्युपाह । तस्मिन् । त्रिणापीवापर्यमित्यनेन क्रमस्य स्वरूपमाह ।
 बरि क्रम इति तो मान्त्रस्य कर्त्तव्यं नही पड़वा देवी द्याह करके करते हैं 'उषु' इति । 'त्रिणापीवापर्यं'ते
 क्रमाका स्वरूप करते हैं । 'क्रियते इति क्रिये वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीती यदि वाचिवाच्यपापरे व्यङ्ग्यनापरपर्यायी
 प्यननम्पापारस्वेति क्रिये । क्रियेते इति क्रिये नर क्रिये वाच्यकी व्युत्पत्ति है । 'ओ की कार्ये' वे
 वीनों त्रिणापी 'क्रिये' हुए । इसमें वाच्य और व्यङ्ग्यप्रतीतिक्रम दो क्रियाएँ अथवा अमिधेयान्तर
 और व्यङ्ग्यना नामक प्यननम्पापार ये दो 'क्रिये' दृश्यते प्रथम की जा सकती हैं । 'उषोः वीवापर्यं न
 प्रतीयते । उनका वीवापर्यंक्रम प्रतीत नहीं होता है । न्व ! रखादी विषये । कीदृशि, अमिधेयान्तरपद
 अमिधेयविधेयार्थ निवृत्तये एकैकैयानमिधेये अनेन यथितम् तावत् क्रमेणेत्युक्तम् । तथा वाच्येना
 विधेयिनि विधेयिनि तु कस्यत एकेवर्गः । कहाँ प्रतीत नहीं होता ! रखादि विषयमें । जैसे रखादि
 में ! अमिधेयान्तर अर्थात् अमिधेय विधेयते मित् अर्थात् सर्वथा अनमिधेय रखादिमें । जैसे रखादि
 एषित किया कि क्रम अथस्य होना चाहिये । तथा वाच्यते अविधेयी रखादिमें क्रम कथित नहीं
 होता । इसका अर्थ हुआ कि विधेयीमें कथित होता है । 'दुष्टो न लक्ष्यते इति निमित्तस्य निमित्त
 हेतुत्वत्कार्त्तव्ये हेतुमाह । आद्यमाचिनीष्यति । कर्त्तव्यं नहीं लक्षित होता है इस विषयमें निमित्त सतमीचे
 निदिष्ट हेतुत्वत्कार्त्तव्ये करते हैं—'आद्यमाचिनीषु । अनन्वयान्तरव्यङ्ग्यसहजान्तर सहजाना पूर्वं
 मानुषांरिक्तकः प्रतिपादिता गुणनिरूपणावसरे, तावत् तद्व्यङ्ग्यः रखादिप्रतीतिः फलं नादां तथा
 अनन्त् तदेष शब्दं नादां नरि ओषोपटनावा' कथनादिप्रतीति' शब्दा । पटनाये मानुषादिका
 प्रथम करना चाहिये नर नात पदिके गुणनिरूपणके अवसरपर कह चुके हैं । तदन्तरा'का अर्थ
 रखादिप्रतीति त्रिनाका फल है नर करना चाहिये । अनन्वयान्तर ये वही विधेय फल त्रिनाका है
 अथात् ओषोके अनुगुणपटनाये कथन आदिकी प्रतीति नहीं हो सकती नर दृषित किया । 'ननु
 भक्त्यैवं सहायाना स्थितिः क्रमस्य किं न लक्ष्यते अत आह आद्यमाचिनीषु वाच्यप्रतीतिकारूपप्रतीक्षणेन
 विदिव कथित वा रखादीन् भावकान्ति तदास्ताद' विदकरीत्ययः सहजानामौकी स्थिति जेने भाप करते
 हैं वही हो परन्तु क्रम कर्त्तव्यं नहीं माध्यम होता इसके उत्तरके क्रिय आद्यमाचिनीषु करा है । वाच्य
 प्रतीतिकी प्रतीति क्रिये बिना ही नर हीप्रकारे रखादिका आत्माद कथ देती है ।

संलक्ष्यक्रम प्रवृत्तिसिद्धयर्थे क्रम

कहाँ [संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यव्यङ्ग्यनिके जेदोंमें वाच्य और व्यङ्ग्यव्यङ्ग्य क्रम] विवक्तार्थ
 तथा ही है 'जैसे अनुरणनरूप [संलक्ष्यक्रम] व्यङ्ग्यव्यङ्गी प्रतीतियोंमें । वहाँ भी [अर्थात्
 संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यव्यङ्ग्यनिर्णय] जैसे प्रतीत होता है यह प्रथम कर तो उत्तर यह है कि
 क्रम लक्षित होता है इस बातको अलग-अलग प्रतिपादन करते हैं] अर्थाशक्तिमूल
 संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यव्यङ्ग्यनिर्णय अमिधेय [अथात् वाच्यार्थ] और उसकी सामर्थ्यसे भासित
 [अथात् व्यङ्ग्य] अर्थाके अर्थ वाच्यार्थात्त विलक्षण होनेसे यह दोनों जा अत्यन्त

1. व्यङ्ग्यव्यङ्गी नि ही ।

निमित्तनिमित्तमात्र इति स्फुटमेव तत्र पीवापयम् । यथा प्रथमोच्यते प्रतीयमानार्थे
सिद्धयर्थमुदाहरणानु गायाम् । तथाविधे च विषय वाक्यव्यङ्ग्ययोरत्यन्तबिन्नभूतत्वाद्
येव एकस्य प्रतीतिः नैवेतरस्येति न शक्यते वक्तुम् ।

अत्रशक्तिमूलानुरूपरूपव्यङ्ग्ये तु ध्वनौ—

“गावो वाः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु ।”

इत्यादावर्थद्वयप्रतीतीं शाब्द्यामर्थद्वयस्योपमानोपमेयभावप्रतीतिरूपमाशयकपद
विरहे सति, अर्थसामर्थ्यादाक्षिप्तेति, तत्रापि 'सुसप्तमभिधेयव्यङ्ग्यपालङ्कारप्रतीत्योः
पीवापयम् ।

पदप्रकाशशब्दशक्तिमूलाानुरूपरूपव्यङ्ग्येऽपि ध्वनौ विशेषणपदस्योपमावार्थसम्बन्धयो
ग्यस्य योद्धकं पदमन्तरेण योजनमसाध्यमप्यर्थावस्थितमित्यत्रापि पूर्ववृत्तिधेयवत्सामर्थ्या

पिच्छल [वाच्य और व्यङ्ग्यरूप] प्रतीतियाँ हैं । उनके कार्यकारणभावको छिपाया
नहीं जा सकता है, इसलिए उनमें पीवापय [क्रम] स्पष्ट ही है । जैसे प्रथम उदाहमें
प्रतीयमान अर्थकी सिद्धिके लिए उदाहरत [‘अत्र धार्मिक’ इत्यादि] गायामोंमें । एत
स्थलोंमें वाच्य और व्यङ्ग्यके अत्यन्त भिन्न हानस ओ एक [वाच्य या व्यङ्ग्य] ही
प्रतीति है वही दूसरे [व्यङ्ग्य या वाच्यकी] प्रतीति है यह नहीं कहा जा सकता है
[अतएव अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यव्यनिमें क्रम अथय ही मानना होगा] ।

संलक्ष्यक्रम अर्थशक्तिमूलमें क्रम

[संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यव्यनिके दूसरे में] शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-
व्यनिमें “गावो वाः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु” इत्यादि [पृष्ठ १२७ पर
उदाहरत] उदाहरणमें शब्दतः दो अर्थोंकी [शाब्दी] प्रतीति होनेपर भी उन अर्थद्वयके
उपमानोपमेयभावकी प्रतीति उपमाभाषक पदके अभावमें [वाक्यार्थकी प्रतीतिके पाद]
अर्थसामर्थ्यसे व्यङ्ग्य ही होती है । इसलिए वहाँ भी अभिधेय [वाच्य] और व्यङ्ग्य
[व्यय] अन्तरकी प्रतीतिमें पीवापर्य [क्रम] स्पष्ट दिखना देता है ।

[संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यव्यनिके शब्दशक्तिमूल प्रमेयके अन्तर्गत वाच्यप्रकाशके
गावो वाः इत्यादि उदाहरणमें वाच्य और व्यङ्ग्यका क्रम स्पष्ट हानके अतिरिक्त] पद
प्रकाशय शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यव्यनिमें भी [त्रिम्बका उदाहरण “मानु
धनैरर्थिजनस्य धाम्निं ईयत सूर्यो यदि नाम नास्मि । पथि प्रसन्नाभ्युधरस्तडागः
पूपाऽथवा किञ्च जडा कृताऽहम् ।” पृष्ठ १५९ पर दिया जा चुका है उनमें] दोनों अर्थों
[रूप और महम्] के साथ सम्बन्ध योग्य विनयन [अर्थ] का जाङ्गनाल शब्दके
धिया भी [दोनों और] याजना अशाब्द हात हुए भी अयत्किस निमित्त होती है ।
इसलिए यहाँ भी पूव [अथात् वाच्यगत शब्दशक्तिमूलके उदाहरण ‘गावो वाः’] के समान
वाच्य अर्थ [यहाँ जडत्वका दोनों और अन्य होनेसे द्वीपकालद्वार वाच्य है । अत्रापि

क्षिप्ताङ्गुलारमात्रप्रतीत्योः स्मृतियतस्य पौषाद्यर्थम् । ध्याप्यपि च प्रतिपत्तिरतवाचिषे विषय
'तत्रवाच्यसम्बन्धयोगस्तद्वत्सामर्थ्यप्रसाधितेति शब्दशक्तिमूला कल्प्यते ।

अविषद्विषयवाच्यस्य तु ध्वनेः प्रसिद्धत्वविषयवैमुख्यप्रतीतिपूर्वकमेवार्थन्तरप्रकाशन
मिति निबन्धमायी क्रमः । 'तत्राविषद्विषयवाच्यत्वादेव वाच्येन सह व्यङ्ग्यस्य क्रमप्रती
तिविषयो य कृतः । तस्मादभिधानाभिषेकप्रतीत्योरिव वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योर्निमित्तनिमित्ति
भावाभिप्रेयमायी क्रमः । स तुल्यवृत्त्या क्वचिस्त्वध्यते क्वचिन्न कल्प्यते ।

घंयालङ्कारा दीपकम् अहस्यामयभ्राम्बयात् । तस्मात्प्रसाक्षिता खोपमा] और उम्की
सामर्थ्यसं आक्षिप्त अलङ्कारकी प्रतीतियोंमें पौषापर्य [क्रम] निश्चित ही है । एस स्थलों
पर [व्यङ्ग्य अलङ्कारादिकी] प्रतीति आर्यी होनेपर भी दोनों धोर सम्बन्धके योग्य
शब्दकी सामर्थ्यसं उत्पन्न होती है इसलिये शब्दशक्तिमूला मानी जाती है ।

यहाँ निबन्धमायी संस्कारमें शब्दताम्बप्रतिप्रसवभूया' और बनारतके शम्बरलमे 'प्रसा
क्षिता' पाठ है । इनमें निबन्धमायी संस्कारमें 'प्रति शब्द अक्षिप्त मान पड़ता है । उतसे तो अर्थ
भी उभरा हो जाता है । 'प्रसव'का अर्थ उत्पत्ति और 'प्रतिप्रसव'का अर्थ प्रकट होता है । इसलिये
'प्रतिप्रसव' पाठ तो अस्तव्यत है । उससे तो प्रसवभूया पाठ ठीक हो सकता है । पाराशर्य पाठमें
'प्रसव'की अर्थ विवक्षित 'प्रसविता' प्रयोग भी तुल्यवृत्त नहीं है । परन्तु 'प्रतिप्रसवभूया' कैला
अस्तव्यत भी नहीं है । प्रसाक्षिता' पाठ उन दोनोंसे अस्मत्त है अतः यहाँ मुख्य उची पाठको मान
रिया है ।

इस प्रकार अविषद्विषयपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिक संस्कारकम्बव्यङ्ग्यभेदके आशान्तर
मे शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल दोनोंमें क्रम संक्षिप्त होता है और अर्थकम्बक्रम रसादिमें नहीं,
यह विरम्य बुके । अतः अविषद्विषयवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिमें भी क्रम संक्षिप्त होता है यह
विशयते है—

अविषद्विषयवाच्य [सद्यवामूल ध्वनि] में भी क्रम

अविषद्विषयवाच्यध्वनि [के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यके उदाहरण 'निःश्वासाग्ध
रवाच्यताः और अध्यास्तरसङ्गमितवाच्यक 'घमाऽस्मि सर्वे सर्वे' उदाहरण पहिले दिये
जा चुके हैं उन]में अपने प्रसिद्ध अर्थकी प्रतीतिसं विमुक्त होकर ही अर्थान्तरका
प्रकाशन होता है अतएव क्रम अवश्यमायी है । परन्तु वाच्यके अविषद्विषय होनेसे ही
वाच्यके साथ व्यङ्ग्यके क्रमकी प्रतीतिका विचार नहीं किया गया है । इसलिये वाच्यक
और वाच्य [शब्द और अर्थ]की प्रतीतियोंके समान वाच्य और व्यङ्ग्यकी प्रतीतियोंमें
कार्यकार्यमाय होनेसे क्रम अवश्यमायी है । [किन्तु] उक्त प्रकारसे यह [क्रम] कहीं
स्थित होता है और कहीं [अर्थकम्बकम्बव्यङ्ग्यरसादि ध्वनिमें] संक्षिप्त नहीं
होता है ।

१ उभयार्थताम्बन्धयोगस्तद्वत्सामर्थ्यप्रसाधितेति नि ही प्रसाक्षिता वा नि ।

२ तत्र अविषद्विषयवाच्यत्वादेव ही । तत्राविषद्विषयवाच्यत्वादेव नि ।

सर्वेषु व्यञ्जकमुखेन प्निप्रकारेषु निरूपितेषु कश्चिद् भूयात्, किमिदं व्यञ्जकरं नाम ? व्यङ्ग्यार्थप्रकाशनम् ? न हि व्यञ्जकत्वं व्यङ्ग्यत्वं चार्थस्य^१ । व्यञ्जकसिद्धयन्तीनं व्यङ्ग्यत्वं, व्यङ्ग्यवापेक्षया च व्यञ्जकत्वसिद्धिरित्यन्योन्यसंभवाद् व्यपवस्थानम् ।

ननु वाच्यव्यतिरिक्तस्य व्यङ्ग्यस्य सिद्धिः प्रागेव प्रतिपादिता । तद्विषयवर्धनीया व्यञ्जकत्वसिद्धिरिति कः पर्यनुयोगावसरः ?

सत्यमेवैतत् । प्रागुक्त्युक्तिमिर्वाच्यव्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सिद्धिभूता, स स्वर्गो व्यङ्ग्यवत्येव कस्माद् व्यपदिश्यते ? यत्र च प्राधान्येनावस्थानं तत्र वाच्यतयैवासी व्यपदेष्टुं युक्तः । एतदस्वाद् वाक्यस्य^२ । अतश्च तत्प्रकाशिनो वाक्यस्य वाचकत्वमेव व्यापारः, किन्त्वस्य व्यापायन्तरकल्पनया ? तस्मात् तात्पर्यविषयो योऽर्थः स वाच्यम् ।

पुनः व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावकी सिद्धिः

इस उद्योतके प्रारम्भमें “एष व्यङ्ग्यमुखेनैव प्नेः प्रदर्शिते सम्यगे स्वरूपे पुनर्व्यञ्जकमुखेन प्रकाशयते” यह प्रतिज्ञा की थी, तदनुसार यहाँ तक व्यञ्जकमुखेन प्निप्रमेयोंका निरूपण किया । अब उपसंहार करते हुए प्रथम उद्योतमें समर्पित व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावकी स्थानान्तरणनाम^१ से हट करनेके लिए फिर पूर्वपक्ष करते हैं ।

[पूर्वपक्ष] इस प्रकार व्यञ्जककी दृष्टिसे प्नेके मेयोंका निरूपण करनेपर कोई कह सकता है कि, यह व्यञ्जकत्व क्या पर्याय है ? व्यङ्ग्य-व्य अर्थका प्रकाशन [ही व्यञ्जकत्व है] ? [सो टीक नहीं है क्योंकि] अर्थका व्यञ्जकत्व अथवा व्यङ्ग्यवत्य [सिद्ध] नहीं हो सकता । व्यञ्जककी सिद्धिके अर्थात् व्यङ्ग्यकी [मिथि] और व्यङ्ग्यकी दृष्टिसे व्यञ्जककी सिद्धि [हो सकती] है इसलिए अन्योन्याभय दामने [दोनों ही] सिद्ध नहीं हो सकते हैं ।

[व्यञ्जकत्ववादी उत्तरपक्ष] वाच्यने अतिरिक्त व्यङ्ग्यकी सिद्धि पहले ही [प्रथम उद्योतमें] प्रतिपादित कर चुके हैं । उमकी सिद्धिके द्वारा व्यञ्जककी सिद्धि हो जायगी इस प्रकार प्रदान करने [पर्यनुयोग] का कौन-सा अवसर है [अथात् कोर अपसर नहीं है] ।

[व्यञ्जकत्वप्रतिपक्षक मीमांसक आधिक्य पूर्वपक्ष] टीक ह, पहिले कही हुए युक्तियोंसे वाच्यसे मित्र अर्थकी सिद्धि [आप प्रथम उद्योतमें] कर चुके हैं । [परन्तु प्रदान यह है कि] उम अर्थको व्यङ्ग्य ही क्यों कहते हैं ? [वाच्य क्यों नहीं कहते या फिर वाच्यको मी व्यङ्ग्य-व्य क्यों नहीं कहते ? अथात् ये दोनों अर्थ समान ही हैं] जहाँ [वह अर्थ] प्रधानरूपसे स्थित है वहाँ उमको वाच्य कहना ही उचित है क्योंकि वाच्य मुख्यतः उसीका प्रतिपादन करता है । इसीलिए उम [अर्थ] के प्रकाशक वाच्यका [उस अर्थके बोधनमें] अभिधा [वाचकत्व] व्यापार ही होता है । [तथा] उसके [व्यञ्जकत्व

१ अर्थस्वापि मि ही ।
२ वाचकत्वस्य मि ही ।

स्वतन्त्रा वाच्यः । सा स्वन्त्रा तद्यथा विषयं वाच्यान्तरप्रतीतिः सा तद्वतीवेद
तायमात्रं, पदार्थप्रतीतिरिव वाच्यार्थप्रतीतिः ।

अत्राच्यते—यत्र शब्दः स्वार्थमभिधानोऽर्थान्तरमवगमयति तत्र यत्तस्य स्वार्थो
मिधायित्वं यच्च तदर्थान्तरवगमहेतुत्वं तयोर्विद्येयां विद्येयो वा ? न तावद्विद्येयः ।
वस्मात्तो द्वौ व्यापारौ भिन्नविषयी भिन्नरूपौ च प्रतीयेते एव । तद्यादि वाचकत्वलक्षणो

तामक] अलग व्यापारकी कस्यता करनेकी क्या आवश्यकता है । इसलिये [वाच्यका]
तात्पर्यविययीमूठ जो अर्थ ही यह मुख्यार्थ होनेसे वाच्य अर्थ है । और इस प्रकारके
स्वच्छांमें हीचमें जो दूसरे वाच्यार्थकी प्रतीति होती है वह उस [मुख्य] प्रतीतिका
उपायमात्र है, जैसे पदार्थप्रतीति वाच्यार्थप्रतीतिकी [उपायमात्र होती है] ।

यहाँ कुम्भारिकमह, तथा वैयाकरण आदिकी ओरसे यह सामान्य प्रकृत किना आ सकता
है । इस विषयमें 'स्पेड कार्टिक'के वाक्याधिकरणमें बीहुर निम्नलिखित कारिकामें 'महम्' इस
प्रकार दिखलाया है—

“वाक्यापमितये तेषां प्रवृत्तौ नास्तरीयकम् ।

पाके ज्ञात्रेण काग्रानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥”

पाकके शिष्य इत्यनेक व्याख्यारूप अर्थान्तर व्यापारके समान वाक्यार्थबोधके शिष्य चम्पोंका
पदार्थप्रतिपादनरूप अर्थान्तर व्यापार नास्तरीयक उपायमात्र है । अर्थात् चम्पोंके उपरिष्ठ होनेवाले
कदाचित्, तात्पर्यरूपसे किन्तु अथवा प्रतिपादन होता है वही वाक्यार्थ है और वह वाच्य ही है ।
प्रमादरके मतमें भी कदाचित् और वाक्यार्थमें 'विमित्तनिमित्तभाव' है । और "छे"नमित्तोरिव
दीर्घदीर्घयो अभिवाच्यवाचः"के सिद्धान्तके अनुसार एक ही अभिवाच्यवाच्यसे वाच्य और वाच्य
दोनों अर्थोंकी प्रतीति हो जाती है । विशेष बात यह है कि प्रमादर 'अभिव्यक्तिमानवादी' है इसलिये
उनके मतमें पदार्थ और वाक्यार्थका निमित्तानिमित्तभाव एक ही उपायिकी दृष्टिसे ही है अर्थात्
दृष्टिसे वे प्रथम वाक्यार्थकी ही प्रतीति होती है, पदार्थकी नहीं क्योंकि उनके अभिव्यक्तिमानवाद
की लक्ष्य इसीमें रखा सकता है । प्रमादर किन्तु प्रमादर उत्पत्तिमें पदार्थ और वाक्यार्थका कारण-
काव्यमान मानते हैं उन्हीं प्रकार वैयाकरण भी मानते हैं । परन्तु प्रमादरप्रकृत काव्यकारणभाव
पारम्परिक है और 'स्पेडवादी वैयाकरणके यहाँ वह अन्तर्मायिक है । इस प्रकार इन दोनों मतोंकी
भीरते यह अन्तर्मायिकी सामान्य पूर्णता किना आ सकता है । भागे इसका उत्तर देते हैं ।

[सिद्धांतप्रमाण]—इस [व्ययपक्षके होने] पर यह [निश्चयप्रमाण] कहते हैं । जहाँ
शब्द अपने अर्थका अभिधासे वाच्य करके, दूसरे अर्थका बोध कराता है यहाँ उस
[शब्द] का जो स्वार्थका अभिधान करता और पदार्थका बोध कराता है, उन दोनोंमें
अमेद है अथवा अमेद ? अमेद वा [यह] कह नहीं सकते हैं । क्योंकि ये दोनों
व्यापार विभिन्नविषयक और भिन्नरूप [समग] प्रतीत होते ही हैं, जैसे कि शब्दका
वाचकत्वरूप व्यापार अपने अर्थके विषयमें और वाचकत्वरूप व्यापार दूसरे अर्थके
विषयमें होता है । वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थके विषयमें [शब्दके] स्व और पर [अर्थ
विषयके] व्यङ्ग्यकारको छिपाया नहीं जा सकता है । [क्योंकि] एक [वाच्यार्थ]की [शब्द
के साथ साक्षात्] सम्बन्धित रूपसे प्रतीति होती है और दूसरेकी [शब्दके] सम्बन्धी

व्यापारः शब्दस्य स्वार्थविषयः, गमकत्वसम्पन्नस्तु धर्मोन्तरविषयः । न च स्वपरम्पव
 हारो वाच्यगम्यवयोरपह्नोतु शक्यः । एकस्य सम्बन्धिभवेन प्रतीतेरपरस्य सम्बन्धिसम्ब
 न्धित्वेन । वाच्यो ह्यर्थः साक्षाच्छब्दस्य सम्बन्धी, तद्विपरस्त्वभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तः सम्ब
 न्धिसम्बन्धी । यदि च स्वसम्बन्धित्वं साक्षात्स्य स्यात् तदार्यान्तरव्यवहार एव न
 स्यात् । तस्मात् विषयमेवसाक्षात् तयोर्व्यापारयोः सुप्रसिद्धः ।

रूपमेवोऽपि प्रसिद्ध एव । नहि यैवामिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः । अथाप
 कस्यापि गीतशब्दादे रसादिछन्दप्रार्थोवगमवर्क्षणात् । अशब्दस्यापि वेदादेरवशिरोप
 प्रकाशनप्रसिद्धेः । तथाहि “श्रीशायोगान्तरवदनया” इत्यादि श्लोके वेदाविशेषः सुकवि
 नार्थप्रकाशनहेतुः प्रदर्शित एव । उस्मात् भिन्नविषयत्वाद् भिन्नरूपत्वाच्च स्वामिधिया
 यित्वमपान्तरावगमहेतुत्व च शब्दस्य पत्, तयोः स्पष्ट एव भेदः ।

विद्यपदस्य, न तर्हीशानीभवगमनस्य, अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तस्याद्यान्तरस्य

[अर्थ] के सम्बन्धो [परम्परा-सम्बन्धित] रूपसे प्रतीति जाती है । वाच्यार्थ साक्षात्
 शब्दका सम्बन्धी है और उससे भिन्न दूसरा अर्थ सा वाच्यार्थकी सामर्थ्यसे आक्षिप्त
 सम्बन्धि-सम्बन्धी [परम्परा शब्दमे सम्पन्न] है । यदि उस [वाच्यार्थसे भिन्न अर्थ] का
 [शब्दके साथ] साक्षात् स्वसम्बन्धित्व [शब्दसम्बन्धित्व] हो तो उसमें [अपान्तर
 वाच्यार्थसे भिन्न] दूसरा अर्थ, यह व्यवहार ही न हो । इसलिये [व्यायविषयमें वाच्य
 व्यवहार और परार्थविषयमें व्यवहार-व्यवहार होनेसे] उन दोनों व्यापारोंका विषय
 भेद प्रसिद्ध ही है ।

स्वरूपमेव मी व्यञ्जकत्वसाधक

[वाच्य और व्यवहारका स्वरूपमेव मी प्रसिद्ध ही है ।] जो [शब्दकी] अभिधान
 [वाचक] शक्ति ही वही अवगमन [व्यञ्जक] शक्ति नहीं है । क्योंकि जो गीत आदिके
 शब्द वाचक नहीं [अभिधाशक्तिमे रहित] हैं उनसे मी रसादिरूप अर्थकी अवगति
 होती है । और [न केवल अभिधारहित अपितु] शब्दयोगरहित केवल वेदादिस मी
 अर्थविशेषका प्रकाशन प्रसिद्ध है । जैसे “श्रीशायोगान्तरवदनया” [पृष्ठ १३६] इत्यादि
 श्लोकमें सुकविने वेदाविशेषके अर्थप्रकाशनकर हेतु विस्मयताया ही है । इसलिये भिन्न
 विषय और भिन्नस्वरूप होनेसे शब्दके जो ‘अयामिधायित्व’ और ‘अपान्तरावगमहेतुत्व’
 हैं उनका भेद स्पष्ट ही है [इसलिये शब्दके स्याद्यामिधायित्व और अपान्तरावगमहेतुत्व
 का अविशेष अभिध नहीं मान सकते हैं] ।

[स्याद्यामिधायित्व तथा पराद्यावगमहेतुस्वरूप शब्दधर्ममें] यदि विशय [भेद]

१ वताः स्वपरम्पवहारो वाच्यगम्यवयोरपह्नोतुमसक्यः ही ततः स्वपरम्पवहारो वाच्यगम्यवयोरपह्नो
 तुमसक्यः मि ।

२ अवगमनीयत्व ही ।

वाच्यत्वम्पदेदयता । शब्दव्यापारशब्देतरत्वं तु तस्याम्नामिरिष्यत एव, तच्च व्यवहृत्ये
 नैव, न वाच्यत्वेन । प्रसिद्धामिधानान्तरसम्बन्धयोग्यत्वेन च तस्मात्प्रान्तरस्य' प्रतीतेः
 शब्दान्तरेण स्वार्थामिधाविना पक्षिपक्षीकरणे तत्र प्रकाशनाकिरञ्च युक्त ।

है ता फिर अवगमन [अर्थात् व्यवहृत्य] और रूप अमिधेय सामर्थ्यसे साक्षित दूसरे
 अर्थको वाच्य नामने कहना उचित नहीं है । [इस वाच्यसामर्थ्याक्षित] अर्थका शब्द
 व्यापारका विषय जाना तो हमें अमिमत् ही है परन्तु व्यवहृत्यरूपसे न कि वाच्य-
 रूपसे । क्योंकि इस दूसरे [वाच्यम्यतिरिक्त] अर्थकी प्रतीति [जिस व्यवहृत्य-अवयवक
 शब्दसे इस समय उसका बोध कराया गया है उससे भिन्न, अन्य] प्रसिद्ध वाच्यक
 शब्दके सम्बन्धसे भी हो सकती है । इसलिए [किसी अर्थको अपने वाच्यक शब्दसे न
 कहकर] अमिधाशक्तिय अथवा दूसरे अर्थके वाच्यक [अर्थात् जिसका मुख्यार्थ कुछ
 और हो इस प्रकारके किसी] दूसरे शब्द द्वारा जा [व्यवहृत्यार्थको] वाच्यका विषय
 जाना है उससे लिए 'प्रकाशन' कहना ही उचित है [वाच्य या वाच्यक भादि कहना
 उचित नहीं है । इसलिए व्यवहृत्य और व्यवहृत्य शब्दका प्रयोग ठीक ही है ।] ।

महादिके पदार्थवाक्यावन्त्यायका खण्डन

भाषी ऊपर पृष्ठ २५४ पर शब्दकार्त्तिकी 'वाक्यावन्त्यावन्त्यायक' आदि कारिका उद्धृत करके
 वाच्य और व्यवहृत्य अथवा पदार्थवाक्यावन्त्यायक रिलक्षणा का । जैसे पाठक उत्सवनेमें कार्त्तिकी
 व्याख्याक अथवा अन्तर व्यापार होता है उसी प्रकार और तथाकथित व्यवहृत्यार्थका वाच्य तात्प्राप्यकि
 द्वारा हो सकता है । परन्तु वाक्यावन्त्यावन्त्यावन्त्यायक अथवा अन्तर व्यापारभाव है । तात्प्राप्यका
 शक्तिको माननेपासे अमिधितान्तरकारी महत्त्वमें इस मतका खण्डन करनेके लिए पूर्वोक्त पदार्थ
 वाक्यावन्त्यायका ही माने खण्डन करते हैं । खण्डनमें पहिली बात तो यह है कि 'शब्देत्वादी'
 वैचारिक तो इस पदकार्त्तिकी और वाक्यावन्त्यायका ही मुख्य-अपारम्भिक मानते हैं—

पदेन कर्त्ता विद्यन्ते तन्वैश्वर्यवा न च ।

वाक्यात् पदान्तावन्त्यायकप्रसिद्धेन न कथन ॥—वे ३

यह सब पदपदार्थकथना अक्षय है केवल वाक्योंके शिष्यके लिए ही उसका उपयोग है ।
 अन्तर 'शब्दे' ही रूप है । इसलिए पदार्थकथनमें अनुहार 'पदार्थवाक्यावन्त्यायक' नहीं बन
 सकता है । जो कुम्हारिकमद आदि इस पदकार्त्तिकी आदि व्यवहारको अक्षय नहीं मानते हैं उनके
 मतमें भी पद और उसके उपदान अथवा तन्वाधिकारका न्याय नहीं लागू होगा । यद्यपि उपदान
 कारण या तन्वाधिकारक रूपक है । जब यह बन जाता है तब उसके उपदान या तन्वाधिकारक
 रूपक अक्षय प्रतीत नहीं होते । इसी प्रकार वाक्य बन अन्तर पर्योकी और वाक्यावन्त्यायकमें
 पदार्थकी प्रतीति अक्षय नहीं होगी । यह जो अक्षय नहीं है इसलिए यह, नैवाधिक प्रभाकर
 आदिके मतमें भी 'पदार्थवाक्यावन्त्यायक' नहीं बन सकता है । शीघ्रवर्जन उपमाकार्य है । उसमें
 पर्योका अक्षय ही नहीं बनता है और तन्वाधिकारमें भी वाक्यावन्त्यायकमें पदार्थ शिष्य
 हो आते हैं । इस प्रकार किली शायिक मतमें 'पदार्थवाक्यावन्त्यायक' नहीं बन सकता है यह
 बात करते हैं—

१ तस्मात्प्रान्तरञ्च न प्रतीतेः ही नि ।

न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्ग्ययोः । घटः पदार्थप्रतीतिरसत्यैवति^१
 केचिद्बुद्धिद्विरासितम् । यैरप्यसत्यत्वमस्या ताम्युपेयते तेषांकार्थपदार्थयोपटवदुपादान
 कारणन्यायोऽभ्युपगन्तव्यः । यथा हि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न घृण्यगुणमस्त
 येन वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पदतद्धानाम् । तेषां तथा विमलतदवोपलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव
 वृत्तिमहेत् । न त्वेष वाच्यव्यङ्ग्ययोर्न्यायः । न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दृष्टी
 भवति । वाच्यवाच्यमासिनाभावेन तस्य प्रकाशनात् ।

तस्माद् घटप्रतीपन्यापस्तयोः । यथैव हि प्रतीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न
 प्रतीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद् व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यवाच्यमासः ।

यत्तु प्रथमोच्यते “यथा पदार्थद्वारेण” इत्याद्युक्तं तदुपायत्वमात्रात् साम्य
 विवक्षया ।

वाच्य और व्यङ्ग्यका पदार्थ-वाक्यार्थ-न्याय भी नहीं है । क्योंकि कुछ विद्वान्
 [विचारक] पदार्थप्रतीतिको असत्य ही मानते हैं । जो [मह मीमांसिक आदि] इसको
 असत्य नहीं मानते हैं उनको वाक्यार्थ तथा पदार्थमें घट और उसके उपादान [समया
 यिकारण] का न्याय मानना होगा । जैसे घटके बन जानेपर उसके उपादानकारणों
 [नमवायिकारण कपाडों] की असंग प्रतीति नहीं होती इसी प्रकार वाच्य अथवा
 वाक्यार्थके प्रतीत हो जानेपर [क्रमशः] पद और पदार्थकी असंग प्रतीति नहीं होती ।
 [तब पदार्थ-वाक्यार्थ-न्याय कैसे बनेगा ?] उस समय [वाच्यप्रतीतिकालमें पदों और
 वाक्यार्थप्रतीतिकालमें पदार्थोंकी] उनकी पृथक् रूपसे प्रतीति माननेपर वाच्यार्थबुद्धि
 ही नहीं रहेगी । [क्योंकि एक सम्पूर्ण अर्थको बोधन करनेवाले पदसमुदायको ही
 वाच्य कहते हैं । अर्थकत्वादेकं वाच्यं इत्यादि अमिनीय सूत्रके अनुसार अथवा
 एकत्व होनेपर ही वाच्यत्व होता है । इन्दिष्ट पदार्थ और वाक्यार्थकी अलग प्रतीति
 नहीं मानी जा सकती है । और जब असंग प्रतीति नहीं होती है तब ‘पदार्थ-वाक्यार्थ
 न्याय’ भी नहीं बन सकता है] वाच्य और व्यङ्ग्यमें यह बात नहीं है । व्यङ्ग्यकी
 प्रतीति होनेपर वाच्यबुद्धि दूर हो जाय सो नहीं है । व्यङ्ग्यप्रतीति वाच्यप्रतीतिकी
 अथिनामाथिनी [वाच्यप्रतीतिके बिना व्यङ्ग्यप्रतीति हो नहीं सकती है] रूपमें
 प्रकाशित होती है ।

सिद्धान्तपक्षमें घट-प्रतीप-न्याय

इसलिए उन दोनों [वाच्य और व्यङ्ग्यप्रतीतियों]में घट-प्रतीप-न्याय झग
 होता है । [अर्थात्] जैसे प्रतीप द्वारा घटकी प्रतीति हो जानेपर भी प्रतीपकी प्रतीति
 नष्ट नहीं हो जाती [यह भी होती रहती है] इसी प्रकार व्यङ्ग्यकी प्रतीति हो जानेपर
 भी वाच्यकी प्रतीति होती रहती है ।

[यहाँ प्रश्न यह होता है कि “यथा पदार्थद्वारेण वाच्यार्थः नमप्रतीपते ।
 वाक्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य यस्तुतः ।” प्रथम उपातकी इस दूसरी कारिका

१ अन्वेषेति नि ही ।

२ तदुपादानमात्रस्य विवक्षया नि ही ।

मन्वेयं युगपदर्थद्वययोगित्वं वाक्यस्य प्राप्तं, तद्भावे च तस्य वाक्यस्यैव विषयत्वे ।
तस्या ऐकार्थ्यव्यक्तत्वात् ।

नैव दापः । गुणप्रधानभावने तयोर्व्यवस्थानात् । व्यङ्ग्यस्य हि क्वचित् प्राधान्यं
वाक्यस्योपसर्जनभावः । क्वचिद्व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यमपरत्वं गुणभावः । तत्र व्यङ्ग्य-यमाधान्ये
ध्वनिरित्युक्तमेव । वाक्यप्राधान्ये तु प्रकारान्तरं निर्वोक्ष्यते । तस्मात् शिवमेतत्
व्यङ्ग्यपरत्वेऽपि क्लृप्तस्य न व्यङ्ग्य-यस्वामिभेयत्वमपितु व्यङ्ग्य-यत्वमेव ।

किञ्च व्यङ्ग्य-यस्य प्राधान्येनाविषयायां वाक्यत्वं तावद् भवतिनाम्पुगन्तव्यमसत्पर
त्वाच्छब्दस्य । तस्ति तावद् व्यङ्ग्य-यः शब्दानां कश्चिद् विषय इति । यत्रापि तस्य
प्राधान्यं तत्रापि किमिति तस्य स्वरूपमपह्न्यते । एवं तावद् वाचकत्वापन्वयेव
व्यङ्ग्य-यत्वम् ।

वाक्य और व्यङ्ग्य-यमें पदार्थवाक्यार्थन्याय आपकं मतस्य मी प्रतीत होता है ।
फिर यहाँ उल्टीका लण्डन कीस किया है । इसका समाधान करते हैं प्रथम
उदात्तमें जो 'यथा पदार्थद्वारण इत्यादि कहा है यह केवल [मैंसे पदार्थवाच
वाक्यार्थयोचका उपाय होता है इसी प्रकार वाक्यार्थवाच व्यङ्ग्य-यार्थप्रतीतिकका
उपाय होता है इस] उपायत्यरूप साहचर्यको कथन करनेकी इच्छासे ही लिखा या
[मैंसे पदार्थ-वाक्यार्थ-न्याय इमको यहाँ अभिमत नहीं है] ।

नह 'पदार्थ-वाक्यार्थ-न्याय'का प्रथम तात्पराद्यच्छे व्यङ्ग्य-यत्वके निराकरणके अभिप्रायसे
उठाया है । इसके पूर्व अभिप्रायच्छे व्यङ्ग्य-य भयके बोधका निराकरण किया या । पदार्थत
वाक्यार्थबोध तात्पराद्यच्छे हाता है, तबक निराकरणक स्थि इस पदको उठाकर निरूपण किया है ।

[प्रदत्त—पूर्वपक्ष यदि घट-प्रक्षीप-न्यायसे वाक्यार्थ और व्यङ्ग्य-यार्थ दोनोंकी
प्रतीति माँगे तो] इस प्रकार वाक्यके एक साथ दो अर्थ होन सगेंगे और घंसा ज्ञानपर
उसका वाक्यार्थ ही नहीं रहेगा क्योंकि एकार्थत्व ही उस [वाक्य] का लक्षण है ।

[उत्तर] यह बोध नहीं जाता है क्योंकि उन [वाक्य तथा व्यङ्ग्य-य अर्थ] की गुण
और प्रधानरूपसे व्यवस्था है । कहीं व्यङ्ग्य-यका प्राधान्य तथा व्यङ्ग्य-य अर्थका उपसर्जन
[गौण] रूप होता है और कहीं वाक्य अर्थका प्राधान्य तथा व्यङ्ग्य-य अर्थका गुणभाव
होता है । उनमेंसे व्यङ्ग्य-यका प्राधान्य होनेपर दूसरा प्रकार [वाक्य] होता है यह कह ही
सुके हैं । और वाक्यके प्राधान्य होनेपर [वाक्य] होता है यह कह ही
भाग कहेंगे । इसलिये यह सिद्ध हो गया कि वाक्यके व्यङ्ग्य-यप्रधान ज्ञानपर मी व्यङ्ग्य-य
अर्थ अभिप्राय नहीं अपितु व्यङ्ग्य-य ही होता है ।

इसके अतिरिक्त जहाँ व्यङ्ग्य-यका प्राधान्य विपक्षित नहीं है वहाँ शब्दक तत्पर
[शुभीभूतव्यङ्ग्य-यके प्रतिपादनपरक] न ज्ञानस सम [शुभीभूतव्यङ्ग्य-य अर्थ] का भाप
वाक्यार्थ नहीं मानेंगे । उस वरामें [यह मानना ही होगा कि] शब्दका कोर व्यङ्ग्य-य
अर्थ मी है [जा शब्दके तत्पर न जाने अर्थात् शुभीभूत ज्ञानस वाक्य नहीं है अतः
व्यङ्ग्य-य है] और जहाँ सम [व्यङ्ग्य-य] का प्राधान्य है वहाँ उसके स्वरूपका निषेध किस
लिये करता है । इस प्रकार वाचकत्वसे व्यङ्ग्य-यका अर्थ ही है ।

इत्यथ वाचकत्वाद् व्यञ्जकत्वस्यात्मत्वं, यद्वाचकत्वं सन्नैकाग्रयमितरतु शब्दा
अयमर्थ्याभयं च । शब्दार्थयोश्चोरोपि व्यञ्जकत्वस्य प्रतिपादितत्वात् ।

गुणवृत्तिरूपनारेण लक्षणा चोभयाभवापि भवति । किन्तु ततोऽपि व्यञ्जकत्वं
स्वल्पतो विषयतश्च मिश्रते । रूपमेवैस्तावद्वयम्, यवमुच्यतया व्यापारे गुणवृत्तिः
प्रसिद्धा । व्यञ्जकत्वं तु मुख्यतयेव शब्दस्य व्यापारः । नद्यर्थाद् व्यङ्ग्यत्रयमती
विया तस्या अमुख्यत्वं मनागपि छस्यते ।

आभयमेदसे व्यञ्जकत्वकी सिद्धि

इसलिए मी वाचकत्वसे व्यञ्जकत्व मिश्र है क्योंकि वाचकत्व केवल शब्दके
आश्रित रहता है और व्यञ्जकत्व शब्द और अर्थ दोनोंमें रहता है । [क्योंकि] शब्द और
अर्थ दोनोंका व्यञ्जकत्व प्रतिपादन किया जा चुका है ।

लक्षणा तथा गौणीवृत्तिसे व्यञ्जकत्वका भेद

इस प्रकार बहोतक यह सिद्ध किन्ना कि अभिवाचक और तात्पर्याचकिते मिस व्यञ्जकत्व
या ध्वननव्यापार अलग ही है । आगे लक्षणा और मीमांसकाभिमत गौणीवृत्तिसे उभके भेदका
प्रतिपादन करते हैं ।

मुख्य वाचक शब्दसे व्यञ्जक शब्दका भेदनिरूपण करके अब अमुख्याचक शब्दसे मी
व्यञ्जक शब्दका भेद दिखलाते हैं । अमुख्य शब्दव्यवहार, मुख्याच वाचित होनेपर सादरपेतर
सम्बन्धसे लक्षणा शब्द, अन्वया शब्दसम्बन्धसे उपचार शब्द, दो प्रकारसे होता है । अतएव
अमुख्यसे भेद दिखानेमें लक्षणा और गौणीवृत्तिसे भेद निश्चयना अभीष्ट है । अभिवा और
तात्पर्याव्यावृत्तिसे इसके पूरा भेद दिखना चुके हैं । इस प्रकार अन्य छव वृत्तियोंसे व्यञ्जकत्वका
भेद सिद्ध हो जानेसे व्यञ्जकत्वका अन्वय मानना ही होगा यही प्रत्यकारका अभिप्राय है ।

वाचकत्वसे व्यञ्जकत्वका भेद दिखानेसे हुए जो अन्तिम मुक्ति ही थी कि वाचकत्व केवल
शब्दाश्रित रहता है और व्यञ्जकत्व शब्द तथा अर्थ दोनोंमें आश्रित रहता है वृत्ति गुणवृत्तिका
सम्बन्ध जोड़कर पूराच उठाते हैं कि गुणवृत्ति वा लक्षणा दो शब्द और अर्थ दोनोंमें रहती है तब
उससे व्यञ्जकत्वका क्या भेद है ? उभका उत्तर यह करते हैं कि उपचार तथा लक्षणाके शब्द तथा
अर्थ उभयमें आश्रित होनेपर मी स्वरूपभेद तथा विषयभेदसे व्यञ्जकत्व उनसे मिस ही है ।

प्रत्यकी 'गुणवृत्तिरूपनारेण लक्षणा चोभयाभवापि भवति' इत पंक्तिः अर्थमें छोड़ी भ्रान्ति
हो सकती है । उभके अनुसार 'उभयाभवा'के अर्थका उपचार और लक्षणा इन दोनोंका प्रत्य
उभय शब्दसे किया जा सकता है । परन्तु वाचकमें 'उभय' शब्दसे 'शब्द' और 'अर्थ'का प्रत्य
अभीष्ट है । इसलिए धोचनकारन 'उभयाभवापि शब्दाभावा' लिखकर उभकी व्याख्या की है ।

गुणवृत्ति तो उपचार [सादरपेतरसम्बन्धसे अमुख्यार्थमें प्रयोग] तथा सादरपेतर
[सादरपेतर सम्बन्धसे अमुख्यार्थमें प्रयोग] से दोनों [शब्द तथा अर्थ उभय]में आश्रित
होती है, किन्तु उभसे मी स्वरूपता और विषयता व्यञ्जकत्वका भेद है । स्वरूपमह
तो यह है कि अमुख्यतया [अर्थका बोधन करानेवाला] शब्दव्यापार गुणवृत्ति [मामने]
प्रसिद्ध है और व्यञ्जकत्व मुख्यतया [अर्थबोधक] व्यापार है, आ तीन प्रकारके

अयं वाच्यः स्वरूपमेव, यद् गुणवृत्तिरमुक्यत्वेन व्यवस्थितं वाचकत्वेनेवोच्यते ।
व्यञ्जकत्वं तु वाचकत्वात्स्यन्तं विभिन्नमेव । एतच्च प्रतिपादितम् ।

अयं वाच्यो रूपमर्थो यद् गुणवृत्तौ' यदाहोऽर्थांतरमुपलक्षयति, तदोपलक्षणीवा-
र्थात्मना परिष्वत् प्रकाशो सम्पद्यते । यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ । व्यञ्जकत्वमार्गे तु
यदाहोऽर्थांतरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासाधन्यत्व प्रकाशकः प्रतीयते
प्रदीपवत् । यथा "स्त्रीलक्षकमलपत्राणि गणपामास पार्वती" इत्यादौ ।

यदि च यत्रादिरस्तुत्वप्रतीतिरर्थांतरं लक्षयति तत्र लक्षणाव्यवहारः

[रसादिभ्यश्चि वस्तुभ्यश्चि तथा अस्तुत्वारभ्यश्चि] व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति होती है उसका
अर्थ [वाच्यार्थ]सं किसी प्रकार तनिक भी अनुक्यत्व नहीं दिखलाई देता है ।

और दूसरा स्वरूपमेव यह है कि अनुक्य रूपसे स्थित वाचकत्व ही गुणवृत्ति
है और व्यञ्जकत्व वाचकत्वसे अत्यन्त भिन्न होता है । यह कह चुके हैं ।

और [तीसरा] रूपमेव यह है कि 'गुणवृत्ति'में जब एक अर्थ [का वाचक शब्द]
दूसरे अर्थको लक्षणा द्वारा बोधित करता है तब [जहत्स्वार्थो वा अस्तन-अस्त्यायामे]
लक्षणीय अर्थरूपमें परिष्वत् होकर ही लक्ष्यार्थ होता है । जैसे 'गङ्गायां घोषः' में
[गङ्गा पद अपने अर्थको छोड़कर तटरूपमें परिष्वत् होकर ही तट अर्थको बोधन
करता है ।] व्यञ्जकत्वकी पक्षिमें तब अर्थ दूसरे अर्थको अभिव्यक्त करता है तब
प्रदीपके समान यह अपने स्वरूपको प्रकाशित करता हुआ ही अन्य अर्थका प्रकाशक
होता है । [अर्थात् जहत्स्वार्थो अस्त्यायामे गङ्गा पद अपने मुख्य अर्थको छोड़कर
तटरूप अर्थान्तरका बोधक होता है, व्यञ्जक शब्द अपने स्वार्थको भी प्रकाशित करता
हुआ अर्थान्तरका बोधक होता है वह तीसरा मद् है जिससे व्यञ्जकत्व गुणवृत्तिसे
बलग है ।] जैसे 'स्त्रीलक्षकमलपत्राणि गणपामास पार्वती'में [पहिले मुक्यार्थका बोध
होता है और उसके बाद वह वाच्य व्यङ्ग्य लक्षणा अथवा अवहित्याक्य गृह्यायङ्ग-
का अभिव्यक्त करता है] ।

लक्षणा में भी जहत्स्वार्थो अथवा उपादानलक्षणा नामक एक ऐसा भेद होता है कि जिसमें
एक अपने लक्ष्यार्थका तिरस्कार वा परित्याग किये बिना ही अर्थान्तरका बोधक होता है । इसी
जहत्स्वार्थो अथवा उत्तर भावित अन्वयतिरस्तुत्वाव्यभिचिमें गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्वके
स्वरूपका भेद मने ही न हो परन्तु जहत्स्वार्थो लक्षणा और उत्तर भावित अर्थान्तरसहमित
वाच्यत्वमें तो गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व भिन्न वा एक ही हैं । इस पूर्वपक्षके उठाकर उसका
सन्धन करते हैं—

और यदि जहाँ [जहत्स्वार्थो उपादानलक्षणा अथवा अर्थान्तरसहमित
वाच्यत्वनिर्णय] अर्थ, अपनी प्रतीतिकर परित्याग किये बिना अर्थान्तरका लक्षित करता है
यहाँ लक्षणाव्यवहार [ही] करें तब तो फिर [अभिधाके भी स्थानपर] लक्षणा ही

१ स्ववहितं चि ही ।

२ यदाहो चि ही ।

क्रियते, तदेवं सति सङ्गमेव मुख्यः शब्दव्यापार इति प्राप्तम् । यस्मात् प्रायेण वाक्यानां वाक्यव्यतिरिक्ततात्पर्यविषयार्थवभासित्वम् ।

ननु स्वल्पश्रेणि यद्यर्थो व्यङ्ग्यत्रयं प्रकाशयति तथा शब्दस्य कीदृशा व्यापारः ?

उच्यते—प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दश्रेणेनैवार्थस्य तथाविधं व्यङ्ग्यत्वमिति शब्दस्य सप्रोपयोगः । अस्वल्लङ्घित्वं, समपानुपयोगित्वं, पृथगवभासित्वञ्चेति त्रयं कथमप्युच्यते ।

शब्दका मुख्य व्यापार है यह भा जाता है । क्योंकि अधिकान्ग वाक्य [स्यार्थका परिरत्याग किय विना भी] वाक्यसे मिथ्य तात्पर्यविषयीमूढ अर्थके प्रकाशक हाते है ।

[प्रश्न] आपके मतमें भी जब अर्थ [रसादि, बलद्वार तथा वस्तुरूप] व्यङ्ग्यत्रय को प्रकाशित करता है तब शब्दका किस प्रकारका व्यापार हाता है ।

[उत्तर] प्रकरण भादि सङ्घटित शब्दकी सामर्थ्यस ही अर्थमें उस प्रकार [रसादि] का व्यङ्ग्यत्व होता है इसलिये उसमें शब्दका उपयोग होता है । [आर उसमें] अस्वल्लङ्घित्व, समप अर्थात् सप्रोपयोगके अनुपयोगित्य और पृथगवभासित्वको किस प्रकार टिपाया जा सकता है ?

प्रश्नकर्ताका आशय है कि शब्दक, अर्थके बोधनमें ही ही प्रकारका व्यापार हो सकत है एक तो मुख्य और दूसरा अनुमुख्य । आपके मतमें जब जब 'व्यक्त' हावा है वहाँ भी शब्दका या तो मुख्य या अनुमुख्य इनमें ही कोई एक व्यापार होगा । जब अर्थके प्रकाशनमें मुख्य व्यापार होता है उसीको वाचकत्व करते हैं और जब अनुमुख्य व्यापार होता है उसीको गुणवृत्ति करते हैं । इतन्विय आपक भविष्य अर्थके प्रकाशनमें भी या तो वाचकत्व अथवा गुणवृत्ति इन दोनोंमें ही कोई एक प्रकारका व्यापार मानना होगा । इनके अतिरिक्त अङ्गकत्वादिरूप और कोई तीसरा प्रकार नहीं हो सकता है ।

उत्तरका अभिप्राय यह है कि वह व्यापार तो मुख्य ही हाता है परन्तु सामर्थ्यभेदसे वह वाचकत्वस्य कारण है । यहाँ प्रश्न कितना स्पष्ट है उत्तर उतना ही सम्यक है । भाषानकारने अब 'मुख्य एवासां व्यापारः सामर्थ्यभेदाच्च वाचकत्वव्यतिरिक्त इत्यभिप्रायसाह उच्यते इति' इत्यङ्क का व्याख्या की है वह पूरा स्पष्ट समाधानकारक नहीं है । भेदको स्पष्ट करनेक लिये गुणवृत्ति और व्यङ्ग्यत्वमें मुख्यत्व तीन प्रकारक रूपभेद प्रतिपादित किये हैं ।

१—अमुख्य व्यापार गुणवृत्ति और मुख्य व्यापार व्यङ्ग्यत्व है । वहाँ मुख्य अनुमुख्यका अभिप्राय अस्वल्लङ्घित्व और स्वल्लङ्घित्वसे है । इसका आशय यह है कि गुणवृत्तिमें स्वल्लङ्घित अर्थात् वाचिताय होकर शब्द दूसरे अर्थका बोधक हाता है परन्तु व्यङ्ग्यत्वमें स्वल्लङ्घित्व अथवा वाचिताय होना आवश्यक नहीं है । यह गुणवृत्ति आर व्यङ्ग्यत्वका परित्याग रूपभेद है । गुणवृत्तिक अन्तगत उद्धार और लक्षणा दोनों भा अर्थ हैं । स्वल्प्यादि स्वल्पेभ्यः शब्दाभित तादृश्यमूलक गौण व्यवहार उपचार, आर अर्थाभित अनुमुख्य व्यवहार लक्षणाकूप, ये दोनों गुणवृत्ति हैं । इन दोनोंमें शब्द स्वल्लङ्घित हाता है और व्यङ्ग्यत्वमें नहीं । इस कारण व्यङ्ग्यत्व उन दोनोंसे भिन्न है ।

विषयभेदोऽपि गुणवृत्तिव्यञ्जकत्वयोः स्पष्ट एव । यदा व्यञ्जकत्वस्य रसादकां, प्रसङ्गाद्विशेषा, व्यञ्जकरूपावच्छिन्नं वस्तु, चेति त्रयं विषयः^१ । तत्र रसादिप्रतीतिर्गुणवृत्तिरिति न केनचित्पुच्छते न च साक्यते बलम् । व्यञ्जकाद्यङ्कारप्रतीतिरपि तत्रैव । वस्तुं भावस्वप्रतीतये स्वशब्दानभिधेयत्वेन यत् प्रतिपाद्यितुमिच्छते^२ तद् व्यञ्जयम् । तच्छ न सव गुणवृत्तिविषयः । प्रसिद्धचतुरोच्चाभ्यामपि गौणानां दृष्टानां प्रयोगदर्शनात् । उपोक्तम् प्राक् । यद्यपि च गुणवृत्तौर्षिपवस्तदपि च व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेन । तस्माद् गुणवृत्तेरपि व्यञ्जकत्वस्मात्स्यन्तविक्षिप्तत्वम् । वाचकत्वगुणवृत्तिविक्षिप्तत्वस्यापि च तस्य तदुभवाभित्त्वेन व्यवस्थानम् ।

२—गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्वका वृत्तय भेद वह दिखनवाया कि अगुण्य काले स्थित वाचकाव ही गुणवृत्ति होता है । क्योंकि उनमें किसी-न-किसी रूपसे वृत्तयवाक्यका प्रयोग होता है । इसीसे वृत्तयको अभिवाच्यकभूता कहा है । परन्तु व्यञ्जकत्वमें वृत्तयवाक्य उपयोग नहीं होता है ।

३—गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्वका तीसरा भेद वह दिखनवाया है कि गुणवृत्तिमें वाचकाव और व्यञ्जकत्वका अन्तर प्रतीत होता है, और व्यञ्जकत्वमें वाचक और व्यञ्जकका अन्तर नहीं भेद होता है । दोनोंकी अन्त-अन्त प्रतीति होती है ।

इस प्रकार इन तीन रूपोंसे गुणवृत्ति तथा व्यञ्जकत्वका स्वरूपभेद प्रतीयदन कर अब विषय भेदसे भी उन दोनोंका भेद दिखनवते हैं ।

गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्वका विषयभेद भी स्पष्ट ही है । क्योंकि व्यञ्जकत्वके विषय 'रसादि', 'असङ्गा' और व्यञ्जकरूप 'वस्तु' ये तीन हैं । उनमेंसे रसादिकी प्रतीतिको काह भी गुणवृत्ति नहीं कहता है और न कह ही सकता है । व्यञ्जक असङ्गादिकी प्रतीति भी ऐसी ही है [अर्थात् उसको न कोई गुणवृत्ति कहता है और न कह सकता है] । वाचकत्वकी प्रतीतिके स्थित वाच्यमिष [सदशब्दानभिधेयत्वेन] रूपस्त्विसका प्रतिपादन इष्ट हो वह 'वस्तु' व्यञ्जक है । वह सब गुणवृत्तिके विषय नहीं है । क्योंकि प्रसिद्ध [अर्थात् वृत्तयवाक्य सापक्ष्य भादि शब्द] और अनुरोध [अर्थात् व्यवहारके अनुरोधम 'यदिति विसिमीपप्रदायनम्' आदिमें] स भी वाचकत्वका प्रयोग दना है । जैसा कि पहिले कह चुके हैं । और जहाँ [गङ्गायां घाग इत्यादि] प्रयोगमयती वृत्तयामें शैत्यपावतत्वका अतिहाय] गुणवृत्तिके विषय होता भी है वहाँ व्यञ्जकत्वके अनुप्रवेशम [वस्तुव्यञ्जक गुणवृत्तिके विषय] होता है । इसलिये गुणवृत्तिस भी व्यञ्जकत्व अत्यन्त मिष है । वाचकत्व तथा गुणवृत्तिससे दिखनवत [भिन्न] हानपर भी उन दोनों [वाचकत्व तथा गुणवृत्ति]के आशय ही उस [व्यञ्जकत्व]की स्थिति होती है ।

- १ 'अस्त्वत्प्रतिषेधं समकामुपबोधितत्वं वृत्तयव्यञ्जितत्वं चेति त्रयं इत्यत्र याद नि दी० में अधिक है ।
- २ वस्तुवाचकत्वप्रतीतय वा वि ।
- ३ प्रसिद्धादिर्गुं वा वि ।
- ४ 'गुणवृत्ते' वह पाठ नि में नहीं है ।

व्यञ्ज्यत्वं हि कश्चिद् वाचकत्वामयेण इववतिष्ठते, यथा विवक्षिताम्यपरवाच्ये
प्यनौ । अपिसु गुणवृत्त्यामयेण यथा अविवक्षितवाच्ये प्यनौ । तदुभयामयत्वप्रतिपाद्

इस अनुच्छेदमें 'यस्तु चेति त्रयं विषय' इसके बाद निम्नसागरीय संस्करणमें 'अस्तस्य
वृत्तित्वं समवायुपयोगित्वं, पृथगवभासित्वं चेति त्रयम्' इतना पाठ और मिथ्या है। परन्तु उसकी
सङ्गति यहाँ नहीं लगती है। इस स्वरूप यह पाठ अनाशयक और असङ्गत है। उसके बीचमें आ
जानेसे अगले वाक्यकी पूर्णवाक्यसे जो स्पष्ट सङ्गति है उसमें बाधा पड़ती है। अतएव यहाँ तो यह
निश्चित रूपसे प्रमादपाठ है। 'बोधनकार'ने इसकी व्याख्या 'उच्यते'के बाद और 'विषय
मेवोपि' इससे पूर्व करते हुए लिखा है—“एवमस्तस्यवृत्तित्वात्, क्वचित्पि समवायुपयोगात्
पृथगभासमानत्वाच्चेति त्रिभिः प्रकारैः प्रकाशकत्वस्यैतद्विपरिीतस्वरूपावाच्यं गुणवृत्तेः स्वस्यमेदं
व्याख्याय विषयमेतन्प्राह । विषयमेवोपिीति ।” इससे प्रतीत होता है कि 'बोधनकार' दो वाक्य
पढ़िसे इस पाठको म्यनते हैं। दीधितिकारने यहाँ इस पाठको रत्नकर उसकी व्याख्या की है। उनका
यह प्रकृत 'बोधनकार'के विपरिीत भी है और सुसङ्गत भी नहीं। वाच्यमेव वृत्ते संस्करणमें इस
पाठको कहीं स्थान नहीं दिया गया है। यह बात भी बोधनकारकी व्याख्याके प्रतिकूल होनेसे अनुचित
है। अतएव बोधनकारकी व्याख्याका ध्यान रखते हुए 'उच्यतेपयोग'के बाद और 'कथमवदुच्यते'
से पूर्व इस पाठको रचना चाहिये। तब 'उच्यते'से आगे वाक्य इस प्रकार बनेगा—

“उच्यते, प्रकरणाद्यवधिभ्रमनाद्यवधौर्भावस्य तथानिर्णयं व्यञ्जकत्वमिति धर्मस्य तत्रोपयोग,
अस्तस्यवृत्तित्वं समवायुपयोगित्वं पृथगवभासित्वं चेति त्रयं कथमवदुच्यते ।”

इस प्रकारके पाठकी व्याख्या निम्नलिखित प्रकार होगी। इसके पूर्व प्रकृतका प्रकृत यह
था कि तुम्हारे अर्थार्थ व्यञ्जकत्ववादीके मतमें अब धर्म व्यञ्जकत्वको प्रकाशित करता है तब धर्मका
व्यापार मुख्य या अनुस्य केहा होगा। यदि मुख्य व्यापार होगा तो वाचकत्वके अन्तगत होगा और
अनुस्य होगा तो गुणवृत्तिक अन्तगत होगा। इनके अतिरिक्त तीसरा कोई प्रकार सम्भव नहीं है।
इस प्रकृतका उचर 'उच्यते'से दिया है। उचरका आशय यह है कि प्रकरणादिसङ्गत धर्मसामर्थ्यसे
ही अर्थका उस प्रकारका व्यञ्जकत्व बनता है इसलिये व्यञ्जकत्वत्वर्थमें धर्मक व्यापारको मानना ही
होगा, चाय ही यहाँ धर्मके अस्तस्यवृत्तित्व, समवायुपयोगित्व और पृथगवभासित्वको भी मानना
होगा। इससे विपरिीत स्वयं या गुणवृत्तिमें अस्तस्यवृत्तित्व समय अथात् सङ्केतप्रकारका उपचयित्व
और वाच्य तथा कथका पृथगवभासित्व प्रतीत होता है। अतएव व्यञ्जकत्व गुणवृत्तिसे सर्वथा
भिन्न है। इसलिये रसात् तथा अस्कार और वस्तु तीनों व्यञ्जक अर्थ धर्मव्यापारके विषय होनेपर
भी समवायुपयोगित्व अथात् सङ्केतप्रकार उपयोग न होनेसे वाचकने भिन्न, और अस्तस्यवृत्तित्वके
कारण कथनासे भिन्न, तथा पृथगवभासित्वके कारण उपचारसे भिन्न व्यञ्जकत्वव्यापारक विषय होते
हैं यह मानना होगा। इस प्रकारकी व्याख्या करनेसे उक्त मस्यकी वंकिमें उत्तरमें जो असत्यता आती
है वह भी दूर हो जाती है। और इस पाठकी सङ्गति भी बन जाती है। इसलिये हमने इस पाठको
उचित स्थानपर स्थानान्तरित कर दिया है।

व्यञ्जकत्व कहीं वाचकत्वके भाहित रहता है जैसे विवक्षिताम्यपरवाच्य
[अभिधाम्] प्यनिर्णय और कहीं गुणवृत्तिके माध्यमसे जैसे अविषयित्वाच्य
[अप्रधानाम्] प्यनिर्णय। उन [व्यञ्जकत्व]के उभय [अथात् वाचक तथा गुणवृत्ति]में
भाधितत्वके प्रतिपादनके लिये ही सबसे पहिले प्यनिके [अविषयित्वाच्य आ

नापेक्षं च ध्वनेः प्रथमतः श्रोत्रे प्रवेशानुपपन्नत्वात् तदुभयव्यतिरिक्तत्वाच्च तद्व्यतिरिक्तत्वं तस्य न
 शक्यते पश्यन्तुम् । यस्मात् तद् वाचकत्वैकत्वं न कश्चिद्व्यतिरिक्तत्वात् प्रत्येकं न च सद्यो
 कल्पमेव ध्वन्यात् वाचकत्वान्नयेन व्यवस्थानात् । न चोभयधर्मैकत्वेनैव तद्वैकल्पे न
 भवति, यावद्वाचकत्वव्यतिरिक्तत्वं तदुभयधर्मैकत्वेनापि । तथाहि गीतध्वनीनामपि
 व्यव्यक्तत्वमस्ति रसादिविषयम् । न च तेषां वाचकत्वं सद्यो वा कश्चिद्व्यतिरिक्तत्वे ।
 तद्व्यतिरिक्तत्वात् विषये व्यव्यक्तत्वस्य दर्शनात् वाचकत्वादिशब्दधर्मप्रकारत्वमयुक्तं
 पश्यन्तुम् । यदि च वाचकत्वव्यतिरिक्तत्वात् सद्यो वाचकत्वं प्रसिद्धप्रकारव्यतिरिक्तत्वमप्येव
 व्यव्यक्तत्वं प्रकारत्वेन परिकल्प्यते तद्व्यतिरिक्तत्वं प्रकारत्वेन कस्मान्न परिकल्प्यते ।

[व्यतिरिक्तत्वपरवाच्य] दो मेव किय गये है । उभयव्यतिरिक्त होनेके कारण ही वह
 [व्यतिरिक्तत्व] उन [वाचकत्व और गुणवृत्ति]के साथ एक रूप [वाचकत्व या गुणवृत्ति-
 रूप—उभय अन्वय] नहीं कहा जा सकता है । [अपितु उन दोनोंसे भिन्न है] क्योंकि
 कहीं [व्यतिरिक्तत्वात् व्यव्यक्तत्वमयुक्तत्वे] व्यव्यक्तत्व आशय भी रहनेसे वह [व्यतिरिक्त-
 कत्व] वाचकत्वरूप ही नहीं हो सकता है । और कहीं [व्यतिरिक्तत्वपरवाच्यव्यतिरिक्त]
 वाचकत्वाशय भी रहनेसे व्यव्यक्तत्व भी नहीं हो सकता है । और न केवल उभय
 [वाचकत्व तथा गुणवृत्ति]का धर्म होनेसे ही तद्वैकल्प [वाचकत्व तथा गुणवृत्ति]
 नहीं होता [अर्थात् व्यव्यक्तत्वके वाचकत्व अथवा गुणवृत्तिरूप न होनेका केवल
 उभयव्यतिरिक्त होना यह एक ही कारण नहीं है अपितु भाग्ये वतस्यैव रूप और भी कारण
 उसको वाचकत्व तथा गुणवृत्तिसे भिन्न करते हैं] अपितु वाचकत्व और व्यव्यक्तत्व आदि
 व्यापारसं रहित [गीत आदिके] शब्दोंका धर्म होनेसे भी [व्यतिरिक्तत्व वाचकत्व तथा
 गुणवृत्तिसे भिन्न है] । जैसे गीतकी ध्वनिमें भी रसादिविषयक व्यव्यक्तत्व रहता है
 परन्तु उनमें वाचकत्व अथवा व्यव्यक्तत्व किसी प्रकार भी विद्यमान नहीं होती । [इसके
 अतिरिक्त] शब्दमें भिन्न [अर्थ आदि] विषयमें भी व्यव्यक्तत्वके पाये जानेसे उसे
 वाचकत्व आदि रूप शब्दधर्मविशेष कहना उचित नहीं है । और यदि प्रसिद्ध
 [वाचकत्व तथा गुणवृत्तिरूप] दोनोंसे [पूर्वोक्त इत्युक्त] अतिरिक्त होनेपर भी व्यव्यक्त-
 कत्वको वाचकत्व और व्यव्यक्तत्व आदि शब्दधर्मों [प्रकारधर्म]का विशेष प्रकार मानना
 चाहते हैं तो उस [व्यतिरिक्तत्व]को शब्दका ही [प्रकार] विशेष मेव क्यों नहीं मान
 लेंते [अथ प्रथमतः युक्तियोंसे वाचकत्व तथा गुणवृत्तिमें व्यव्यक्तत्वका भेद स्पष्ट
 सिद्ध हो गया है फिर भी आप उस व्यव्यक्तत्वको वाचकत्व या गुणवृत्तिके भेदोंमें ही
 परिगणित करनेका असह्य प्रयत्न कर रहे हैं तो उसको शब्दका एक अलग प्रकार
 माननेमें आपको क्या आपत्ति है] ।

लौकिककारने इह संक्षिप्त व्याख्या करते हुए लिखा है 'व्यतिरिक्तं वाचकत्वमिति यदि पक्षादी
 ध्वन्ये तर्हि व्यव्यक्तत्वं वा इत्यपि पक्षाद्या कस्यास कल्पते, इत्यथा अस्मादतत्वात् ।' अर्थात्

१ यदि ही में अतिरिक्त है ।

२ यदि में न नहीं है ।

सदर्थं क्षात्रे व्यवाहारे त्रयः प्रकाराः वाचकस्य गुणवृत्तिर्व्यञ्जकस्य च । तत्र व्यञ्जकस्य यथा व्यङ्ग्यवाचान्यं यथा च्यविति, तस्य चाभिव्यक्तिवाच्यो विवक्षितान्य परवाच्यश्चेति द्वौ प्रभेदावनुद्धान्तौ प्रथमतः सौ सविस्तरं निर्णीतौ ।

अन्यो ज्ञूयात् । ननु विवक्षितान्यपरवाच्ये च्यवो गुणवृत्तिता नास्तीति यदुच्यते तद्युक्तम् । यस्माद् वाच्यवाचकप्रतीतिपूर्विका यत्रायान्तरप्रतिपत्तिस्तत्र कथं गुणवृत्ति

यदि व्यञ्जकस्य और वाचकस्यको पयाव मानना चाहते हैं तो व्यञ्जकस्य और च्यवको भी पयाव क्यों नहीं मान लेते । क्योंकि आपकी इच्छा तो अप्रतिहत है, यह कहीं रोकी नहीं जा सकती । इसका भाव यह हुआ कि जैसे च्यवको व्यञ्जकस्यका पयाव मानना युक्तिसङ्गत नहीं है उसी प्रकार व्यञ्जकस्यको वाचकस्यका पयाव मानना भी युक्तिरहित है । यह व्याख्या हम बचिहर प्रतीत नहीं होती । उसका स्थानपर 'तच्छब्दस्यैव प्रकारत्वेन क्रमाम् परिकल्प्यते'का अर्थ उस व्यञ्जकस्यको च्यवका ही एक अलग प्रकार या बम क्यों नहीं मान छते, अथवा व्यञ्जकस्यको च्यवका एक अलग बम मान लेना अधिक युक्तिसङ्गत है । यह व्याख्या अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होती है । इसका भाव यह हुआ कि प्रथम युक्तियोगे वाचकस्य और व्यञ्जकस्यका भेद सिद्ध हो जानेपर भी उसे वाचकस्यरूप मानना तो अत्यन्त अनुचित है, उसका बजाय उस व्यञ्जकस्यको वाचकस्य और गुणवृत्ति आदिसे भिन्न तीसरा च्यवबम मान घना अधिक युक्तिसङ्गत है । अतः उसके माननेमें कार आपत्ति नहीं होती चाहिये । इसके अनुसार व्यञ्जकस्यको वाचकस्यसे भिन्न सिद्ध करनेवासे अनुमानवाक्यका स्वरूप इस प्रकार बनेगा— 'व्यञ्जकस्य अभिवाच्यत्वात्तद्व्याचिष्टप्रतिवागिष्टाकभेदवत् च्यववृत्तित्वे सति च्यवेतर वृत्तित्वात् प्रमेयत्वम् ।' इस अनुमानमें गौरीको सङ्घाके ही अन्तर्गत मानकर वाक्यमें 'अभिवाच्यत्वात्तद्व्याचिष्टप्रतिवागिष्टाकभेदवत्'को छाप्य रखा है । परन्तु भीमसङ्कट यहाँ गौरीवृत्ति अलग है । उसके अनुसार अनुमानवाक्य बनाना हो तो "व्यञ्जकस्य अभिवाच्यत्वात्तद्व्याचिष्टप्रतिवागिष्टाकभेदवत्" यह छाप्यका रूप होगा ।

इस तरह शब्द व्यवहारके तीन प्रकार होते हैं। वाचकस्य, गुणवृत्ति और व्यञ्जकस्य । उनमेंसे व्यञ्जकस्य [मह] में अथ व्यङ्ग्यव्याक्य प्राधान्य होता है तब च्यविति [कथ्य] कहलाता है । और उस [च्यविति] के अभिव्यक्तिवाच्य [लक्षणांमूल] तथा विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिवाच्य] ये दो भेद किये गये हैं और पहिले ही उनका सविस्तर ध्यान किया जा चुका है ।

यद्यपि उपसुक्त प्रकरणमें अभिवाच्य लक्षणा और गौरीसे भिन्न व्यञ्जकस्यकी भिदि की जा चुकी है फिर भी अभिव्यक्तिवाच्य अथवा लक्षणांमूलच्यवितिके अघान्तरसङ्गमित्वाच्य भेदमें लक्षणांमूलक गौरी अथवा अहर्त्वाया उपादानलक्षणा और अत्यन्तदिरन्तृतावाच्यच्यवनिमें अहर्त्वाचार्यरूप लक्षणांमूलकासे भेदको और स्पष्ट करनेके लिए यह अगला पृषपठ उगाते हैं । पृषपठका आशय यह है कि अभिवाच्य अथवा विवक्षितान्यपरवाच्यच्यवनिमें वाचकस्य और गुणवृत्तिसे भेद स्पष्ट है परन्तु अभिव्यक्तिवाच्य अथवा लक्षणांमूलच्यविति गौरी तथा लक्षणासे भिन्न नहीं है ।

[पूर्वपक्ष] अन्य [कोर] कह सकता है कि विवक्षितान्यपरवाच्यच्यवनिमें गुणवृत्ति नहीं जाती यह जो कहते हैं या ठीक है । क्योंकि जहाँ [विवक्षितान्यपरवाच्यच्यवनिमें] वाच्य-वाचक [अर्थ और शब्द]की प्रतीतिपूर्वक [व्यङ्ग्यरूप] अघान्तरकी प्रतीति

व्यवहार । नहि गुणवृत्तौ यदा निमित्तेन केनचिद् विपयान्तरे शब्द आरोप्यतेऽस्तस्य
 तिरस्कृतत्वाच्च, यथा 'अग्निर्माषक' इत्यादौ, यथा वा स्वार्थमज्ञानापरित्यक्तस्तत्सम्बन्ध
 द्वारेण विपयान्तरमाक्रामति यथा 'गङ्गायां घोष' इत्यादौ यदा विपक्षितवाच्यत्वमुपपद्यते ।
 अत एव च विवक्षितान्यपरवाच्ये चरन्ते वाच्यवाचकयोर्द्वयोपि स्वरूपमतीतिरर्थाव
 गमनं च दृश्यत इति व्यञ्जकत्वव्यवहारोपेयुक्त्यनुरोधी । स्वरूपं प्रकाशयन्नेव पराव
 मासको व्यञ्जक इत्युच्यते । तथाचिपे विपये वाचकत्वरयैव व्यञ्जकत्वमिति गुणवृत्ति
 व्यवहारो नियमेनैव न क्षम्यत कर्तुम् ।

अविवक्षितवाच्यस्तु ध्वनिर्युगवृत्तेः कथं भिद्यते । तस्य प्रमेद्वहये गुणवृत्तिप्रमेद
 व्रयत्पता क्षम्यत एव यदा ।

होती है यहाँ गुणवृत्तिव्यवहार हो ही कैसे सकता है । [क्योंकि यहाँ वाच्य और
 व्यञ्जककी भ्रमग और क्रमसे प्रतीति होती है । इत्यधिक विवक्षितान्यपरवाच्य
 ध्वनिमें गुणवृत्ति नहीं रह सकती है । इसी प्रकार भाग कहे हुएसे गुणवृत्तिमें
 विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि नहीं रह सकती है ।] गुणवृत्तिमें जब किसी विशेष कारणसे
 विपयान्तरमें [उसके अवाचक] शब्दका अपने अर्थका अत्यन्त तिरस्कृत कर आरोप
 [मुख्य व्यवहार] किया जाता है जैसे 'अग्निर्माषक' इत्यादिमें [अग्नि शब्दका अपने
 अर्थको छोड़कर तेजस्वित्तादि सादृश्यसे वाचकमें आरोपित व्यवहार किया जाता
 है तब यहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य या अदृश्यायां अज्ञाना तो मानी जा सकती है
 परन्तु विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि नहीं] अथवा कुछ भ्रममें अपने अर्थको छोड़कर
 [सामान्यादि] सम्बन्ध द्वारा [गङ्गा आदि शब्द जब] अर्थान्तर [तट आदि रूप अर्थ]
 का बोध कराता है जैसे 'गङ्गायां घोष' इत्यादिमें । तब ऐसे स्थलोंपर अविवक्षित
 वाच्य [अज्ञानामुच्छब्धनि] हो सकता है । [परन्तु विवक्षितान्यपरवाच्य नहीं हो सकता
 है । अतएव यहाँ विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि होता है यहाँ गुणवृत्ति न रहनेसे और
 यहाँ गुणवृत्ति रहनी है यहाँ विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि न रहनेसे उन दोनोंकी एक-
 ध्वनिमें वाच्य और वाचक दोनोंके स्वरूपकी प्रतीति और [व्यञ्जक] अर्थका ज्ञान पाया
 जाता है इसलिये व्यञ्जकत्वव्यवहार युक्तिसङ्गत है । [क्योंकि] अपने रूपको प्रकाशित
 करते हुए [हीनकामिके समान] परके रूपको प्रकाशित करनेवाला ही व्यञ्जक
 कहलाता है । परसे उदाहरणोंमें [वाचकत्व और व्यञ्जकत्व स्पष्ट रूपमें अलग-अलग
 प्रतीत होते हैं अतः] वाचकत्वका ही व्यञ्जकरूप है इस प्रकारका गुणवृत्ति [मुखक]
 व्यवहार निश्चित रूपमें नहीं किया जा सकता है [इसलिये विवक्षितान्यपरवाच्य
 ध्वनि गुणवृत्तिरूप नहीं है यह ठीक है] ।
 परन्तु अविवक्षितवाच्य [अज्ञानामुच्छ] ध्वनि गुणवृत्तिमें कैसे भ्रमग हो सकता
 है ? उसके नामों में [अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य] में

१ वचनम् नि ।

२ नि ही में बना की अगले कारणके साथ जोड़कर 'वतीअमपि न दोषः' पाठ एक है ।

अथमपि न दापः । यस्माद्विबक्षितवाच्यो ध्वनिगुणवृत्तिमार्गोभयोऽपि भवति, न तु गुणवृत्तिरूप एव । गुणवृत्तिर्हि व्यञ्जकत्वशून्यापि दृश्यते । व्यञ्जकत्वं च यथोक्तपारुत्वहेतुं व्यङ्ग्यं विना न व्यवतिष्ठते ।

गुणवृत्तिस्तु बाध्यमात्राभयेण व्यङ्ग्यमात्राभयेण चामेदापचाररूपा सम्भवति, यथा 'तीक्ष्णत्वाग्निर्माणवकः', 'आह्लावकत्वाचन्द्र एवास्या मुन्म' इत्यादौ । यथा च 'प्रियं जने नास्ति पुनरुक्तम्' इत्यादौ ।

गुणवृत्तिके दोनों मेद [उपचार और लक्षणात्मक स्वर] विशालाह इते ही हैं । [अर्थात्तर सहस्रमितयाध्ययनि उपादानलक्षणा मयथा मज्जहत्स्वाथा लक्षणा, और अत्यन्त तिरस्कृतवाध्ययनि जहत्स्वार्था मयथा लक्षणलक्षणात्मक या गुणवृत्तिसवरूप प्रतीत होती है । अतएव यह लक्षणा या गुणवृत्तिसे कैसे भिन्न हो सकती है ? यह प्रश्नकला का भाग्य है] ।

[उत्तर] यह दाप भी नहीं हो सकता है । क्योंकि अविबक्षितवाच्ययनि गुण वृत्ति लक्षणाके मागका आश्रय भी लता है किन्तु यह गुणवृत्ति लक्षणात्मक नहीं है । क्योंकि गुणवृत्ति व्यञ्जकत्वरहित भी हो सकती है । [जैसे लावण्यादि पदोंमें व्यङ्ग्य प्रयोजनके अभावमें भी गुणवृत्ति या केवल रुढिमूलक लक्षणा पायी जाती है । यहाँ गुणवृत्ति है परन्तु व्यञ्जकत्व नहीं] और व्यञ्जकत्व पूर्वोक्त पारुत्वहेतु 'व्यङ्ग्य' के विना नहीं रहता है [इसप्रिय गुणवृत्ति और अविबक्षितवाच्ययनि एक नहीं हैं] ।

गुणवृत्ति तथा अविबक्षितवाच्ययनिके मेदप्रतिपादनक भिन्न और भी हेतु देते हैं ।

अमेदोपचाररूप गुणवृत्ति तो वाच्यधर्मके आश्रयसे [रुढिमूलक] मात्र व्यङ्ग्य मात्रके आश्रयसे [प्रयोजनयती] हो सकती है । जैसे 'तेजमित्तादि धर्मयुक्त होनेसे यह लड़का भस्मि है' तथा 'आत्मन्दायक होनेसे इसका मुन्म चन्द्रमा है' इत्यादिमें । और 'प्रियजनमें पुनरुक्ति नहीं होती', इत्यादिमें ।

ये तीन उदाहरण अमेदोपचाररूप गुणवृत्तिके दिने हैं । मागवकम अग्निका मुन्मं चन्द्रका अमेदाद्योपमूलक उपचाररूपवहार होनेसे ये गौणोक्त उदाहरण हैं और वाच्यधमाभयण ये उदाहरण दिने गये हैं । वाच्यधमाभयणका अर्थ 'रुढिमूलक' किया गया है । परन्तु अग्निमागवकामें तत्र स्थितारि और वृत्ते उदाहरणमें आह्लावकत्वविद्यमान प्रयोजन व्यङ्ग्य होनेसे ये दोनों वाच्य धर्माभयेणके स्थानपर व्यङ्ग्यधमाभयणक उदाहरण होने पादिये थे । इनको प्रत्यकारण वाच्यधमा भयेणके उदाहरणरूपमें कैम प्रस्तुत किया है । यह शब्दा उपास हो सकती है । इसीप्रिय लोचनकारण 'सकी विद्यारूपागे स्थापना करके लिखा है कि "वाच्यविषयो वा धर्मो अभिवाच्योपचारमग्याभयण समुपहृष्टाद्यन्वय । भूतामापत्ताक्रियावाच्यस्वाभिधेयायोरुपासन एव पदवगानान्ति माका" । स्वयं मूलकारण भी उक्त व्यङ्ग्य प्रयोजनकी आश्रयसे ही केवल 'अग्निमागवक' इतना उदाहरण नहीं दिया है अगि तु तीक्ष्णत्वादि वा व्यङ्ग्य माना जा सकता है उसको व्यङ्ग्यत्वाकी आश्रयका मिदानक निय ही उक्त तीक्ष्णत्वादिकी भी स्वयंसे वाच्यधर्ममें प्रस्तुत करते हुए 'तीक्ष्णत्वाग्निमागवक' यह उदाहरण दिया है । इसमें तीक्ष्णत्व धर्म चन्द्र ही उपास है अतः यह व्यङ्ग्य नहीं हो सकता । अतः ये उदाहरण वाच्यधमाभयणक ही हैं व्यङ्ग्यधमाभयणक नहीं, यह बात मूलमें ही स्पष्ट हो जाती

यापि छद्मत्वात्क्या गुणवृत्तिः साधुपक्षक्षणीयार्थसम्बन्धमात्राभयेन वादरूपव्यङ्ग्य-
प्रतीतिं बिनापि सम्भवत्येव, यथा 'मञ्जाः क्रोशन्ति' इत्यादौ विषये ।

यत्र तु सा वादरूपव्यङ्ग्यवहेतुस्तत्रापि व्यङ्ग्यरूपवानुपबोधेनैव, वाचकत्ववत् ।

है। फिर भी यदि किसीको साम्य ही तो उसकी दृष्टि ही मूल्ये वाच्यप्रमाभवका वीर्य उदाहरण
'मिने बन नामि पुनरुक्तम्' दिया है। वह उदाहरण पहिले पृष्ठ २० पर उदाहृत मात्र पक्ष
प्रथमांश है।

बोधनकारका भाव्य वह है कि 'पीना दहन्यो दिवा न मुक्ते' वह भूतवाप्याचका उदा-
हरण है। वेबदत्त विनये नहीं खाता परन्तु स्फूर्त हो रहा है ऐसा अनुनेवाका उसके यत्रिभावनकी
कल्पना करता है। वहाँ यत्रिभोजन वाच्य न होकर अवाप्यधिते आश्रित होना है परन्तु वह केवल
भूतवाच्य पीनत्वका उपादाकर्मण होता है। वाच्यरूपे नहीं इसी प्रकार 'अग्निर्माषवका अथवा
'यत्र एव मुक्ते' इत्यादि उदाहरणोंम ऐक्यकारि और आह्वयकारिदि पर्यं अन्वय उक्त न
मी हा हा भी अवाप्यि हाकर भी वे अग्नि और माषवकक अमेरुम वाच्यार्थके उपादाकर्मण
होना और वाच्यरूपे न होना कठिक ही उदाहरण हैं। इत्यथ वाच्यप्रमाभवत्येव उदाहरण-
रूपमें वे उदाहरण ठीक ही हैं। वह वाचनकारका अविशय है। इस प्रकार इन तीनों उदाहरणोंमें
अमेरुपचारक्या गुणवृत्तिक वाच्यप्रमाभवने प्रयोग निश्चयवा है। अब अवाप्यक्या गुणवृत्तिक
वाच्यप्रमाभवने प्रयोग दिनाये हैं।

और जो लक्षणाक्या गुणवृत्ति है वह भी लक्ष्यार्थक साथ सम्बन्धप्रमाभके
आश्रयमें, वाच्यरूप व्यङ्ग्यप्रतीतिक बिना भी हो सकती है। जैसे 'मञ्जाः क्रोशन्ति'
मत्तान् चिस्ताते हैं इत्यादिमें।

मञ्जा क्रोशन्ति'में मत्तान् रूप अन्वय पश्चात्में चिस्तातेकी तात्पर्य न जानेसे मञ्ज पर
उपादान [कठि] लक्ष्यवसे मत्तान् पुन्येका बोधक होता है। इस प्रकार ऊपर अमेरुपचारक्या
गुणवृत्ति, और मञ्जा क्रोशन्ति'में लक्षणाक्या गुणवृत्ति व्यङ्ग्यप्रबोधन आदिके बिना, दृष्टिये
ही अन्वय बोधक करती हैं। इत्यथ व्यङ्ग्यक अन्वयमें भी गुणवृत्तिकी स्थिति होनेसे अग्नि-
विश्ववाच्य लक्ष्यामूल्यविके अन्वयार्थमिच्छावाच्य और अत्यन्तविरहवचन धारों मेह
गुणवृत्तिमे अत्यन्त मित है—वह किद दिया। अब आगे प्रजाजनकी लक्षणा भी अविश्ववाच्य
लक्ष्यामूल्यविके मित है वह प्रतियादन करते ह।

अतः जहाँ वह [लक्षणा], वादरूपक व्यङ्ग्यकी प्रतीतिक्य हेतु [प्रयागिका]
हाती है वहाँ [वह, लक्षणा] भी वाचकत्वके समान व्यङ्ग्यत्वके अनुपबोधस ही
[वादरूपक व्यङ्ग्यप्रतीतिक्य हेतु] हाती है।

अविश्ववाच्य विविधान्वयवाच्यत्वनिमे गुणवृत्ति और व्यङ्ग्यत्वको आप भी अत्यन्त मित
तु है। 'मत्तान्मद' इत्यादि अविश्ववाच्यमें अग्निर्माषवादि व्यङ्ग्यकी प्रतीति व्यङ्ग्यानुपबो-
ध ही हाती है। इसी प्रकार लक्ष्यामूल्यक अविश्ववाच्यत्वनिस्वरुम भी यदि कतवा वाचक-
रूपे होती है तो व्यङ्ग्यके अनुपबोध ही वह वाच्यरूपे हो सकती है, स्वयं नहीं। इत्यथ वहाँ
अविश्ववाच्य ही है।

असम्भविना चार्थेन यत्र व्यवहारः, 'यथा सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इत्यादी, तत्र चारुस्वरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिरेव प्रयोक्तिकेति तथाविधेऽपि विषये गुणवृत्तौ सत्यामपि ध्वनि-व्यवहार एव युक्त्यसुरोधी । तस्माद्विबधितवाच्ये ध्वनौ, द्वयोरपि प्रमेद्व्योष्यङ्गत्व-विज्ञेयाभिज्ञिणा गुणवृत्तिर्न तु तदेकरूपा सहृदयहृदयाद्वादिनी ।' प्रतीयमानाप्रतीतिहेतुत्वाद् विषयान्तरे तद्रूपशून्याया' दर्शनात् । एवञ्च सर्वं प्राक् सूचितमपि स्पुटतरप्रतीतये पुनरुक्तम् ।

जहाँ असम्भव अर्थ [आरोपमूलक गुणवृत्ति] से व्यवहार होता है जैसे 'सुवर्ण-पुष्पा पृथिवीम्' इत्यादि [पृ० ५६ पर उदाहरत] में, वहाँ चारुस्वरूप व्यङ्ग्यकी प्रतीति ही उस [आरोपमूलक गुणवृत्तिव्यवहार] का हेतु है इसलिए इस प्रकारके उदाहरणोंमें गुणवृत्ति होनेपर भी [अनायास प्रचुर धनोपाजर्जक रूप समकारी व्यङ्ग्यके कारण ही गुणवृत्तिव्यवहार होनेसे] ध्वनिव्यवहार ही युक्तिसङ्गत है। इसलिए अधिभक्तित-वाच्य [सप्तपामूल] ध्वनिमें [अयान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य] दोनों मेंवहीं व्यङ्ग्यत्वविशेषसे युक्त गुणवृत्ति सहृदयहृदयाद्वादिनी होती है। तदेक-रूपा नहीं [अर्थात् गुणवृत्ति और व्यङ्ग्यत्व एक नहीं हैं] क्योंकि [गुणवृत्ति] प्रतीय-मान [आदत्त्वहेतुरूप व्यङ्ग्य] की प्रतीतिका हेतु नहीं है। दूसरे स्थानोंपर [अभि-र्माणत्वकः भाविमें] उस [गुणवृत्ति] को उस [व्यङ्ग्यत्व] से रहित पाते हैं। [अभि-र्माणत्वकः, अथवा, नास्ति पुनरुक्तम्, आदि उदाहरणोंमें गुणवृत्ति व्यङ्ग्यत्वपुन्य-पायी जाती है। इसलिए 'सुवर्णपुष्पां' भाविमें भी व्यङ्ग्यमाके द्वारा ही चारुस्वरूप व्यङ्ग्यकी प्रतीति होती है। गुणवृत्तिरूपसे नहीं। अतः अधिभक्तितवाच्यध्वनिसे भी गुणवृत्ति भलग है] ये सब पाते पहले [प्रथम उद्योतमें] सूचित [सूक्ष्मरूपमें] की जा चुकी हैं फिर भी अधिक स्पष्ट रूपसे प्रतिपादनार्थ यहाँ फिर कही हैं [स्वरूप-मेव और निमित्तमेव प्रतिपादनके कारण पुनरुक्त नहीं हैं]।

यहाँ निजवसागरीय संस्करणमें 'प्रतीयमाना'क बाद विराम च्छा दिया गया है और दोष-वाच्यको अलग रखा है। यह उचित नहीं है। धोचनकारने 'प्रतीयमानाप्रतीतिहेतुत्वात्'को समि-श्रित मानकर ही 'नदि गुणवृत्तेभ्यस्तत्प्रतीतिहेतुत्वमस्तीति दर्शयति' किया है।

रीभितिकारने 'सहृदयहृदयाद्वादिनी'में वे 'नी'को हटकर 'सहृदयहृदयाद्वादि'को प्रतीयमानका विशेषण बनाकर एक समस्तपद कर दिया है। उनका यह प्रयत्न भी ठीक नहीं है। व्यङ्ग्यत्व विशेषाभिधेय, गुणवृत्ति ही सहृदयहृदयाद्वादिनी हो सकती है स्वयं गुणवृत्ति न सहृदय-हृदयाद्वादिनी होती है और न प्रतीयमानकी प्रतीतिका हेतु। यह अभिप्राय है। 'धोचन'की टीका 'वाक्यप्रिया'में 'यतो गुणवृत्ति' सहृदयहृदयाद्वादिनी प्रतीयमाना च न भवति अतो न तदेकरूपेति सम्बन्ध' किया है। यहाँ वाक्यप्रियाकारने निर्णयसागरीय पाठक अनुसार प्रतीयमानाके भागे विराम मानकर अथ किया जान पड़ता है। इसलिए उन्हें धोचनकी जस उद्धृत की हुई पंक्तिकी सहायि क्यानेका विशेष प्रयास करना पड़ा है।

१ प्रतीयमाना । नि सहृदयहृदयाद्वादिप्रतीतमानाप्रतीतिहेतुत्वात् ही ।

२. तद्रूपशून्यायाश्च नि ही ।

अपि च व्यञ्जकत्वञ्जयोः सः सप्रार्थयोधर्मः स प्रसिद्धसम्बन्धानुरोधीति न कल्पयित्वा विमलिविषयतामर्हति । सप्रार्थयार्हिं प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकत्वात् कल्पस्तमनुसन्धान एव स्वञ्जकत्वञ्जयोः उक्त्यापारः सामान्यन्तरसम्बन्धादीपाधिकः प्रयतते ।

अत एव वाचकत्वात्म्य विशेषः । वाचकत्वं हि शब्दबिम्बपस्य नियत आत्मा^१ । ध्युत्पत्तिकालाहारम्य तद्विनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात् । स त्वनियतः, औपाधिकत्वात् । प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतिरितरथा त्वप्रतीतिः ।

इस प्रकार मलिनविषयान्वयनिको गुणवृत्तिसे प्राप्त सिद्ध कर चुकनेके उपरान्त वृत्ते प्रकारसे अमिषा [वाचकत्वव्यापार] से उसका भेद दिखानेके लिए अग्रिम प्रकारकी अवधारणा करते हैं । इसमें वाचकत्वको स्वाभाविक वा नियत धर्म और स्वञ्जकत्वको औपाधिक धर्म मानकर दोनोंका भेदप्रतिपादन किया है ।

और शब्द तथा अर्थका व्यञ्जकत्वरूप जो धर्म है वह प्रसिद्ध सम्बन्ध [वाचकत्व] का अनुसरण करता है इसमें किसीका मतभेद नहीं होता बाह्यिपि । शब्द और अर्थका जो वाच्य-वाचकमात्रसम्बन्ध प्रसिद्ध है उसका अनुसरण करते हुए ही अन्य न्यायमी [प्रकरणादिवैशिष्ट्यरूप] के सम्बन्धसे व्यञ्जकत्व नामक [शब्द] व्यापार औपाधिक रूपसे [व्यञ्ज-वार्थयोधनार्थ] प्रकृत होता है ।

‘उप स्वामीवर्तिनि स्वर्गमादशादीति उपाधिः ।’^१ जो अपने समीपकर्ती, अपनेसे सम्यक् परार्थमें अपने वर्गका आधान करवा है वह ‘उपाधि’ कहलाता है । वह उपाधिका कल्प है । जैसे क्वाकुमुम [गुडरस] एक मूल रसका दूत है, उतको जब दण्डके पाठ रख दिया तब तो उसका आरम्भ वर्णधर्म प्रतीत होने लगता है । क्वाकुमुमने अपना आरम्भ धर्म समीपकर्ती स्मृतिक अन्वयान्तर आधान कर दिना इसलिये क्वाकुमुम ‘उपाधि’ कहलाता है और दर्पण वा स्फटिकमें आरम्भ ‘औपाधिक’ कहलाता है । इसी प्रकार प्रकरणादिवैशिष्ट्यरूप अन्य साम्यीके सम्बन्धानसे धर्म, धर्मको ‘मूल’ करता है इसलिये प्रकरणादिक धर्म साम्यी ‘उपाधि’ हुआ और उसके कल्पप्रसे शब्दमें प्रतीत होनेवाला स्वञ्जकत्व धर्म ‘औपाधिक’ हुआ ।

इसीलिये वाचकत्वसे उसका भेद है । वाचकत्व शब्दविदायका मिश्रित स्वरूप [अथवा आत्माके समान नियत धर्म] है [अर्थोक्ति] सङ्गतप्रदके समयसे श्रेष्ठ वाचकत्व शब्दसे अधिनामृत [सदैव साय रहनपाद्य] प्रसिद्ध है । और वह [व्यञ्जकत्व] तो ‘औपाधिक’ [प्रकरणादि सामान्यन्तर सम्बन्धानस्य] होनेसे [शब्दका] नियत धर्म नहीं है । प्रकरणादिके वैशिष्ट्यसे उस [व्यञ्जकत्व] की प्रतीति होती है अथवा नहीं [मता यद् नियत या स्वामाविक नहीं अपितु औपाधिक धर्म है] ।

१ नि में इसके अर्थ ‘धर्मधनी’ याद अधिक है । ही में आत्माके बाद विराम चिह्न ‘सामान्यधु त्वविषयकारणत्वं याद रस्य है ।

ननु यद्यनियतत्विकं तस्य स्वरूपपरीक्षया । नैव शेषः । यतः शब्दात्मनि तस्यानियतत्वम् , न तु स्वे विषये व्यङ्ग्यप्रसङ्गे ।

[प्रश्न] अब यदि यह [व्यङ्ग्यकत्व] नियत धर्म नहीं है [भौषाधिक अर्थात् अभास्तविक कल्पित धर्म है] तो उसके स्वरूपकी परीक्षासे ही क्या लाभ है [‘अपुण्य’ या ‘बन्धापुत्र’की स्वरूपपरीक्षाके समान व्यङ्ग्यकत्वके स्वरूपकी परीक्षा भी व्यर्थ है यह प्रश्नकर्ताका भाव है] ।

[उत्तर] यह शेष नहीं है । क्योंकि शब्दरूप [बंध] में ही उस [व्यङ्ग्यकत्व] का अनिदृश्य है परन्तु व्यङ्ग्यरूप अपने विषयमें [अनियत] नहीं है ।

अर्थात् अभिधा या वाचक शब्दोंमें नियत है परन्तु व्यञ्जना किसी शब्दविशेषका निश्चय धर्म नहीं है, प्रकरणाधिक वैशिष्ट्यसे किसी भी शब्दमें व्यञ्जकत्व आ सकता है । इसलिये शब्दस्वरूपमें तो व्यञ्जकत्व अनियत है । परन्तु अपने विषय व्यङ्ग्यार्थके बोधनमें व्यञ्जकत्व और फल व्यञ्जकत्व का ही उपयोग होनेसे वह नियत है । अतः उसका स्वरूपकी परीक्षाका प्रयास ‘अपुण्य’ अथवा ‘बन्धापुत्र’के स्वरूपपरीक्षाके प्रयासके समान व्यर्थ नहीं है । वह उत्तरका आशय है ।

भौषाधिकत्व रूपमें व्यञ्जकत्वका अभिधासे भेद सिद्ध कर अब ‘लिङ्गत्वव्यापक’स भी अभिधासे व्यञ्जकत्वका भेद सिद्ध करते हैं । लिङ्गत्वव्यापकका अभिप्राय यह है कि व्यापकशब्दप्रतिपादित अनुमानकी प्रक्रियामें धूम आदिका ‘लिङ्ग’ और बहि आदिको ‘साध्य’ कहा जाता है । ‘लिङ्ग’ शब्दका अर्थ होता है ‘हीन अर्थे गमयति इति लिङ्गम् । अर्थात् हीन अर्थात् छिपे हुए—प्रत्यय लिङ्गकार न देनेवासे अर्थका बोध हो उसको ‘लिङ्ग’ करते हैं । धूम पकवपर स्थित परन्तु प्रत्यय दिग्गार न देनेवासे बहि का बोध करता है । धुँवाँ उठता हुआ देखकर वृत्ते ही यह ज्ञान हो जाता है कि ‘पर्वतो बहिम्यन् धूमवत्वात् । पकवपर अग्नि है क्योंकि पकवपर धुँवाँ लिङ्गकार दे रहा है । इस प्रकार धूम ‘लिङ्ग’ कहलाता है बहि ‘साध्य’ और पकव ‘पक्ष’ परन्तु पकवका यह ‘पक्षत्व’ बहि का ‘साध्यत्व’ और धूमका ‘लिङ्गत्व’ हर समय उस रूपमें काम नहीं करते हैं । जिस समय अनुमान करनेकी इच्छा होती है उसी समय वह इस रूपमें उपयोगी होत हैं । वरन्ही रसोमें धुँवाँ भी दन्ते हैं और बहि भी । परन्तु वहाँ न रसोई ‘पक्ष’ कहलाती है न धूमको ‘लिङ्ग’ करते हैं, और नहीं बहि ‘साध्य’ है । क्योंकि वहाँ बहि प्रत्यय प्रयोजन सिद्ध है । उसका अनुमानसे सिद्ध करनेकी इच्छा नहीं है । इसलिये पक्ष, लिङ्ग और साध्यव्यवहार केवल अनुमानकी इच्छा अनुमिष्टा या सिवाय सिवाय उपर निर्भर है । इसी प्रकार शब्दका व्यञ्जकत्व प्रयोक्तृकी इच्छापर निर्भर है । इसलिये व्यञ्जकत्वमें लिङ्गत्वका साम्य है । इसके अतिरिक्त धूमदि लिङ्ग व्याप्तिप्रारूप अन्य सामग्रीक सरकार से ही अर्थके अनुमापक होते हैं । ‘व्याप्तिवस्तु अयगमक लिङ्गम्’ यह भी लिङ्गका लक्षण है । धूमसे बहि का बोध करनेमें ‘पक्ष पक्ष धूमवत्तत्र बहि’ इन व्याप्तिक प्रणाली आवश्यकता होती है । उसका बिना धूम बहि का अनुमापक नहीं हो सकता है । इसी प्रकार व्यञ्जक शब्दका व्यङ्ग्य अर्थके बोध करनेके लिये प्रकरणाधिकवैशिष्ट्यरूप सामग्रीकी सहायता आवश्यक होती है । यह भी लिङ्गत्व और व्यञ्जकत्वकी एक समानता हो सकती है । परन्तु इसका लिङ्गत्वव्यापकका प्रवर्तक नहीं मानना चाहिये क्योंकि नैसायिक अपने लिङ्गत्वको भौषाधिक धर्म नहीं अर्थात् साम्याधिक सम्बन्ध करता है । इसीलिये आत्मकारने यहाँ बन्ध इच्छाधीनत्वका ही लिङ्गत्वव्यापक प्रवर्तक माना है ।

लिङ्गत्वन्मायाम्नास्य व्यञ्जकमात्रस्य लक्ष्यते । यथा' लिङ्गत्वमात्रमेव नियताव
भासम्, इच्छाधीनत्वात्, स्वविषयाभ्यभिचारि च, तत्रैवेदं यथा दर्शित व्यञ्जकत्वम् । यदि
शब्दात्मन्यनियतत्वादेयं च तस्य वाचकत्वप्रकारता न शक्या कल्पयितुम् । यदि
हि वाचकत्वप्रकारता तस्य भवेत्तच्छब्दात्मनि नियततापि स्याद् वाचकत्ववत् ।

और इस व्यञ्जकमायका लिङ्गत्वम्याय [लिङ्गत्वसाम्य] मी विकसार्ई वेता है।
जैसे लिङ्गत्व आध्याय [यूमादि] में इच्छा [अनुमिस्ता] के अधीन होनेसे अनियतरूप
[सदा न प्रतीत ज्ञानवाला] हाता है और अपने विषय [साध्य वहि आदि] में अभ्य
मिवायी [सदा नियत] हाता है। इसी प्रकार, जैसे कि ऊपर विकसाया जा चुका है,
यह व्यञ्जकत्व [अपन आभय शब्दों में इच्छाधीन होनेसे अनियत और स्वविषये अर्थात्
व्यङ्ग्य अर्थके बाधनमें नियत [अभ्यमिवायी] है।

शब्दस्वरूपमें अनियत होमसे ही उस [व्यञ्जकत्व]का वाच्यत्वका भेद नहीं
मामा जा सकता है। यदि वह [व्यञ्जकत्व] वाचकत्वका भेद [प्रकार ही] होता तो
वाचकत्वके समान शब्दस्वरूपमें नियत मी होना चाहिये [परन्तु यह शब्दस्वरूपमें
नियत नहीं है। प्रकारवादिसहकारसे ही व्यञ्जकत्व होता है। अतः व्यञ्जकत्व
वाचकत्वसे भिन्न है]।

मीमांसकमतमें व्यञ्जकत्व अपरिहाय

वाचकत्वसे व्यञ्जकत्वका भेद सिद्ध करनेके लिए सभी व्यञ्जकत्वको औपचिक धर्म बतलवा
गया है अर्थात् शब्द और अर्थका व्यञ्जकत्वका औपचिक सम्बन्ध मी होता है। यह बात
मीमांसकमतके "भौतिकलक्षणस्यार्थेन सम्बन्धः" इत्यादि [अ १ पा १ छ ५] के विरुद्ध
है। उक्त सूत्रमें शब्द और अर्थका निम्न सम्बन्ध माना है। भौतिकका अर्थ नित्य करते
दुए सूत्रके माध्यकार शबरस्वामीने किया है कि "भौतिक इति नित्यं भूम। उत्पत्तिर्हि मात्र उच्यते
रक्षणया। अविशुद्धः शब्दार्थयोः सम्बन्धः। नोत्पत्तको पश्चात् सम्बन्धः।" शबरस्वामीके इस भाष्य
और मीमांसकसूत्रके साथ व्यञ्जकत्वका शब्द अर्थके औपचिक सम्बन्धके विरोधका परिहार करते
दुए पौरोषेय तथा श्रौतपौरोषेय शास्त्रोंमें मे' माननेवाले मीमांसकके लिए मी औपचिक व्यञ्जकत्वकी
अनिवार्यता प्रतिपादन करनेके लिए आशा प्रकृत्य प्रारम्भ करते हैं।

मीमांसक सिद्धान्तमें वह 'श्रौतपौरोषेय' हैं और उनका स्वतःप्रामाण्य माना जाता है। बौद्धिक
वाच्य पुराणनिर्मित होनेसे पौरोषेय हैं उनका प्रामाण्य बचानेके प्रामाण्यकी अपेक्षा रखनेसे परतः है।
बौद्धिक वाच्य स्वतः प्रमाण हैं और बौद्धिक वाच्य परतः प्रमाण हैं। 'शानमाहकातिरिक्तानपेक्षात्
स्वतस्त्वम्।' 'शानमाहकातिरिक्तानपेक्षात् परतस्त्वम्।' अतः जहाँ शानकी माहक सामग्रीसे मिम
सामग्री प्रामाण्यके प्रारण करनेके लिए अपेक्षित हो वहाँ 'परतः प्रामाण्य होता है और जहाँ शान
माहक सामग्रीसे ही प्रामाण्यका मी प्रारण शानक प्रारणके साथ ही हो जाता है वहाँ 'स्वतःप्रामाण्य'
होता है। बौद्धिक वाच्य पुराणनिर्मित होते हैं। पुराणमें भ्रम प्रस्यर विप्रसिद्धा आदि वाप हो सकते
1 तयादि लिङ्गत्वमात्रमेव नियताव भासम् वि (अ) निबतावभासम् ही ।
2 शब्दात्मनि निबतावभासम् वि (अ) निबतावभासम् ही ।

स च तत्राविध औपाधिको धर्मः क्षत्रदानामौत्पत्तिकसम्पन्धवादिना वाक्य
वस्त्वविदा पौरुषेयापौरुषेययोर्वाक्यभोर्बिंदोपममिवधत्ता नियमेनाभ्युपगन्तव्यः । तदभ्यु
पगमे हि तस्य क्षत्रार्थसम्पन्नमित्यस्य सत्यप्यपौरुषेयपौरुषेययोर्वाक्ययोरर्थप्रतिपादने

है अतएव पुत्रपके दोयोक सम्बन्धे षौकिक वा 'पौरुषेय' वाक्योंमें अप्रामाण्य आ जाता है ।
परन्तु वह 'अपौरुषेय' है, उनमें 'पुत्रोपकि संतगदी सम्पन्नना न होनेसे वे स्वतः प्रमाण हैं, वह
मीमांसकोंका विद्वान्त है ।

मीमांसक शब्द और अर्थका नित्यसम्बन्ध मानते हैं इसलिए उनके वहाँ शब्द भी नित्य है ।
परन्तु शब्दोंके समूहक्य षौकिक वाक्य पुत्रपनिर्मित और अनित्य हैं । जैसे माक्यकार पुत्रोंका
उत्पत्तक नहीं होता फिर भी उनके क्रमिक सन्निवेशरूप माक्यका निमाता होता है, इसी प्रकार पुत्रप
नित्यसम्बन्धका उत्पादक न होनेपर भी उनके क्रमबद्ध वाक्यस्वरूपका निर्माता होता है, अतः षौकिक
वाक्य 'पौरुषेय' अर्थात् पुत्रपनिर्मित होत हैं ।

इस प्रकार शब्द और अर्थका नित्यसम्बन्ध होनेसे उनक मतमें वाक्यको कमी निरर्थक
अवस्था सिद्धान्तक नहीं होना चाहिये । इसलिए षौकिक वाक्य भी वैदिक वाक्यके समान स्वतः
प्रमाण ही होने चाहिये । फिर भी मीमांसक षौकिक वाक्योंमें पुत्रपदोपके सम्बन्धसे अप्रामाण्य मानते
हैं । इस अप्रामाण्य अथवा पौरुषेय अपौरुषेय वाक्योंक भेदका उत्पादन वाच्यार्थबोधकताके आधार
पर नहीं हो सकता है क्योंकि वाच्यार्थकी बोधकता जो पौरुषेय-अपौरुषेय दोनों प्रकारके वाक्योंमें
समान ही है । किन्तु व्यस्यबोधकताके आधारपर ही उन दोनों वाक्योंका भेद सम्भव है । वाक्य
निर्माता पुत्रपकी इच्छा ही कारण है । पुत्रपके अस्तित्व और प्राप्ति आदिसे मुक्त होनेके कारण उसके
वाच्यबोधकी अथवा इच्छाके विपरीत अर्थमें सिद्धान्त भी सम्भव हो सकता है । इसलिए
पौरुषेय षौकिक वाक्योंमें कदाके भ्रम, प्रमाद विप्रसिद्धा आदि दोषयुक्त होनेसे सिद्धान्तकता ही
सकती है । वैदिक वाक्य किसी पुत्रप [वहाँ पुत्रप सम्बन्धे इधरका उदाहरण होता है] क निर्मित नहीं हैं ।
अतएव उनमें सिद्धान्तकता सम्भव नहीं है । परी पौरुषेय-अपौरुषेय वाक्योंका अन्तर है ।

इस प्रकार 'पौरुषेय' वाक्योंका व्यत्यय उन्हे 'अपौरुषेय' वाक्योंसे भिन्न करता है । वह
वाच्यार्थ अभिधासे प्रतीय नहीं हो सकता क्योंकि यह लक्षित अर्थ नहीं है और न उच्यते प्रतीय
हो सकता है, क्योंकि वहाँ लक्षणाका मुख्यार्थ आदि रूप सामग्री नहीं है । अतएव इस वाच्यार्थ
का बोध अभिधा और लक्षणासे भिन्न व्यञ्जनादृष्टसे ही हो सकता है । इसलिए मीमांसकके न चाहने
पर भी उसे व्यञ्जनादृष्टि स्वीकार करनी ही होगी । इसलिए शब्दमें व्यत्ययरूप 'औपाधिक' धर्म उस
भी स्वीकार करना होगा । उस औपाधिक धर्मके सम्बन्धसे पदार्थके स्वभावमें परिवर्तन दन्ता जाता
है । इस मुक्तिप्रसन्न प्रकार मीमांसकोंके लिए औपाधिक धर्म व्यञ्जकत्वकी अनिवार्यता इस प्रकारमें
सिद्ध करते हैं ।

और इस प्रकारका वह [व्यञ्जकत्वरूप] औपाधिक धर्म शब्द और अर्थके नित्य
सम्बन्धको माननपाठ, और पौरुषेय तथा अपौरुषेय वाक्योंमें भेद माननपाठ, वाक्यके
वस्त्वबोध जाननेवाले [और वाक्यमें शक्ति माननपाठे मीमांसकों]को, अतएव मानना
पड़ेगा । उसके स्वीकार किए बिना शब्द और अर्थका नित्यसम्बन्ध होनेपर भी
पौरुषेय तथा अपौरुषेय वाक्योंके अर्थबोधमें समानता होगी । [निर्दक्य उत्पादन नहीं
१८

निर्दिष्टोपलब्धे स्यात् । तद्युपगमे तु पौरुषेयाणां वाक्यानां पुरुषेष्ठानुविधानसमारोपि
तौपाधिकस्यापारान्तराणां सत्यपि स्वामिधेयसम्बन्धापरिस्थाने मिथ्यार्थतापि भवेत् ।

इत्यथेति हि भाषानामपरित्यक्तस्वभाषानामपि सामप्रपन्तरसम्पातसम्पद्धितौपाधिक-
स्यापारान्तराणां विरुद्धकृतत्वम् । यथा हि हिममव्यूहप्रसूतीनां निर्वापितसकञ्जजीवलोके
शीतलम्बुमुद्गद्वामेव प्रियाविरहद्वन्द्वनक्षमानमानसैर्जनेराजोक्त्यमानानां सदा सन्तापकारित्वं
प्रसिद्धमेव । तस्मात् पौरुषेयाणां वाक्यानां सत्यपि नैसर्गिकेऽर्थसम्बन्धे मिथ्यार्थत्वं समर्थं
पितृमिथ्यता वाचकत्वव्यतिरिक्त किञ्चिदूपमौपाधिकं व्यक्तमेवाभिप्राणीयम् । तत्र व्य-
क्तत्वाद्वाहते नान्यत् । व्यङ्ग्यत्वप्रकाशानं हि व्यङ्ग्यकृत्यम् । पौरुषेयापि च वाक्यानि
प्राधान्येन पुरुषाभिप्रायमेव प्रकाशयन्ति । स च व्यङ्ग्य एव न त्वभिधेयः । तेन सहा-
भिधानस्य वाच्यवाचकभावस्युपसम्बन्धामावात् ।

नन्यनेन न्यायेन सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानां ध्वनिव्यवहारः प्रसक्तः । सर्वे
पाम्पवन्तं न्यायं व्यङ्ग्यकृतत्वात् ।

हो सकेया] और उस [व्यङ्ग्यकृत्यरूप औपाधिक धर्म]के लीकार कर देनेपर पौरुषेय
वाक्योंमें अपने वाच्यवाचकभाव [रूप मित्य] सम्बन्धका परित्याग किये बिना भी
पुरुषकी इच्छा [साध्य]के अनुसरण करनेवाले दूसरे औपाधिक [व्यङ्ग्यकृत्यरूप] व्यापार
युक्त वाक्योंकी मिथ्यार्थता भी हो सकती है ।

अपने स्वभावका परित्याग किये बिना भी अन्य कारणसामग्रीके संयोगसे
औपाधिक अन्य व्यापारोंको प्राप्त करनेवाले पदार्थोंमें विपरीत क्रियाकारित्व देखा
जाता है । जैसे समस्त संसारको शास्त्रि प्रधान करवाले शीतल स्वभावसे युक्त
होनेपर भी प्रियाके विरहानन्दने सन्तप्त विरक्तपाले पुरुषोंके इक्षमगोचर चन्द्रमा
मादि [शीतल] पदार्थोंका सन्तापकारित्व प्रसिद्ध ही है । इसलिये [शब्द और
अर्थका] स्वाभाविक [मित्य] सम्बन्ध दातपर भी पौरुषेय वाक्योंकी मिथ्यार्थकताका
समर्थन करनेकी इच्छा रखनेवाले [मीमांसक]के वाचकत्वसे अतिरिक्त [वाक्योंमें]
कुछ औपाधिकरूप अथवा ही मानना पड़ेगा । और यह [औपाधिकरूप] व्यङ्ग्यकृत्यके
मिथ्या और कुछ नहीं [हो सकता] है । व्यङ्ग्य अर्थका प्रकाशन करना ही व्यङ्ग्यकृत्य
है । पौरुषेय वाच्य मुख्यरूपसे [वक्ता] पुरुषके अभिप्रायको ही [व्यङ्ग्यरूपसे]
प्रकाशित करते हैं । और यह [पुरुषाभिप्राय] व्यङ्ग्य ही होता है वाच्य नहीं ।
[क्योंकि] उस [पुरुषाभिप्राय]के साथ वाचक वाच्यका वाच्य-वाचकभावसम्बन्ध
[सङ्केतप्रद] नहीं होता है [इसलिये मीमांसकका यत्नाके अभिप्रायरूप औपाधिक
अर्थके वाचके लिये वाच्यमें व्यङ्ग्यकृत्य अथवा मानना होगा] ।

[प्रश्न] इस प्रकार तो सभी लौकिक वाक्योंका [पुरुषाभिप्रायरूप व्यङ्ग्यक
सम्बन्धके कारण] ध्वनिव्यवहार हो जायगा [सभी लौकिक वाच्य ध्वनि कहलाने
संगे] ।

सात्यमेवत्, किन्तु वक्त्रमिप्रायप्रकाशनेन 'यद्ब्यञ्जकत्वं तत्सर्वेषामेव श्लोकिकानां वाक्यानामविशिष्टं, तस्यु' वाचकत्वान्न भिद्यते । व्यङ्ग्य-य हि तत्र नान्तरीयकत्वया व्यवस्थितम् । न तु विवक्षितत्वेन । 'यस्य तु विवक्षितत्वेन व्यङ्ग्यस्य स्थितिसावृत्त्यञ्जकत्वं ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकम् ।

यस्यमिप्रायविशेषरूपं व्यङ्ग्य-य शब्दाभ्याम्नां प्रकाशते तद्भूयति विवक्षितं तात्पर्येण प्रकाश्यमानं समु' । किन्तु तदेव केवलमपरिमितवियपस्य ध्वनिव्यवहारस्य न प्रयोजकमभ्यापकत्वात्' । तथा 'दक्षितमेवप्रयस्य तात्पर्येण द्योत्यमानमिप्रायरूपमनभिप्रायरूपं च सर्वमेव ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकमिति यथोक्तव्यञ्जकत्वविशेषे' ध्वनिदृष्टाने नातिव्याप्तिर्न वाव्याप्तिः ।

[उत्तर] यह ठीक है । वक्त्रके अभिप्रायके प्रकाशनेसे जो व्यञ्जकत्व आता है वह तो सब श्लोकिक वाक्योंमें समान है । किन्तु वह वाचकत्वसे भिन्न नहीं है । क्योंकि उनमें व्यङ्ग्य-य वाच्यके अविनाशरूपमें स्थित है, विवक्षितरूपमें नहीं । [व्यङ्ग्यके विवक्षित न होनेसे उसमें ध्वनिव्यवहार नहीं किया जाता है] और जिस व्यङ्ग्यकी स्थिति तो [प्रधानरूपसे] विवक्षितरूपमें है वही व्यञ्जकत्व ध्वनिव्यवहारका प्रयोजक होता है [अतः सब श्लोकिक वाक्य ध्वनि नहीं हैं] ।

जो अभिप्रायविशेषरूप व्यङ्ग्य-य शब्द और अर्थसे प्रकाशित होता है वह तात्पर्यरूप [प्रधानरूप] से प्रकाशन हो तो विवक्षित [व्यङ्ग्य] कहलाता है । किन्तु केवल यह ही, अपरिमित [स्यञ्जोपर होनेवाले] ध्वनिव्यवहारका कारण नहीं है [ध्वनिव्यवहारकी अपेक्षा] अभ्यापक होनेसे । जैसे कि ऊपर बिलसाये हुए मेढत्रय [रत्नादि यस्तु, अलङ्कार] रूप तात्पर्यमे द्योत्यमान अभिप्रायरूप [रत्नादि] और अनभिप्रायरूप [यस्तु तथा अलङ्काररूप] समी ध्वनिव्यवहारके प्रयोजक हैं । अतएव [पत्रार्थः शब्दो वा तदर्थमुपमर्शनीकृतसार्थी ध्येष्टः कल्पयतिशेषा न ध्वनिरिति सुतिभिः कथित' । ११३ । इत्यादि कारिकाओं] पूर्वोक्त व्यञ्जकत्वविशेषरूप ध्वनिदृष्टान माननेमें न अतिव्याप्ति होती है और न अव्याप्ति ।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि सभी श्लोकिक वाक्य वक्त्रके अभिप्रायके व्यञ्जक होनेसे

- १ यदि व्यञ्जकत्वं नि वदितं व्यञ्जकत्वं ही ।
- २ ननु नि ।
- ३ 'यद्ब्य तु यह पाठ नि में नहीं है । 'न तु विवक्षितत्वेन व्यङ्ग्यस्य व्यवस्थिति' । तद् व्यञ्जकत्वं ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकम्' ऐसा पाठ रखा है नि ।
- ४ शब्दाभ्याम्नामेव ही ।
- ५ पर नि ।
- ६ 'न प्रयोजकम् अभ्यापकत्वात्' ही नि में 'प्रयोजकम् के बाद विराम है ।
- ७ तस्य ही ।
- ८ यथोक्तव्यञ्जकत्वविशेषध्वनिकहे नि ही ।

तस्माद्वाक्यतत्त्वविज्ञानं मतेन 'वाक्यं व्यवहारवत्प्रत्ययः शाब्दो व्यापारो न विरोधी प्रत्युत्तानुगुण एव सम्भवति ।

परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दप्रत्ययानां विपरिचयतां मत्तमाभिरुच्येव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति चेत्, सद्यः किं विरोधाविरोधी विन्त्येते ।

कृत्रिमसंज्ञासम्बन्धवादिनां तु शुक्तिविवामनुभवसिद्धा एवार्थं व्यवहारकभावात् शब्दानामर्थान्तराणामिवाविरोधप्रवेति न प्रतिलोभ्यत्पक्षपीमवतरति ।

एवमिह कदाचन स्वार्थे यत् अतिव्याप्तिं भवति तस्मात् पी, और उधीके व्यापारपर अभिप्रायरूप एव नही है ऐसे कल्प वा अलङ्कारके व्यवहार में ध्वनिव्यवहार नहीं हो सकेगा यह अभ्यासि यह शोनी शेष उन हो सकते हैं जब सामान्यतः अभिप्रायरूपकत्वको ध्वनिका कथन मयें । परन्तु अभिप्रायरूपकत्व सामान्यको ध्वनिकत्व न मानकर अभिप्रायविशेषरूप और कहीं कल्प आदि रूप परम्परा व्यवहारके प्राधान्यमें ध्वनिव्यवहार माना गया है अतएव उक्त कारिकामें कहे ध्वनिकत्वमें न अतिव्याप्ति है और न अभ्यासि ।

इसलिये वाक्यतत्त्वको [मीमांसकों] के मतमें व्यवहारकत्व [वाचकत्व तथा शुच्युचिते मिथ] शाब्द व्यापार मानना विरोधी नहीं अपितु अनुकूल ही प्रतीत होता है ।

वैयाकरणमत ध्वनिसिद्धान्तके अनुकूल

इत प्रकरके [प्रारम्भमें मीमांसक वैयाकरण और नैयायिक आदिकी ओरसे एक सामान्य व्यवहारके विरोधी पूर्वक उदाया गया था । अब उसका सन्देह कर उपसंहार करते हैं । उक्त उपसंहारमें मीमांसकमतमें व्यवहारकत्वव्यापार विरोधी नहीं अपितु अनुकूल मान पड़ता है—यह कहा । आगे वैयाकरण सिद्धान्तके साथ ध्वनिव्यवहारका अविरोध इत प्रकार दिखाते हैं कि हम आलङ्कारिकोंने तो ध्वनि शब्द ही वैयाकरणोंसे लिखा है अतएव उनके सिद्धान्तके साथ ध्वनि सिद्धान्तके विरोधकी क्या कदना ही स्वर्ष है ।

[निरपभ्रंशं गलितमेवप्रपञ्चतया अविद्यासंस्काररहितम्' इति खोचनकार] अविद्यासंस्काररहित शब्दप्रज्ञाका निद्वय करनेवाले [वैयाकरण] विद्वानोंके मतका आश्रय लेकर ही [इमारे शास्त्रमें] यह ध्वनिव्यवहार प्रचलित हुआ है इसलिये उनके साथ विरोध-अविरोधकी चिन्ताकी आवश्यकता ही क्या है ? [अर्थात् उनका विरोध ही नहीं सकता है । अतः उसके परिहारकी चिन्ता भी स्वर्ष है] ।

न्यायमत व्यवहारकत्वके अनुकूल

शाब्द और अर्थका वृत्तिम [अनित्य] सम्बन्ध [सद्वैतकृत वाच्य-वाचकत्वरूप] माननेवाले प्रमाणवित् [नैयायिकों] के मतमें तो [धीपक भावि] अन्य अर्थोंके [व्यवहारक] समाप्त शब्दोंका व्यवहारक अनुभवसिद्ध और निश्चित [ही] है, अतः [वैयायिकमतमें व्यवहारकता] निराकरण [अपेक्षित] करने योग्य नहीं है ।

१ मते व नि ही ।

२ (न) वि ।

३ ही वा नि ।

वाचकत्वे हि तार्किकानां विप्रतिपत्तयः प्रवर्तन्ताम्, किमिदं स्वामाबिकं शब्दानां माहोस्वित् सामयिकमित्याधाः । व्यञ्जकत्वे तु वस्तुप्रमाविनि भावान्तरसाधारणे लोकप्रसिद्ध एवानुगम्यमाने को विमतीनामवसरः ।

अलौकिके द्वये तार्किकानां विमतयो निमित्ताः प्रवर्तन्ते न तु लौकिके । न हि नीलमधुपदिप्रशोषत्वकेन्द्रियगोचरे बाष्पादहिते तस्ये परस्परं विप्रतिपत्ता दृश्यन्ते । न हि बाष्पादहितं नीलं नीलमिति ब्रह्मपरणे प्रविधिष्यते नैतन्नीलं पीतमेतदिति । तस्यैव व्यञ्जकत्वं वाचकानां शब्दानामवाचकानां च गीतम्बनीनामसम्बन्धरूपाणां च श्रेष्ठादीनां परस्परपामनुभवसिद्धमेव तत्केनापहृष्यत ।

अक्षरमर्थं रमणीयं हि सूचयन्तो व्याहारास्तथा व्यापारा निबन्दाश्चानिबन्दाश्चो विद्वग्भरिपरसु विविधा विभाव्यन्ते । 'वानुपहस्यमानवामारमनः परिहरन् क्षेत्रितिसम्बन्धो' सचेताः ।

तार्किकों [नियायिकों] का वाचकत्वके विषयमें क्या शब्दोंका वाचकत्व स्थामायिक है अथवा सद्ब्रह्म इत्यादि प्रकारकी विप्रतिपत्तियों मल ही हों परन्तु उस [वाचकत्व] के बाद मानपास और [दीपक आदि] अन्य पदार्थोंके समान लोकप्रसिद्ध अनुभूयमान व्यञ्जकत्वके विषयमें तो मतभेदका अवसर ही कहाँ है [अथात् व्याप सिद्धान्तका भी व्यञ्जकत्वविरोधी सिद्धान्त नहीं मानना चाहिये] ।

तार्किकों [नियायिकों] का [आत्मा आदि] अलौकिक [लोकप्रत्यक्षके अगाध] अर्थके विषयमें सारी विप्रतिपत्तियाँ होती हैं लौकिक [प्रत्यक्षसिद्ध] अर्थके विषयमें नहीं । नील मधुन आदि [मंसे निधारणे सप्तमी] मर्षलोकप्रत्यक्ष और अवाचित पदार्थके विषयमें परस्पर मतभेद नहीं दिखलाई देता है । बाष्पादहित नीलको नील कहनेवाले किसीको [दूसर] निषेध नहीं करता है कि, यह नील नहीं है यह पीत है । इसी प्रकार वाचक शब्दोंका, अवाचकशब्दरूप गीत आदि ध्यनियोंका और [अशब्दरूप] श्रेष्ठा आदि [तीनों] का व्यञ्जकत्व जो सबके अनुभवसिद्ध ही है उसका अपलाप कान कर सकता है ?

विद्वानोंकी ग्राहियोंमें शब्दस अनभिधेय [अभिधा द्वारा शब्दमे कथित न किये जा सकनयास] सुन्दर [चमत्कारजनक] अर्थका अभिधेयक करनयास अनेक प्रकारके घनन और व्यापार [शब्दरूपमें] निबद्ध अथवा अनिबद्ध पाये जाते हैं । अपने आपको उपहास्यतामे घयानेपास कीन सुखिमान् उनका स्वीकार नहीं करेगा ?

- १ भाषाप्रसादात्वे नि ।
- २ विमतयो विविध के स्थानपर नि ही में 'अभिधेयता' पाठ है ।
- ३ एव पद नि में नहीं है ।
- ४ तत्केनाभिधेयते [पहृष्यते ?] केमा पाठ नि में है ।
- ५ तथा व्यापारनिबन्दाश्च नि ही ।
- ६ तानु नि ।
- ७ क्षेत्रमित्युच्यते नि ही ।

ज्ञ्यात् । अस्तवतिष्ठमानावसरः । व्यञ्जकत्वं क्षणानां गमकत्वं उच्यते लिङ्गत्वम्, अतश्च व्यञ्ज-यप्रतीतिङ्गिप्रतीतिरेवेति लिङ्गलिङ्गिभाव एव तेषां, व्यञ्ज-व्यञ्जकभावो नापरः करिषत् । अतश्चेतद्वचनमेव बोद्धव्यं यस्माद्व्यञ्जमिप्रायापेक्षया व्यञ्जकत्वमिदानीमेव स्वभा प्रतिपादितम् । व्यञ्जमिप्रायश्चानुमेवरूप एव ।

अत्रोच्यते, नन्वेवमपि यदि नाम स्वात् तद्विद्वन्विद्वन्म । वाचकत्वगुणवृत्ति व्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्वसङ्घः क्षणव्यापारोऽर्थास्त्यस्मामिरभ्युपगतम् । तस्य चैवमपि न कश्चित् क्षतिः । तदि व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमस्तु अन्वयात् । सर्वथा प्रसिद्धशास्त्रप्रकारविभक्तत्वं क्षणव्यापारविषयत्वं च तस्यास्तीति नास्त्येवावयोर्विवायः ।

अनुमितिवादका निराकरण

[पूर्यपत्र] कारं कह सकता हे कि [व्यञ्जकत्वका] अस्वीकार करनेका भयसर है । शब्दोंके [अन्वयार्थ] बोधपत्र [गमकत्व] का नाम ही व्यञ्जकत्व है । और यह [गमकत्व] लिङ्गत्व [रूप] है । इसलिये व्यञ्ज-यकी प्रतीति लिङ्गीकी प्रतीति ही है । अत एव लिङ्ग-लिङ्गिभाव ही उन शब्दोंका व्यञ्ज-व्यञ्जकभाव है और [लिङ्ग-लिङ्गिभाष्ये] अतएव कुछ नहीं है । और इसलिये भी ऐसा भयदय मानना चाहिये कि वक्तव्य अमि प्रायकी दृष्टिसे व्यञ्जकत्वका प्रतिपादन [अथात् व्यञ्जक और व्यञ्ज-यका लिङ्ग-लिङ्गिभाष्य] तुमने [व्यञ्जकत्वयादीम] अभी [मीमांसकके अण्डनके प्रसङ्गमें] किया है । और वक्तव्यका अमिप्राय अनुमयक ही जाता है [अतएव जिसे व्यञ्जकत्वयादी व्यञ्जनाप्यापार का विषय मानना चाहता है वह अनुमानका विषय है । अतः व्यञ्जना अनुमितिके अन्तर्गत है यह पूर्यपत्रका अमिप्राय है] ।

[उत्तरपत्र] इसका उत्तर यह है कि यदि [धात्री वृत्त सिप प्रौढियावृत्त] ऐसा भी मान लें तो हमारी क्या हानि है । हमने तो यह स्वीकार किया है कि वाचकत्व और गुणवृत्तिते अतिरिक्त व्यञ्जकत्वरूप [अथवा तीसरा] क्षणव्यापार है । उस [सिद्धान्त] को ऐसा [व्यञ्ज-व्यञ्जकभावको लिङ्ग-लिङ्गिभावरूप] माननेपर भी कोई हानि नहीं [होती] । वह व्यञ्जकत्व [चाह] लिङ्गत्वरूप हो अथवा अन्य कुछ प्रत्येक वृत्तमें प्रसिद्ध [अभिधा तथा गुणवृत्तिकरूप] शब्दव्यापारसे भिन्न और शब्दव्यापार का विषय यह रहता ही है, इसलिये हमारा तुम्हारा कोई अण्डा नहीं है ।

यह 'प्रौढियाद'के उत्तर हुआ । अपनी प्रौढया वा पाण्डित्यको प्रकट करनेके लिये किसी अनभिन्त वाचको कुछ समयके लिये स्वीकार कर लेना 'प्रौढियाद' कहलया है । वहाँ व्यञ्ज-व्यञ्जक-भावका लिङ्ग-लिङ्गीरूप होना सिद्धान्तपरको अक्षयमें रह नहीं है । फिर प्रौढया प्रकटनके लिये बोधी देना लिये मान लिया है । अतः वह उत्तर प्रौढियादका उत्तर है । बानव उत्तर भाष्य है—

१ (पूर्यपत्र) अस्वीकृतवाचकत्वरे नि० ही ।

२ 'अत्रोच्यते' वाद कि में नहीं है ।

न पुनरयं परमार्थो यद् व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव सत्त्वं, व्यङ्ग्यप्रतीतिरप्य लिङ्गि प्रतीतिरेवेति ।

यद्यपि स्वपक्षसिद्धयेऽस्मदुक्तमनुवितं, स्वया वक्त्रभिप्रायस्य व्यङ्ग्यत्वेनाभ्युपग-
मात् तत्राकाशने शब्दानां लिङ्गत्वमेवेति तदेतद्यथास्माभिर्मिहितं तद्विमस्य प्रतिपाद्यते,
भूयताम् ।

द्विविधो विषयः शब्दानाम् । अनुमेयः प्रतिपाद्यश्च । तत्रानुमेयो विवक्षा
सम्प्रदायः । विवक्षा च शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा शब्देनार्थप्रकाशनेच्छा चेति द्विप्रकारा
समाद्या न शाब्दव्यवहाररहम् । सा हि प्राप्तिस्वमात्रप्रतिपत्तिफला । द्वितीया तु शब्द
विशेषावधारणावसितव्यवहारापि 'शब्दकारणव्यवहारनिवन्धनम् । ते तु द्वे अप्यनुमेयो
विषयः शब्दानाम् ।

प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थप्रतिपादनसमीहाविषयीकृतोऽर्थः । स च द्विविधो, वाच्यो

वास्तव्यं तो यह बात हीच नहीं है कि व्यञ्जकत्व सच जगह लिङ्गत्वक्य और
व्यङ्ग्यकी प्रतीति सर्थत्र [अनुमिति] लिङ्गिप्रतीतिरूप ही हो ।

और अपने पक्षकी सिद्धि करनेके लिए जो हमारे कथनका अनुवाद किया है
कि हमने [व्यञ्जकत्वयादीने] वक्ताके अभिप्रायको व्यङ्ग्य माना है और उस [वक्ताके
अभिप्राय] के प्रकाशनमें शब्दोंका लिङ्गत्व ही है । सो इस विषयमें जो हमने कहा है
उसको अलग अलग थोड़ाकर कहते हैं [अच्छी तरह] सुनो ।

शब्दोंका विषय दो प्रकारका होता है, एक अनुमेय और [दूसरा] प्रतिपाद्य ।
उनमेंसे [मर्गकी कहनेकी इच्छा] विषयका अनुमेय है । विषयका भी शब्दके [मानुपूर्वी]
स्वरूपके प्रकाशनकी इच्छा और शब्दसे अर्थप्रकाशनकी इच्छारूप दो प्रकारकी
होती है । उनमेंसे पहिली [शब्दके स्वरूपप्रकाशनकी इच्छा] शाब्दव्यवहार [शब्द
बोध] का अङ्ग [उपकारिणी] नहीं है । केवल प्राप्तिस्वमात्रकी प्रतीति ही उसका फल
है । [शब्दका स्वरूपमात्र अथात् अर्थहीन व्यक्त या अव्यक्त स्वमि कोर प्राणी कर सकता
है अथेतन नहीं । इसलिये शब्दके स्वरूपमात्र प्रकाशनसे प्राणीका ज्ञान तो अवश्य हो
सकता है परन्तु उससे किसी प्रकारके अर्थका ज्ञान न हो सकनेसे यह शाब्दबोध या
शाब्दव्यवहारमें अनुपयोगी है] । दूसरी [अर्थप्रकाशनेच्छारूप] शाब्दविशेष
[वाचक्यदि] के अर्थधारणसे व्ययहित होनेपर भी शब्दकारणक व्यवहार अथात् शब्द
बोध व्यवहारका अङ्ग होती है । ये दोनों [शब्द सम्बन्धी इच्छाएँ] शब्दोंका अनुमेय
विषय हैं [विशेष प्रकारके शब्दको सुनकर शब्दस्वरूपप्रकाशनकी इच्छा अथवा
शब्द द्वारा अर्थप्रकाशनकी इच्छाका अनुमान होता है । इसलिये ये दोनों इच्छाएँ
शब्दोंका अनुमेय विषय हैं] ।

[शब्द] प्रयोक्ताकी अर्थप्रतिपादनकी इच्छाका विषयीभूत अर्थ [शब्दका]
प्रतिपाद्य विषय होता है । और यह वाच्य तथा व्यङ्ग्य दो प्रकारका है । प्रयोक्ता कभी

१ शब्दकारणव्यवहारनिवन्धनम् नि ही ।

व्यापारः सम्बन्धान्तरेण वा । न तावदावकल्पेन बधात् प्राक् । सम्बन्धान्तरेण व्यञ्जकत्वमेव ।

न च व्यञ्जकत्वं छिन्नत्वरूपमेव, आलोकादिष्वन्यथा दृष्टत्वात् । वस्मात् प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न छिन्नत्वेन सम्बन्धी वाच्यवान् । यो हि छिन्नत्वेन 'तेषां' सम्बन्धी यथा वृत्तितो विषयः, स न वाच्यत्वेन प्रतीयते, अपित्पाचित्वेन^१ । प्रतिपाद्यस्य च विषयस्य छिन्नत्वे वद्विषयबाणां विप्रतिपत्तिनां लौकिकैरेव क्रियमानानामभावः प्रसञ्चेतेति । एतद्योक्तमेव ।

व्यङ्ग्य कहा हं वहाँ 'उमामुखे' जैसे उदाहरणोंमें शिष्यके अमिप्राय आदिष्य प्रह्वय है । इस वाक्यमें शिष्यका सुम्बन्धामिलाप व्यङ्ग्य ही है । वाच्य या अनुमेय नहीं । इस प्रकार विषयभेदसे विशेषक परित्कार हो जाता है उनमें वाच्यकत्वसे ता बनता नहीं जैसा कि पहिले कह चुके हैं [य्योंकि व्यङ्ग्य अर्थके साथ सजुतप्रह्व नहीं । और सम्बन्धान्तर [मानने] से व्यञ्जकत्व ही होता है ।

[दीपकके] आलोक आदिमें अम्यथा [अर्थात् छिन्नत्वके अभावमें मी प्रत्यक्षिक व्यञ्जकत्व] वक्त जायेसे, व्यञ्जकत्व [सहा] छिन्नत्वरूप ही नहीं होता है । [प्रकाश प्रत्यक्षिक अमिप्रायक तो होता है, परन्तु वह प्रत्यक्षिक अनुमितिवेत्तु न होनेसे छिन्न नहीं होता । इसलिये व्यञ्जकका छिन्न ही होना आवश्यक नहीं है] इसलिये प्रतिपाद्य [व्यङ्ग्य] विषय वाच्यकी तरह ही छिन्नत्वेन शब्दसे सम्बन्ध नहीं है । [अर्थात् जैसे वाच्य अर्थ शब्दसे अनुमेय नहीं है इसी प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ मी शब्दसे अनुमेय नहीं है] । और जो छिन्नी रूपसे उक्त [शब्दों] का सम्बन्धी [शब्दोंसे अनुमेय] है जैसा कि [ऊपर] दिलासावा बुझा [वक्तव्य अमिप्राय या विषयस्वरूप] विषय, वह वाच्यरूपसे प्रतीत नहीं होता है, अपितु औपार्थिक [वाच्यदि अर्थमें विशेषणीभूत] रूपसे प्रतीत होता है । प्रतिपाद्य विषयको छिन्नी [अनुमेय] माननेपर उसके विषयमें लौकिक पुर्यों द्वारा ही की जानेवाली विप्रतिपत्तियोंका अभाव प्राप्त होगा । यह कह ही चुके हैं [पृष्ठ २८० पर कह चुके हैं कि अनुमेय अर्थ मिथित ही होता है, उसमें सम्बन्ध मिथ्यात्व आदि विप्रतिपत्तियोंका अभाव नहीं है] ।

ज्ञानके सामान्यके विषयमें दो प्रकारके वाच्यिक मत हैं । एक श्रीमान्कका 'सतः सामान्य वाद औः इत्ये निवामिकका 'परा सामान्यवाद' । 'सतः सामान्य'का अर्थ है 'ज्ञानवाक्याति निश्चयनेरुत्तमं स्वतन्त्रम्' । अर्थात् ज्ञानवाक्य और सामान्यवादका साम्यी बदि एक ही हो तो लक्षा सामान्य होता है । श्रीमान्कमतमें ज्ञान और सामान्य दोनोंका प्रह्व 'अलक्षान्यवाक्यप्रतिपत्तौ लक्षणात्'से होता है इसलिये सतः सामान्य है । 'अलक्षान्यवाक्यप्रतिपत्तौ'का अर्थ यह है कि वदने 'अर्थ वद' वद ज्ञान होता है । एत ज्ञानसे परमं अलक्षान्य नामका एक परम उक्त्य होता है ।

१ छिन्नत्वेन वि० ही ।

२ 'तेषां' काय वि० में नहीं है ।

३ औपार्थिकत्व वि० ही ।

इस धर्मको मीमांसक 'ज्ञानता' धर्म कहता है। यह शकता धर्म 'अर्थ पद.' इस ज्ञानसे परिसे नहीं था, 'अर्थ पदः' इस ज्ञानके बाद पदमें उत्पन्न हुआ है। इसलिए यह ज्ञानजन्य ही होता है अर्थात् उसका कारण ज्ञान ही होता है। शकता धर्मकी प्रतीति बादमें होनेवासे 'ज्ञातो मया पदः' इत्यादि रूपमें होती है। इस 'ज्ञातो मया पदः'में, पदमें रहनेवासी शकता प्रतीत होती है। यह शकता अपने कारणज्ञानके बिना पदमें नहीं आ सकती थी। इसलिए अन्यथा अर्थात् अपने कारणरूप ज्ञानके अभावमें अनुपपन्न होकर अपने उपपादक अर्थज्ञानकी कल्पना करता है। इमीका 'शकता अन्ययानुपपत्तिप्रसूता अमार्थत्वं' कहते हैं। इस प्रकार 'शकतान्ययानुपपत्तिप्रसूता अमार्थत्वं'से ज्ञान का और उसके साथ ही ज्ञानमें रहनेवाले 'प्रामाण्य' दोनोंका प्रमाण एक ही सामग्री ही हो जाने और 'ज्ञानमहाकथितरिच्यनपक्षरूप' स्वतन्त्र बन जानेसे ज्ञानको 'स्वतः प्रमाण' ही मानना चाहिये, यह मीमांसकका मत है।

नैवायिक इस 'स्वतः प्रामाण्यवाद'की आधारभूत 'शकता'को ही नहीं मानता है। उसका कहना है कि यदि 'ज्ञातो मया पदः' इस प्रतीतिके बरूप पदमें आप एक 'शकता' धर्म मानते हैं तो फिर 'इष्टो मया पदः'के आधारपर 'इष्टता' धर्म, 'कृतो मया पदः'के आधारपर 'कृतता' धर्म, 'इष्टो पदः क' आधारपर 'इष्टता' आदि धर्म भी मानने चाहिये।

इस प्रकार नये-नये धर्मोंकी कल्पना की जाय ता बढ़ा गौरव होगा इसलिए शकता नामका कोर धर्म नहीं है। मीमांसक यदि यह कहे कि नियमनियमके उपपादनके लिए शकताका मानना आवश्यक है तो उसका उत्तर यह है कि नियमनियमका उपपादन शकताके आधारपर नहीं होता है अर्थात् पद और ज्ञानका 'नियम-नियमिमाव' स्वाभाविक है।

नियमनियमके उपपादनमें शकताका उपयोग मीमांसक इस प्रकार मानता है कि 'अर्थ पद' इस ज्ञानका नियम पद ही होता है, पद नहीं होता। इसका क्या कारण है? नैवायिक यदि यह कहे कि 'अर्थ पदः' यह ज्ञान 'पद'से पैदा होता है इसलिए इस ज्ञानका नियम पद ही होता है पद नहीं तो यह ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'अर्थ पदः' ज्ञान जैसे पदमें पैदा होता है इसी प्रकार आत्मके आरंभ में तो उसकी उत्पत्तिके कारण होते हैं। तब फिर पदके ही समान आत्मके तथा पदको भी 'अर्थ पद' इस ज्ञानका नियम मानना चाहिये। इसलिए नैवायिकके पाम नियमनियमके उपपादनका कोर माग नहीं है। हम मीमांसकोंके मतमें शकता ही इस नियमनियमका उपपादन करती है। 'अर्थ पदः' इस ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली शकता पदमें ही रहती है इसलिए 'अर्थ पदः' इस ज्ञानका नियम पद ही होता है पद नहीं। इस प्रकार नियमनियमका उपपादन करनेके लिए 'शकता'का मानना आवश्यक है। उसी 'शकता'के द्वारा उसके कारणभूत ज्ञानका, और ज्ञानगत धर्म 'प्रामाण्य'का एक साथ ही प्रमाण होनेसे ज्ञानका 'स्वतः प्रामाण्य' मानना ही उचित है। यह मीमांसक मत है।

एतत्पर नैवायिकका कहना है कि 'शकता'के आधारपर नियमनियम माननेमें दो दोष आ जायेंगे। एक तो 'अतीतानगतपरिणामत्वं न स्यात्' और दूसरा 'अनवस्था न स्यात्'। 'न स्यात्' अभिप्राय यह है कि मीमांसकोंके करनेके अनुसार पदार्थ पदार्थ ज्ञानका नियम इसलिए होता है कि उनमें शकता धर्म रहता है। धर्म उसी पदार्थमें रह सकता है जो नियमान हो। यदि धर्म पदार्थ ही विद्यमान न हो तो 'शकता' धर्म कहाँ रहेगा? परन्तु अतीत इतिहास आदिक पदनेसे ज्ञानरूप पदार्थानु आदि अतीत व्यक्तियोंका और ज्योतिष आदिन आदि सूत्रमहान आदिका ज्ञान हमका होता है। अर्थात् यह अतीत और अनागत पदार्थ हमारे ज्ञानके नियम होते हैं। यह अतीत और अनागत

यथा च वाच्यविषये प्रमाणान्तरानुगमेन सम्यक्त्वप्रतीतिं क्वचित् क्रियमाणायां तस्य प्रमाणान्तरविषयत्वे सत्यपि न शब्दव्यापारविषयताहानिस्तद्वद् व्यङ्ग्यस्यापि ।

क्वच्यविषये च व्यङ्ग्यप्रतीतिनां सत्त्वासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते । तस्माद्विहितप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम् ।

यद्वन्तुमेवरूपव्यङ्ग्यविषयं शब्दानां व्यञ्जकत्वं, तद्व्यनिव्यवहारस्याप्रयोजकम् । अपि तु व्यञ्जकत्वव्यसृणः शब्दानां व्यापार औत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिनाप्यभ्युपगन्तव्य

अनुमानका विषय होता ही है । फिर सिद्धान्तस्थली भारते उस व्यङ्ग्य अर्थकी अनुमानविषयता का जो लक्षण दिया गया है वह उचित नहीं है । इस शब्दाको मतमें रखकर अगका प्रकरण चारम्भ करते हैं ।

जैसे वाच्य [अर्थ] के विषयमें अन्य [अधापत्ति, अथवा अनुमान आदि] प्रमाणोंके सम्बन्धसे प्रामाण्यका प्रमाण होनेपर कहीं उस [वाच्य अर्थ] के प्रमाणान्तर [अर्थापत्ति अनुमान आदि] का विषय होनेपर भी शब्दव्यापारके विषयत्वकी हानि नहीं होती है [उसे शब्दव्यापार शब्दयोधका विषय माना ही जाता है] । इसी प्रकार व्यङ्ग्य-वार्थमें भी [प्रामाण्य और अप्रामाण्यके निदोषयमें अर्थापत्ति अथवा अनुमान आदि प्रमाणोंका उपयोग होनेपर भी उसे व्यञ्जकारूप शब्दव्यापारका विषय माननेमें कोई हानि नहीं है यह] समझना चाहिये ।

[अन्य औत्पत्तिक तथा वैदिक वाक्योंके अनुष्ठान आदि परक होनेसे उनमें प्रामाण्य या अप्रामाण्यज्ञानका उपयोग है परन्तु कल्पव्यापारोंका उपयोग तो केवल साम्प्रतिक प्रतीति कराना ही है । उसमें प्रामाण्य अप्रामाण्यके ज्ञानका कोई उपयोग नहीं है इसलिए यहाँ हम इष्टिमें अनुमानका प्रवेश माननेकी भी आवश्यकता नहीं है] वाच्य के विषयमें व्यङ्ग्यप्रतीति^१ सत्यत्व और असत्यत्वके निरूपणका अप्रयोजकत्व होनेसे उनमें प्रमाणान्तरके व्यापारका विचार [यह केवल शुष्क तर्कपारी है वस्तिक नहीं, इस प्रकार] उपदासमनक ही होगा । इसलिए सबसे अनुमिति [निरि-प्रतीति] ही व्यङ्ग्यप्रतीति हानी है यह नहीं कहा जा सकता है ।

और जो अनुमेयरूप व्यङ्ग्य [विषय आदि] के विषयमें शब्दोंका व्यञ्जकत्व है वह व्यनिव्यवहारका प्रयोजक नहीं है । अपितु शब्द अर्थका निरत्यसम्बन्ध मानने वाले [मीमांसक] को भी [यत्नाके अभिप्रायदिमें] शब्दोंका [वाचकत्वसे मिला] व्यञ्जकत्वरूप व्यापार स्वीकार करना ही होगा इस बातके विपरीतनेके विषय ही [यास्तवमें अनुमेय परन्तु अभिधा और गुणवृत्तिले विरुद्ध शब्दव्यापारके कारण व्यङ्ग्यरूपसे निर्दिष्ट यत्नाके अभिप्रायके विषयमें शब्दोंका व्यञ्जकत्वव्यापार] यह [मीमांसकके मतके प्रसङ्गमें] दिखलाया था । यह व्यञ्जकत्व कहीं अनुमानरूपने [यत्नाके अभिप्रायरूप व्यङ्ग्यके बोधनमें] और कहीं अन्य रूपने [घटादिकी अभि-

१ वाच्यमेवरूप वि ही ।

इति प्रदर्शनार्थमुपन्यस्तम् । तद्धि व्यञ्जकत्वं कदाचिद्विज्ञानत्वेन कदाचिद्व्यक्त्यान्तरेण स्रष्टव्यानां वाचकानामवाचकानां च सर्वैवादिभिरप्रतिष्ठोपमित्ययमस्मान्निर्भरत आरम्भः ।

तदर्थं गुणवृत्तिवाचकत्वादिभ्यः सन्दप्रकारेभ्यो नियमेनैव तावद्विज्ञानं व्यञ्जकत्वम् । तदन्तःपातित्वेऽपि तस्य 'हठदृग्निर्णीयमाने तद्विशेषस्य ध्वनेर्यत्प्रकाशने विप्रतिपत्तिनियमाय सद्दृक्बन्धुत्वत्तये वा तत्किञ्चमाणमनतिसन्धेबभेव' । नहि सामान्यमात्र-स्रष्टेनोपयोगिविशेषस्रष्टव्यानां प्रतिशेषः सक्त्यः कर्तुम् । एष हि सति सत्तामात्रस्रष्टये ह्ये सकृत्सद्बन्धुत्वज्ञानानां पीतदक्त्यप्रसङ्गः ॥३३॥

सर्वेषाम्—

विमतिविषयो य आसीन्मनीषिणां सततमविदित स तत्त्व' ॥

ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम् ॥३४॥

व्यक्तिमें दीपादिकी प्रत्यक्ष रूपसं व्यञ्जकता अवाचक गीतध्वनि आदिकी रसादिके विषयमें स्वरूपप्रत्यक्षेण व्यञ्जकता, विवक्षितान्तरपर्यायध्वनिमें अमिधासहकारसे व्यञ्जकता, अविवक्षितयाव्यध्वनिमें गुणवृत्तिके सहयोगसे व्यञ्जकता इत्यादि किसी रूपमें वाचक अवाचक [समी प्रकारके] शब्दोंका समी वादियोंको स्वीकार करना ही पड़ेगा इसीलिए हमने यह चाल प्रारम्भ किया है ।

इस प्रकार गुणवृत्ति और वाचकत्व आदि शब्दप्रकारोंसे व्यञ्जकत्व अथवा ही मिश्र है । हठपूर्वक उस [व्यञ्जकत्व] को उस [अमिधा अथवा गुणवृत्ति] के अन्तर्गत माननेपर भी उसके विशेष प्रकार ध्वनिका विप्रतिपत्तिर्षोक नियन्त्रण करनेके लिए अथवा सहदृश्योंकी व्युत्पत्ति [परिज्ञान] के लिए जो प्रकाशन [प्रत्यक्षरके द्वारा] किया जा रहा है उसके अस्वीकार नहीं किया जा सकता है । [किसी पदार्थके] सामान्य स्रष्टव्यमात्रसं [उसके अवाचक] उपयोगी विशेष स्रष्टव्योंका निषेध नहीं हो जाता है । यदि ऐसा [निषेध] हो तब तो [वैशेषिकमतमें] द्रव्य गुण कर्म इन तीनोंमें रहनेवाली जाती] सामान्यमात्रका अज्ञान कर देनेपर [उसके अन्तर्गत वृत्तियादि नौ द्रव्य रूप-रस आदि २४ गुण, और उसके अन्तर्गत पञ्चविध कर्म आदि] सब सब वस्तुओंके अक्षय ही व्यर्थ [पुनरुक्त] हो जायेंगे । [इसलिए अज्ञान और गुणवृत्तिसे मिश्र व्यञ्जकप्रधान ध्वनिक बोधके लिए व्यञ्जनाको असंग वृत्ति मानना ही होगा] ॥३३॥

इस प्रकार—

ध्वनि नामका जो काव्यभेद [तार्किक आदि] विज्ञानोंकी विमति [मठभेद] का विषय [अतएव अथवा] निरन्तर अविदितमहदा रहा उसका हमने इस प्रकार प्रकाशित किया ॥३४॥

गुणीभूतध्वन्यका निरूपण

इस प्रकार ध्वनि नामक प्रथम काव्यभेदका तल्लिख और तदभेद निरूपण करके अब

१ य महादृग्निर्णीयमाने तद्विशेषस्य ध्वनेर्यत्प्रकाशने , ही ।

२ अमिधिसन्धेबभेव ही ।

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यस्य वृद्ध्यते ।

यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्व स्यात् प्रकर्षवत् ॥३५॥

व्यङ्ग्योऽर्थो छन्दोलावण्यप्रकृत्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्यं ध्वनिरित्युक्तम् । तस्य तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रमेदः प्रकल्प्यते । तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः प्रतीयमानस्य कदाचिद्वाच्यरूपवाक्याया वेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता ।

यथा—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते ।

चन्मज्जति द्विरत्कुन्मठटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥

गुणीभूत व्यङ्ग्यस्य दूरे काव्यमेवका निरूपण प्रारम्भ कृत है । वहा व्यङ्ग्य अर्पते वाच्य अथ अधिक चमत्कारी हो जाय उस गुणीभूतव्यङ्ग्य कहत है । गुणीभूतव्यङ्ग्यके भाग भेद माने गये है—१ इतरव्यङ्ग्य, २ काकुत् आभिन्न व्यङ्ग्य ३ वाच्यसिद्धिका प्राप्त व्यङ्ग्य ४ तन्निष्ठ प्राधान्यव्यङ्ग्य ५ तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य, ६ अस्तुत्वव्यङ्ग्य, ७ अगुण्यव्यङ्ग्य और ८ अकुन्दर व्यङ्ग्य, इन्दीका निरूपण आगे करेंगे ।

अहाँ व्यङ्ग्य-वके सम्बन्ध होनेपर वाच्यका चारुत्व अधिक प्रकल्पयुक्त हो जाता है यह गुणीभूतव्यङ्ग्य नामका काव्यका दूस्तर मेव हाता है ॥३५॥

[प्रतीयमान पुनरव्यवये वस्तुवस्ति याणीषु महाकथीनाम् । यत्तद् प्रसिद्धायय पातिरिक्तं विभाति छापण्यमिवाङ्गमासु ॥ १, ४ इत्यादि कारिकामे] छन्दोलावण्य के समान जिस व्यङ्ग्य अर्पका प्रतिपादन किया है उसका प्राधान्य होनेपर ध्वनि [काव्य] होता है यह कह चुके हैं । उस [व्यङ्ग्य] के गुणीभाव हा जानने वाच्य [अर्थ] के चारुत्वकी वृद्धि हो जानेपर गुणीभूतव्यङ्ग्य नामका काव्यमेव माना जाता है । चन्मे [अधियक्षितवाच्य, छन्दोलावण्यमिवाङ्गमासु के अर्थमन्तिरस्कृतयाच्य प्रमेदमे] तिरस्कृत वाच्य [वाले] शब्दोंमे प्रतीयमान वस्तु मात्र व्यङ्ग्य-वके कमी वाच्यरूप वाच्यवाचकी अपेक्षा गुणीभाव [अप्राधान्य] होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्य [काव्य] हाता है ।

शैले—

[मन्दीके किन्नार स्थानार्थं भायी दूर किन्ती तरुणीका सुसुकर किन्ती रमिकजनकी यह उक्ति है । इन्मे सुयतीषु स्वयं मन्दीरुपमे वर्णन है ।] यहाँ यह मन्दी कीनन्ती लावण्यकी मन्दी भा गयी है जिसमें चन्द्रमाके साथ कमल तैरते हैं जिसमें हाथीकी गण्डस्थली उभर रही है भार अहाँ कुछ और ही प्रकारके कदलीकाण्ड तथा मृणाल दण्ड दिन्नार वने हैं ।

यहाँ जित्नु शब्दस परिपूर्णता, उतार शब्दस कटाभच्छेद, दाहि शब्दमे सुग दिग्गुणमन्दी शब्दस मनबुगम कदलीकाण्ड शब्दस ऊरुबुगम और मृणालदण्ड शब्दमे सुदारुण अथ अमिवाङ्ग

१ तस्यैव नि ही ।

२. 'वाच्येभ्यः वाड नि ही में अधिक है ।

अतिरिक्तवाच्येभ्योऽपि शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्य क्वाचिद्वाच्यप्राधा-
भ्येन 'काव्यवाच्यत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता । यद्योवाहृतं, 'अनुरागवती
सन्ध्या' इत्येवमादि ।

तस्यैव स्वयमुक्त्या प्रकाराधिकृतत्वेन गुणीभावो यद्योवाहृतम्, 'सङ्केतकालमन-
सम्' इत्यादि ।

रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य गुणीभावो रसवद्वङ्कारे^१ वर्धितः । तत्र च सेवामाधिक्य
रिक्वाच्यत्वापेक्षया गुणीभावो विवहानप्रवृत्तसूत्यानुवायिराम्यत् ।

होता है । इन सब शब्दोंका मुफ्तार्थ नहीं स्वर्णया अनुभव होनेसे 'निस्त्रासा च इवादर्शचन्द्रमा न
प्रकाशते इत्यादि उदाहरणके समान उनका अत्यन्त विरिक्कार हो जानेसे वह व्यङ्ग्य अथवा
प्रकाशन करते हैं । इसलिये अत्यन्तविरिक्कृतवाच्यवस्तुजनि है । परन्तु उसका वाच्यत्वसिद्धिमुक्त
हि केयमत्र'सं वाच्य अंशकी शोभाशुद्धि ही उपयोग होता है अथवा वह वाच्यविद्यमानरूप
गुणीभूतव्यङ्ग्य है ।

जमी अतिरिक्तवाच्य शब्दोंसे प्रतीयमान व्यङ्ग्यका वाच्यके वाच्यकी अपेक्षा
सं वाच्यका प्राधान्य होनेसे गुणीभाव हो जानेपर गुणीभूतव्यङ्ग्यता हो जाती है
जैसे, 'अनुरागवती सन्ध्या' इत्यादि उदाहरण [पृ० ४२ पर] के लिये हैं ।

यहाँ 'अनुरागवती सन्ध्या' भाषि श्लोकमें अतिरिक्तवाच्य सन्ध्या विषय शब्दसे व्यङ्ग्य
नायक-नायिकाव्यवहारकी प्रतीतिके वाच्यके ही समकारका हेतु रसवद्वङ्ग्य नामक गुणीभूत
व्यङ्ग्य है ।

उसी [व्यङ्ग्य शब्द] के स्वयं [अपने एवम शब्द] प्रकाशित कर देनेसे [वाच्य
सिद्धयव्यङ्ग्य] गुणीभाव होता है । जैसे 'सङ्केतकालमनसं' इत्यादि उदाहरण
[पृ० १३३ पर] दिया जा चुका है ।

रसादिरूप व्यङ्ग्यका गुणीभाव रसवत् अङ्गुल [के प्रसङ्ग] में दिखला चुके
हैं । यहाँ [रसवद्वङ्कारमें] उन [रसादि] का आधिकारिक [मुख्य] वाच्यकी अपेक्षाने
बिनाहमें प्रवृत्त [पररूप] सूत्रके अनुयायी राजाके समान गुणीभाव जाता है ।

इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि व्यङ्ग्य होनेसे रस ही सर्वप्रधान भाषा है । परन्तु वेश
राजा यदि जमी अपने किसी वृत्तपात्र संवत्के विवाहमें सम्मिलित हो तो यहाँ वररूप होनेसे संवत्का
प्राधान्य होगा और राजा उसका अनुयायी होनेसे गौण ही होगा । इसी प्रकार रसवद्वङ्कार आदिकी
स्थितिमें रस प्रधान होत भी उस समय मुख्यता किन्हीं अन्यकी ही शक्तिसे रसादि उसके अङ्ग
अर्थात् गुणीभूत होत हैं ।

आधिकारिक शब्दका अर्थ रसवद्वङ्कारमें इस प्रकार किया गया है—

१ 'काव्य' पद वि ही में नहीं है ।

२ गुणभाव वि ही ।

३ गुणीभावे रसवद्वङ्कारविषयः प्राक् वर्धितः ही गुणीभावे रसवद्वङ्कारो वर्धितः वि ।

४ विवाह वि ।

व्यङ्ग-पाठद्वारस्य गुणीभावे शीपकादिष्वियः ॥३५॥

तथा—

प्रसन्नगम्भीरपदा कान्ययन्धा सुखावहा ।

ये च तेषु प्रकारोऽयमेव^१ योज्य सुमेघसा ॥३६॥

ये वेते^२ऽपरिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानास्तथाविधार्चरमणीवाः^३ सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्ययन्धास्तेषु सर्वेष्वेवायं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग-यो नाम योजनीयः । तथा—

अधिकारः पञ्चसाम्यमधिकारी च त्वयमु ।

तन्निर्भयमभिधायि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥

—पद्यरूपक १ १२

पद्यक स्वामिश्रका अधिकार और उस पद्यके श्लोकको अधिकारी करते हैं । उस अधिकारी द्वारा समारित व्यापक वृत्तको 'आधिकारिक' बतु करते हैं ।

व्यङ्ग्य अलङ्कारके गुणीभाषका विषय शीपक आदि [अलङ्कार] हैं ।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थोंमें एक धर्मका सम्बन्ध होनेपर शीपकाङ्गद्वार होता है—'प्रस्तुता प्रस्तुतयोर्दीपकान्तु निगपथे ।' द्वितीय उद्योतमें [श्लोक १४ पर] 'चन्द्रमऊर्षदि भिन्ना' इत्यादि श्लोक उद्धृत करके यह विलकावा है कि उसमें चन्द्रमयूरीः कमलैः, कुमुदगुण्ठीः और सज्जने में तथा निष्ठा नक्ष्त्री कृता और काम्यगोभामे सादस्य व्यङ्ग्य है परन्तु यह सादस्य या उपमा चमत्कारजनक नहीं है अपितु दीपकत्व अर्थात् एकधर्माभिधायकके ही चमत्कारजनक होनेसे शीपक नामसे ही अलङ्कारत्वबतार होता है उपमा नामसे नहीं । अर्थात् उपमा व्यङ्ग्य होनेपर भी वाच्य शीपकाङ्कार का अङ्ग है अतएव गुणीभूतव्यङ्ग्य है । शीपकारिमें आदि परसे उसी प्रकारके रूपक परिणाम आदि अलङ्कारोंका भी ग्रहण कर लेना चाहिये । इस प्रकार व्यङ्ग्यरूपक बन्तु, अलङ्कार तथा रसादि ये तीनों भेद गुणीभूत हो सकते हैं । ३५।

धैमे ही—

प्रसन्न [प्रसादगुणयुक्त] और गम्भीर [व्यङ्ग्य सम्प-घस अर्धगाम्भीर्ययुक्त] आ आनन्ददायक वाच्यरचनाएँ, [हैं] उनमें सुखिमान् कविको इमी प्रकारका उपयोग करना चाहिये [ज्यक्तिके सम्मय न होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्यकी योजनासे भी कविको कवियुक्ती प्राप्ति जाती है अन्यथा कविता उपहासयोग्य ही जाती है ।] ३६।

और आ यह नाना प्रकार [अपरिमितस्वरूपा] की उस [मत्स्यीकिच व्यङ्ग्यके संस्पर्श] प्रकारके अर्थसे रमणीय प्रकाशमान् रचनाएँ विद्वानोंके लिए आनन्ददायक जाती हैं उन सभी काव्यरचनाओंमें गुणीभूतव्यङ्ग्य नामका यह प्रकार उपयोगमें आना चाहिये । जैसे—

१ प्रकारोऽयमेव नि ही ।

२ परिमितस्वरूपा नि ही ।

३ तथा रमणीया नि ही ।

लक्ष्मी दुहिता जामातया हरी तस परिषिखा गंगा ।
 अमिअमिअद्वा च सुभा अहो कुतुम्ब महोअहिणो ॥
 [लक्ष्मीदुहिता जामात हरिस्तस्य गृहिणी गङ्गा ।
 अमृतमृगाक्षी च सुतावहो कुतुम्बं महोदधे ॥

— इति षष्ठया ॥ ३६ ॥]

वाचपालद्वारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति ।
 प्रायेणैव परां छायां विभ्रस्तलभ्ये निरीक्ष्यते ॥ ३७ ॥

वाचपालद्वारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशस्यालद्वारस्य बस्तुमात्रस्य वा' यथावागमनुगमे सति च्छायाविभ्रवं विभ्रस्तलभ्यकारैरेकदशेन दर्शितः । स तु तयारूपः प्रायेण सर्वं एव परीक्ष्यमाणां लक्ष्यं निरीक्ष्यते ।

तथाहि दीपकसमासोक्त्याविवक्ष्येऽप्यलद्वाराः प्रायेण व्यङ्ग्यालद्वारान्तरबस्तु

लक्ष्मी [समुद्रकी] पुत्री है विष्णु जामाता हैं, गङ्गा लक्ष्मी पत्नी है अमृत और चन्द्रमा [सरीख] उसके पुत्र हैं । अहो महोअहिणो यंसा [उत्तम] परिवार है ।
 वहाँ 'लक्ष्मी' परते सर्वदृष्टीकता, 'विष्णु' परते परमैश्वर्य, 'गङ्गा' परते परमाकनत्व तथा चक्रमनोरत्नरूपसम्पन्न, 'अमृत' परते मरणमोक्षामकत्व, और 'मृगाक्षु' परते ओजोव्यवहारकत्व स्वादि रूप स्वस्वमान बस्तु स्पष्ट है, और वह अहो कुतुम्ब'त वाच्य विस्मयका श्रेयक हाकर गुणी भूतमहावहूपसं चक्रकारकत्व होती है ।

शेषनकारने वहाँ 'अमृतपदका' अर्थ वाक्यी किना है और उसके गङ्गास्नान तथा हरिपरकाराचन आदि शतधा उपयोज्ये उपलब्ध लक्ष्यका चन्द्रोदय धानगोष्ठी आदि रूपमें उपयोग ही मुख्य पद है । "अद्विष्ट बह करणी वैजोदपतारभूत प्रतीत होकर अहो' शब्द वाच्य विस्मयका अङ्ग होकर गुणीभूतमहावहताका उपगमन करती है इय प्रकारकी व्याख्या की है । वह व्याख्या पाण्डित्य उच्यतावके अनुकूल प्रतीत होती है । ३६ ।

यह [प्रसिद्ध] वाच्य अलद्वारोंका वर्ग व्यङ्ग्य अंशके संस्पर्शसे काष्ठोंमें प्रायः भायन्त शामातिशयके प्राप्त होता हुआ पाया जाता है ३७ ।

यह [प्रसिद्ध] वाच्य अलद्वारोंका समुदाय व्यङ्ग्यांशरूप अलद्वार अथवा बस्तुके संस्पर्श होनेपर अत्यन्त शामातिशययुक्त होता हुआ लक्षणकारोंने म्हास्त्रीपुलाकस्यायस [एकदशेन] विगहताया है । [अर्थात् व्यङ्ग्य उपमादि अलद्वारके संस्पर्शसे शीघ्र, तथा व्यङ्ग्य नायक-वयिका व्यवहारयदि बस्तुके संस्पर्शसे सामानोक्ति आदि अलद्वारोंमें शामा श्रुतिक आ कतिपय उदाहरण दिये हैं यह म्हास्त्रीपुलाकस्यायस ही वा-तीत उदाहरण द दिये हैं] परन्तु विशेष परीक्षा करनपर वा प्रायः सभी अलद्वार उसी रूपमें [व्यङ्ग्य के संस्पर्शसे शामातिशयके प्राप्त] काष्ठोंमें दग्ध आ सकते हैं ।

जैन, शीघ्र और सामानोक्ति [जिनके उदाहरण हम रूपमें दिये आ चुके हैं]

न्तरसंस्पर्शिनो' दृश्यन्ते । यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वाङ्गद्वारेषु क्षण्यक्रिया ।
कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काम्यच्छुर्वि पुण्यति' । कर्म अतिशययोगिता स्वल्प
पौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत् । मामहेनाप्यतिशयोक्तिसम्भणे
यदुक्तम्—

सैवा सर्वैष' यन्नोच्छिरनयाऽयों विभाष्यते ।

यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽङ्गद्वारोऽनया विना ॥ इति

तत्रातिशयाक्तिर्यमङ्गद्वारमधिषिष्टति क्विप्रतिभावशास्त्रस्य चारुत्वातिशययोगोऽ-
न्यस्यस्वङ्गद्वारमात्रतैवेति सबासङ्गद्वारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनामेशोपचायत् सैव सर्वाङ्गद्वार
रूपा, इत्ययमेवार्थोऽप्रगन्तव्यः ।

आधिके समान अग्य अङ्गद्वार मी प्रायः व्यङ्ग्य अग्य अङ्गद्वार अथवा यस्तुके संस्पशसे
युक्त दिखारं देते हैं । क्योंकि सबसे पहिले तो समी अङ्गद्वार अतिशयाक्तिगर्भ हो
सकते हैं । महाकवियों द्वारा यिरचित यह [अग्य अङ्गद्वारोंकी अतिशयोक्तिगर्भता]
काव्यको अनिर्वचनीय शोभा प्रदान करती ही है । अपने विषयके अनुसार उचित रूपमें
किया गया अतिशयोक्तिका सम्बन्ध काम्यमें उत्कर्ष क्यों नहीं छायेगा [अथवा छायेगा]
मामहान भी अतिशयोक्तिके अक्षणमें जो कहा है कि—

[जो अतिशयोक्ति पहले कह चुके हैं सब अङ्गद्वारोंकी अमत्कारजननी] यह सब
पही यन्नोक्ति है । इसके द्वारा [पुण्यता] पदार्थ [भी यिल्लणसतया वर्णित किये जानेसे]
अमक उठता है । [मता] कथिक्क इसमें [यिशाप] चल करना चाहिये । इसके बिना
[भार] अङ्गद्वार [ही] क्या है ।

उत्तमें कथिक्की प्रतिभापश अतिशयोक्ति जिस अङ्गद्वारको प्रमायित करती है
उसको [ही] शोभातिशय प्राप्त होता है । अग्य तो [अमत्कारतिशयरहित केवल]
अङ्गद्वार ही रह जाते हैं । इसीने सब अङ्गद्वारोंका रूप धारण कर सबकेही क्षमताके
कारण अमेशोपधारसे पही सपासङ्गद्वाररूप है पही अथ समझना चाहिये [मामहाने
जो कहा है उत्तक यह अर्थ समझना चाहिये इस प्रकार कहा पका लम्बा अग्य
होता है] ।

निर्णयतागरीय संस्करणमें 'सर्वैव बर्त्राकि'के स्थानपर सबत्र बर्त्रोक्तिः पाठ है । परन्तु यहाँ
इतिकारने जो 'सैव सर्वाङ्गद्वाररूपा म्वास्या की है उसमें 'सर्वैव बर्त्रोक्ति' परी पाठ उचित प्रतीत
होया है । परन्तु मामहक काम्पाङ्गद्वारके मुद्रित संस्करणमें 'सबत्र' पाठ ही पाया गया है और अग्य
प्राचीन ग्रन्थोंमें भी जहाँ-जहाँ मामहकी यह कारिका उद्धृत हुई है उनमें सबत्र' पाठ ही रखा गया
है । इससे मामहका मूल पाठ तो 'सर्वत्र' ही जान पणता है परन्तु अग्यत्कोककारने उत्तके स्थानपर

१ अङ्गद्वाररूपस्यन्तरसंस्पर्शिनो वि ही ।

२ पुण्यतीति वि ही ।

३ सर्वत्र वि ही ।

तस्मान्वाञ्छद्वापन्तरसङ्कीर्णत्वं कदाचिद्वाच्यत्वेन, कदाचिद् व्यङ्ग्यत्वेन । व्यङ्ग्यत्वमपि कदाचित् प्राधान्येन कदाचिद् गुणमाप्तेन । तत्राप्ये पक्षे वाच्याञ्छङ्कारमार्गः । द्वितीये तु ध्वन्यात्मवर्भावः । तृतीये तु गुणीभूतव्यङ्ग्यपरुपता । अर्थ य प्रकाशेऽप्येवामप्यञ्छङ्कारापामस्ति । तेषां तु^१ न सबविषयोऽतिशयोक्तेस्तु सर्वाञ्छङ्कारविषयोऽपि सम्भवतीत्यर्थं विशेषः । येषु वाञ्छद्कारेषु सादृश्यमुखेन तस्त्वप्रतिध्वन्या, यथा रूपकोपमातुल्ययोगितानिदृशनादियु तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत्सादृश्यं तदेव शोमाविशमक्षाडि भवतीति ते सर्वेऽपि वाक्यवादिष्ठवयोगिनः सन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेनैव विषयाः^२ । समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तारियु तु गम्यमानांसाभिनामाप्तेनैव तस्त्वध्वन्यवस्थानाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यपता निर्विबाधैव ।

'सर्वैः' पाठ उद्धृत किया है और तदनुसार ही उधकी वृत्तिमें ध्यापना की गयी है । इत्यन्तर यहाँ ध्वन्यालोकरकारका अभिमत पाठ ही मूलमें रखा गया है । यामरका शास्त्रिक पाठ नहीं । उस [अतिशयोक्ति] का अस्य अलङ्कारोंके साथ सादृश्य कमी वाच्यत्वेन और कमी व्यङ्ग्यत्वेन [होता है] । व्यङ्ग्यत्वत्व मी कमी प्रधान रूपसे और कमी गौणरूपसे [होता है] । उनमेंसे पहिले [वाच्यरूप] पक्षमें वाच्याञ्छङ्कारका मार्ग है । दूसरे [वाच्यत्वेन व्यङ्ग्यत्व] पक्षमें ध्वनिमें अस्तर्भाव होता है । और तीसरे [व्यङ्ग्यत्वके अप्राधान्य पक्ष] में गुणीभूतव्यङ्ग्यपता होती है ।

और यह [अलङ्कारान्तपदानुपवेश] प्रकार अन्य [उपमावि] अलङ्कारोंमें भी होता है । उनके तो सब [अलङ्कार] विषय नहीं होते अतिशयोक्तिके तो सार अलङ्कार मी विषय हो सकते हैं इतना मेव है । जिन अलङ्कारोंमें सादृश्य द्वारा अलङ्कारत्व [तत्त्व] की प्राप्ति होती है जैसे रूपकोपमा मुख्ययोगिता निदर्शना आविर्में उनमें गम्यमान [व्यङ्ग्यत्व] धर्मरूपसे प्राप्त जा सादृश्य है वही शोमाविशययुक्त होता है इसलिये ये सभी वाक्यके अतिशयसे युक्त होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वके ही मेव होते हैं । समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आविर्में तो व्यङ्ग्यत्व अंशके अविनाभूतरूपमें ही तत्त्व [उन अलङ्कारोंके स्वरूप]की प्रतिष्ठा होती है अतः उनमें गुणीभूतव्यङ्ग्यपता निर्विबाध ही है ।

रूपक उपमा, मुख्ययोगिता निदर्शना आदि अलङ्कार सादृश्यमुखक हैं इनमेंसे एक उपमाको छोड़कर शेष ध्वनिमें सादृश्य गम्यमान व्यङ्ग्यपता होता है । यह व्यङ्ग्यपतात्मक वाच्य अलङ्कारके वाक्यवादिष्ठवका हेतु होता है । इत्यन्तर व्यङ्ग्यत्व, वाच्यकी अपेक्षा गौण होनेसे गुणीभूतव्यङ्ग्यपता तत्त्व ही है । इत्यन्तर उन अलङ्कारोंके नाम व्यङ्ग्यपतात्मकके आधारपर नहीं अतिरिक्त वाच्य मुख्ययोगिता आदिके अनुसार रने गये हैं । इत तृतीये रूपकके साथ उपमाका नाम भी है । परन्तु उनके साथके अन्य अलङ्कारोंमें जिन प्रकार सादृश्य गम्यमान होता है उस तद्वत् उपमा नहीं होता है । इत्यन्तर गुण धर्म रूपक और उपमाको एक ही रूप मानकर रूपकोपमाको स्पष्टका ही वाचक मानते हैं ।

१ 'तु' पाठ नि ही में नहीं है ।
२ विषयः नि ही ।

और दूसरे श्रेण 'चन्द्र एव मुखम्' इत्यादि स्थलोंमें आहादविद्योपगन्धस्वरूप साधर्म्यको स्पष्ट रूप मानकर उसका सम्मन्वय करते हैं। और तीसरे श्रेण उपमा शब्दसे उपमासूत्रक अङ्गहारोंका ग्रहण करके सङ्गति लगाते हैं। समासोक्ति आदिमें तो स्पष्ट रूप अंशके बिना उनका स्वरूप ही नहीं बनता है अतः गुणीभूतस्यङ्गप्रता स्पष्ट ही है।

यहाँ प्रस्तुत किये गये अङ्गहारोंके लक्षणानि इत्य प्रकार हैं—

१—रूपकं कृषिदारोणे विषये निरपह्नवे ।

तन् परम्परितं साङ्ग निरङ्गमिति च विधा ॥

—सा० द १ २८

अर्थात्, मुखचन्द्र इत्यादिमें मुख और चन्द्रका आहादकृत्वादि सादृश्य स्पष्ट रूप होता है। परन्तु वह वाच्य रूपके वाक्यान्वितिशब्दका ही हेतु होता है अतः गुणीभूतस्यङ्गप्रता होता है।

२—सम्मन्वन् बलुसम्बन्धोऽसम्मन्वप्रति कुत्रचित् ।

यत्र विम्बानुविम्बत्वं बोधयेत् सा निरर्घ्यता ॥

—सा ५, १ ७१

अर्थात्—

एव सूत्रप्रमत्तो बंधः एव वाच्यविषया मतिः ।

स्तिर्युर्बुद्धिरं शोहाद्बुद्धेनास्मि सागरम् ॥ —रूपबंध, १, २

यहाँ सूत्रबंधका बन्धन सागरके पार करनेके समान कठिन और मेरी मन्द मति बन्धन [छोटी नौका] के समान है। यह सादृश्य स्पष्ट रूप होनेपर भी वह विम्बानुविम्बत्वरूप निदर्शनाके वाक्यत्वका हेतु होनेसे गुणीभूतस्यङ्गप्रता है।

३—पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।

एकधर्माभित्त्वन्त्ये स्यात् तदा तुल्ययोगिता ॥

—सा ५ १ ४७

अर्थात्—

दानं विच्छादतं वाचाः, कीर्तिधर्मौ तथासुखः ।

परोपकरणं कायादकारात्कारमाहेत् ॥

यहाँ विच्छादा दान, वाणीका तत्त्व, आयुका कीर्ति और धर्म तथा शरीरका परोपकारकरण कारक सदृश हैं यह स्पष्ट रूप सादृश्य, दान आदिक वाच्य 'अकारात्' कारमाहेत् रूप एकधर्मक सम्बन्ध, हानेकाने वाच्य तुल्ययोगिताकारणकारण पापक होनेसे गुणीभूतस्यङ्गप्रता है।

४—समासोक्तिः तमेवत्र कायलिङ्गविशोदयेः ।

स्वबहारसमासोपः प्रकृतेऽप्यस्य बलुनः ॥

—सा ५, १, ७६

अर्थात्—

अथमातृनिर्गमिस्तस्य ह्यौचिस्ता का मनस्विनः ।

अनाक्रम्य अगल्लर्बं मो रज्यां मञ्जरे रविः ॥

यहाँ रवि और लज्यामें नापक-नापिकाके स्वबहारका आरोप शक्यमान है। परन्तु वह वाच्य समासोक्तिका अविनाभूत है। उसके बिना समासोक्ति बन ही नहीं सकती है अतएव वह गुणीभूत होनेसे गुणीभूतस्यङ्गप्रता है।

तत्र च गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामलङ्काराणां केषाञ्चिदलकारविशेषगर्भतायां नियमः । यथा व्याजस्तुतेः प्रेयोऽलङ्कारगमत्वे ।
केषाञ्चिदलङ्कारमात्रगर्भतायां नियमः । यथा सम्बन्धादीनामुपमागमत्वे ।

श्लो— ५—पर्यायोक्तं यथा मङ्गला गम्यतेवामिषीपते ॥ —छा २, १, ९

सृष्टास्ता नन्दने ताभ्या केशसम्भोगकालिताः ।
साक्षत्र पारिजातस्य मञ्जुषीं यत्र वैनिके ॥
यहाँ इषीपतेन स्वर्गको विजय कर लिमा है यह मङ्गल अंश है परन्तु उसके बिना पर्यायोक्तका स्वरूप ही नहीं बनता है अतएव पर्यायोक्तका अविनाशूत होना ही मङ्गल गुणीभूत होता है ।
१—बस्तुना बहुमिदस्य विशेषप्रतिपत्तये ।
निगेषामास आक्षेपो बक्ष्यमाणोक्तनो द्विषा ॥

—छा २, १, ९४

श्लो—

तत्र विरहं हरिषाधी निरीक्ष्य नवमात्रिकां दक्षिताम् ।
इत्थं नितात्ममिरानी धाः किं इतजस्मिन्तरपणा ॥
यहाँ मङ्गल अर्थ है 'मरिष्यति' परन्तु वह वाच्य आक्षेपका अविनाशूत है । उसके बिना आक्षेप अलङ्कारका स्वरूप ही नहीं बन सकता है अतएव वह गुणीभूतमङ्गल होता है ।
१—उत्स गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामे किञ्चिदलङ्काराणां अलङ्कार विशेष गमित्तं हानेका नियमः । जैसे व्याजस्तुतिके प्रेयोऽलङ्कारगमत्वे [के विषय] में ।
उत्स व्याजस्तुतिः पुनः ।
निन्दास्तुतिमा वाच्यमात्रां गम्यते स्तुतिनिन्दयो ॥

—छा २, १, ५९

व्याजस्तुतिमें वाच्य निन्दासे प्रवीणमान राजा या देवादिबिषयक एति रूप 'भाव मङ्गल होता है । और वह भावकनिष्ठ मन्वनीबिषयक प्रेमरूप मङ्गल 'भाव वाच्य व्याजस्तुतिके गर्भमें अवश्य रहेगा । अन्यथा व्याजस्तुति यन ही नहीं सकता । अतएव गुणीभूतमङ्गल होता है । यह राजा या देवादिबिषयक एति 'भाव करलाती है । और भावके जन्माङ्क होनेपर प्रेयोऽलङ्कार होता है । इनके व्याजस्तुतिके प्रेयोऽलङ्कारका होना आवश्यक है ।
१—किञ्चिदलङ्काराणां अलङ्कारमात्र गमित्तं हानेका नियमः । जैसे सम्बन्धादि के उपमागमर्भ हानमें [उपमा राष्ट्र यहाँ सादृश्यमूलक अलङ्कारोंका प्रादक है] ।
स्वदेरः प्रकृतेऽप्यस्य संघपः प्रतिमोक्षितः ।
शुभो निश्चयगमोऽत्रो निश्चयान्त इति विषा ॥

—छा २, १, २५

श्लो—

अयं भावः किं च तत्र श्रुतौ सतमभिरतः
इत्याशुः किं तथा मन्वति दिशो नैव निरुतः ।

केषाञ्चिद्व्यङ्ग्यकारणां परस्परगमतापि सम्भवति, यथा वीपकोपमयोः । तत्र वीपकमुपमागमत्वेन प्रसिद्धम् । उपमापि कदाचिद्वीपकव्यङ्ग्यायानुयायिनी । यथा माळोपमा । यथा हि 'प्रमामहत्या शिखयेव वीपः' इत्यादौ स्फुटैव वीपकव्यङ्ग्याया उच्यते ।

तदेवं व्यङ्ग्य-वाञ्छसंस्पर्शे सति चार्थत्वादिभ्ययोगिनो रूपकादयोऽञ्जकारः सर्वे एव गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यङ्ग्यस्य मार्गः । गुणीभूतव्यङ्ग्यवत्त्वं च तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेषोक्तानामनुक्तानां सामान्यम् । तस्त्वङ्गणे सर्वे एवैते सुलक्षिता भवन्ति ।

इदानीं किं साधारणविषयहानोऽप्यभिविदि पुनः,
समाख्येस्यानौ त्वा विदधति विक्रसान् प्रतिमता ॥

इत्यादि सन्देहालङ्कारके उदाहरणोंमें उपमा निवृत्तः गर्भमें रहती है । जैसे तो उपमा भी एक अलङ्कारविशेषका ही नाम है । अतएव इसको भी अलङ्कारविशेषगमताके नियमवाले गर्भमें ही रहना चाहिये था । परन्तु उपमामें नाना अलङ्कारोंका रूप धारण करनेकी सामान्य है इच्छिये तबे अलङ्कार सामान्य भनकर ही अलङ्कारमात्रगमताका उदाहरण माना है ।

३—किन्हीं अलङ्कारोंमें परस्परगमता भी हो सकती है, जैसे वीपक और उपमामें । उनमेंसे उपमागम वीपक प्रसिद्ध ही है परन्तु कभी-कभी उपमा भी वीपककी छापानुयायिनी होती है, जैसे माळोपमामें । इसीसे 'प्रमामहत्या शिखयेव वीपः' इत्यादिमें वीपककी छाया स्पष्ट ही प्रतीत होती है ।

प्रमामहत्या शिखयेव वीपश्चिमागयेव विदितस्य मार्गं ।

संस्कारत्वादेव गिरा मनीषी तथा च पूरुष विभूषितश्च ॥—कुमारसं , १, २८

यह 'कुमारसम्भव'का श्लोक है । इसमें माळोपमा अलङ्कार है । माळोपमाका उल्लेख है—'माळोपमा यदेकस्योपमानं बहु उच्यते । यदि एक उपमेवक अनेक उपमान हों तो माळोपमा अलङ्कार होता है । यहाँ पावतीके अमृते दिव्यरूप ऐसे पवित्र और सुशोभित हुआ जैसे प्रमातुका वीप-प्रगाथे वीपक, अथवा जैसे विमार्गगा गजाने आकाश अथवा जैसे संस्कारवती बाष्पीसे विशान् पुष्प पवित्र और अलङ्कृत होता है । यहाँ एक उपमेवके तीन उपमान होनेसे माळोपमा है । परन्तु माळोपमाके गर्भमें वीपक अलङ्कार है—'प्रस्तुताप्रस्तुतवोर्दीर्घं तु निगद्यते ।' प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थोंमें एक समाहितत्व होनेसे वीपक अलङ्कार होता है । यहाँ पावतीक सम्बन्धसे दिव्यरूपका पवित्र होना प्रस्तुत है और उसके उपमानभूत तीनों अर्ध अप्रस्तुत हैं । उन चारोंमें 'पूरुष' और 'विभूषितश्च' रूप एकत्वका सम्बन्ध होनेसे वीपकालङ्कार हुआ । अतएव यह वीपकगम उपमाका उदाहरण हुआ ।

इस प्रकार व्यङ्ग्य-व्यके सम्पर्श होनेपर शोभातिशयको प्राप्त होनेवाले रूपक भावि सप ही अलङ्कार गुणीभूतव्यङ्ग्य-व्यके मार्ग हैं । और गुणीभूतव्यङ्ग्यवत्त्व उक्त प्रकारके [व्यङ्ग्यसंस्पर्शसे चारुयोपयोगी] कहे गये [वीपक मुख्ययोगिता भावि] या न कहे हुए [सन्देह भावि] उन सभी अलङ्कारोंमें सामान्य रूपमें रहता है । उस [गुणीभूतव्यङ्ग्य-व्य] के उल्लेख हो जानेपर [या समस्त सनसे] यह सप ही [अलङ्कार] सुलक्षित हो जाते हैं ।

इतका अभिप्राय यह है कि विभिन्नविशेषके आभावक व्यङ्ग्यसंस्पर्शके अभावमें, 'गौरव गवता' यहाँ उपमा, 'भादिस्वो मू' इत्यादिमें रूपक, 'म्यायुवा पुष्पे वा' इत्यादिमें सन्देह, सुक्तिमें

इत्यत्र, केऽपीत्यनेन पदेन वाच्यमस्यष्टमिदृशता प्रतीयमानं 'बस्त्वच्छिष्टमनन्त
मर्पयता का छाया नोपपादिता ॥३८॥

अर्धान्तरगतिः काक्वया या चैषा परिदृश्यते ।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥३९॥

या चैषा काक्वा स्वपिद्वान्तरप्रतीतिर्दृश्यते सा व्यङ्ग्यस्यस्यार्थस्य गुणीभावे छवि
गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यञ्जनं काव्यप्रमेदमाश्रयते ।

यथा—

'स्यस्या भवन्ति मयि जीवसि पार्श्वराष्ट्राः ।'
इस उदाहरणमें वाच्य अर्थको स्पष्ट रूपसे न कहनेवाले 'केऽपि' इस पदमे

अनन्त और अविच्छेद्य व्यङ्ग्यका बोधन करते हुए कौन-सा सौम्य्य नहीं उरपस कर
दिया है ॥३८॥

भाग कास्वाश्रित गुणीभूतव्यङ्ग्यका निरूपण करते हैं—

काव्यवाश्रित गुणीभूतव्यङ्ग्य

और काकु श्राप जो यह [प्रसिद्ध] अर्थान्तर [विच्छिद्य मिथ अर्थ अथवा उसी
अर्थका वीशिष्ट्य अथवा उसका अभावरूप अन्य अर्थ] की प्रतीति विच्छेदाई देती है ।
यह व्यङ्ग्यके शीघ्र होनेसे इसी [गुणीभूतव्यङ्ग्य] मेवके अन्तर्गत होती है ।
और कहीं काकुसे जो यह [प्रसिद्ध] अन्य [वाच्य अर्थसे मिथ ? अर्थान्तर,
अथवा उसी वाच्य अर्थका २ अर्थान्तरसदृशमित बिशेष अथवा ३ तदभावक
अथवा उसी काक्वी प्रतीति देखी जाती है वह व्यङ्ग्य अर्थके गुणीभावाय होनेपर गुणीभूत
व्यङ्ग्य नामक काव्यमेवके अन्तर्गत होती है । जैसे—
'मर [मीमसेनके] जीयति रहते भूतराष्ट्रके पुत्र [कीरय] स्वस्य रहें ।
यह 'केसीवहार' नाटकमें मीमसेनकी उलिका अन्तिम वचन है । पूरा ल्येक इत
प्रकार है—

काशाघरानकविपाम- उमाप्रवेष्टे,
प्रापेयु विचनित्वेयु थ ना प्रहृत्य ।
आकृत्य पाण्डववपुपरिबानकेध्यात्र
स्वसा भवन्ति मयि जीवसि पार्श्वराष्ट्रा ॥

भाषाश्रमों भाग कागकर, विरका अस लिखकर सूक्ष्मता द्वारा हमारे प्राचीं और फल
संगतिरर प्रसार कर और पाण्डवोंकी श्री शीघरीके बल रींयनेकी सुरपेक्षा करके भी मुक्त मीमसेनके
जैसे ही भूतराष्ट्रके पुत्र निरिबन्त होकर बैठ जायें । वहाँ 'यह अतम्मन है' यह अर्थ काकुसे अमि-
मक होता है ।

कोरनेके ढंग या कहनेको 'काकु' करते हैं— मिथकच्छनिर्धीय काकुस्वनिर्धीयते ।' काकु
एव 'कक लीत्य' व्युत्पे बना है । काकांश या निराकांशरूपमें विशेष ढंगसे बोधा जानेका

१ वि ही में बलु यह नहीं है ।

यथा वा—

वाम असह्यो ओरम पद्मवप ण हुप मलिपिर्णं सीलम् ।

किं एष ज्ञपस्य आभ इव चन्दिर्लं तं न कामेनो ॥

[वाम असत्य, उपरम पतिव्रते न त्वया मलिनित शीलम् ।

किं पुनर्जनस्य जायेव नापितं तं न क्रमयामहे ॥

—इतिच्छाया]

शब्दशक्तिरेव हि स्वाभिधेयसामर्थ्याभित्तकाकुसहाया सती, अथविशेषप्रतिपत्ति
हेतुर्न काकुमात्रम् । विपयान्तरे स्वेच्छाकृतात् काकुमात्रात् तथाविधार्थप्रतिपत्त्यसम्भवात् ।
स वार्थः काकुविशेषसहायशब्दव्यापारोपाकृष्टव्यर्थस्य इति व्यङ्ग्यरूप एव । वाच
कत्वानुगमेनैव तु यत्र सद्भिदिष्टवाच्यप्रतीतिस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतया तथाविधार्थोक्तिः
काव्यस्य व्यपदेशः । व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्यभिधामिना हि गुणीभूतव्यङ्ग्यरसम् ॥ ३९ ॥

बुद्ध वाच्य प्रकृत वाच्यवसे अतिरिक्त अन्य अवकी भी आकांक्षा करता है वही उक्तका लीख्य है ।

इसीके कारण उसे 'काकु' करते हैं ।

अथवा जैसे—

अच्छा ठीक है हम असती है पतिव्रता महाराणी पर आप खुप रहिये । आपने
तो अपना खरिज भ्रष्ट नहीं किया । हम क्या स्वाभारणजनकी खिच्योके समान उस
मार्गकी कामना न करें ।

यहाँ 'स्वर्ण नीच नाशितर अनुरक्त होकर भी हमारे ऊपर आभेप करती है' इत्यादि अनेक
व्यङ्ग्य, अनेक कर्मोंमें काकु शब्द प्रतीत होते हैं । अतएव यह गुणीभूतव्यङ्ग्यका उद्गारण है ।

[काकुके उदाहरणोंमें] शब्दकी [अभिधा] शक्ति ही अपने वाच्यार्थकी सामर्थ्यसे
आश्रित काकुकी सहायतासे अर्थविशेष [व्यङ्ग्य]की प्रतीतिवा कारण होती है
अकेली काकुमात्र [ही] नहीं । क्योंकि अन्य स्थलोंमें स्वेच्छाकृत काकुमात्रसे उक्त
प्रकारके अर्थकी प्रतीति सम्भव है । और यह [काकुसे आश्रित] अर्थ काकुविशेषकी
सहायतासे शब्दव्यापार [अभिधा] में उपाकृत होनेपर भी अथकी सामर्थ्यसे सम्भव
होनेसे व्यङ्ग्यरूप ही होता है । उक्त [आश्रित अर्थ] से विशिष्ट वाच्यार्थकी प्रतीति जब
वाचकत्व [अभिधा] की अनुगामिनी [गुणीभूत] रूपमें होती है तब उक्त अर्थके प्रका
शक वाच्यमें गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपमें व्यवहार होता है । व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्यका
व्यय करनेवाले [वाच्य] का गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप [होता] है ।

एत उक्तानीमर्थी कारिकामें 'वा व्यङ्ग्यस्य गुणीभवे प्रज्ञारभिमन्त्रिता' पाठ आया है ।
उक्तके कुछ लोग यह अर्थ लगाते हैं कि काकुन से अयान्तरकी प्रतीति होती है उक्तके गुणीभूत
होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है । अर्थात् उक्तका प्राच्यस्य हानपर व्यङ्ग्यत्व भी हो सकता है । इस
प्रकार काकुमें अग्नि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनों प्रकार मानते हैं और उन दोनों अर्थात् 'काकु'
अग्नि और 'काकुगुणीभूतव्यङ्ग्य'की विषयवस्तुएत एत प्रकार करते हैं कि यहाँ काकुन आश्रित
अर्थके बिना भी वाच्यार्थकी प्रतीति पूरा हो जाय और प्रकरणादिकी पदानुबन्धाके बाद व्यङ्ग्य

प्रमेदस्यास्य विषयो यच्च युक्त्या प्रतीयते ।
विघातव्या सहवर्चैर्न तत्र ध्वनियोजना ॥४०॥

सङ्कीर्णो हि कश्चिद् ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च कल्पे दृश्यते मार्गः । तत्र यस्य'
युक्तिसहायता तत्र तेन व्यपदेशः कर्तव्यः । न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम् । यथा—

अथका शेष हो वहाँ काकुष्मिणी होती है । और वहाँ काकुषे आक्सि अर्थके निना, बाष्पार्थकी प्रतीति ही समाप्त न हो वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्यपकाकु' होता है । ऐसे लोगोंने—

तयामृता इहा मृषस्रसि पात्राकृतनया
बने व्यापे साप सुनिरसुशितं बरककरीः ।
विपटस्वावासे स्थितमनुविचारमनिभूतं
गुरु खेदं विननं मयि मन्वति नापापि कुशुपु ॥

इत्यादि श्लोकको 'काकुष्मिणी'का उदाहरण माना है । वह श्लोक भी पूरा उदाहृत क्यङ्के समान बेबीसहार नाटकमें भीमतेनके द्वारा करा गया है । उसका भाव यह है कि राजा भूतपङ्कती समामे नंगी की जाती हुई श्रौच्यीको देखकर गुप्त सुपितरको गुल्ल नहीं हुआ । हम बलकल पारण कर व्याघ्रके साथ बर्षों बनम रहे इच्छे भी उनको खेद नहीं हुआ । और विपटके वहाँ इहमत्ता तथा पाचक आदिका अनुचित वेध पारणकर अब हम सब पाण्डव छिपकर रहे तब भी उनको श्लेष नहीं आया । पर आज जब मैं कौरवोंपर श्लेष करता हूँ तब वह मेरे ऊपर नापक होते हैं । यह बाष्प अथ वहाँ व्यङ्ग्य अर्थके निना भी परिपूष हो आता है । परन्तु इसके बाद प्रकरण आदिकी आलोचना करनेपर मेरे ऊपर नापक शाना उचित नहीं है । कौरवोंपर ही श्लेष करना चाहिए इस काकुषे आक्सि, अर्थकी प्रतीति होती है । इसलिये इणको 'काकुष्मिणी'का उदाहरण मानते हैं और सिद्धसे स्वस्या मन्वति मयि बीवति धार्वरङ्गाः इत्यादिको 'गुणीभूतव्यङ्ग्यपकाकु'का उदाहरण मानते हैं ।

परन्तु बीचनकार काकुमें ध्वनि माननेके स्थिर तैयार नहीं हैं । वे काकुको सदैव गुणीभूत-व्यङ्ग्य ही मानते हैं—'काकुप्रयोगे सर्वत्र शब्दरसस्त्वेन व्यङ्ग्यत्वो मीळितव्यापि गुणीमाकार । काकुके प्रयोगमें प्रतीवमान व्यङ्ग्य भी तथा शब्दके लक्ष होनेसे गुणीभूत ही रहता है । अतएव 'काकुष्मिणी' मानना उचित नहीं है । इस मन्त्रक अनुसार कारिकामें 'गुणीभाव' परकी सप्तमी, सति सप्तमी' नहीं, अर्थात् 'निमित्ते सप्तमी' है । १३९।

और जो [काव्य] तर्क से [युक्त्या] इस [गुणीभूतव्यङ्ग्य] मन्त्रका विषय प्रतीत होता है सहवर्चोंका उसमें ध्वनिका नहीं आइया घादिये । ४०।

ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यके सङ्करका भी कार माग उदाहरणोंमें दिखलाई जाता है । उनमें जो [पर] तर्कसे समर्थित होता है उसीके अनुसार मामकरण [व्यपहार] करना चाहिये । उस अगह ध्वनिका अनुरागी नहीं होना चाहिये [निना युक्तिके ध्वनिके अनुरागमें गुणीभूतव्यङ्ग्यका भी ध्वनि नहीं कहने लगना चाहिये] ।

श्रीस—

पत्युः शिरश्चन्द्रकलाभनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताश्रीमास्येन तां निवचनं जपान ॥

यथा च—

प्रयच्छतोष्णैः कुसुमानि मानिनी विपद्गोत्रं इदितेन छम्भिता ।

न किञ्चिदूने परमेन केवलं लिखेत् वाण्याकुम्भोचना मुचम् ॥

इह च 'निवचनं जपान', 'न किञ्चिदूने', इति प्रतिषेधमुद्देशेन व्यङ्ग्य-व्यत्यार्यस्योक्त्वा किञ्चिद् विपयीकृतत्वाद् गुणीभाव एव शोभते । यथा बक्रौक्तिं विना व्यङ्ग्य-व्यो-
र्भस्वात्यर्थेण प्रतीयते तदा तस्य प्राधान्यम् । यथा 'पद्मवादिनि देवर्षी' इत्यादी । इह पुनस्किमङ्गवास्तीति वाच्यस्यापि प्राधान्यम् । तस्मात्प्रात्रानुरणनरूपव्यङ्ग्य-व्यनिव्ययदेशो विधेयः ॥४०॥

[यह कुमारसम्मवचने सत्रहवें सगच्छ १९ वीं श्लोक है । सखीने पार्वतीको चरणोंको [छाशारागणसे] रञ्जित कर [यह भारीथाव् दिया कि] इन चरणसे [सुरतके किसी वचविशेषमें अथवा मपरती होनेसे] पति [शिष्य]के सिरपर म्पित चन्द्रकलाका स्पर्श करना, इस प्रकार परिहासपूर्वक भारीथाव्मास पायतीने बिना कुछ बोले मालाने उस [सखी]को माया ।

और जैसे—

यह 'किरात'के अष्टम वर्गमें अङ्गुनके लोमह्वके स्थि आयी हुए अन्तराभोक बचनप्रवृत्तमें किसी अन्तराके बचनका लोके है ।

जैसे [उस अन्तराकी पहुँचसे अधिक उँचाइपर गने हुए, अथवा उत्कृष्ट] फूलोंको [तोड़कर] दते हुए प्रियके द्वारा अन्य अन्तरा [विपत्त]के नामसे सम्बोधित की गयी मानिनी अन्तरा कुछ वाली नहीं, भाँखोंमें भाँखू भरकर केवल पैरने जमीनको चुराती रही ।

यहाँ [इन दोनों श्लोकोंमें क्रमशः] 'निवचनं जपान' बिना कुछ बचे माया और 'न किञ्चिदूने' कुछ कहा नहीं इन प्रतिषेध द्वारा, व्यङ्ग्य-व्य अर्थ [प्रथम श्लोकमें अङ्गा, अथवित्था, इय इत्या सीमाय अमिमान भावि और दूसरे श्लोकमें भातिनाय मन्धु सम्भार] किसी अर्थमें अमिषा [उक्ति]का ही विषय हो गया है अतः [अभक्ता] गुणीमाय ही उचित प्रतीत होता है । और अथ उक्तिके बिना तात्पर्य रूपसे व्यङ्ग्य-व्य अर्थ प्रतीत होता है तब उस [व्यङ्ग्य-व्य]का प्राधान्य होता है । जैसे 'पद्मवादिनि देवर्षी' [१० १३२] इत्यादिमें । यहाँ ['पत्युः शिरश्चन्द्रकलां' तथा 'प्रयच्छतोष्णैः' इत्यादि दोनों श्लोकोंमें] तो कथनकी शब्दीसे [व्यङ्ग्य-व्यकी प्रतीति] है इसलिए वाच्यका भी प्राधान्य है । इसलिए यहाँ संलक्ष्यनमप्यङ्ग्य-व्यनिव्ययद्वारा उचित नहीं है [अथान् ये दोनों गुणीमूतप्यङ्ग्यके ही उदाहरण हैं । संलक्ष्यनमप्यङ्ग्य-व्यनिव्यके उदाहरण नहीं है] ॥४०॥

१ तस्माद् परोक्तिं विना ही ।

२ तय ही ।

३ अग्नि नि ।

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
 घटे रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥४१॥
 गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि काव्यप्रकारे रसमाभावितात्पर्यालोचने पुनर्भक्तिरेव सम्पद्यते ।
 यथात्रैवानन्दरोदाहृते 'स्त्रोकोद्भवे ।

यथा य—

दुग्धराधा यथा सुमग यत्नेनापि मृषत
 स्वचैतस्याप्येष्टान्नघनबघनेनाभु पतितम् ।
 कठोरं श्रीचेतरतद्वृद्धमुपचारैर्विरम हे,
 क्रियात्कस्याजं वो हरिरनुनयेन्नेवमुदिता ॥

गुणीभूतव्यङ्ग्यका ध्वनिरूपमें पर्यवसान

यह गुणीभूतव्यङ्ग्यका प्रकार भी रस भादि तात्पर्यका विचार करनेसे फिर ध्वनि [काव्य] हो जाता है। [सत्यव्यङ्ग्यमप्यङ्ग्यकी दृष्टिसे गुणीभूत होनेपर भी रसादिके विचारसे वह ध्वनिरूपमें माना जा सकता है] ॥४१॥

गुणीभूतव्यङ्ग्य-य नामक वाक्यका मेव रस भादिके तात्पर्यके विचार करनेसे फिर ध्वनिरूप ही हो जाता है। जैसे ऊपर उदाहरण ['पर्युः शिरश्चन्द्रकलां तथा 'प्रयच्छोच्यैः'] योमो स्त्रोकोमं [पद्यदृष्टिसे गुणीभूतव्यङ्ग्यका पर्यवसान रसके प्राधम्य होनेसे ध्वनिकाव्यमें ही है]।

और [सुमग उदाहरण] जैसे—

मूलसे स्वयं धारण की हुई] इन साङ्गीते [मिरे] गिरते हुए आनुभूतिके पौछनेपर भी [सौम्य-स्तीमाग्यात्] अस्मिमानशालिनी यह वृषमानुसुता] यह राधा [मि] तुमसे प्रसन्न होनेवाली नहीं [दुग्धराधा] है। क्रीका विच्छ [सपत्नीसम्मोगादिरूप अपमानको सहन न कर सकनेवाला वृद्ध] कठोर होता है इसलिये तुम्हारे ये सत्य [मानापनोदनके क्षिप्र किये जानेवाले चाट्टरूप] उपाय ध्यर्ष्य है उनकी रहने दो। ममानेके अवसरों [अनुमयेषु] पर [राधा द्वारा] इस प्रकार कहे जानेवाले कृष्ण तुम्हारा कस्याण करे ।

यहाँ सुमग शिष्टोक्तके बहुबचनत्व और उन अनेक शिष्टोंके अनुकूल अर्थ श्रीकी शरी [अपनवदन] के प्रसन्न होनेसे उक्त अन्वयवृत्तीयात् तथा तप्रेमकारणोक्त, विषयनाशिकाके प्रति प्रियका औचित्य उसके धियानके प्रकानसे उसके प्रति आदरयत्न राधा इस अपने नामके उच्चारणसे परिमत्तादित्युक्त दुग्धराधा पदसे मानकी दृष्टा और अपराधकी उम्मा, विच्छकी कठोरतासे स्वाभाविक तीव्रभावका परिष्ठाग तद्व और प्रगादनादत्त 'उपचार'के बहुबचनसे मापकका चाट्टरूपउपायत्व, 'अनुमयेषु'के बहुबचनसे नापककी दृष्ट प्रकारकी अवस्थाकी बहुवचन

१ यथात्रैवोदाहृतमन्तरस्त्रोकोद्भवे । यथा य ही ।
 २ हरिरनुनयेन्नेवमुदिता मि ।

एवं स्थिते च 'म्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि श्लोकनिर्दिष्टानां पदानां व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्यप्रतिपादान्तेऽन्वयेतद्वाक्यार्थोन्मूलरसापेक्षया व्यञ्जकत्वमुक्तम् । न तेषां पदाधानामप्यान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वनिर्णयो विधातव्यः । विवक्षितवाच्यत्वात् तेषाम् । तेषु हि व्यङ्ग्यविशिष्टत्वं वाच्यस्य प्रतीयते न तु व्यङ्ग्यवरूपपरिणतत्वम् । तस्माद्वाक्यं तत्र ध्वनिः, पदानि तु गुणीभूतव्यङ्गयानि ।

न च कवलं गुणीभूतव्यङ्गयाम्येव पदाम्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनेव्यञ्जकानि, यावद्द्वयान्तरसङ्क्रमितवाच्यानि ध्वनिप्रभेदरूपाण्यपि । यथात्रैव श्लोके 'रावण' इत्यस्य प्रभेदान्तररूपव्यञ्जकत्वम् । यत्र तु वाक्यं रसादितात्पर्यं नास्ति गुणीभूतव्यङ्गयैः पदेरुद्भासितेऽपि तत्र गुणीभूतव्यङ्गयत्वेव समुदायधमः ।

भीर नायिकाका धीभाग्यादिषु आदि स्वङ्ग्य होनेर भी, वाच्यक ही उपकार्य होते हैं इसलिए उसकी दृष्टिसे यह गुणीभूतव्यङ्गयकत्वम् है । परन्तु इसमें र्थाभिप्रेक्ष्यकी प्रधान रूपसे अभिव्यञ्जना हो रही है इसलिए उसकी दृष्टिसे यह ध्वनिकत्वम् है । इसलिए यहाँ भी गुणीभूतव्यङ्गयका ध्वनिमें पक्षस्थान होता है ।

इस प्रकार [ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्गयके विषयविभागकी व्यवस्था ही आनेसे], 'म्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि श्लोकमें निर्दिष्ट पदोंके व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्यके प्रतिपादक [उस दृष्टिसे गुणीभूतव्यङ्गय होने] पर भी समस्त श्लोकके प्रधान व्यङ्गय [धीर] उसकी दृष्टिसे [उसको] ध्वनि [व्यञ्जकत्व] कहा है । उन [श्लोकोक्त व्यञ्जक पदों] में अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिका धम नहीं करना चाहिये क्योंकि उनमें वाच्य विषयित है । [अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि लक्षणाभूत अभिव्यक्तिवाच्यका भेद होता है । यहाँ श्लोकस्य व्यञ्जक पदोंमें वाच्य अभिव्यक्ति नहीं, विषयित है । अतः अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि उनमें नहीं समग्रता चाहिये] उनमें वाच्य अर्थका व्यङ्ग्यविशिष्टत्व प्रतीत होता है । व्यङ्ग्यवरूपमें परिणतत्व नहीं [अर्थान्तरसङ्क्रमित वाच्यके 'कदली कदली, करमा करमा, 'करिराजकर' करिराजकर' इत्यादि उदाहरणोंमें वाच्यार्थ व्यङ्ग्यवरूपतया परिणत हो जाता है] इसलिए उस [म्यक्कारो आदि] में वाच्य [सम्पूर्ण श्लोक] ध्वनिरूप है नार पद ता गुणीभूतव्यङ्गयकत्वरूप है ।

और केवल गुणीभूतव्यङ्गय पद ही अर्थलक्ष्यक्रमव्यङ्गय [रमादि] ध्वनिके व्यञ्जक नहीं होते हैं अपितु अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिस्यरूपपालं पद भी [रमादि ध्वनिके अभिव्यञ्जक दात हैं] और इसी श्लोकमें 'रावण' इस [पद]का, ध्वनिक रूपा प्रभेद [अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य] द्वारा [धीर रसका] व्यञ्जकत्व है । जहाँ गुणीभूत व्यङ्गय पदों [रसादिके] प्रकाशित दानपर भी वाच्य रमादिपर नहीं होता यहाँ गुणीभूतव्यङ्गयता ही समुदाय [वाच्य] का भी धम होती है ।

१ न तेषां ही ।

२ ध्वनिप्रभेदान्तररूपस्य नि ही ।

यथा—

यमानमपि सेवन्ते विपमप्युपमुल्लवे ।
रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशलाः शल्लु मानवाः ॥
इत्यादौ ।

याच्यन्त्यङ्गयमोदश्च प्राधान्याप्राधान्यविवेके पर्य-प्रयत्नो विघातव्यः । यत्र ध्वनि-
गुणीभूतव्यङ्गययोरञ्जुराणां वासङ्गीर्णा विषयः सुज्ञावो भवति । ध्वन्यथा तु प्रसिद्धा
लङ्कार विषय एव व्यासोद्भूतः प्रवर्तते । यथा—

लायण्यद्रविण्डयमो न गणितः कन्धेसो महाम् स्वीकृतः,
'स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसवश्चिन्तानजो दीपितः ।
एषापि स्वयमेव तुल्यरममाभावाद्दराकी हठा,
कोऽर्थाश्चेतसि वेद्यसा विनिहितस्तन्धास्तुं तन्वता ॥
इत्यत्र व्यासस्तुतिरलङ्कार इति व्याख्यायितः केनचित्, तन्न यत्पुरस्त्रम् । यतोऽस्या

शैले—

यत्पुर मनुष्य [अत्यन्त दुस्ताप्य] राजाकी सेवा मी कर सकते हैं [स्रपः प्राण
विनाशक] विष मी ला सकते हैं और [विचारविषयाली] स्त्रियोंके साथ रमण मी
कर सकते हैं । इत्यादिमें ।

यहाँ राजाकी सेवा किया करने और स्त्रियोंके साथ विहार आनन्द कष्टात्मक और
विपरीत परिणामजनक होते हैं। शब्दादि मन्त्रपते विशिष्ट वाच्य अथ समकारयुक्त हो जाया है ।
यद्यः यहाँ गुणीभूतव्यङ्गयता है । साथ ही शान्तरसके अङ्ग निवेद साविभाषकी मी अभिमन्त्रिक तनव
होती है । परन्तु उद्यका प्राधान्य विवक्षित न होनेसे ए वर वाच्य दोनों ही गुणीभूतव्यङ्गय हैं ।

वाच्य और व्यङ्गयके प्राधान्य अप्राधान्यके परिष्कारके लिए अत्यन्त पत्त करना
साहित्ये जिससे यमि गुणीभूतव्यङ्गय और अलङ्कारोंका सद्भाररहित विषय मन्त्री
प्रकारसे समझमें आ जाये । [ध्वन्यथा तु] उसके बिना तो प्रसिद्ध [वाच्य] अलङ्कारोंके
विषयमें ही भ्रम हो जाता है । शैले—

[इसके शरीरनिर्माणमें पिघाठान] लायण्यसम्पत्तिके व्ययकी चिन्ता मी नहीं
की [स्वयं] महान् कष्ट उद्यया स्वच्छन्द और सुखपूर्वक रीठ हुए [सम्पन्धी] शोगोंके
लिए चिन्तामि प्रदीप्त कर दिया और अनुरूप परके अभावमें यह पिघारी मी मारी
गयी । मालूम नहीं पिघाठान इस सुन्दरीके शरीरकी रचना करनेमें कौन छाम
साया था ।
इसमें ध्यायस्तुति अलङ्कार है परती व्याख्या किस्तीन की है यह ठीक नहीं है ।

१ तत्रादि नि ही ।

२ अर्जितः नि ।

३ स्वच्छन्दं वातो जनस्य इत्येव चिन्तामि विहितः नि । सजीजनस्य ही ।

४ इति । अत्र ही ।

मिथेयस्य, एतद्व्यङ्ग्यस्वरूपमात्रप्रयवसायित्वं न मुश्चिष्टता । यतो न तावदयं रागिणः
कस्यचिद्विकल्पः । तस्य 'यथापि स्वयमेव तुस्वरमणाभावाद्दराकी हता' इत्येवविभोचरय
मुपपत्तेः । नापि मीरागस्य । तस्यैयंविभक्तिकल्पपरिहारेकस्यापारत्वात् ।

न चार्थं शब्दकः क्वचित् प्रथम इति भ्रूयते, येन तद्व्यकरणामुगतयतास्य
परिकल्प्यते ।

तस्माद्भ्रमस्तुतप्रशंसेयम् । यस्मादनेन शब्देन गुणीभूतात्मना निःसामान्यगुणाबधे-
पाभावात्तस्य निजमहिमोत्कर्षममितसमत्सरजनम्बरस्य विशेषज्ञमात्मनो न कश्चिदेवापरं

इसके अर्थका केषुच व्याजस्तुतिके स्वरूपमें पर्ययसान माननेसे यह [इसका थाप्यार्थ]
सुसङ्गत नहीं होता । क्योंकि यह किसी रागी [उस सुन्दरीमें अनुरक्त, अथवा मलिन
वासनावाले पुरुष] का पितक [विचारधारा] नहीं है । क्योंकि उस [अनुरक्तपुरुष अथवा
वासनायुक्त] की [भोरसे] 'अनुरक्त पतिके न मिलनेसे यह विचारी भी मारी गयी' इस
प्रकारका कथन सङ्गत नहीं जान पड़ता । [अनुरक्त पुरुष तो अपनेको ही उमके योग्य
समझता है । उसके मुँहस्य अपनी निम्ना अनुपपन्न है । और मलिन वासनावाले
पुरुषकी भोरसे यह काव्ययुक्ति सम्भव नहीं हो सकती] और न किसी रागरहित
पुरुषकी [यह उक्ति है] क्योंकि उस [धीतराग पुरुष] का इस प्रकारके [रागजन्म]
विशेषोंका परिहार ही प्रधान व्यापार है [धीतराग पुरुष जगतसे अत्यन्त उदासीन
होता है, यह इस प्रकारके विषयका विचार भी नहीं कर सकता है] ।

यहाँ निराश और व्यङ्ग्य कार्य करनेवासे विधाताकी निन्दा शब्द है । उममें अनन्यसामान्य
सौन्दर्यवाञ्छिनी रमणीके निर्माणकीशक्तकी शक्ति हाथ, अज्ञप्रकरणे विधाताकी स्तुति शक्ति
होनेसे, स्वाक्युक्ति हो सकती है । यह स्वाक्युक्ति माननेवासेका आशय है । कथन करनेका आशय
यह है कि हममें अज्ञाचार्य सौन्दर्यवाञ्छिनी रमणीके निर्माण जो विधाताकी स्तुति गम्य मानी जा
सकती है, वह तभी, जब कि यह किसी अनुरक्त पुरुषकी उक्ति हो । परन्तु अनुरक्त पुरुष कुरूप होने-
पर भी कामावधमें अपनेको ही उमके अनुरक्त समझता है, उमके मुँहसे 'तुस्वरमणाभावाद्दराकी हता'
यह उक्ति उचित नहीं प्रतीत होती । इसलिए यहाँ विधाताकी स्तुति गम्य न होनेपर स्वाक्युक्ति
असङ्गत नहीं है ।

और यह श्लोक किसी प्रपञ्च [काव्य] में है यह भी नहीं सुना है जिससे
उसके प्रकरणके अनुकूल अर्थकी कल्पना की जा सके [और उमके आधारपर व्याज
स्तुति असङ्गारकी सङ्गति लगायी जाय] ।

इसलिए यह भ्रमस्तुतप्रशंसा [असङ्गार] है । क्योंकि इस [गुणीभूतात्मरूप]
भ्रमस्तुत वाक्य [अर्थ] ने श्लोकसामान्य [श्लोकोत्तर आनादि] गुणोंके दर्शन गणित
अपने [पाणिद्वय आदि] महिमाके उत्कर्षमें इत्यादि प्रतिपत्तियोंके मनमें इत्यादय
उत्पन्न कर देनेवासे और किसीको अपने [प्रम्यादिका] विचारन न समझनेवासे किसी
[धर्मकीर्ति स्तरीय महाविद्वान्] का यह निर्येदस्त्वक यपन है । ऐसा प्रतीत होता है ।

१ पर्ययवाचिन्वेन चि ।

पश्यतः परिवेष्टितमेतदिति प्रकाशयते । तथा चार्थ भ्रमकर्तव्यः श्लोक इति प्रसिद्धिः ।
सम्माह्वयते च तस्यैव । यस्मात्—

अनस्यवसितावगाहनमनस्यधीक्षकिन्ना
अयहृष्टपरमार्थतस्वमभिकाभियोगैरपि ।
मत्तं मम अगत्यन्तस्यसहस्रप्रतिप्राहृष्टं,
प्रयास्यति पयोनिधेः पय इव स्वदेहे जराम् ॥

इत्यनेनापि श्लोकेनैवविधोऽभिप्रायः प्रकाशित एव ।

जैसा कि यह धर्मकीर्तिका श्लोक है, यह प्रसिद्ध भी है । [श्लोकेन्द्रम अपनी 'बौध्दिय विचारखर्चा' में लिखा है कि 'लायभ्यद्रयिअप्ययो न गणिता इत्यादि 'धर्मकीर्तिका'] और उसका ही हो भी सकता है । क्योंकि—

अनस्य—प्रचुर—धीशक्ति [बुद्धि] वाले पुरुष भी जिस भरं धार्शनिक मतको [अवगाहन] पूर्णतया समझ नहीं सकते हैं और अधिक ध्यान देनेपर भी उसके रहस्य तक नहीं पहुँच पाते हैं ऐसा भेद्य मत [धार्शनिक सिद्धान्त] संसारमें योग्य गृहीताके अभावके कारण अनस्यशक्तियुक्त पुरुष भी जिस [समुद्रजल] के अवगाहनकर साहस न कर सकें और अत्यन्त ध्यान देनेपर भी जिसके रत्नोंको न देख सकें, ऐसे समुद्रके जलके समान अपने [धर्मकीर्ति अथवा समुद्रके] शरीरमें ही जीर्ण हो जायगा ।

इस श्लोकमें भी इसी प्रकारका [अपने अनस्यसहस्र पाण्डित्यका गर्व और योग्य गृहीता न मिलनेसे अपने ज्ञानके निष्फलत्वसे उत्पन्न निर्वैकल्प] अभिप्राय प्रकट किया ही गया है ।

यहाँ पहिले श्लोकमें प्रथम चरणके वाक्य 'सावभ्यद्रयिअप्ययो'के गणनाभाव और क्लेशादिघन स्वीकारसे परिदेवक धर्मकीर्ति अथवा उसकी कृत्तिक अद्भुतगुणमण्डित्व, द्वितीय चरणके वाक्य अप्रस्तुत स्वच्छन्दजनोक्त चिन्तानवोत्पादनसे अपने अथवा अपनी कृत्तिक उत्कर्षके कारण प्रतिस्पर्धी विद्वानोंमें 'ईशोद्भावनरूप' और मूर्तीय चरणके वाक्य अप्रस्तुत 'तुस्परममाभावाद्गुरुकी हवा' आदिसे उपाधिकम्ममत्त्व और विधाताक उन्मीनिमागनिष्कलम्, चतुर्थ चरणके अप्रस्तुत वाक्यसे अपने अथवा अपना कृत्तिके निर्मात्रके निष्कल्पसे निर्वैकल्प प्रस्तुतकी प्रतीति होनेसे अप्रस्तुतात्प्रस्तुत भद् गमते' इत्यादि रूप अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है ।

अगला अनस्यवसितावगाहन आदि श्लोक भी धर्मकीर्तिका श्लोक है । उसमें भी इसी प्रकार का निर्वेद अभिप्रेक होता है । धर्मकीर्ति बौद्ध दार्शनिक हुए हैं । उनका प्रमाणावार्तिक और 'न्याय विन्दु' प्रथम बौद्ध न्यायके उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं और अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । "स श्लोकमें उन्होंने इन बातों कुछ प्रकट किया है कि उनके मतको यद्यार्थ रूपमें समझनेवाला कोर नहीं मिलता है । समझ तकने वाले योग्य विद्वान्के अभावमें उनका मत समुद्रके पानीके समान उनका गीतर ही पङ्कान्ता अथवा प्राप्त हो जायगा । इस श्लोकके समानार्थ ही पूर्वोक्त वाक्यादि श्लोक भी धर्मकीर्तिका ही श्लोक प्रतीत होता है और उनमें अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार ही मानना उचित है । ध्याअनुत्ति मानना ठीक मही है ।

अप्रस्तुतप्रदर्शसायां च यद्वाच्यं तस्य कदाचिद्विबक्षितत्वं, कदाचिद्विबक्षितत्वं, कदाचिद्विबक्षितत्वमिति त्रयी बन्धच्छाया । तत्र विबक्षितत्वं यथा—

परार्थे चः पीडामनुभवति मङ्गोऽपि मधुरो,
 यदीयः सर्वेषामिदं खलु विकारोऽप्यमिमतः ।
 न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स सृक्षमक्षेत्रपठितः,
 किमिक्षोर्वोपोऽसौ न पुनरगुजाया मरुमुचः ।

यथा वा ममेव—

अमी ये इत्यन्ते मनु सुमगरूपाः, सफळता
 भवत्येषा यस्य क्षणमुपगतानां विषयताम् ।
 निरासोके सोके कथमिदमहो बभ्रुरधुना,
 समं मातं सर्वैर्न सममध्वान्यैरधयवैः ॥

अनर्बोर्हि द्वयोः प्रत्येकयोरिदमुपभ्रूपी विबक्षितस्वरूपे एव, न च प्रस्तुते । महा

अप्रस्तुतप्रदर्शसामे जो वाच्य होता है यह कहीं [उपपद्यमान होनेसे] विबक्षित कहीं [अनुपपद्यमान होनेसे] अविबक्षित और कहीं [भ्रंशता उपपद्यमान होनेसे] विबक्षितविबक्षित होता है । इस प्रकार तीन प्रकारकी रचनाशैली होती है । [अप्रस्तुत प्रदासाके पाँच भेदोंमेंसे अन्तिम तुल्य अप्रस्तुतसे तुल्य प्रस्तुतकी प्रतीतिरूप जो पञ्चम भेद है उसके ही ये तीन भेद होते हैं । दोष चारोंके नहीं] उनमेंसे [वाच्य अप्रस्तुत] के विबक्षितत्वका [उच्चारण] जैसे—

['परार्थे च पीडां'] इत्यादि दशोक प्रथम उद्योतमें पृष्ठ ११ पर आ चुका है । यहाँ से प्रसक्त अर्थ देखिये । यहाँ अप्रस्तुत विबक्षित वाच्य इस पदसे प्रस्तुत [महापुरुषकी प्रतीति होनेसे अप्रस्तुतप्रदर्शना भलद्वार है और वाक्याथ भी उपपद्यमान होनेसे विबक्षित है ।]

अथवा जैसे मेरा ही—

यह जो सुन्दर आहृतियाले [मनुष्योंके हाथ, पैर, मुग आदि अणयय] दिखलाई देते हैं इन [मर्तों] की सफळता जिन [ब्रह्म] के क्षणमात्रको विषय होने [दिखलाई देनेके] कारण होती है, आश्चर्य है कि [इस समय] इस अणकारमय जगतमें यह धनु भी कीमे अम्य मय अणययोंके समान [अणय] अणया समान मी नहीं [अपितु उनमें मी गया-थीता] हो गया है [क्योंकि अणकारमें मी हाथ पैर आदि अणययोंमें नाम लिया जा सकता है परन्तु धनु तो विरुद्ध ही प्रकार है । यहाँ अप्रस्तुत धनुमें किसी अत्यन्त कुशल महापुरुषकी निरालोक-विशेषहीन म्यामी आदिके सम्बन्धमें अम्य अणययोंके साम्यसे कर्पाक्षमत्व आदि प्रस्तुतकी प्रतीति होनेसे अप्रस्तुतप्रदर्शना है और उनमें वाच्यार्थ उपपन्न होनेसे विबक्षित है ।]

इन दोनों ['परार्थे च पीडां' इत्यादि तथा 'अमी ये इत्यादि दशकों] में इस

पुण्याविषयपठितत्वात्प्राप्तपरमागत्य कस्यचित्स्वरूपमुपबर्णयितुं इयोरपि श्लोकयोस्तात्पर्यं प्रस्तुतत्वात् ।

अविषयित्वत्वं यथा—

कस्य भोः ! कमयामि वैबहतकं मां विद्वि शाखोटकं,
वैराग्यादिव बधि, साधु विदितं, कस्मादितं कथ्यते ।
धामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते,
न च्छायाऽपि परोपकारकरणे मार्गस्त्रिषस्यापि मे ॥

न हि वृक्षविशेषेण सद्बोद्धिप्रत्युत्थी सम्भवत इत्यविषयित्वामिषेयेनैवानेन श्लोकेन उभूद्यसत्यरूपसमीपवर्तिनो निर्घनस्य कस्यचिन्मनस्विनः परिवेदितं तात्पर्यं वाक्यात् किञ्चित्प्रति प्रतीयते ।

विषयित्वत्वाविषयित्वत्वं यथा—

उप्यह्वाम्नाय असोहिणीर्षं फलकुमुमपत्तर्हिभाय ।
बेरीर्षं वई वेन्तो पामर हो ओहसिगिभइसि ।

भौर वृक्ष दोनों विवक्षितस्वरूप भौर अमस्तुत है । अस्यात् [निर्गुण स्वामी भावि] के सम्बन्धसे उत्कर्षको प्राप्त न हो सकनेवाले किसी महा गुणवान् पुत्रपके स्वरूपकी प्रशंसाके लिए ही दोनों श्लोक तात्पर्यरूपसे प्रस्तुत हैं [अमस्तुत इष्ट तथा वृक्षसे प्रस्तुत महापुरुषकी प्रशंसा करना ही दोनों श्लोकोंका तात्पर्य है अतः यहाँ अमस्तुत प्रशंसा अङ्गुल है और इष्ट, वृक्ष दोनों विवक्षित हैं] ।

अविवक्षितयाच्य [वा उवाहरण्य] शैले—

अरे तुम कौन हो ? बताता हूँ मुझे माम्यका माय [अमागा] शाखोट [सिद्धोरा नामक वृक्षविशेष] जानो । कुछ वैराग्यसे कह रहे हो ऐसा जान पड़ता है । ठीक समझे । ऐसे क्यों कह रहे हो [क्या बात है] । यहाँसे चार्या [रास्तेसे इतरकर उरुटी] भोर पड़ा बटका वृक्ष है । पथिक लोग [उसके नीचे छेदने पीठने, रोटी बनाने सोने आदिमें] सध प्रकारसे उसका सहारा छेते हैं और ठीक रास्तेमें चढ़ा होनेपर भी मेरी छयास भी किसीका उपकार नहीं होता [इसी बातका मुझे दुःख है] ।

वृक्षविशेष [शाखोट]के साथ प्रस्तोत्तर नहीं हो सकते हैं इसलिये अविवक्षित याच्य [त्रिसका वाच्य अमस्तुत अर्थ शाखोट और प्रस्तोक्ता पथिक भादि अर्थ विवक्षित नहीं हैं] इस श्लोकमें समुद्र दुष्ट पुत्रपके समीप रहनेवासे किसी निर्घन मनस्वी पुरुषके दुःखोद्धारको ही तात्पर्यरूपसे वाक्यार्थ बनाया है ऐसा प्रतीत होता है ।

विवक्षिताविवक्षित [याच्य अमस्तुतप्रशंसाका उवाहरण्य] शैले—

कुमार्ग [दूसरे पक्षमें मीच कुञ्ज] में उत्पन्न हूँ, कुरुप [वृक्षपक्षमें फँटीली और लीपक्षमें पद्मचरत्], पत्त, फूल और पत्रोंसे रहित [लीपक्षमें सन्तान भादिसे रहित],

[उत्तराधजाताया अशोमभाया फलकुमुमपत्ररहिताया ।
 वदर्मा वृत्ति ददत् पामर भो मन्वहसिप्पते ॥ इतिच्छाया]
 अत्र हि वाच्यार्थो नास्त्यन्तं सम्मवी न चासम्मवी^१ ।
 तस्माद्वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्ये यत्नतो निरूपणीये ॥४१॥
 गुणप्रधानभावाभ्यां व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यैव व्ययस्थिते ।
 काव्ये उभे ततोऽन्यथात् तच्चित्रमभिधीयते ॥४२॥
 चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्ययस्थितम् ।
 तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥४३॥

व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यव्यङ्ग्ये प्राधान्ये^१ च्चनिसंक्षितकाव्यप्रकारः, गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यवता ।
 ततोऽन्यत्रसमावादिवाच्यव्यङ्ग्ये च्चनिसंक्षितकाव्यप्रकारः, गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यवता ।

पेरी [भूमरं पक्षमें पेरी किसी स्त्री] की वाङ् मगते हुए [स्त्रीपक्षमें उसकी रक्षा करते
 या घरमें बसाते हुए] अरे मूर्खों! तेरा सब लोग अपहास करेगे ।

यहाँ [अप्रस्तुत वेरीकी वाङ् मगता अनुचित होनेसे वाच्य अविषक्षित और
 प्रस्तुत स्त्रीपक्षमें किसी प्रकार वृत्ति—शरज—देना या घरमें बसाना आदि रूपसे उपयोगी
 होनेसे वाच्य विषक्षित हो सकता है । इस प्रकार विषक्षिताविषक्षितयाच्य अप्रस्तुत
 प्रशानाका उदाहरण है] वाच्य न सपथा सम्मवी है और न अत्यन्त अमम्मवी है ।

इसलिए वाच्य और व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यके प्राधान्य और अप्राधान्यका यत्नपूर्वक निरीक्षण
 करना चाहिये ॥४१॥

इस प्रकार च्चनिसंक्षित और गुणीभूतव्यङ्ग्यके निरूपणका उल्लेख कर अब आगे काव्यके तीसरे
 भेद चित्रकाव्यका निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

चित्रकाव्यका निरूपण

इस प्रकार व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यके प्रधान और गुणभावसे स्थित होनेपर ये दोनों [च्यनिसंक्षित और
 गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यङ्ग्य] काव्य होते हैं । और उनसे भिन्न जो [काव्य रह जाता] है उन्हे
 [चित्रकाव्यके समान काव्यके तात्त्विक व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यसे विहीन काव्यकी प्रतिवृत्तिके समान
 ज्ञानसे] 'चित्र' [काव्य] कहते हैं ॥४२॥

शब्द और अर्थके भेदसे चित्र [काव्य] दो प्रकारका होता है । इनमेंसे कुछ
 शब्दचित्र होते हैं और उन [शब्दचित्र] से भिन्न अर्थचित्र [कहलाते] हैं ॥४३॥

व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यव्यङ्ग्यके प्राधान्य होनेपर च्यनिसंक्षित काव्यमद् [होता है] और गुण
 प्रधानपर गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यङ्ग्य होता है । उन [च्यनिसंक्षित तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यव्यङ्ग्य दोनों] से
 भिन्न रस, भाव आदिमें तात्पर्यसे रहित, और व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यव्यङ्ग्यके प्रकारानुसारके शक्तिसे
 रहित, केवल वाच्यवाचक [अथ आर 'वाच्य'] के वैधिव्यके आधारपर निर्मित, आ

१ नि ही में 'न चासम्मवी' इत्यादि पाठ नहीं है ।

२ च्चनिसंक्षित ही संक्षित नि ।

वाचकवैविध्यमात्राभयेनोपनिबद्धमाश्लेषप्रसृतं यदाभासते चित्रम् । न तन्मुख्यं काव्यम् ।
काव्यानुकारे ह्यसौ । तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं, यथा दुष्करयमकादि । वाच्यचित्रं ततः
सम्बन्धितान्यद् व्यङ्ग्य-पार्थसंस्पर्शरहितं, प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्मितं रसादितात्पर्यरहि
तमुत्प्रेक्षादि ।

अथ किमिदं चित्रं नाम ? यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शः । प्रतीयमानो ह्यधस्मिन्नेव
प्राक् प्रदर्शितः । एतत्र, यत्र वस्त्वलङ्कारान्तरं वा व्यङ्ग्य-व नास्ति स नाम चित्रस्य कल्पवृत्तौ
विषयः । यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव । यस्मात्प्रस्तुतस्य
रिंता काव्यस्य नोपपद्यते । वस्तु च सर्वमेव जगद्ग्राह्यमवश्यं कस्यचिद् रसस्य भावस्य

काव्य आश्लेष्य [चित्र] के समान [तास्यैक रूपरहित प्रतिकृतिमात्र] प्रतीत होता
है उसको 'चित्र' [काव्य] कहते हैं । यह मुख्य रूपसे [पद्यार्थ] काव्य नहीं है अपितु
काव्यकी अनुकृति [नकल] मात्र है । उनमेंसे कुछ दाम्प्यचित्र होते हैं जैसे दुष्करयमक
आदि । और अर्थचित्र उस दाम्प्यचित्रसे भिन्न व्यङ्ग्य-वसंस्पर्शरहित रसादि तात्पर्यसे
शून्य प्रधान वाक्यार्थरूपसे स्थित उत्प्रेक्षा आदि [अधचित्र या वाच्यचित्र] होते हैं ।

चित्रकाव्य'को रसादितात्पर्यरहित और व्यङ्ग्यपार्थविशेषक प्रकारकी चित्रसे शून्य कहा
है । ये दोनों विशेषतः रसादिके अभिव्यक्तिजन्य और व्यङ्ग्यपार्थविशेषके अभिव्यक्तिजन्य मानकर ही
सङ्गत होंगे । जैसे तो प्रत्येक पद्याका काव्यमें किसी-न-किसी रसत कुछ-न-कुछ सम्बन्ध होता ही
है । क्योंकि अन्ततः विमायका तो सभी पद्याओंमें आ सकता है । इच्छित्य उनका उभया रसादिरहित
होना सम्भव नहीं है । अतः 'रसादितात्पर्यरहित'का अर्थ नहीं है कि व्यङ्ग्य अथ हानेपर भी यदि
वह निरहित नहीं है तो चित्रकाव्य' हागा । इसी प्रकार व्यङ्ग्यपार्थविशेषका अनच्छिद्यता भी
व्यङ्ग्य वस्तु आदिके अभिव्यक्ति होनेपर ही समझनी चाहिये ।

[पूर्वपक्ष—] अन्ततः यह 'चित्रकाव्य' क्या है ? जिसमें प्रतीयमान [व्यङ्ग्य]
अर्थका सम्बन्ध न हो ? [उन्मीको चित्रकाव्य कहते हैं न ?] प्रतीयमान अर्थ [वस्तु,
अलङ्कार और रसादिरूप] तीन प्रकारका होता है यह बात पहिले प्रतिपादन कर
चुके हैं । उनमेंसे जहाँ वस्तु अथवा अलङ्कारादि व्यङ्ग्य न हो उससे उसे 'चित्रकाव्य'
का विषय मझे ही मान स्या [परन्तु] आ रसादिका विषय न हो वेसा कोई काव्यमेव
सम्भव नहीं है । क्योंकि काव्यमें किसी वस्तुका संस्पर्श [पद्यार्थवाचकत्व] न हो यह
युक्तिमङ्गल नहीं है । और संसारको सभी वस्तुएँ किसी रस या भावका अङ्ग अथवा
ही बन जाती हैं [अस्य रूपसे रससम्बन्ध न सम्भव हो सके तो भी] अन्ततः विमाय
रूपसे [प्रत्येक वस्तुका किसी-न-किसी रससे सम्बन्ध हो ही जाना है] । रसादि [ज
अनुभवात्मक ज्ञानमें और अनुभवके चित्तपृष्ठिरूप ज्ञानमें] चित्तपृष्ठिरूपीयका ही
है । और [संसारमें] एनी कोइ वस्तु नहीं है आ किसी प्रकारकी चित्तपृष्ठिका उत्पन्न
न कर । अथवा यदि यह [वस्तु] उस [चित्तपृष्ठि] का उत्पन्न नहीं करती है तो यह
कथिका विषय ही नहीं हो सकती है । [क्योंकि सावय पाग आदि वर्तनोंके निदान्तमें

वाङ्मयं प्रतिपद्यते, अन्ततो विभावत्येन । चित्तवृत्तिविज्ञेया हि रसादयः । न च तद्विद्य
वस्तु किञ्चिद् यत्र चित्तवृत्तिविज्ञेयमुपजनयति । तदनुत्पादने या कश्चिद्विषयतैव तस्य न
रसात् । कश्चिद्विषयस्य चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते ।

अत्रोच्यते । सर्वं न तादृक् काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः^१ । किन्तु यदा
रसभावादिविषयाद्यन्यः कविः शब्दाच्छब्दार्थसङ्घारं बोधनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया
रसादिशून्यतास्य परिकल्प्यते । विवक्षोपास्य एव हि काव्ये शब्दानामर्थः । वाच्यसाम-
प्यवद्येन च कश्चिद्विषयादिरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परितुर्बन्धा भवती-
त्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो ब्यवस्थाप्यते । तद्विदमुक्तम्—

रसभावादिविषयविषयादिरहे सति ।

अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥

रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा ।

तदा नास्त्येव तदकार्थं ध्यनेर्यत्र^२ न गोचरः ॥

इन्द्रियप्रणालिका भयात् भाव आदि द्वारा चित्तकर विषयके साथ सम्यग्भ होनेपर
चित्तका भयाकार जो परिणाम होता है वहीको चित्तवृत्ति कहते हैं । और उसीसे
पुरुषको भाव होता है । चित्तवृत्ति प्रमाण भयात् प्रमाका साधनरूप होती है और
उससे पुरुषको जो बोध होता है वही प्रमा या उमका फल कहलाता है । इसीको ध्यान
कहते हैं । इसलिये यदि चित्तवृत्ति उत्पन्न न हो तो उस पदार्थका ध्यान ही नहीं हो
सकता है । अतः यह कथिके ध्यानका विषय नहीं हो सकती है ।] कविका विषय [मूल]
कोई पदार्थ ही चित्र [काव्य कविकर्म] कहलाता है ।

[सिद्धांतपक्ष] इसका उत्तर देते हैं—ठीक है ऐसा कोई काव्यप्रकार नहीं है
जिसमें रसादिकी प्रतीति न हो । किन्तु रस भाव आदिकी विषयज्ञाने रहित कवि, अप
भयासङ्घार भयना शब्दालङ्कारकी रचना करता है तब उसकी विषयज्ञाकी दृष्टिसे
[काव्यमें] रसादिशून्यताकी कल्पना करते हैं । काव्यमें विषयज्ञित भय ही शब्दका अर्थ
होता है । उस प्रकारके [चित्रकाव्य] के विषयमें कविकी [रसादिविषयक] विवक्षा न
होगपर भी यदि रसादिकी प्रतीति होती है ता वह बुझ जाती है इसलिये भी उमको
नीरम मानकर चित्रकाव्यका विषय माना है । सा पसा कहा भी है—

रस, भाव आदिकी विषयज्ञाने के अभावमें जो अलङ्कारोंकी रचना है यह चित्र
[काव्य] का विषय माना गया है ।

और अब रस, भाव आदिकी तात्पर्यरूप [प्रधान रूप] में विषयभा हो तब ऐसा
कोई काव्य नहीं हो सकता है जो चित्रिका विषय न हो ।

१ अन्ततो वाच वि में नहीं है ।

२ रसादीनामविप्रतिपत्तिः वि० ।

३ वस्तु ही ।

पद्यत्र चित्रं कवीनां विशृङ्खलागिरां रसादितात्पर्यमन्तयेत्यैव काव्यप्रवृत्तिर्द्वन्द्वनापस्मामिः
परिकल्पितम् । इदानीन्तनानां तु न्याय्ये काव्यनसम्बन्धस्यापने क्रियमाणे नास्त्वेष ध्वनि
व्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः । यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न
सोमते । रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदा मितवरसाङ्गतां नीचमानं न प्रगुणी भवति ।
अथेतमा अपि हि भाषा यथायथमुचितरसविभावतया^१ चेतनवृत्तान्तर्गतनया वा न
समस्येव ते ये यान्ति न रसाङ्गताम् । तथा चरमुच्यते—

अपारे काव्यसंसारं कविरैकः प्रजापतिः ।

यथास्मै रोषते विद्वन् तथेदं परिवर्तते ॥

शृङ्गारी चेतकविः काव्ये आर्तं रसमयं जगत् ।

स एव बीतरुगाश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥

भाषानचेदनानपि चेतनवृत्तनानचेतनवत् ।

व्यवहारवति पयोष्ठं मुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

विशृङ्खल घाभीबासे कवियोंकी रसादिमें तात्पर्यकी अपेक्षा किये बिना ही
काव्य [रचनाकी] प्रवृत्ति देखनेसे ही हमने इस विषय [काव्य] की कल्पना की है ।
उचित काव्यमार्गका निर्धारण कर किये जानेपर [ध्वनिप्रस्थापनके बादके] आधुनिक
कवियोंके लिए तात्पर्यसे निम्न और कोई काव्यप्रकार ही ही नहीं । रसादितात्पर्यके
बिना परिपाकवान् कवियोंका व्यापार ही शामिल नहीं होता [व्यवधानि त्यजन्त्येष
परिवृत्तिसहिष्णुताम् । तं शब्दस्यासनिष्ठाताः शब्दपार्कं प्रयच्छन्ते । रसादिकी दृष्टिसे
उचित शब्द और अर्थकी, सिममें एक ही शब्दको उपर-उपर अथवा परिवर्तन करने-
का व्यवहार न हो—इस प्रकारकी रचनाका जिनको अभ्यास हो गया है वह कवि
परिपाकयुक्त कवि होते हैं] । रसादि [में] तात्पर्य होनेपर ता कोई वस्तु पसी नहीं है
जो अमित रसका अङ्ग यमानेपर समक न उठे [प्रशस्तगुणयुक्त न हो जाय] ।
अथेतन पदार्थ भी कोई ऐसे नहीं है जो कि इन्द्रसं, उचित रसके विभावरूपसं अथवा
[उनके साथ] चेतन व्यवहारके सम्बन्ध द्वारा रसका अङ्ग न बन सके । जैसा कि
कदा भी है—

अनन्त काव्यजगत्तमं [उत्सव निर्माता] केवल कवि ही एक प्रजापति [प्रजा]
है । उन जैसा अक्षय श्रुता है यह विश्व जमी प्रकार बबल जाता है ।

यदि कवि रसिक [शृङ्गारप्रधान] है तो यह साथ जयत् रसमय [शृङ्गारमय]
हो जाता है और यदि वह धीरगी है तो यह सब ही नीरस हो जाता है ।

सुकवि [अपने] काव्यमें अथतन पदार्थको भी अथतनके समान और चेतन
पदार्थको भी अथतनके समान जैसा चाहता है वैसे व्यवहार करता है ।

तस्मात्प्रास्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतास्यभवतः कवेस्तद्विषयया तद्विमतरसा
 ज्ञत्वा न भवे । तद्योपनिबन्धमानं वा न वादत्वातिशयं पुष्पाति सर्वमेतच्च महाकवीनां
 काव्येषु दृश्यते । अरमाभिरपि स्वेषु काव्यप्रसङ्गेषु यथायथं दर्शितमेव । स्थिते चैवं
 सर्व एव काव्यप्रकारो न भवतिधर्मतामतिपतति । रसाद्यपेभ्यां कवेर्गुणीभूतव्यङ्ग्य-
 व्यङ्ग्योऽपि प्रकारस्वरङ्गतामवलम्बते, इत्युक्तं प्राक् ।

यथा तु वादुपु वेवतास्तुद्विपु वा रसारीनामङ्गलया व्यपरधाने, हृदयवतीपु च 'सप्त
 शकगायामु कासुविद् भवङ्गवनिशिष्टवाच्ये' प्राधान्य तदपि गुणीभूतव्यङ्ग्यवत्त्वं
 व्यन्द्भूतत्वमेवेत्युक्तं प्राक् ।

तदेवमिदानीन्तनकविचाव्यनबोपदेशे द्विषमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां पदि
 परं चित्रण व्यवहारः । प्राप्तपरिष्करीनास्तु ध्वनिरेव काव्यमिति क्वितमेतत् ।

इसलिय पूर्ण रूपसे रसमें तत्पर कविकी ऐसी कई वस्तु नहीं हो सकती है
 जो उसकी इच्छासे उसके भविष्यत रसका अङ्ग न बन जाय भयथा इस प्रकार
 [रसाङ्गता] उपनिषद होकर वादत्वातिशयको पोषित न करे । यह सब कुछ, महा
 कवियोंके काव्योंमें दृष्टिगोचर होता है । हमने भी अपने काव्यप्रसङ्गों [विषयमहाण
 टीका] 'अर्जुनचरित' और 'वेबीशतक' आदिमें उचित रूपसे दिखलाया है । इस प्रकार
 [सप्त पद्याद्यं रसके साथ सम्बन्ध] स्थित हो जानेपर [सर्व एव] कोर भी काव्य
 प्रकार ध्वनिरूपताका अतिप्रमण नहीं करता । कविको रसादिकी अपेक्षा ज्ञानपर
 गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप में ही रस [ध्वनि] का अङ्ग बन जाता है यह पहिले कह चुके हैं ।

अब राजा भादिकी स्तुतियाँ [यादु सुशामद राजादिकी स्तुति] अथवा सब
 ठाओंकी स्तुतियोंमें रसादिकी अङ्गरूपमें [भावरूपस] स्थिति हो, और [प्रादुत कवियों-
 की गोष्ठीमें 'द्विमलठिया' नामसे प्रसिद्ध विशय प्रधरकी] हृदयवती [नामक] सहाय्यो
 [सप्रसङ्गा सहाय्या उरुपन्ते इति खोवनम्] की किन्हीं गायामोंमें व्यङ्ग्यवपिशिष्ट
 काव्यमें प्राधान्य हो तब भी गुणीभूतव्यङ्ग्य, ध्वनिकी विशेष प्रारारूप ही होता है
 यह बात पहिले कह भाये हैं [धीधितिकारणं स्वप्रसङ्गकी अगह पदमङ्गक पाठ मात्रा
 है—धमार्यकाममोक्षेषु साकतस्वार्थंयारपि । पदसु प्रयासित यस्योर्ध्वं पटप्रम इति
 संसृतः ॥ इति चित्रणव्यङ्ग्ये] ।

इस प्रकार [ध्वनिके ही प्रधान होनेपर] भाषुनिक कवियोंके द्विष काव्यनीतिकर
 उपदेश [विशेष] करनेमें [स्थिति इस प्रकार है कि] केवल अभ्यासार्थी मले ही 'चित्र
 काव्य'का व्यवहार कर में परन्तु परिपक्व [सिद्धरस] कवियोंके सिध तो ध्वनि ही
 [एकमात्र] काव्य है यह निश्च हो गया ।

१ इत्युक्तं नि में नहीं है ।
 २ पदवहादिगायामु नि पद प्रसङ्गदिगायामु ही ।
 ३ व्यङ्ग्यवपिशिष्टवाच्यत्वं नि ही ।

तद्यमत्र संमहः—

यस्मिन् रसे वा भावो वा तात्पर्यं प्रकाशते ।

संभूत्याभिहितं बस्तु यत्राच्छङ्कार एव वा ॥

काव्याप्यनि ध्वनिर्भङ्गयाप्राधान्यैकनिबन्धनः ।

सर्वत्र तत्र विषयी श्लेषः सहस्यैर्जनेः ॥४३॥

सगुणीभूतव्यङ्ग्ये सालङ्कारैः सह प्रभेदै स्वै ।

सङ्करसंसृष्टिभ्या पुनरप्युद्योतते बहुधा ॥४४॥

तस्य च ध्वनेः स्वप्रभेदैः, गुणीभूतव्यङ्ग्येन, बाध्याच्छङ्कारेण सङ्करसंसृष्टिभ्य
वस्वायां क्रियमाणायां बहुप्रभेदेषा छन्द्ये दृश्यते । तथाहि स्वप्रभेदसङ्कीर्णः, स्वप्रभेद
संसृष्टो, गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णः, गुणीभूतव्यङ्ग्यसंसृष्टो, बाध्याच्छङ्कारान्तरसङ्कीर्णः,
बाध्याच्छङ्कारान्तरसंसृष्टः, संसृष्टाच्छङ्कारसङ्कीर्णः, संसृष्टाच्छङ्कार संसृष्टप्रभेदि बहुधा ध्वनिः
प्रकाशते ।

इसष्टिण इस विषयमें यह सापंचा [संमह] हुआ—

अथवा जिसमें गोच्यमान रूपसे इस अथवा माय तात्पर्य [प्रधान] रूपसे प्रकाशित हों
अथवा अलङ्कार प्रकाशित हों उन सबमें केवल ध्वन्यवने प्राधान्यके कारण सहस्यैर्जन,
ध्वनिको [विषयी] तीनों प्रकारकी ध्वनि जिसका विषय है वेसा अथवा] प्रधान
सममें ॥४३॥

सङ्कर तथा संसृष्टि

अलङ्कारों सहित गुणीभूतव्यङ्ग्योंके साथ और अपने भेदोंके साथ सङ्कर
तथा संसृष्टि [ध्वनि] फिर अनेक प्रकारका प्रकाशित होता है ॥४४॥

उस ध्वनिके अपने भेदोंके साथ गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ और बाध्याच्छङ्कारोंके
साथ सङ्कर और संसृष्टि [वां या अधिक भेदोंकी परम्परान्तरपक्ष स्वतन्त्र रूपसे एक
जगह स्थितिको संसृष्टि कहते हैं । और अज्ञातिभाव भादि रूपमें स्थिति होनेपर सङ्कर
होता है । सङ्करके 'अज्ञातिभावसङ्कर' 'एकाग्रयानुप्रवेदसङ्कर' और 'सम्बेदसङ्कर
ये तीन भेद होते हैं] की व्यवस्था करकेपर सङ्कर [काम्यो] में बहुत भेद विचार करते
हैं । इस प्रकार— १. अपने भेदों [ध्वनिके मुख्य भेदों]के साथ सङ्कीर्ण [विषय सङ्कर
सङ्कीर्ण ४ गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ संसृष्ट, ५. पाठ्य अन्य अलङ्कारोंके साथ सङ्कीर्ण
सङ्कीर्ण ४ गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ संसृष्ट, ७ संसृष्ट अलङ्कारोंके साथ सङ्कीर्ण ८ संसृष्ट
अलङ्कारोंके साथ संसृष्ट इस रूपमें बहुत प्रकारका ध्वनि प्रकाशित होता है ।

१ संभूत्याभिहितो वा नि ।

२ ध्वन्यवने प्राधान्यैकनिबन्धनः भी ही ।

लोचनकारके अनुसार ध्वनिके ३५ भेदोंकी गणना

लोचनकारने द्वितीय उपाठकी ११ वीं कारिका तथा तृतीय उपाठकी इस संवालीखी कारिकाकी व्याख्या करते हुए दो जगह ध्वनिने प्रमेदोंकी गणना की है। पहिली जगह 'एवं ध्वने प्रमेदान् प्रतिपाद्य' इस मूल प्रम्वकी व्याख्या करते हुए ध्वनिने पैलीस भेदोंकी गणना 'य प्रकार की है—

“अविभक्तित्वाच्चो विभक्तित्वाच्चपरवाच्येति द्वौ मूलभेदौ । आद्यस्य द्वौ भेदो आत्मन्तरिरुत्तरसत्त्वस्मिन्नवाच्यम् । द्वितीयस्य द्वौ भेदो, आत्मन्तरिभेदोऽनुरक्तत्वाच्च । प्रथमोऽनन्तरभेद द्वितीयो द्विविध इन्द्रियचिन्मन्त्रेण च चिन्मन्त्रेण । परिचयमात्रविधौ कविप्रौढोक्तिरुत्तरिण कविनिबद्ध कस्तुमौढोक्तिरुत्तरिण स्वतन्त्रम्भवी च । ते च प्रायेण भव्यपद्मप्रकाशकमेदनवेन अनुप्रेति हादद्य विधाऽन्यथाचिन्मन्त्रेण । आद्याभावादेव भेदा इति योऽद्य मुप्यभेदा । ते च पदवाच्यप्रकाशत्वेन प्रायेण द्विविधा बन्धते । अत्रपरमस्य तु पदपरवाच्यसत्त्वद्वयनाप्रकाशप्रकाशत्वेन पञ्चविधम् भेदा ।’

अर्थात् ध्वनिके अविभक्तित्वाच्च [स्वप्नामूल] और विभक्तित्वाच्चपरवाच्य [अभिधामूल] ये दो मूल भेद हैं। उनमेंसे प्रथम अर्थात् अविभक्तित्वाच्चके अन्तरसत्त्वस्मिन्नवाच्य और अत्यन्त तिरस्कृतवाच्य ये दो भेद होते हैं। द्वितीय अर्थात् विभक्तित्वाच्चपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके अंतर्परमम्यपद्म ये दो भेद होते हैं। इनमेंसे प्रथम अत्यन्तम्यपद्म [रसादिध्वनि] के अनन्त भेद हैं। इसलिये यह सब मिटाकर एक ही माना जाता है। दूसरे अर्थात् अंतर्परमम्यपद्म ध्वनिके स्वतन्त्रम्भवी, कविप्रौढोक्तिरुत्तर तथा कविनिबद्धकस्तुमौढोक्तिरुत्तर ये तीन भेद होते हैं। इन तीनोंमेंसे प्रायेण भव्यपद्म और भव्यपद्म दोनोनों उक्तभेद [मलु और अलुत्तर] नीतिसे चार भेद हाकर कुल चार प्रकारका अंतर्परमम्यपद्म ध्वनि होता है। इन चार भेदोंमें पहिले चार भेद अर्थात् अविभक्तित्वाच्चके दो भेद तीसरा अंतर्परमम्यपद्म और चौथा इन्द्रियचिन्मन्त्रेण भेद मिटा देनेसे चार भेद हुए। अंतर्परमम्यपद्म पर और वाक्के अतिरिक्त बंध सत्त्वद्वय तथा प्रथममें भी प्रकारके दो भेद होनेसे उनके तीन भेद और कुलकर ध्वनिके कुल ३५ भेद हो जाते हैं। इनमें जहां 'व्यपद्मप्रकाशको कलमेदनवेन अनुप्रेति' लिखा है, वहाँ कुछ पाठ भ्रष्ट हो गया जान पड़ता है।

काव्यप्रकाशकृत ५१ ध्वनिभेद

जहाँ लोचनकारने ध्वनिके कुल ३५ भेद माने हैं, वहाँ 'काव्यप्रकाश'ने ५१ ध्वन भेदोंकी गणना की है। उनकी गणनाकी शैली इस प्रकार है—

- अविभक्तित्वाच्या वस्तुय वाच्यं मवेत् ध्वनी ।
- अर्थान्तरे तत्रस्मितमयन्तं वा तिरस्कृतम् ॥ २४ ॥
- विभक्तित्वाच्चपरं वाच्यं पथापरलु च ।
- कोऽन्यत्परमम्यपद्मयो लस्यपद्मप्रमः परः ॥ २५ ॥
- रत्नभाषतदाभासमाव्यास्यार्तिरुत्तरः ।
- विधा रसाद्युत्तराद्युत्तरार्थनया मितः ॥ २६ ॥
-
-
- अनुमानाभर्तव्यप्रमापद्मपत्तिरुत्तरं य ॥ ३७ ॥

धर्म्यार्षोमयधर्म्युत्पन्निषा स कथितो षनिः ।
 अथगुरो-य बस्येष धर्म्याद्यथावमासते ॥ ३८ ॥
 प्रधानत्वेन स श्रेयः धर्म्यधर्म्युत्पन्नो विद्या ।
 अर्षधर्म्युत्पन्नो-प्यर्षो म्युत्पन्नः धर्म्यधी स्वतः ॥ ३९ ॥
 प्रौढिधर्माधर्म्युत्पन्नो वा कथंतेनोन्मितरत्न वा ।
 यस्तु बामदृष्टिर्नैति पदभेदोऽथो ष्यनक्ति यत् ॥ ४० ॥
 यस्तु कश्चिदमप्या तन्नातं द्वाप्यारामक ।
 धर्म्यार्षोमयभूते, मेदा अद्यादशास्य तत् ॥ ४१ ॥
 रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एका हि गण्यते ।

अथान् अविवक्षितवाच्यं अथान्तरसदृक्मितवाच्य तथा अत्यन्तविरक्तवाच्य ने दो भेद
 और विवक्षितान्तरवाच्यं धर्म्यधर्म्युत्पन्नके यस्तु अन्तर्द्वाररूप दो भेद अथवाधर्म्युत्पन्नके बारह भेद
 उमयधर्म्युत्पन्नका एक भेद और अतंसकस्यकस्यक एक भेद, इत प्रकार विवक्षितान्तरवाच्यके
 $१ + १२ + १ + १ = १५$ तथा अविवक्षितवाच्यके दो कुल मिलाकर अठारह भेद हुए ।
 बान्ने र्मुत्पन्नाः पदेऽप्यन्ने प्रबन्ध-पञ्चधर्म्युत्पन्ने ॥ ४२ ॥
 परैकैधरचनाबन्धेषु रसादकाः ॥ ४३ ॥
 मेवात्मकेषुपञ्चाधरु ॥ ४४ ॥

अर्थात् ऊपर जो १८ भेद दिल्गये थे उनमेंसे उमयधर्म्युत्पन्न भेद केवल परम होनेसे एक
 और शेष सब भेद पद तथा वाक्यमें होनेसे १४ और अर्षधर्म्युत्पन्नके बारह भेद प्रबन्धगत भी
 होनेसे बारह और मिलाकर $१ + १४ + १२ = ४०$ और रसादि अतंसकस्यकस्यक १ परैकबोध २
 रचना ३ बर्ण, तथा अग्नि धर्म्यके ४ प्रबन्धगत चार भेद और मिलाकर $४० + ४ = ४४$ भेद होते
 हैं । धारित्यदर्पणादिमें भी यही ५१ भेद प्रकाशन्तरसे दिल्गये हैं । 'धारित्यदर्पण'के भेदोंका यह
 प्रकार हम इत उद्योतके प्रारम्भमें दिल्गया चुके हैं ।

'लोचन' तथा 'काम्यप्रकाश'के भेदोंकी तुलना

ऊपर दिये हुए विवरणके अनुसार 'लोचन'में षनिके छह १५ भेद दिल्गये हैं और
 'काम्यप्रकाश तथा 'धारित्यदर्पण' आदिमें उनके स्थानपर ५१ भेद दिल्गये गये हैं । इत प्रकार
 'लोचन' तथा 'काम्यप्रकाश आदिके भेदोंमें १६ भेदोंका अन्तर है । अर्थात् 'काम्यप्रकाश आदिमें
 'लोचन से सोलह भेद अधिक दिल्गये गये हैं । यह सोलहों भेदोंका अन्तर विवक्षितान्तरवाच्य अर्थात्
 अविषयमूल षनिके भेदोंमें ही हुआ है जिनमें मुख्य भेद तो अथवाधर्म्युत्पन्न षनिके भेदोंमें है ।
 लोचनकारने अर्षधर्म्युत्पन्न षनिके बारह भेद दिल्गयाकर फिर उनके पद और वाक्यगत भेद
 दिल्गये हैं । हम प्रकार अथवाधर्म्युत्पन्न षनिके २४ भेद ही बताते हैं । काम्यप्रकाशकारने पद
 और वाक्यके अतिरिक्त प्रबन्धमें भी अथवाधर्म्युत्पन्नके बारह भेद माने हैं आ लोचनकारने नहीं
 दिल्गये । इत प्रकार लोचन'के मतमें अथवाधर्म्युत्पन्नके २४ भेद और 'काम्यप्रकाशके अनुसार ३६
 भेद होते हैं । अर्थात् बारह भेदोंका अन्तर तो इसमें है । इसके अतिरिक्त धर्म्यधर्म्युत्पन्न षनिके
 लोचनकारने केवल पदगत तथा वाक्यगत ये दो भेद किये हैं यस्तु और अन्तर्द्वारके भेदगत भेद
 नहीं किये हैं । काम्यप्रकाश'में धर्म्यधर्म्युत्पन्नके यस्तु और अन्तर्द्वारम्यहयक भेदसे दो भेद करके फिर
 उनके पदगत तथा वाक्यगत भेद किये गये हैं । अतः 'काम्यप्रकाश'में धर्म्यधर्म्युत्पन्नके बार भेद होते

हैं और बीचमें बरक दो भेद । अतः दो भेदोंका अन्तर नहीं आया है । इसके अतिरिक्त 'लोचन'में उम्भराकस्तुतय नामका छोटा भेद परिगणित नहीं किया है । 'काम्यप्रकाश'में उम्भराकस्तुतयको भी एक भेद माना गया है । इसलिये 'काम्यप्रकाश'में एक भेद बढ़ बढ़ आता है । इस प्रकार उम्भराकस्तुतय-में बलु तथा अङ्गुलरके दो भेद, अर्धघकस्तुतयमें प्रकण्ठत बारह भेद, और उम्भराकस्तुतयका एक भेद बढ़ सब मिळकर १५ भेद दो संतुष्टप्रमत्तज्ञपके अन्तर्गत 'काम्यप्रकाश'में अधिक दिसवाये हैं और सोच्छरों भेद असंख्यप्रमत्तकी गणनामें अधिक है । असंख्यप्रमत्तज्ञप रसाधिष्णिका कैसे हो 'लोचन' तथा 'काम्यप्रकाश' दोनों बगैर एक ही भेद माना है परन्तु 'सचन'में उस असंख्य प्रमत्तज्ञपके १ पद, २ वाक्य, ३. वर्ष ४ सङ्ख्या तथा ५ प्रत्ययों स्वज्ञप होनेसे पाँच भेद माने हैं । 'काम्यप्रकाश'में इन पाँचोंके अतिरिक्त परिकरेण अयात् प्रकृति प्रत्ययारिगत एक भेद और माना है । अतः 'काम्यप्रकाश'में असंख्यप्रमत्तज्ञपके भेदोंमें भी एक भेद अधिक होनेसे 'लोचन'की अपेक्षा कुछ खेम्ब भेद अधिक हो जाते हैं । इसलिये यहाँ 'लोचन'में पानिके छद्म ३५ भेद दिसवाने हैं, यहाँ 'काम्यप्रकाश'में पानिके छद्म ५१ भेद दिसवाये गये हैं ।

संसृष्टि तथा सङ्करभेदसे लोचनकारकी गणना

न केवल इन छद्म भेदोंकी गणनामें ही बढ़ अन्तर पाया जाता है अपितु इन छद्म भेदोंका संसृष्टि तथा सङ्करभेदसे अब भागो विलार किया जाता है तो उक्त विलारमें भी साहित्यशास्त्र के विविध प्रश्नोंमें अत्यन्त मूल्यपूर्ण भेद पाया जाता है । लोचनकारने गुणीभूतप्रमत्तज्ञप, अङ्गुलर तथा पानिके अपने भेदोंके साथ संसृष्टि तथा सङ्करसे पानिके ७४२० भेद दिसवाने हैं । काम्यप्रकाशकारने केवल पानिके इत्यावन छद्म भेदोंकी संसृष्टि तथा सङ्करसे १४०४ और उनमें ५१ छद्म भेदोंको जोड़कर १४५५ भेद दिसवाये हैं । और साहित्यदर्पणकारने सङ्कर तथा संसृष्टिगत ५३ ४ तथा ५१ छद्म भेदोंको जोड़कर ५३५५ भेद दिसवाने हैं ।

पूर्वै वै पञ्चविंशदोऽवकाशे गुणीभूतप्रमत्तज्ञपस्यापि अन्तम्या । स्वप्रभेदास्तानन्त । अङ्गुलर इत्येकप्रभेदः । तत्र सङ्करवैव संसृष्ट्या च गुणने हे छत्ते सङ्करवैवधिके [२८४] । तावता पञ्चविंशतो मुद्रभेदानां गुणने सप्त सहस्राणि चास्यापि अत्रानि विंशत्यधिकानि [७४२०] मनन्ति ।

—लोचन उद्योत ३, अ ४३

भेदास्तदेकपञ्चाशत् तेषां चान्योन्यसंज्ञने ।

सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ॥

वेदान्तव्यवस्थित्या [१०४०४], छन्दोगुणोत्पत्त्या [१४५५] ।

—काम्यप्रकाश, अनुसूचित, अ. १२, १५

सदेकमेकपञ्चाशद्रेहास्तम्य पानमता ।

सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ॥

वेदान्तव्यवस्थित्या [५३ ४], छन्दोगुणोत्पत्त्यापिनायकाः [५३५५] ।

—साहित्यदर्पण, अणु पर्यट्टे, १३

इन तीनोंमें वरपि लोचनकार सबसे अधिक प्राचीन और सबस अधिक प्रामाणिक हैं परन्तु इन विषयमें उनकी गणना करने अधिक विन्म है । उन्होंने पानिके छद्म ३५ भेद, उठान ही [३५ ही] गुणीभूतप्रमत्तज्ञपके, और अङ्गुलरोंका मिळकर एक भेद, इस प्रकार कुल ७१ भेदोंकी संसृष्टि तथा सङ्कर दिगाननेसे लिये ७१ को पारसे गुणकर ७१ × ४ = २८४ भेद किये । और उनकी विर

इयं पौंठ मेरौते गुणाकर २८४ × १५ = ४२२ मेद दिसव्याने हैं। इवमें सबसे बड़ी भुटि दो न
दिसवार् ईटी है कि २८४ और १५ का गुना करनेसे गुणनघक ९९४ होता है परन्तु ध्वेचनकार
उवके स्थानपर केवल ४२२ किल रहे हैं। यह गणनाकी प्रसन्न दिसवार् देनेवाली भुटि है। इवके
भक्तिरिक्त और नी शिरोप बाव "य प्रसंगमें चिन्तनीय है।

'लोचन'की एक और चिन्त्य गणना

लोचनकारने 'पूर्व' ने पञ्चत्रिंशद्मेदा उक्तास्ते गुणीभूतम्बह्वपस्थापि मन्तव्या ।^१ दिसवकर भित्ते
ज्मिके मेर होते हैं उवने ही गुणीभूतम्बह्वपके मी मेर माने हैं। परन्तु काम्यप्रकाशकारने इव विपन
का प्रविपादन कुछ भिन्न प्रकारसे किया है। वे लिखते हैं—
एषां मेदा यथायोगं बेरितव्याम् पूर्ववत् ।

यथायोगमिति—

ध्वन्यास्ते बलुमात्रेण बलात्कृतवपस्था ।
सुर्वं ध्वपह्वया तासां काम्यह्वयेऽसदाभाषात् ॥ [अ २, १९]

इति ध्वनिकारोक्तविधा बलुमात्रेण बलात्कृतो ध्वन्यते न तत्र गुणीभूत म्बह्वपस्यम् ।

तथा हि स्वतःसम्भक्तियौद्योतिविसिद्धकनिनिकद्वयकतुपौद्योतिविसिद्धबलुम्बह्वपाकृतारण्यं ।
परबाक्यप्रम पगतत्वेन बलुम्बह्वपाकृतारण्ये नवविकल्पमिति ध्वनिप्रमेदसंभवेकपञ्चाशत्तो नवन्मूलेन
[५१ - ९ = ४२] अयनां मेदानां प्रत्येकं द्विचत्वारिंशत् [४२] विकल्पमिति सिद्धित्वा ४२ × ८ = ३३६ ।

—अ म ५ ४६

इसके अनुसार काम्यप्रकाशकारने ध्वनिके सर्वशक्तुद्रव मेदके अन्तगत बलुवे बह्वह्वर
ध्वह्वपके स्वतःसम्भवी, कियौद्योतिविसिद्ध, तथा कनिनिकद्वयकतुपौद्योतिविसिद्ध ने तीन मेद और उनमेंसे
प्रत्येकके पद बाक्य तथा प्रसपागत होनेसे ३ × १ = ९ बलुवे बह्वह्वरध्वह्वपके कुल नौ मेर
दिसव्याने थे। इन ती प्रकारोंमें केवल ध्वनि ही होता है गुणीभूतध्वह्वप नहीं बैसा कि ध्वन्याश्लेषकी
ऊपर उद्भूत कारिकासे सिद्ध हावा है। अतः ध्वनिके ५१ मेदोंमेंसे इन नौको कम करके
५१ - ९ = ४२ मेर होते हैं। इत्यस्मि कुल भिन्नाकर ४२ × ८ = ३३६ गुणीभूतध्वह्वपके इन्द्र मेर
होते हैं। यह काम्यप्रकाशकारका भाष्य है।

—काम्यप्रकाशटीका

इसका भूमिप्राय यह हुआ कि काम्यप्रकाशकारने 'ध्वन्याश्लेष'की ऊपर उद्भूत की हुई
[२ १९] कारिकाके आभासरर बलुवे बह्वह्वरध्वह्वपके ती मेदोंको कम करके गुणीभूतध्वह्वपके मेर
माने हैं। वहीँकि बरों बलुवे बह्वह्वरध्वह्वपके ती मेदोंको कम करके गुणीभूतध्वह्वपके मेर
सुर्वं ध्वपह्वया ध्वनि ही होता है गुणीभूतध्वह्वप नहीं। ध्वेचनकारने इत और ध्वान नहीं किया है।
न केवल इत गणनामें अणित बलु तथा बह्वह्वरध्वह्वपके मेदते गणना करनेका ध्वान मी उनको
नहीं रहा है। इत्यस्मि सर्वशक्तुद्रवके जो बाहर मे' उन्हींने दिसव्याने हैं उवमें मी भुटि रह गयी
है। तमपरासमुद्रवको मी ध्वेचनकार छोड़ गये हैं यह सब विम्वर है।

'काम्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण'की गणना

कैना पि ऊपर दिसव्याना का कुछा है 'काम्यप्रकाश' तथा 'साहित्यरपण' दोनोंमें ध्वनिके
घट ५१ मेद माने गये हैं। परन्तु इनकी संसुधि और उद्भवप्रमितात जो मेदसंख्या दोनों प्राचीन

निष्पत्ती यही है उसमें दोनों प्रयोगों बहुत भेद है। 'काव्यप्रकाश'में संयुक्तद्वारकृत भेदोंकी संख्या १०४ ४ तथा 'साहित्यदर्पण'में ६१ ८ संख्या की गयी है। इस संख्याभेदका कारण बलुत गणना शैलियोंका भेद है। 'साहित्यदर्पण'में 'सङ्कलनप्रक्रिया'से और 'काव्यप्रकाश'में 'गुणनप्रक्रिया'से भेदोंकी गणना की है। इलेभिए इन दोनोंमें संख्याका इतना भेद आता है।

'काव्यप्रकाश'की गुणनप्रक्रिया

इसका अभिप्राय यह है कि जिनके ५१ भेदोंका एक दूसरेके साथ मिश्रण करनेसे प्रत्येक भेदका एक अन्तः सञ्जातीय और पचास विजातीय भेदोंके साथ मिश्रण हो सकता है। उदाहरणके लिए अद्यान्तरसङ्कलितभाष्यजिनके उसी उदाहरणमें दूसरे अद्यान्तरसंज्ञितभाष्यजिनकी भी निरपेक्षता स्थिति हो सकती है। उस दृष्टांत 'मिथ्येऽन्येभ्यस्तथैवा स्थितिः संसृष्टिर्भवते। एक उदाहरणमें दो अथवा अद्यान्तरसङ्कलितभाष्यजिनके एकसे उनकी संसृष्टि हो सकती है। वह ता सञ्जातीय भेदके साथ संसृष्टि हुई। इसी प्रकार उठकी पचास अन्य भेदोंके साथ भी संसृष्टि होगी, वह विजातीय भेदोंसे संसृष्टि करल्यगी। इस प्रकार एक भेदके संसृष्टिजन्य इकायन भेद हो सकते हैं।

जिनके छह इकायन भेदोंमेंसे प्रत्येकके से इकायन भेद हो सकते हैं। परन्तु उन संख्या योग क्या होगा। इस प्रश्नपर अब विचार करते हैं वह वहाँ सङ्कलन और गुणनकी प्रक्रियाओंका भेद उल्लिखित होता है। साधारणतः इकायन भेदोंमेंसे प्रत्येकके इकायन भेद होते हैं इसलिए इकायनको इकायनसे गुणा कर देनेपर $५१ \times ५१ = २६१$ भेद संसृष्टिजन्य हो सकते हैं। वह परिणाम 'गुणनप्रक्रिया'से निकल सकता है। इसीको यहाँ हमने 'गुणनप्रक्रिया' कहा है। इस संसृष्टि अतिरिक्त १ अद्यान्तरसङ्कलन, २ सन्देहद्वार और ३ पञ्चाभयानुपबन्धद्वार यह तीन प्रकारका सङ्ग भी हो सकता है। इसलिए हमसे सिधुने अर्थात् $२६०१ \times ३ = ७८०३$ सङ्कलन भेद हो सकते हैं। संसृष्टि तथा सङ्कलन इन कुल भेदोंको जोड़ देनेसे $२६१ + ७८०३ = ८०६४$ भेद होते हैं। यही संख्या 'काव्यप्रकाश'में जिनभेदोंकी सी है। इसमें ५१ छन्द भेदोंको और जोड़ देनेसे ८०६५ भेद काव्यप्रकाशमें अनुसारा हो जाते हैं। इस प्रक्रियामें संसृष्टि भेद मात्तव्य करनेके लिये इकायन इकायनका गुणन किया गया है इसलिए हमने इस प्रक्रियाको 'गुणनप्रक्रिया' कहा है और 'काव्यप्रकाश'में इस गुणनप्रक्रियाको ही यहाँ अपनाया है।

'काव्यप्रकाश'में अन्यत्र सङ्कलनप्रक्रिया

यहाँ जिनभेदोंकी गणनामें काव्यप्रकाशकारने 'गुणनप्रक्रिया'का अवलम्बन किया है। परन्तु 'काव्यप्रकाश'के दशम उल्लेखमें विशेषज्ञद्वारक प्रकरणमें उन्होंने इससे भिन्न प्रक्रियाका अवलम्बन किया है।

जातिरचगुमिआत्पार्थिविददा स्वाद्गुणभिन्नि ।

द्विषा हान्यामर्षा इत्ये इत्येनेवति से दश ॥

इसका अभिप्राय यह है कि १ जाति ९ गुण ३ द्विषा भार ४ इत्ये इन चारोंका परस्पर विशेषजनन करनेपर निरुपबन्धकार होया है और उनका दश भेद होते हैं। साधारणतः जातिका जाति आदि चारोंके साथ विशेष हो सकता है। इसलिए उनसे विशेषक चार भेद हुए, एक सञ्जातीयके साथ और तीन विजातीयोंके साथ। इसी प्रकार गुणका भी एक सञ्जातीय और तीन विजातीयोंके साथ विशेष होकर चार भेद हो सकते हैं। इसी प्रकार द्विषा और इत्येके भी चार-चार

भेद हो सकते हैं। इसलिये यदि प्निस्सम्भाषी 'गुणप्रक्रिया' का अवलम्बन किया जाय तो यहाँ भी पार और चारका गुणा करके विरोधके दोष भेद होने चाहिये। परन्तु काम्यप्रकाशकारने यहाँ केवल इस भेद माने हैं। और उनका परिगणन इस प्रकार किया है कि यद्यपि पारोंके पार-पार भेद ही होते हैं परन्तु जातिका गुणके साथ जो विरोध है उसकी गणना अतिविरोधवाले पार भेदोंमें आ चुकी है। इसलिये गुणके जातिके साथ भेदकी गणनामें विद्यमान उस भेदको सषका हिसाब करते समझ कर देना चाहिये। अन्यथा वह एक भेद हो जाय वह कुछ जानेसे संख्या ठीक नहीं रखी। इसलिये जातिके विरोधके पार भेद होंगे परन्तु गुणके विरोधमें तीन ही भेद रह जायेंगे। क्योंकि एक भेदकी गणना पहिले आ चुकी है। इसी प्रकार क्रियाविरोधके भेदोंमें एक और कम होकर दो और द्रव्यके विरोधके भेदोंमें क्रमशः एक और कम होकर केवल एक ही भेद गणनायोग्य रह जायगा। इसलिये विरोधकी कुछ सषा जाननके लिये पार और चारका गुणा नहीं करना चाहिये अपितु एकसे लेकर चारतककी संख्याओंको जोड़ना चाहिये। क्योंकि जातिके ४, गुणके ३ क्रियाके २ और द्रव्यका १ भेद ही गणनामें सम्मिलित होने योग्य रह जाता है। अतएव एकसे लेकर चारतक जोड़ देनेसे विरोधके १ भेद होते हैं। इस प्रकार विरोध अष्टकारके इस भेद होते हैं। इस प्रक्रियामें एकसे लेकर चारतकका सङ्कलन वा जोड़ किया गया है। इसलिये इस प्रकारको हमने 'सङ्कलन प्रक्रिया' कहा है।

'साहित्यदर्पण'की सङ्कलनप्रक्रियाकी शैली

साहित्यदर्पणकारने प्निस्समेदोंकी गणनामें इसी सङ्कलनप्रक्रियावाली शैलीका अवलम्बन किया है। प्निस्सके छह भेद तो 'काम्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' दोनोंमें एकसाधन ही माने गये हैं। परन्तु उनके संसृष्टि तथा सङ्करदृष्ट भेदोंकी संख्यामें बहुत अधिक अन्तर हो गया है। इसका कारण भी गुणन तथा सङ्कलनप्रक्रियावाली शैलीको भेद है। काम्यप्रकाशकारने विरोधाङ्कारके स्वतन्त्र त्रिध शैलीका अवलम्बन किया है साहित्यदर्पणकारने प्निस्समेदोंकी गणनामें उसी शैलीका अवलम्बन किया है। इस प्रक्रियाके अनुसार प्निस्सके प्रथम भेदकी एक सष्यतीय और पचास विष्यतीय भेदोंके साथ मिला एकनेसे ५१ प्रकारकी संसृष्टि होगी। इसी प्रकार दूसरे भेदकी भी ५१ प्रकारकी संसृष्टि होगी। परन्तु उनमेंसे एककी गणना पहिले भेदके साथ हो चुकी है इसलिये दूसरे भेदकी केवल ५० प्रकारकी संसृष्टि परिगणनीय रह जायगी। इसी प्रकार तीसरे भेदकी ४९, चौथे भेदकी ४८, इत्यादि क्रमसे एक-एक पट्टे-पट्टे अन्तिम भेदकी केवल एक प्रकारकी संसृष्टि गणनायोग्य रह जायगी। इसलिये संसृष्टिक कुल भेदोंकी संख्या जाननके लिये एकसाधनको एकसाधनसे गुणा न करके एकसे लेकर एकसाधनतककी संख्याओंको जोड़ना उचित है। साहित्यदर्पणकारने एकसे एकसाधनकी संख्याओंको जोड़कर ही १३२६ प्रकारकी संसृष्टि और उससे तिगुने १३२६ × ३ = ३ ७८ सङ्कर भेदोंको जोड़कर वह १३२६ + ३९०८ = ५३ ४ संख्या निकाली है। इसलिये 'साहित्यदर्पण'की शैलीको हमने सङ्कलनप्रक्रियाकी शैली कहा है।

सङ्कलनकी लघु प्रक्रिया

सङ्कलनप्रक्रियाके अनुसार एकसे लेकर एकसाधनतककी संख्याओंके जोड़नेके लिये गणित शास्त्रकी प्राचीन संस्कृत पुस्तक 'बीजावली'में एक विरोध प्रकार दिया है—

एकमे शान्तिना स्यात्प्य एकमेकाधिकं कुद ।

समर्थेनासमो गुण्य एतन्मूलितं लघु ॥

तत्र स्वप्रमेदसङ्कीर्णत्वं क्वाचित्तुमाद्यानुमाहकमावेन, यथा, 'पूर्ववादिनि देवर्षौ' इत्यादौ । अत्र सर्वसक्त्युद्भवानुरूपनरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रमेवेनासक्त्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिप्रमेवोऽनुगृह्यमाणः प्रतीयते ।

एवं क्वाचित्प्रमेदसक्त्यसम्पादसन्धेरेन यथा—

क्षणपाहुमिथा देवर एसा आभाए किपि ते भणिया ।

रुभइ पडोहरवळहीभरुमि अणुपिम्वठ वराइ ॥

[क्षणपाहुमिथा देवर एसा आयया किमपि ते भणिया ।

रोदिति शून्यवल्मीगुहेऽनुनीयता वराकी ॥इतिच्छया]

अत्र अनुनीयतामिच्छेत् पदमर्याद्वरसङ्कमितवाच्यत्वेन विवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन च सम्पाद्यते । न चान्यतरपक्षनिर्णये प्रमाणमस्ति ।

गुणा कर $५१ \times ५१ = २६१$ संसृष्टिके तथा उससे विगुने $२६१ \times १ = ७८$ ३ छद्ममेवोको मिश्रकर $२६१ + ७८ = ३४९$ संसृष्टिद्वारकत मेव जाने हैं ।

टीकाकारोंने 'काम्यप्रकाश'की गुणनप्रक्रियाके समथनके लिये यह एक प्रकार दिखलाया है । उससे पहोंकी गुणनप्रक्रियावाली बीबीका समथन तो कर्पाङ्गु हो जाता है । फलतु विशेषाच्छद्मरवासे सम्भमें भी इही प्रकारका वैचल्य क्यों नहीं माना इतका कोई विनिगमक हेतु नहीं दिया है । इसलिये मूल शब्दाका निवारण नहीं हो पाता है ।

उजमेंसे अपन मेवोंके साथ सद्गुर [तीन प्रकारसे होता है जिसमें पहिछा प्रकार] कमी अनुप्राह-अनुप्राहकमावसे [होता है] जैसे 'पूर्ववादिनि देवर्षौ' [पृष्ठ १३२] इत्यादिमें । यहाँ अर्थशक्त्युद्भव 'संज्ञक्यक्रमव्यङ्ग्य' [छग्गा अथवा अयहित्पा] मेवसे असंज्ञक्यक्रमव्यङ्ग्य [अभिछापहेतुक विप्रलम्भगृह्यार] अनुगृह्यमाण [पोष्यमाण] प्रतीत होता है । [छग्गा यहाँ व्यभिचारिभावरूपसे प्रतीत हो रही है इसलिये भाव रूप न होनेसे संज्ञक्यक्रमव्यङ्ग्य है । और यह अभिछापहेतुक विप्रलम्भगृह्यारको पोषण कर रही है । इस प्रकार यहाँ अज्ञातिभावसद्गुर है ।]

कमी वा मेवोंके आ आनेसे सन्धेदस [सन्धेदसद्गुर हो जाता है] जैसे—

ह इयट, तुम्हारी परतीने [क्षण] उरसवळी पाहुनी [अतिथि उत्सपमें आपी हुई] उससे कुछ कह दिया है [जिससे] वह शून्य वल्मीगुहमें रो रही हैं । उस विधारीको मना लेना चाहिये ।

यहाँ 'अनुनीयताम्' यह पद [उपयोगप्रकरणसूचकरूप प्रयाजनम्, तात्पर्यानुप-पत्तिमूलक लक्षणा द्वारा] अर्याद्वरसङ्कमितवाच्य [रूप अयिवक्षितवाच्य, तथा रावन निगृह्यजनक व्यापाररूप अनुगत्य अभिषा द्वारा पाथित ज्ञानस] और यिपक्षिताम्यपर वाच्य [इच्छति दोसों] रूपस सम्भय है । अर [दोनों ही पहोंमें उपमीग व्यङ्ग्य हीनस] किमी पक्षमें निर्णय करनेमें कोई [विनिगमक] प्रमाण नहीं है [अतः यहाँ सन्धेद सद्गुर है] ।

एकव्यङ्गानुप्रवेशेन तु व्यङ्ग्यत्वमस्यक्रमव्यङ्ग्यस्य स्वप्रमेदान्तरापेक्षया बाहु
 ल्येन सम्भवति । यथा 'स्निग्धश्यामल' इत्यादी । स्वप्रमेदसंसुप्तत्वं च यथा पूर्वोदा
 हरण एव । अत्र ह्यान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य च संसर्गः ।
 गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णत्वं यथा 'न्यक्कारो ह्यमेव मे पदरयः' इत्यादौ ।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [रसादिष्वभि] का अपन अन्य प्रमेदोंके साथ [सम्प
 प्रवेशापेक्षया] एकव्यङ्गयानुप्रवेश [रूप सङ्कर] बहुत अधिक हो सकता है [क्योंकि
 वाच्यमें एक ही पदसे अनेक रसादि, मायादिकी अभिव्यक्ति पायी जाती है] । जैसे
 'स्निग्धश्यामल इत्यादिमें [यहाँ स्निग्धश्यामल इत्यादिसे विप्रकृतमण्डकार और
 उसके अभिव्यक्तिमात्र शोकावेग दोनोंकी अभिव्यक्ति होनेसे एकव्यङ्गयानुप्रवेशसङ्कर
 है] । अपने मेरुके साथ संघटि जैसे पूर्वोक्त [स्निग्धश्यामल] उदाहरणमें ही । यहाँ
 [यत्र पदके अत्यन्तबुद्धिसहित्यु रानपरक जानसे] अर्थात्तरसङ्क्रमितवाच्यव्यक्ति
 और [हित तथा सुदृष्ट शब्दसे व्यङ्ग्य] अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यव्यक्ति [तिरपेक्षतया
 स्थितिरूप] संसर्ग [होनेसे संघटि] है ।

इस प्रकार जिनके अपने मेरुके साथ सङ्कर तथा संघटिसे रित्तका चुन्नके बाद अब
 गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ सङ्करके दो उदाहरण देते हैं । इन उदाहरणोंमें हीनो प्रकारके सङ्कर
 का बोध है ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यका [व्यक्तिके साथ] सङ्कर [का उदाहरण] जैसे—'न्यक्कारो
 हायमथ मे' पदरयः इत्यादि [श्लोक] में ।

इस श्लोककी व्याख्या पीछे हो चुकी है । इसके अलग अलग पदोंसे प्रकाशित गुणीभूत
 व्यङ्ग्यका समस्त श्लोकसे प्रकाशित असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य स्वप्निके साथ अज्ञानिमात्रसङ्कर होता है ।
 वहाँ समस्त वाक्यसे प्रकाशित असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादिव्यक्ति कौन-सा है इस विषयमें व्याख्याकारोंमें
 प्रायः तीन प्रकारके मत विद्यमान होते हैं—

१—शेकनकारने इस श्लोककी व्याख्यामें लिखा है—“रसादि मे पदरय इत्यादिभिः सर्वैरेव
 पदार्थैर्विग्रहादिव्यङ्गया रीर एवागुण्यते ।” अर्थात् उनका मतमें रीररत इस श्लोकका प्रधान
 व्यक्ति है ।

२—‘रसादिराशिके टीकाकार उक्तानीप्रधानेन इव श्लोकमें आन्तरिके अभिव्यक्त निर्देशक
 व्यङ्ग्य माना है । उन्होंने लिखा है—“श्लोकको राजय इत्यादिना व्यवधानेन रानौक्यस्य
 रैभ्यनानुभावेन संकल्पित एवावगमनेन निर्वेदात्म्यं भावकस्ये ‘अन्तरकृतव्यङ्गयो व्यक्ति ।’”

ये दोनों मत एक-दूसरेसे विरुद्ध जनि मान रहे हैं ।

३—रीररत नवीन मत यह है कि राजयने शोभ और निर्देश आदिने पोलित राजयका
 गुणोपाद हो जानावदपरवीको प्राप्त होता है । अत रीररत ही इस श्लोकका प्रधान व्यङ्ग्य है ।
 अन्त्याश्लोककारने स्वयं इसको सोचा नहीं है । उन्होंने असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यको वाक्यार्थभूत
 मानकर अत्र पर्यवधि वाच्यव्यक्त अभिव्यक्त शोभन करनेवाले पदोंसे श्लोक, गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ
 सङ्कर विरामा दिया है । परन्तु वाक्यार्थभूत असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य, रीर, शीर, अथवा निर्देश कौन का है
 इस विषयपर उन्होंने कोई प्रकाश नहीं दिया है ।

पवा वा—

कर्ता सूच्यच्छ्रानतां अतुमयदारणोदीपनः सोऽमिमानी,
 छुण्णाकेक्षोचरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः ।
 यथा पुःशासनादेगुरुनुब्रूवतस्याङ्गरानस्य मित्रं,
 क्वास्ते दुर्वोधनोऽसौ कथयत न यथा ब्रह्ममभ्यागवौ स्वः ॥

अत्र छलस्वक्रमठयङ्गवस्य वाक्यार्थीभूतस्य ध्वङ्गवविशिष्टवाच्यमिषामिषिः
 पदैः सन्निभता^१ ।

इसी गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ साङ्करक वृत्तय उदाहरण देते हैं । अथवा जैसे—

[‘घेजीसंहार’ नाटकके पञ्चम अङ्कमें कौरवोंका विध्वंस करनेके वाद् मागे हुए
 दुर्वोधनको खोजते हुए मीम और अर्जुनकी यह उक्ति है ।] छुपके छलों [पाण्डवोंका
 राज्यापहरण करनेके छिप छुपके दण्डतापूर्ण छलमपञ्च] का फरनेघाळा, [पाण्डवोंके
 विनाशके छिप धारणावतमें बनवाये हुए] साक्षके घरमें भाग छगानेघाळा प्रीपदीके
 केश और वक्र कीचनेमें घतुर, पाण्डव जिसके दास हैं [अर्थात् पाण्डवोंको अपना
 दास बतलानेघाळा] पुःशासन आदिवा यथा सौ अनुजोंका गुरु [अपनेसे छोटे सप
 कौरवोंका ज्येष्ठ पा पूज्य] अङ्गराज [कर्ण] का मित्र, वह अमिमानी दुर्वोधन कहाँ
 है ? वतलाभा हम [मीम और अर्जुन] क्रोधसे [उसे मारने] नहीं [हम समय तो
 केवल] देखने आये हैं ।

यहाँ [अर्थात् ‘व्यङ्ग्यारो’ और ‘कर्ता सूच्यच्छ्रानता’ इन दोनों श्लोकोंमें]
 धाक्यार्थीभूत [समस्त दसोकसे प्रकाशित] असंख्यवक्रमव्यङ्ग्य [यौद्ध वीर या निर्वैद
 आदि किसीका नामतः उल्लेख नहीं किया है] का, ध्वङ्गवविशिष्ट वाक्यार्थ [गुणीभूत
 व्यङ्ग्य]को अमिषामे घोषन करनेवाले पदों [संघोत्थ गुणीभूतव्यङ्ग्य] के साथ
 सङ्कर [अज्ञानिभावरूप] है [पदैः सन्निभतामें ‘पदैः’ से पद्योत्थ गुणीभूतव्यङ्ग्य
 अर्थ ही लेना चाहिये । क्योंकि साक्षात् पदोंके साथ ध्वनिका सङ्कर सम्भव नहीं है] ।

इन दो उदाहरणोंमें गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ ध्वनिक तीनों प्रकारक सङ्कर आ जाते हैं ।
 प्रत्यक्षाने वाक्यार्थीभूत अर्थरूपवक्रमव्यङ्ग्य रसाभिनिक साथ पदप्रकाश्य गुणीभूतव्यङ्ग्यका अज्ञा
 हिभाव^२रूप एक ही सङ्कर दिखनाया है । दूसरा ‘सन्देहसङ्कर’ इस प्रकार होता है कि दूसरे स्थानमें
 ‘पाण्डवा यस्य दासाः’ इत अर्थने व्यङ्ग्यविशिष्ट वाक्यार्थ ही बोधादीप्त हो सकता है इसलिए यहाँ
 गुणीभूतव्यङ्ग्य हो सकता है । अथवा ‘वृत्तव्यङ्ग्य’ शतको व्यङ्ग्य रसाभिका दधान अवस्य करना
 चाहिये इन प्रकारका अज्ञानतुल्यध्वनि भी हो सकता है । ये दोनों ही अमत्कारजनक हैं अत-
 एव साधक-वाक्यप्रत्यक्ष अभावम उन दोनोंका ‘सन्देहसङ्कर’ भी हो सकता है । और वाक्य
 पदोंमें ही गुणीभूतव्यङ्ग्यक साथ रसध्वनि भी रहता है इसलिए उन दोनोंका एकाभ्यानुपपेक्षसङ्कर
 भी हो सकता है । अतएव इन दो उदाहरणोंसे ही गुणीभूतव्यङ्ग्यक साथ विविध सङ्करका निरूपण हो
 जाता है ।

१ यथा ही ।

२ अतन्निभता नि ।

अत एव च पदार्थाभयत्ये गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य, वाक्यार्थाभयत्ये च ध्वनेः सङ्कीर्णतायामपि' न विरोधः स्वप्रमेदान्तरवत् । यथा हि ध्वनिप्रमेदान्तराणि परस्परं सङ्कीर्यन्ते, पदार्थावाक्यार्थाभयत्वेन च न विरुद्धानि ।

इन स्तोत्रोंमें गुणीभूतव्यङ्ग्य और ध्वनि अर्थात् प्रधानव्यङ्ग्यका [विधि] सङ्करविरुद्धता है। इसमें यह उद्घाट हो सकती है कि एक ही स्तोत्रमें अस्मिन्मत्त होनेवाला व्यङ्ग्य अथ प्रधान ध्वनिरूप भी रहे और गुणीभूतव्यङ्ग्य भी बन जाय यह कैसे हो सकता है। भागे इसका समाधान करते हैं। समाधानका आद्य यह है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य पूर्वमें रहता है और ध्वनि या प्रधान व्यङ्ग्य वाक्यमें रहता है। अतः उन दोनोंका आश्रयभेद हो जानेसे उनमें कोर विरोध नहीं होता है।

इसीलिए [उदाहरणोंमें ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनोंके एक साथ पाये जानेसे] ध्वनिके अपन प्रमेदोंके समान गुणीभूतव्यङ्ग्यका पदार्थमें आधित और ध्वनिको वाक्यार्थमें आधित माननपर [उक्तका] सङ्कर ज्ञानपर भी कार्य विरोध नहीं आता। जैसे ध्वनिके अन्त्य भेदोंका परस्पर सङ्कर होता है और [एकके] पदार्थ और दूसरेके] वाक्यार्थमें आधित होनेसे विरोध नहीं होता [इसी प्रकार ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यको भी क्रमशः वाक्यार्थ और पदार्थमें आधित माननेसे उनके सङ्करमें कोई विरोध नहीं होता]।

वहाँ किसी पुस्तकमें 'तथाहि' पाठ मिश्रता है और किसीमें 'वथाहि' । यह पाठमें लोचनकारके समक्षमें भी था। और ये स्वयं भी ठीक पाठका निश्चय नहीं कर सके इत्यपि उन्होंने "तत्रेव व्याख्ये यथादीति । तथाऽजापीत्तप्राहारो च कृत्यम् । तथाहि इति वा पाठः । यह किता है। अर्थात् यदि 'वथाहि' यह पाठ माना जाय तब तो 'तथा अप्वाहि' रहने परका अप्वाहार करना पारिय तब अर्थ ठीक होगा। अथवा फिर तथाहि' यह पाठ होना चाहिये। इतने प्रतीत होता है कि लोचनकारको 'वथाहि' पाठ ही मिश्र था। और 'तथाहि' पाठका उनका सुझाव है। इराधिय् इधीत्यि भागे दोनों पाठ मिलने बने हैं।

ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यको क्रमशः वाक्याभित और पराभित मानकर उन दोनोंके सङ्कर का वा उपपादन ऊपर किया है वह 'अद्वाह्निभाषणसङ्कर' और 'तन्देहसङ्कर'में तो ठीक हो जाय है परन्तु 'एकाभवात्प्रमथसङ्कर'में तो दोनोंका एक ही आश्रय होगा अथवा आश्रयभेदेने ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यको स्थितिका जो अविरोध नियत किया था वह वहाँ लागू नहीं हो सकता। क्योंकि एकाभयमें ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनों केम रह सकेंगे। यह उद्घाट है, उद्घाट समाधान भागे करते हैं। समाधानका आद्य यह है कि पदित्य परिहार अङ्कभेदेने किया था उद्ये प्रकार वहाँ व्यङ्ग्यभेद परिहार हो सकता है। अर्थात् एकाभयमें रहनेवासे दो अर्थक अन्त्या व्यङ्ग्य हैं एक प्रधान या ध्वनिरूप और दूसरा गुणीभूत। ये दोनों भिन्न भिन्न व्यङ्ग्य एक अङ्क रह सकते हैं। इसमें कोर विरोध नहीं है। यदि एक ही व्यङ्ग्यका ध्वनि और उद्येको गुणीभूत कहा जाय तब तो विरोध होता। परन्तु दोनों व्यङ्ग्यके भिन्न होनेसे विरोध नहीं है। यह समाधान 'एकाभवात्प्रमथसङ्कर'में प्रतीत होनेवासे विरोधका परिहार तो करता ही है उक्त साथ 'अद्वाह्नि' मय और 'तन्देहसङ्कर'में भी लागू हो सकता है। क्योंकि उन दोनों भेदोंमें भी व्यङ्ग्य अन्त्या

1 सङ्कीर्णतायामपि वि ही । २१-क

किञ्चैकव्यङ्गवाचकत्वे तु प्रधानगुणभावो विरुद्धपदे न तु व्यङ्ग्यमेवोपेक्षया, ततोऽप्यस्य न विरोधः ।

अथ च सङ्करसंसृष्टिन्यवहारो बहूनामेकत्र वाच्यवाचकभाव इव व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यक-
भावेऽपि निर्विरोध एव मन्तव्यः ।

यत्र तु पदानि कानिचिद्विधिविहितवाच्यान्यनुरूपनरूपव्यङ्ग्यवाच्यानि वा, तत्र
ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः संसृष्टत्वम् । यथा 'तेषां गोपवधूषिष्ठासमुद्भवाम्' इत्यादौ ।

अत्र हि 'विष्ठासमुद्भवाम्' 'राधारहः साक्षिणाम्' इत्येते पदे ध्वनिप्रगेरूपे । 'ते',
'जाने' इत्येते च पदे गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपे ।

अव्य होनेसे ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यके 'अज्ञातभाव अथवा सन्देहसङ्कर'में कोई विरोध नहीं
आता है । इसी बातको सूचित करनेके लिए दूसरे ततोऽप्यस्य न विरोध कहा है । यहाँ अर्थात्
शब्द रूपपरिहारकी अपेक्षा इसका सर्वतोमुखत्व सूचित करता है ।

और एक ही व्यङ्ग्यमें आश्रित प्रधान और गुणभाव तो विरुद्ध ही सकते हैं
परन्तु व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यकी अपेक्षासे [मिथ मिथ व्यङ्ग्ययोंमें स्थित प्रधान गुणभाव विरोधी]
नहीं । इसलिये भी इस [ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यके सङ्कर] का विरोध नहीं है ।

[सङ्कर और संसृष्टि प्रायः वाच्य अङ्गुलीयोंमें ही प्रसिद्ध हैं परन्तु ये व्यङ्ग्य-
व्यङ्ग्यमें भी हो सकते हैं इसका उपपादन करते हैं] वाच्यवाचकभाव [वाच्यवाच्यरूप
रूप] में बहुत-से [अङ्गुलीयों] का सङ्कर और संसृष्टिप्रकार जिस प्रकार होता है उसी
प्रकार व्यङ्ग्यव्यङ्ग्यकभाव [व्यङ्ग्यव्यङ्ग्य अनेक ध्वनिप्रमेदों अथवा ध्वनि और गुणी
भूतव्यङ्ग्य] में भी उसे निर्विरोध समझना चाहिये ।

[ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यके सङ्करका प्रदर्शन कर अब उनकी संसृष्टिका
उपपादन करते हुए उदाहरण देते हैं] यहाँ कुछ पद अविधिविहितवाच्य [इक्षणामुख
ध्वनिपरक] और कुछ पद [कानिचित् पद दोनोंकी निरपेक्षताका सूचक है । जिससे
सङ्करका अवकाश नहीं रहता ।] सङ्कल्पकमव्यङ्ग्यपरक हों यहाँ [वाच्यसे व्यङ्ग्य]
ध्वनि और [उस प्रधान वाच्यार्थीभूत ध्वनिकी अपेक्षासे गुणीभूत अविधिविहितवाच्य
अथवा संसृष्टकमरूप] गुणीभूतव्यङ्ग्यकी संसृष्टि है । जैसे 'तेषां गोपवधूषिष्ठास
मुद्भवाम्' इत्यादिमें ।

यहाँ 'विष्ठासमुद्भवाम्' और 'राधारहः साक्षिणाम्' के दोनों पद [सत्तागुणोंके
विरोधरूप हैं । परन्तु अक्षत लतागुणोंमें 'मैत्री' और 'साक्षिण' जा कि यस्तुता
यतनधर्म हैं नहीं रह सकते हैं । अतएव उनमें अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि हानन]
ध्वनि [अविधिविहितवाच्यध्वनिके भेद] रूप है । और 'ते' तथा 'जाने' ये दोनों पद
[वाच्यके उपकारक अनुमर्षणगोचरत्व और उद्वेगसाधिययीभूतत्वरूप] गुणीभूतव्यङ्ग्य
[के बोधक] रूप हैं [इस प्रकार वाच्यार्थीभूत प्रयासहेतुक विप्रसङ्गसङ्कारक साथ
'विष्ठासमुद्भवाम्' और 'राधारहः साक्षिणाम्' पदोंसे घोरत्व अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य
ध्वनिके यहाँ गुणीभूत हा जानसे गुणीभूतव्यङ्ग्यकी निरपेक्षताया स्थिति हाननके
कारण ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनोंकी संसृष्टि है] ।

वाच्यालङ्कारसङ्कीर्णत्वमङ्ग्यक्रमव्यङ्गवापेक्षया रसवति साङ्कारे' काव्ये सवत्र सुव्यवस्थितम् । प्रमेदान्तराणामपि कदाचित्सङ्कीर्णत्वं भवत्येव । यथा ममेव—
 या व्यापारवती रसाम् रसयितुं कावित् कवीनां नया,
 दृष्टियां परिनिष्ठितार्थविषयो मेया च वैपश्चित् ।
 से द्वे व्यप्यवसन्त्य विद्वसनिस्त निर्वणयन्तो वर्य,
 भान्ता, नैव च छद्ममभिप्रायन । त्वद्भक्तिदुस्त्वं सुखम् ॥
 इत्यत्र विद्येवाङ्कारेणान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य ध्वनिप्रमेदस्य सङ्कीर्णत्वम् ।
 वाच्यालङ्कारसंघट्टत्वं च पदापेक्षयैव । यत्र हि कानिचित्त्वानि वाच्यालङ्कार
 माञ्चि कानिचित्त्व ध्वनिप्रमेदयुक्तानि । यथा—

“च प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्यपके साध ध्वनिकी संघट्टि और सङ्करका उपपादन कर आगे वाच्या
 सङ्कारोंके साथ ही उनका उपपादन करते हैं ।
 रमण्यनियुक्त और [रसयत्] अलङ्कारयुक्त समी काव्योंमें अमल्लक्ष्यक्रम
 व्यङ्ग्य [रसादिव्यङ्ग्यकी अपेक्षाके साथसे] वाच्य अलङ्कारोंका [अर्थात् व्यङ्ग्य
 अलङ्कार नहीं । अलङ्कारके व्यङ्ग्य होनेपर तां यदि यह अलङ्कारप्रधान है तो अल
 ड्कारधनिका और अप्रधान होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्यका सङ्कर हो जायगा । अतएव
 वाच्य विशेषण रका है] सङ्कर सुनिश्चित ही है [रसादिव्यनितसे भिन्न धस्तुध्वनि तथा
 अलङ्कारधनिकरूप] अन्य प्रमेदोंका भी कभी [वाच्य अलङ्कारोंके साथ] सङ्कर हो ही
 जाता है । जैसे मर ही [निम्नलिखित श्लोकमें]—
 इ समुद्रशापी [विष्णु भगवान्] ! रसोंके आस्वाद्यके छिप [शाम्ययोजनामें] प्रय
 तनशील फवियोंकी [प्रतिपलनचोमपशास्त्रिणी] जो कुछ अर्घ्यं दृष्टि है और प्रमाणसिद्ध
 अर्घ्योंको प्रयानित करनपासी जो विद्वानोंकी 'वैपश्चित्या' दृष्टि है उन दोनोंके द्वारा
 इस विषयका गत-दिन वेस्त-द्वलत हम थक गये परन्तु भाषकी भक्ति के समान सुख
 [अभ्यय] कहीं नहीं मिला ।
 यहाँ विद्येवाङ्कारके साथ अद्यान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि भेदका सङ्कर है ।
 यहाँ कविकी प्रतिभा और बाधनिककी परिष्क बुद्धि निषेधन' अर्थात् 'साधुप गान' या
 देवता सम्भव नहीं है अतएव विशेष उपस्थित होता है । परन्तु 'निकर्तन' पदका 'सामान्यगान'
 अर्थ करनेसे उम विशेषका परिहार हो जाता है । “च प्रकार विद्येवाङ्कार अङ्कार होता है । और
 'निषेधन पदार्थ' अर्थात् 'साधुप गानके सामान्यगानरूप अद्यान्तरमें सङ्क्रमित हो जानेसे अद्यान्तर
 सङ्क्रमितवाच्यध्वनि भी होता है ऐसा मानकर विद्येवाङ्कार तथा अद्यान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिका
 एकाभयानुप्रवेगस्य सङ्कर होता है ।
 वाच्य अलङ्कारोंकी [ध्वनिके साथ] संघट्टि [निरपेक्षनया स्थिति] पदोंकी दृष्टिसे
 ही दाती है [वाच्यस्य प्रकाशित समासादि आदि अलङ्कार तां ध्वनिकरूप प्रधान व्यङ्ग्यके
 परिपारक ही होने हैं निरपक्ष नहीं । अतएव उनका सङ्कर हो बन सकता है । संघट्टि
 नहीं । जहाँ कुछ पद वाच्य अलङ्कारस्य युक्त हैं और कुछ ध्वनिके प्रमदस्य युक्त हैं
 [यहाँ ध्वनि और वाच्यालङ्कारों संघट्टि दाती है] जैसे—

रसवति रसाङ्कारे च काव्ये नि ही ।

वीर्याकुर्वन् पटु मत्कलं कूटितं सारसाना,
प्रत्यूपेषु स्फुटितकमलप्रमोदमैत्रीकपायाः ।
पत्र स्त्रीणां हरति सुरतम्भनिमज्जाजुह्वला,
शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थनापादुकारः ॥

अत्र हि मैत्रीपद्मविबक्षितवाष्पो ध्वनिः, पदान्तरेष्वल्पाद्यन्तराणि ।
संस्त्राजहारसङ्घीर्णो ध्वनिर्यथा—

[यह कविकाव्यासके 'मेघदूत'का एकश्लोक है। विशाला, उज्जयिनी नगरीका वर्णन करते हुए यक्ष मेघसे कहता है।] जहाँ [जिस विशाला उज्जयिनी नगरीमें] प्रातःकाल सारसोंके रमणीय और मत्के कारण अत्यन्त मधुर शब्दको फैलानेवाला, बिले हुए कमलोंकी सुगन्धिके सम्पर्कसे सुगन्धित और अहोंको अच्छे ढंगनेवाला, शिप्रा नदीका वायु नवनिधुवनकीं प्रार्थनामें [सुशामद करनेवाले] पादुकार प्रियतमके समान स्त्रियोंकी सुरतजन्य भावित्तको हरण करता है।

यहाँ 'मैत्री' पदमें अव्ययसहितवाच्यध्वनि और अन्य पदोंमें अन्य [पटु 'वीर्या कुर्वन्'में गम्पोत्प्रेक्षा 'प्रत्यूपेषु'में स्वभायोक्ति 'प्रियतम इव'में उपमा भावि] अलङ्कार हैं [अतः ध्वनिही वाच्यालङ्कारोंके साथ संसृष्टि है]।

बोचनकारने किया है—“शिप्रापरिचितोऽतो वात इति नागरिको, न स्वविदग्धो प्राम्मयाय इत्ययः। यत्र च फनोऽपि तथा नागरिका च तथाकथमभिगन्तव्यो देग इति मेघदूते मेघं प्रति कामिना इवमुक्तिः।” इसके नागरिक पदके प्रयोगपर टिप्पणी करते हुए 'भेषन तथा 'शाकपिपा' श्लोक सहित मुद्रित बाराजसेव संस्करणमें टिप्पणीकारने किया है—

'अथ शब्दा 'नगरात्कुम्भनप्राचीन्पयो' इति पाणिनीयसूत्रेण ठका निष्पत्ताः। ठ च मन्ता भ्राज्जि-
होक्षितेन तु नागरिकशब्दरचोर्धोक्षितोऽवाहृत्य न तु सामान्यतो नियुजे।”

टिप्पणीकारका यह सैल एकदम प्रत्ययविभ्रमिष्ठ ध्यान पड़ता है। 'नगरात्कुम्भनप्राचीन्पयोः' सूत्रसे ठक् प्रत्यय नहीं 'तुम्' प्रत्यय होता है। नगर शब्दसे तुम् प्रत्यय करके 'नागरक' शब्द बनता है 'नागरिक' नहीं। मट्टोन्निरीक्षितने भी औमुदीमें इस सूत्रकी श्रुतिमें 'तुम् प्रत्ययका ही विधान किया है। 'नागरशब्दाद् तुम् स्यात् कुम्भने प्राचीन्प च गमे। नागरकरचौर' दिल्ली वा। कुम्भन इति मिम् मागय प्राङ्माः। ध्यान पड़ता है कि टिप्पणीकारने औमुदी याद करते समय इस सूत्रमें 'नागरक'के स्थानपर 'नायिक' यह अशुद्ध उदाहरण वाद कर लिया है। ठकी अशुद्ध रसुतिके आक्षेपपर यह टिप्पणी लिख दी है। और 'नगरात्कुम्भनप्राचीन्पयोः' सूत्रकी शुद्धिक देखनेका भी यह उदावे मिला ही इस सूत्रमें ठक् प्रत्ययका विधान कर शक्य है। इस प्रकार मट्टोन्निरीक्षितके उदाहरण भी सुगति कर टाली है।

संसृष्ट अलङ्कारके साथ मट्टीणरथनिका [उदाहरण] जैस—

अन्वयिक मृगक काज्य अपन ही पक्षको ला जानेक निम्न उचत किसी सिंहीके देखकर उग बन्धेका बचानेक निम्न अग्ना शरीर मरुत्तार्थ सिंहीके दे देनेकाले बोधिलक्ष्मी प्रशंसा करते हुए कर्त करवा है—

दन्तशुचानि करजैश्च विपाटितानि,
प्राङ्निम्नसान्द्रपुच्छके भवतः क्षरीरे ।
दधानि रच्छमनसा शृगपञ्चवष्पा,
जातशूहेमुनिभिरप्यवश्रेष्ठितानि ॥

अत्र हि समासोक्तिर्संस्पृष्टन विरोधाच्छूद्रेण सङ्कीर्णत्वाच्छुभ्रमप्यङ्गस्य ध्वनेः
प्रकाशनम्, दशावीरस्य परमार्थतो वाक्यार्थीभूतत्वाम् ।

संस्पृष्टाच्छूदारसंस्पृष्टत्वं ध्वनेर्यथा—

अद्विजभपओअरसिस्पृष्टु पद्विभसामाहस्पृष्टु दिभहेसु ।
सोह्र पसारिअगिअर्थं णक्किअं मारअन्दाणम् ॥

[अभिनयपयोदरसिधेपु पथिकश्यामावितेपु [सामाजिकेपु] दिवसेपु ।
शोमते प्रसारितप्रीयाणां [गीतानां] नृत्तं मयूरहृन्दानाम् ॥ इतिष्यष्टाया]

अत्र श्लुपमात्रपकाभ्यां शब्दसकल्युक्कृतानुरणनरूपभ्यङ्गस्य ध्वनेः संस्पृष्टत्वम् ॥ ४४ ॥

[कादण्ययश और दूसर पक्षमें शृङ्गारयश] सपन रोमाञ्चयुक्त आपके शरीरपर,
यामकी इच्छापाठी और दूसर पक्षमें अनुरक्त मनवाली, शृंगाराजपथू [मिहिनी
नतरमें किसी राजपथू] ने जो दन्तक्षत और मलक्षत किये उन्हें सुनियोंने मी
सद्युष्ण [दूखरोंकी प्राणरक्षामें अपन शरीरका उपहार द् दन्तका यह सोमाग्य हमका मी
प्राप्त होता इस भावनासे, और शृङ्गारपक्षमें अनुरक्त मनवाली राजपथूके दन्तक्षत
और मलक्षत प्राप्त करनेकी इच्छास युक्त] होकर देखा ।

पहलें [सिंहलीमें राजपत्नीके व्यवहारका समारोप होनेसे] समासाक्तिस संस्पृष्ट
[मुनिभिरपि सम्पूर्णांसे सूचित] विशेष मलद्वारक साथ सङ्कीर्ण [पामाज्यादि अनुभाप
द्वारा परिपापित वाधिसत्यके दयापीर हमका व्याधिभाप दयोरमाहृत्प अभिष्यग्य
माल] अर्त्तसकल्यस्यहृत्पप्यनिका प्रकाशन होता है । क्योंकि धास्तपमें दयापीर [रस]
ही [मुख्य] वाक्यार्थीभूत है ।

संस्पृष्टालद्वारके साथ त्यनिकी संस्पृष्टि [का उदाहरण] ऊँत—
[यह 'गायामतशानी का पद्य है] अभिनय मर्षोका गजन जिनमें हो रहा है और
पथिकरूप सामाजिकोंसे युक्त, अथवा पथिकोंका श्याम-स मान्द्रम द्रुप, [पनाके] दिगों
में गर्वने पैलाकर अथवा गान करने हुए मारोंका नृत्य [बका] सुन्दर लगता है ।
पहलें उपमा और रूपक [की संस्पृष्टि] के साथ शब्दशास्त्रयुक्त्य अंतस्त्वमम

पथिकरूप सामाजिकोंसे युक्त और दूसरी पथिकद्वयामाजिकपु । इनमेंसे पहिली छाया अथवा पथिकद्वयामाजि
के माननेर श्याम श्रेणी चलत समान भावस्वभावसे अ अर्थमें कृप कपूर मकारभ [१
११] अथम उपमनवाची श्याम शब्दसे कप प्रत्येक हानक कारण उपमा अद्वार,

एव ध्वनेः प्रमेदाः प्रमेदमेदाश्च केन शक्यन्ते ।

संख्यातु, विद्यात्र तेषामिवमुक्तमस्माभिः ॥४५॥

अनन्वा नि ध्वनेः प्रकारः । सद्द्वयानां व्युत्पद्ये तेषां विद्यात्रं कथितम् ॥४५॥

इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विधेयः प्रयत्नतः सङ्गि ।

सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः ॥४६॥

सत्स्वरूपध्वनिनिरूपणनिपुणा हि सत्कवयः सद्द्वयार्थ नियममेव काव्यविषये परं प्रकथयन्वीमासादयन्ति ॥४६॥

अस्फुटस्फुरित काव्यतत्त्वमेतद्ययोदितम् ।

अशफनुषङ्गिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिता ॥४७॥

और 'पवित्रसामाजिकेषु' ऐसी छाया माननेपर 'पवित्रा एव सामाजिकाः' इस प्रकार रूपक हो सकता है। इन दोनोंक परस्पर सापेक्ष न होनेसे दोनोंकी संसृष्टि है। और उसके साथ 'सामाज्यस्य' इस शब्दके परिहृत्यसह होनेके कारण अस्पष्टाकिमूळ, उद्दीपकत्वादिध्वन्यरूप बलुध्वनिकी संसृष्टि होती है। आत्मैककारण नहीं उपमा और रूपककी संसृष्टि मानी है परन्तु साहित्यवर्णनकारने 'पवित्रसामाज्यस्य' इत एक पदमें ही दोनों अङ्गकारोंके होनेसे 'एकाभवात्प्रमेदसद्द्वय' माना है।

यहाँ संसृष्ट्यङ्गकारसङ्कीर्णत्व तथा संसृष्ट्यङ्गकारसंसृष्टत्व इन शोक उदाहरण दिये हैं। इनके साथ ही सङ्कीर्णकारसङ्कीर्णत्व और सङ्कीर्णकारसंसृष्टत्व में वा भेद और भी हो सकते हैं परन्तु उनके उदाहरण इन्हींके अन्तगत आ गये हैं इसलिये अन्तर्गता नहीं दिये गये हैं। जैसा कि अभी साहित्य वपनकारका मत दिखलया है उसके अनुसार 'पवित्रसामाज्यस्य' पदमें उपमा और रूपकका सद्द्वय होता है। उस दृष्टांमें यही सङ्कीर्णकारसंसृष्टत्वका उदाहरण बन जाता है। उसमें उपमा और रूपक सद्द्वयके साथ बलुध्वनिकी संसृष्टि है। और उन्हींके साथ रसध्वनिका अङ्गाभिभावसद्द्वय माननेसे यही सङ्कीर्णकारसङ्कीर्णत्वका उदाहरण बन सकता है। अतः इन दो भेदोंके अन्तर्गत उदाहरण देनेकी आवश्यकता नहीं थी। ॥४६॥

इस प्रकार ध्वनिके प्रमेद और उन प्रमेदोंके अघास्तर भेदोंकी गणना कौन कर सकता है। हमने उनका यह विद्यात्र प्रदर्शन किया है। ॥४५॥

ध्वनिके अनन्त प्रकार हैं। सद्द्वयोंके ज्ञानके लिये उनमेंसे छोड़े-से विद्यात्र [ही हमने] बदे हैं। ॥४५॥

उत्तम काव्यका बनाने अथवा समझनेके लिये प्रस्तुत सङ्गतोंको इस प्रकार जिम ध्वनिका लक्षण किया गया है उसका प्रथमपूवक विवेचन करना चाहिये। ॥४६॥

उत्तमस्वरूप ध्वनिके निरूपणमें निपुण सत्कवि और सद्द्वय निप्रथय ही काव्यके विषयमें अत्यन्त उद्दृष्ट पदवीको प्राप्त करते हैं [यह प्रकथनमाम ही ध्वनिविधिवचनाका फल है] ॥४६॥

अस्फुटरूपमें प्रतीत होनेवाले इस पूर्वोक्त काव्यतत्त्वकी व्याख्या कर सकनेमें अद्यमर्थ [यामन भादि] न रीतियाँ प्रयोजित कीं ॥४७॥

एतद्भूषणप्रवर्तनेन^१ निर्णीतं काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरितं सद्दाक्षनुवन्निः प्रतिपादयितुं
 वेदमूर्ति गौडी पाञ्चासी चेति रीतयः प्रवर्तिताः । रीतिलक्षणाविधायिनां हि काव्यतत्त्व
 मेवस्फुटतया मनाक् स्फुरितमासीदितिष्ठस्यते^२ । तत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितमित्यन्वेन^३
 रीतिलक्षणेन न किञ्चित् ॥४७॥

ध्वनितस्वफे घाद रीतियोंकी अनुपयोगिता

इस ध्वनिक प्रतिपादनस [अथ स्पष्ट रूपस] निर्णीत [परन्तु रीतिप्रयोजक
 यामन आदिके समयमें] अस्फुट रूपस प्रतीत हानवाने इस [ध्वनिकरूप] काव्यतत्त्वका
 प्रतिपादन कर सकनमें असमर्थ [यामन आदि आचार्यों] न वेदमूर्ति गांडी, भार पाञ्चासी
 आदि रीतियों प्रचलित कीं । रीतिकारोंका यह [ध्वनिकरूप] काव्यतत्त्व अस्पष्ट रूपस
 कुछ थाका-थाका भासता [अवश्य] था एसा प्रतीत होता है । उसका [अथ इमस] यहाँ
 स्पष्ट रूपस प्रतिपादन कर दिया । इसलिये अथ [ध्वनिसे मित्र] अथ रीतिलक्षणोंकी
 वाइ आशयप्रकता नहीं है ।

अब ध्वनिका कोई स्पष्ट विषय आग्येक सामने नहीं था, यवन एक अस्पष्ट धुन्की छाया प्रतीत
 होती थी और उस समक आचार्योंमें ध्वनिकी उस अस्पष्ट रूपेलाको स्पष्ट रूपसे विवृत करनेकी
 प्रतिष्ठाका आभाव था, उस समय काव्यसौन्दर्यक उस मूल तत्वका उन्होंने रीतिरूपमें प्रतिपादन
 करनेका प्रयत्न किया । अब हमने काव्यक आत्मभूत उस मूल ध्वनितत्वको अस्पष्ट स्पष्ट और
 विलुप्त रूपमें प्रतिपादन कर दिया है इसलिये उन रीतियोंक अर्थान आदि करनेकी आवश्यकता नहीं
 है । ध्वनिका क्षेत्र बहुत विलुप्त है, रीतियोंका बहुत परिच्छिन्न । इसलिये रीतियोंमें ध्वनिका नहीं,
 अपितु ध्वनिमें रीतियोंका अन्तर्भाव हा सकता है । इसलिये रीतियोंक अर्थानकी आवश्यकता नहीं है ।
 पर प्रत्यक्षारका अभिप्राय है १८७

ध्वनितस्वके घाद वृत्तियोंकी अनुपयोगिता

रीतियोंक अतिरिक्त छन्द और अर्थके उचित व्यवहारकी प्रकृतक दो प्रकारकी वृत्तियोंका
 उल्लेख प्राचीन साहित्यमें पाया जाता है । भरतके नाट्यशास्त्रमें "वृत्तना नाट्यमाततः" तथा 'तत्रैवा
 मेव कामानां वृत्तयो मातृका स्मृताः' इत्यादि बचन मिलत हैं । नाट्यशास्त्रमें सुगन्ध-
 नाट्योपचयी मारठी चालकी, वैद्यकी और भारमठी इन चार प्रकारकी रीतियोंका उल्लेख किया
 है । दशरूपकने "तद्ग्यायापलीमका वृत्तः" कहकर नायिकाविक्रम व्यवहारकी ही वृत्ति बताया है ।
 धम्मपालोदकारने भी "व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते [३,३३] जिनकर व्यवहारको ही वृत्ति बताया है ।
 वृत्तिकाका निरूपण हम पहले कर चुके हैं ।

भरतकी प्राची वृत्तियोंका समग्र समीक्षण है और न व्यवहारमें हैं इसलिये धम्मपालोदकारने
 उनका 'अज्ञात वृत्ति' कहा है । इनक अतिरिक्त उल्लेख आदिन जिन उन्नागरिका आदि चार
 वृत्तियोंका प्रतिपादन किया है उनका बचन भी हम कर आया है । उन उन्नागरिका आदि वृत्तियों

१ वर्धनव नि ही ।
 २ 'रूपते घाद नि ही० में नहीं है ।
 ३ सम्प्रदर्शितेनाम्येन वा नि ।

‘शब्दतत्त्वाभ्याः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः ।

वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञानेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥४८॥

अस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावविवेचनामये काव्यलक्षणे ज्ञाने सति याः काश्चिदप्रसिद्धा उपनागरिकायाः शब्दतत्त्वामया वृत्तयो यादृशावतस्वसम्बन्धाः कैश्चिद्व्याख्यायताः सम्यग् रीतिपद्मीमवतरन्ति । अन्वयाद्यु उपासामदृष्टार्थानामिव वृत्तीनामभेदे यत्त्वमेव स्थानानुभवसिद्धत्वम् । एवं स्फुटतयैव लक्षणीयं स्वरूपमस्य ध्वनेः ।

यत्र शब्दानामयासां च केषाञ्चित्प्रतिपत्तुविशेषसंबन्धं मारयत्वमिव रत्नविशेषाणां बाहुत्वमनास्वेयमवभासते काव्ये सत्र ध्वनिव्यवहार इति यद्व्युत्पन्नं ध्वनेरुच्यते केनचित्

का सम्बन्धमुत्पत्त शब्दोंसे है इसलिये आशोककारने इनको ‘सम्बन्धित वृत्ति’ माना है । इन दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका प्रयोजन सङ्ख्यानुमत्तगोचर समकारविशेषको उत्पन्न करना ही है । और ध्वनिका प्रभाजन भी यही है । इसलिये जबतक ध्वनिक सिद्धान्तका स्पष्ट रूपसे आनिर्माण नहीं हुआ या जबतक इन वृत्तियोंकी सत्ता अलग नहीं रही सो ठीक है । परन्तु ध्वनिसिद्धान्तक स्पष्टीकरणक बाद जैसे ‘रीति’की अलग आवश्यकता नहीं रही इसी प्रकार ‘वृत्तियों’की भी आवश्यकता समाप्त हो जाती है । यह ध्वनिकारका कथन है । इसी बातका उपादान आगेके प्रकरणमें करते हैं—

इस [ध्वनिरूप] काव्यस्वरूपके ज्ञान छानेपर कुछ शब्दतत्त्वमें आश्रित [महाशूटादिकी अभिमता उपनागरिकादि], और वृत्तकी अर्थतत्त्वपर आश्रित [मरताभिमता कैश्चिदी भावि] जो कोई वृत्तियाँ हैं वे भी [रीतियोंके समान व्यापकरूप ध्वनिके अन्तर्गत] प्रकाशित हो जाती हैं [कारिकाके उत्तरार्द्धमें कुछ अपवादकर किये बिना वाक्य अपूर्ण रह जाता है । वृत्तिकारने भी उसकी व्याख्यामें ‘तां सम्यग् रीतिपद्मीमवतरन्ति’ लिखकर उसकी व्याख्या की है । अर्थात् वे वृत्तियाँ भी रीतियोंके समान ध्वनिमें अन्तर्गृत हो जाती हैं] ॥४८॥

इस व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावके विवेचनामय कव्यलक्षणके विहित हो जानेपर जो प्रसिद्ध उपनागरिकादि शब्दतत्त्वामय वृत्तियाँ और जो अर्थतत्त्वमे सम्बन्ध कैश्चिदी भावि वृत्तियाँ हैं वे पूर्ण रूपसे रीतिमार्गका मफलम्बन करती हैं । [अर्थात् जैसे व्यापकरूप ध्वनिमें रीतियोंका अन्तर्भाव हो जाता है इसी प्रकार शब्दामय उपनागरिकादि तथा अथाश्रित कैश्चिदी भावि दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका अन्तर्भाव भी व्यापक ध्वनिमें हो जाता है । उनके अलग लक्षण आदिकी आवश्यकता नहीं रहती] अन्वया [यदि समकारविशेषजनक ध्वनिके साथ वृत्तियोंका तादात्म्य अमङ्गल माने तो सङ्ख्यानुमत्तगोचर समकारविशेषजनकत्वके अतिरिक्त वृत्तियोंका और कोई वृत्तप्रयोजन नहीं रहता है इसलिये] अदृष्ट पदार्थोंके समान वृत्तियाँ, अन्वयेय हो जायेंगी, अनुभवसिद्ध नहीं रहेंगी ।

‘जहाँ किन्हीं शब्दों भाव अर्थोंका तादात्म्यविशेष रहनेके आत्यत्य [उत्कृष्ट-जातीयत्व] के समान विनोपसंबन्ध और अवलम्बीय रूपमें प्रतीत होता है उस काव्य

रयुष्मिति 'नाभिपेयवामर्हति । यतः शब्दानां 'स्वरूपाभयस्तावद्विच्छिद्यत्वे सस्यप्रयुक्त प्रयोगः, वाचकाभयस्तु प्रसादो व्याख्याकर्त्तव्यं चेति विशेषः । अत्रानां च श्रुतत्वेनावभासनं व्यङ्ग्यपरत्वं 'व्यङ्ग्यवादाविशिष्टत्वं चेति विशेषः । एते च विशेषो व्याख्यातुं शक्यते व्याख्यातो च बहु प्रकारम् ।

तद्व्यतिरिक्तानाम्बेवविशेषसम्भावना तु विश्वकावसादभावमूल्ये । बरमादनाक्ये वत् 'सहस्राद्यागाचरत्वेन न कस्यचित्सम्भवति । अस्ततोऽनाम्बेवशब्देन तस्याभिधान सम्भवति ।'

में ध्वनिप्यबहार होता है' किसीन यह जो ध्वनिका छक्षण क्रिया है वह अयुक्त धीर इच्छति कहने योग्य नहीं है । [बीधितिकारण 'अभिपेयता'की जगह 'अपपेयता' पाठ रखा है । इसका अनुसार ध्यान देने योग्य नहीं है यह अर्थ होगा] क्योंकि शब्दोंका स्वरूपगत विशेष अविच्छिद्यत्व [श्रुतिशब्द भावि शोपराहित्य] होकर अनुसृतत्व, तथा [शब्दोंका ही दूसरा] वाचकत्व [वाचकत्व] गत विशेष प्रसाद [शुष्क] तथा व्याख्यात्व, [ये दो शब्दोंके विशेष अर्थ हो सकते हैं इसी प्रकार] और अर्थोंकी स्पष्ट प्रतीति, व्यङ्ग्यपरता, तथा व्यङ्ग्यवादिशयता ये विशेष [अर्थ] हो सकते हैं । ये दोनों [शब्दगत तथा अर्थगत] विशेष [अर्थ] व्याख्या करन योग्य हैं । और [उनकी हमने] अनेक प्रकारसे व्याख्या की [नी] है [बीधितिकारणे 'व्याख्यातुमदाकर्त्ता' पाठ माना है और, 'किन्हींकी छटिमें उनका व्याख्यान असम्भव होनेपर भी यह अर्थ किया है] ।

इन [शब्द और अर्थविद्य विशेष वाक्यव्युत्पत्तियों] के अतिरिक्त किसी अवलम्बीय धिनेपदी सम्भावना [कल्पना] विशेषके अत्यन्ताभावसे [अर्थात् मूर्खतावशा] ही हो सकती है । क्योंकि अनाक्येयत्व [अप्यजनीयत्व] का अर्थ समस्त शब्दोंका अविपयत्व ही है । [और] वह [सर्वशब्दगोचरस्वरूप अनाक्येयत्व] किसी [भी पदार्थ] का सम्भव नहीं है । [क्योंकि प्रत्येक पदार्थका कोई-कोई नाम होगा ही उसी नामसे वह आक्येय होगा । और दुर्लभतोपम्यायसे एसा फोड़ संभारहित पदार्थ मान भी है तो भी] अस्तथा 'अनाक्येय' इस शब्दसे तो उसका अभिधान [कथन] सम्भव होगा ही [इच्छति किसी पदार्थको अनाक्येय नहीं कहा जा सकता । अतएव ध्वनिका अनाक्येय कहना उचित नहीं है] ।

१. वाचपेयवामर्हति नि० शी ।

२. स्वरूपभेदाभयवत् वि० ।

३. व्या० अविच्छिद्यं वि० ।

४. व्याख्यातुमदाकर्त्ता व्याख्यातुं बहुप्रकारम् वि० शी ।

५. विशेष्यमादगर्थराममूल्येय नि० शी० ।

६. सहस्राद्यागाचरत्वेन शी० ।

७. तदभिधानम् शी० ।

सामान्यसर्वाधिकरूपप्रवृत्तवागोचरत्वे सति प्रकाशमानत्वं तु 'यदनाख्येयत्वमुच्यते
व्यक्ति, तदपि काव्यविशेषाणां रत्नविशेषाणामिव न सम्भवति । तेषां लक्षणकारै
व्याहृत्यरूपत्वान् । रत्नविशेषाणां च सामान्यसम्भावनयैव मूल्यस्मिदितिपरिकल्पनादर्श
नाथ । उभयेपामपि तेषां प्रतिपत्तुविशेषसंवेद्यत्वमस्त्येव । दैकटिका एव हि रत्नतत्त्व
विदः, सङ्ख्या एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रविपत्तिः ।

यत्ननिर्वेद्यत्वं सर्वलक्षणविषयं वीक्षणानां प्रसिद्धं तत्, धम्मतपरीक्षायां मन्थान्तरे
निरूपयिष्यामः । इह तु मन्थान्तरभ्रवणलवप्रकाशनं सङ्ख्ययैमनस्यप्रदायीति न प्रक्रियते ।
वीक्षमतेन वा यथा प्रत्यक्षादिलक्षणं तथाऽस्माकं ध्वनिलक्षणं भविष्यति ।

सामान्य [आत्यादि] को प्रहण करनेवाला जो विकल्प शब्द [सविकल्पक ज्ञान
नामजात्यादियोजनासहितं सविकल्पकम्] उसका विषय न होकर [अर्थात् निर्विक-
ल्पक ज्ञानके रूपमें] प्रकाश्यमानत्वरूप जो अनाख्येयत्व [का लक्षण] काही पताया गया
है यह भी रत्नविशेषोंके समान काव्यविशेषमें सम्भव नहीं है । क्योंकि लक्षणकारोंने
उनकी व्याख्या कर दी है [अतएव रत्न और काव्य दोनों ही विकल्पज्ञानके अविषय
नहीं अपितु विषय होनेसे अनाख्येय नहीं हो सकते हैं] ।

और रत्नोंमें तो सामान्य [रत्नत्व] सम्भावनासे ही मूल्य स्थितिकी कल्पना
देखी जाती है । और ये दोनों [रत्न और काव्य] विशेषज्ञों द्वारा संवेद्य हैं । क्योंकि
[दिकटिक] जीहरी रत्नोंके तत्त्वको समझते हैं । और सङ्ख्यय काव्यके रसज्ञ होते हैं ।
इसमें किसको मतमेव हो सकता है ।

वीक्षदर्शन क्षममहावागी रक्षन है । उसके मतमें सभी पराध धणिक हैं । इसलिये उनके
लक्षण नहीं किये जा सकते हैं । अतएव ध्वनि पराधका भी लक्षण सम्भव नहीं है । और वह अना
ख्येय ही है । यह पूर्वपक्ष होनेपर उत्तर देते हैं—

वीक्षोंके मतमें समस्त पदार्थोंका जो अलक्षणीयत्व [अनिर्वचनीयत्व] प्रसिद्ध है
उसका विवेचन हम अपने दूसरे ग्रन्थ [‘विनिदयय’ नामक वीक्षग्रन्थकी धर्मोत्तमा’
नामक विबुधिसंस्थ] में उनके मतकी परीक्षाके अवसरपर करेंगे [मिसफा सार यह
दोगा कि वीक्षोंका क्षणमहावागका सिद्धान्त ही ठीक नहीं है । अतएव उसके आधारपर
अलक्षणीयत्वका सिद्धान्त भी नहीं बन सकता है] ।

यहाँ तो [उस अत्यन्त दुष्क भीग कटिन] दूसरे ग्रन्थके विषयकी तमिच-सी
वर्षा [प्रकाशन] भी सङ्ख्ययोंके द्विष धीमनस्यवायिमी होगी इसलिये [हम उसको इस
समय] नहीं कर रहे हैं । [फिर भी इतना कह देना तो उचित दोगा कि वीक्ष भोग सब
पस्तुओंको क्षणिक और अलक्षणीय मानते हुए भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके लक्षण करने
हैं अतएव] वीक्षोंके मतमें [क्षणिकत्व और अलक्षणीयत्व होते हुए भी] प्रत्यक्षादिके
लक्षणके समान हमारा ध्वनिलक्षण भी हो सकता है ।

^१तन्मात्स्र्यभ्यान्तरस्यापठनात्सम्भार्वत्वात् तस्योक्तमेव ध्वनिसङ्गर्षं साधीयः ।

एविवसुखम्—

अनास्येबांशमाहित्वं निर्वाच्यार्थतया ध्वनेः ।

न सङ्गर्षं, सङ्गर्षं तु साधीयोऽस्य बधोदितम् ॥

इति श्री राजानकानन्द्यवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोकके

द्वितीय उद्योतः

इसलिये [हमार लक्षणके अतिरिक्त] अन्य कोई लक्षण न किये जान और उस [ध्वनि] के वाक्य अर्थ न [अ-साध्यार्थ] होनेसे, पूर्वोक्त [हमारा किया हुआ] ध्वनि लक्षण ही ठीक है ।

इसीका [सं-प्र-रूपमें] इस प्रकार कहा है—

ध्वनिके निर्वचनीय अर्थ होनेसे अनास्यपाशाभासित्य उसका लक्षण नहीं है । उसका ठीक लक्षण जैसा हमने कहा है यही है । ४८।

श्री राजानक आनन्द्यवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोकके

द्वितीय उद्योत समाप्त हुआ

इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरकिष्कान्दाश्रयिभविर्विरचितानां

'आद्योक्तरीपिकाश्रयां द्वितीयाश्रयां

द्वितीय उद्योत समाप्तः

चतुर्थ उद्योत.

एवं ध्वनि सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिरियसार्धं ध्युत्पाद्य, तद्ध्युत्पादने प्रयोजनान्तर
मुच्यते—

ध्वनेर्यं स गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शित ।

अनेनानन्त्यमायाति कथीनां प्रतिभागुणः ॥१॥

य एष ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च मार्गः प्रकाशितस्तस्य फलान्तरं कविप्रतिमान
न्त्यम् ॥१॥

कथमिति ज्ञेत्—

अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूयिता ।

धाणी नवत्यमायाति पूर्वार्थान्वयवत्पि ॥२॥

अथ आद्योक्तदीपिकाया चतुर्थ उद्योतः

इस प्रकार विप्रतिपत्तियोंके निराकरणके छिप भेदोपमेव सहित ध्वनिका
निरूपण करके उसके प्रतिपादनका दूसरा प्रयोजन [भी] बतलाते हैं।

गुणीभूतव्यङ्ग्य सहित ध्वनिका जो मार्ग प्रदर्शित किया गया है इस [मार्गका
अवलम्बन करने] से कथियोंकी प्रतिभाशक्ति अनन्तताको प्राप्त कर लेती है।

यह जो ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यका पथ प्रदर्शित किया है उसका दूसरा
फल कविकी प्रतिभा [काव्योत्कर्षजनक शक्ति] का आनन्द्य [अधिकृष्टत्व] है।

[प्रश्न] ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य ये दोनों कामनिष्ठ धर्म हैं। प्रतिभागुण कविनिष्ठ धर्म है।
अतः ये दोनों व्यधिकरण धर्म हैं। अतः इन दोनोंके अधिकरण-आधार अलग-अलग हैं। कार्य
कारणभाव समानाधिकरण धर्मोंमें ही हो सकता है। व्यधिकरण धर्मोंमें कार्यकारणभाव भगनेसे तो
देवदत्तका कम ब्रह्मदेवके फलभोगका, अथवा देवदत्तका ज्ञान ब्रह्मदेवकी स्मृतिका कारण होने
लागा। अतः व्यधिकरण धर्मोंमें कार्यकारणभाव नहीं हो सकता। ऐसी दृष्टामें ध्वनि और गुणीभूत
व्यङ्ग्य भिन्न अधिकरणधर्म रहनेवासी [व्यधिकरण] कविप्रतिभाके आनन्द्यके हेतु कैत हो सका ?
नह प्रश्नकर्ताका आशय है। इसका उत्तरपत्रका आशय यह है कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं
अभिष्ट उनका 'ज्ञान' कविप्रतिभाके आनन्द्यका हेतु होता है। 'ज्ञान' और 'प्रतिभा' दोनों कविनिष्ठ
धर्म हैं। अतएव ज्ञानद्वाराक सामानाधिकरण्यको छोड़ कर कार्यकारणभाव माननेमें कोई दोष नहीं
है। इसी आशयसे प्रारम्भ उठाकर अगली कारिकामें उसका उत्तर दते हैं—

यदि कोई पूछे कि [ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य कविप्रतिभाके आनन्द्यके हेतु]
कम [होंगे] तो [उत्तर यह है कि]—

उन [ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य] मेंसे किसी एकमे भी विभूयित [कवि] की
धाणी [पारम्भोक्ति ध्याम भादि अन्य कथियों द्वारा प्रतिपादित अतएव] पुरान अर्थोंसे
युक्त [वाच्यवाचकभावम सम्पन्न] होनेपर भी तथीनता [अभिमत धारण] का प्राप्त
हो जाती है।

अतो^१ ध्यनेदच्छमेदमम्बादन्त्यतमेनापि प्रक्षरण विभूषिता सती वाणी पुरातन
कविनिवृत्तार्थसंस्पर्शावत्यपि नवत्वमायाति । तदाद्यविवक्षितवाच्यस्य ध्यनेः प्रकाशयसमा
अयनेन नवत्वं पूर्वावातुगमेऽपि भवा—

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरुमधुरो दृष्टिबिम्बः,
परिस्पन्दो वाचामभिनवविभासार्मिसरसः^१
गठानामारम्भः किसलयितकीलपरिमलः^२,
दृशन्त्यास्तादृश्यं किमिव हि न रम्यं युगदृशः ॥

इत्थस्य—

सविभ्रमरिमतोद्भवेना ओकादस्यः प्रस्त्रच्छृंगिरः ।

नितम्बाच्छसगामिन्यः कामिन्वः कस्य न प्रियाः ॥

इत्थेवमादिषु श्लोकेषु सत्त्वपि विरक्तववाच्यध्वनिसमाभयणापूर्वत्वमेव प्रति
भासते ।

इम ध्यनिके उक्त मर्त्तों [ध्यनि और शुणीभूतध्वन्य] मेंस किसी एक मी भेदस
युक्त [कविकी] पुरातन कथिनियङ्ग अर्थोका वर्णन करनेवाली वाणी [मी] नवीनता
[अभिनय आदत्य] को प्राप्त हो जाती है । पूर्व [कविपरिचित] अर्थोका सम्बन्ध होनेपर भी
अभियक्षितवाच्य [सदस्यामूल] ध्यनिके दानों [अर्थोत्तरसङ्गमित, भरबन्तविरस्त] प्रकाशके
आशयस अर्थके पुरान होनेपर भी नवीनता [का उदाहरण] है—

नयर्षावनका स्पर्श करनवाली [ध्वन्मन्त्रिधर्म वर्तमान] सुगतयनीकी तनिकन्ती
मधुर मुमकाम चक्षुष और सुलक्षण मीठी दृष्टिका सौन्दर्य, नवीन [विद्यारस] पूज
कथिनोसे सरस वाणीका प्रयाग, विधिघ हाय-भाषाँकर विकसित करनवाली गतियोंका
रूपकम [इत्यादिमेंस] कौन-सी चीज मनोहर नहीं है [समी कुछ सुन्दर और
रमणीय है] ।

इस [स्तोक] का—

विधम [उद्धारबन्ध्यापिदाय] न युक्त, मिनकी मन्द मुसकान मित रही है,
अर्त्तों चम्बस और वाणी लङ्कसङ्गा रही है, भार नितम्बों [के कविमार] के कारण आ
परि-धीर बलनवाली कामिनियों^१ से किसका प्रिय नहीं लगती है ?

इत्यादि [पूयकविपरिचित] स्टाकोंके घटे रूप मी [जमी भावका लकर मिय
गये 'स्मितं किञ्चिन्मुग्धं' इत्यादि अर्थोका इत्यादिमें मुग्ध, मधुर विमय, परिस्पन्द
सरस किमलयित, परिकर आदि योंमें उन शब्दोंक मुक्तवाचक अन्वयत वाचित इतम
सदस्यामूल अत्यन्त] विरक्तववाच्यध्वनिक सम्बन्धस नवीन आदाय प्रतीत ही
दाता है ।

१ कनो हि नि , ही ।

२ विलगोन्निप्रसक्तः वि० ।

३ कविका वि शी० ।

तथा—

यः प्रथमः, प्रथमः स तु तथा हि हृतवस्तिवद्दलपल्लाशी ।

इवापदगणेषु सिंहः, सिंहः केनापरीक्रियते ॥

इत्यस्य,

स्यतेऽर्थात्तमहिमा केनान्येनाविशङ्कते ।

महद्भिरपि मातङ्गैः सिंहः किमभिभूयते ॥

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्त्वप्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यप्वनिसमाभयेषु नवत्वम् ।

विबभ्रितान्यपरवाच्यस्यापि, उक्तप्रकारसमाभयेषु नवत्वं यथा—

महाँ 'मयुर' पदसे शोभ्यमाकिरक, मुग्ध' पदसे छक्कच्छदवहरणशक्त्य, विम्ब' पदसे अविच्छिन्न शोभ्यर्त्न, 'परिसर' शब्दसे समजापूर्वक मन्त्रोच्चारणजन्य चारुता, 'सरस' पदसे सुतिम्बनकरण, किञ्चलभित्त' पदसे अन्तापोपक्रमकत्व, 'परिकर' पदसे अपरिमितता और 'सर' पदसे सूरणीकतमत्व, आदि व्यङ्ग्योके वैशिष्ट्यसे पुनरा अर्थ भी नवीन हो उठा है ।

तथा—

जो प्रथम है वह तो प्रथम [ही] है जैसे हिंस्र प्राणियोंमें मार हुए हाथियोंके प्रयुर मांसको खानेवाला सिंह सिंह ही है, उसे कौन मीथा [ठिरस्कृत] कर सकता है ?

इत्यस्य

अपने प्रतापस गौरव प्राप्त करनेवाले [महापुरुष] से बड़कर कौन हो सकता है । यथा यद्दे-यद्दे [विशालकाय] हाथी भी सिंहको दबा सकते हैं ?

इत्यादि [प्राचीन] दृष्टाकोके होते हुए भी ['यः प्रथमः' इत्यादि मधीन श्लोकमें द्वितीय बार प्रयुक्त 'सिंह' तथा 'प्रथमः' पदोंमें] अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यप्वनिके समाभयसे नवीनता आ गयी है ।

महाँ 'यः प्रथमः' इत्यादि श्लोकके पूर्वार्द्धमें वृत्ती बार प्रयुक्त 'प्रथमः' पद और उक्तपदमें वृत्ती बार प्रयुक्त 'सिंह' पद पुनरुक्त होनेसे, यथाभूत अन्वित न हो सकनेके कारण अजहत्स्वार्था श्रमणाक द्वारा असाधारण्य परानभिभवनीयत्व आदि विशिष्ट 'प्रथमः' तथा 'सिंह' अर्थके योग्य होते हैं । अतः उनमें अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यप्वनिक सम्बन्धसे यह नवीनता प्रतीय होने लगती है ।

अविबभ्रितान्यपरवाच्यप्वनिके उक्तप्रकारसे मूल वाक्यकी प्रीतिक या उदाहरण दिखलाकर अब विबभ्रितान्यपरवाच्यप्वनिके अर्थरूपक्रमानुसार भेदके संशयसे नवीन वाक्यकी प्राप्ति उदाहरण देते हैं ।

विषयविनाशपरवाच्य [अभिधामून प्वनि] के भी पूर्वोक्त [नृशङ्खकमप्यङ्ग-य तथा अर्त्तसङ्खकमप्यङ्ग-य] प्रकारों [मैंसे अर्त्तसङ्खकमप्यङ्ग-य वचनिरूप प्रकार] के समाभयसे नवीनता [प्राप्ति] का [उदाहरण] ऊँस—

१ केनामिभूयते वि ही ।

२ 'तत्राक्षरकमप्रकारसमाभयेनाम्बधान्' वि ही में 'यथा'के पूर्व इतना पद अधिक है ।

निद्राकैतविनाः प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्त्रं वपुः,
 योयत्रासनिद्व्यधुम्बनरसाऽप्यामोगळोळं स्थिता ।
 येऽस्याद्विमुखीमवेदिति पुनस्तस्याप्यनारम्भिनः,
 साकांक्षप्रतिपत्ति नाम हृदयं पार्श्वं तु पारं रतेः ॥
 'इत्यादेः द्रव्योक्तम्—

दृश्यं वासगृहं विडोक्त्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै
 निद्राख्याजमुपागतस्य सुधिरं निवर्णं पत्युर्मुंक्षम् ।
 विस्त्रयं परिसुम्ब्य भावपुञ्जामालोक्त्य गण्डित्यर्थां,
 छत्रान्नमुत्पी प्रियेण हसता बाष्पा विरं सुम्भिता ॥
 इत्यादिषु द्रव्योक्तेषु सत्त्वपि नक्षत्वम् ।

[नवपरिजीता] वधू नींदका पहामा करके छेदे हुए, पतिके मुँहपर अपना मुख
 रखकर उनके जग जानेके ठरसे अपनी सुम्बनकी इच्छाको रोककर मी [आमोग]
 सुम्बनेस्थाके प्रतिक्षण वङ्गनेके कारण वक्षल [अथवा पार-पार निद्राकी परीक्षा करते
 हुए वक्षल] खड़ी है। और [मिरे सुम्बन कर छेनेसे] छत्रजाके कारण यह कहीं विमुख
 न हो जाय, यह सांचकर [सुम्बनभ्यापारका] भारम्भ न कर सकनेवाले उस [मायक]
 का मी हृदय [मनोरथपूर्ति न हो पानेसे साक्यस मले ही हो परन्तु] रति [रसासाद]
 के पार पहुँच गया ।

इत्यादि द्रव्योक्तकी—

वासगृह [अपने सामेके कमर] को [अम्य सभी आदिस] दृश्य [जानी एकाम्त]
 इत्यकर, धीरसे पसगपरसे धोड़ा-सा बटकर नींदका बहामा किये हुए पतिके मुँहको
 बहुत देरतक [कहीं जाग तो नहीं रहे हैं इस दृष्टिसे] देलनके बाद [वास्तवमें सा पदे
 हैं पसा समझकर] विभ्यान्पूर्वक सुम्बन करने उनके कपोलोंको [सुम्बनके कारण]
 रोमाञ्जुक बलकर, छत्रास नक्षमुखी उस नयोडा वधूको हैंमते हुए पतिके बहुत बर
 तक सुम्बन किया ।
 इत्यादि द्रव्योक्तोंके रहते हुए मी ['निद्राकैतविनाः' इत्यादि नवीन द्रव्योक्तमें]
 नूतनता प्रतीत होती है ।

दृश्यं वासयद' इत्यादि द्रव्योक्तमें 'बादा'रूप आकम्बन, दृश्य वासयहादि उदीम्नविभाव
 ब्रह्म आदि ध्यामिचारिभाव उभयकारण परिसुम्बनरूप अनुभाव आदिस वयपि गृहकारण वपया
 गोचर होता है। परन्तु धिर मी ब्रह्म ध्यामिचारिभावके स्वगन्धवाप्यत्व तथा निवर्ण' परमें भुक्ति
 दुःख आदि शोणोंके कारण रसापकन शान्त अनिचार्य है। उसकी अनेका प्रायः उदी धारके शोषक
 'निद्राकैतविनाः' इत्यादि द्रव्योक्तमें दोनोंकी परस्पर सुम्बनाभिलाषापरणने संक्षुब्धमान रति, दोनोंकी
 समानाकार विचारविज्ञे प्रकाशित करती हुई कुछ भद्रमुक्त रूपसे परिवेषको प्राप्त होकर आत्सादका

यथा वा 'ठरङ्गभूमज्ञा' इत्यादि श्लोकस्य 'नानामङ्गिभ्रमदूभूः' । इत्यादि श्लोकापेक्षयाऽप्यत्वम् ॥२॥

'युक्त्यानुसर्तव्यो रसादिर्यद्दुषिस्तरः' ।

'मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाभ्रयात् ॥३॥

बहुविस्तारोऽयं रसभाववदाभासवत्प्रथमलक्षणो मार्गो यथास्व विभाषानुभावप्रमेदं क्लृप्तता, यद्योक्तं प्राक् । स सर्वं पदानया युक्त्यानुसर्तव्यः । यस्य रसादेराभ्रयादयं काव्यमार्गः पुरावनैः कविभिः सहस्रसंस्मरैरसंस्मरैर्वा बहुप्रकारं क्षुण्णत्वान्मिथोऽप्यनन्ततामेति^१ ।

रसभाषादीनां हि प्रत्येकं विभाषानुभावव्यभिचारिसमाभ्रयादपरिमितत्वम् । तेषां चैकैकप्रमेदापेक्षयापि तावच्चगद्बहुचमुपनिबन्धमानं सुकविभिस्तद्विच्छान्नावन्यथा स्थितमप्यन्यथैव विवर्तते । प्रतिपादितं चैतद्विचित्रविचारवसरैः ।

विषय बनती है । और उस रसके भास्वादिमें अर्थ प्रतिबन्धक नहीं है । अतएव अतच्छब्दकमप्यङ्गव्यनिकं धाम्नात्मके कारण इसमें अपूर्वता प्रतीत होती है ।

अथवा जैसे 'ठरङ्गभूमज्ञा' इत्यादि [पृ० १२ पर दिये हुए] श्लोककी 'नानामङ्गिभ्रमदूभू' इत्यादि [प्राचीन] श्लोककी अपेक्षा [असंख्यप्रथममप्यङ्गव्यनिके प्रभावसे] अपूर्वता प्रतीत होती है ।२।

इसी प्रकार अत्यन्त विस्तृत रसादिक्य अनुसरण करना चाहिये । जिसके आश्रयसे परिमित काव्यमार्ग भी अनन्तताको प्राप्त हो जाता है ।३।

जैसा कि पहिले कह चुके हैं रस, भाष तदामास और तत्प्रथमरूप [रसादि] मार्ग अपने विभाव अनुभाष आदि प्रमेदोंकी गणनासे अत्यन्त विस्तृत हो जाता है । उस भयका उम्नी प्रकार अनुसरण करना चाहिये । जिस रसादिके आश्रयसे सहस्रों अथवा असंख्य प्राचीन कवियों द्वारा नाना प्रकारसे क्षुण्ण होनेसे परिमित काव्यमार्ग भी अनन्तताको प्राप्त हो जाता है ।

रस, भाषादिमेंसे प्रत्येक [अपने-अपने] विभाव, अनुभाष, व्यभिचारिभावके आश्रयसे अपरिमित हो जाता है । उनमेंसे एक-एक मेवकी दृष्टिसे भी सुकवियों द्वारा कल्पित अगद्बहुचान्त [वस्तुतः] अन्य रूपमें स्थित होते हुए भी उन [कवियों] के इच्छा नुसार अन्य रूपमें प्रतीत होता है । यह यात विचित्र [काव्य] के विचारके अश्रयपर [दृतीय उपातकी ४२ वीं कारिकाके 'मायानघेतनाम् घेतनवद्' इत्यादि परिकर श्लोकमें] कह चुके हैं ।

१ दिसा मि ।

२ रसादिर्यद्दुषिस्तरः मि ।

३ मिथो वा मि ।

४ दिसा मि ।

५. मितोऽप्यनन्ततामिति वा मि ।

गाथा वाय कृतैव महाकविना—

अथद्विष्टं वि तदसण्ठिं इव हिअधन्मि जा भिवसेइ ।
अत्यविसेसे सा अजइ विरुद्धकङ्गोअरा वाणी ॥
[अतथास्थिताजपि तथा संस्थितानि हृदये या निवेशयति ।
अथविशयान् सा अयति विरुद्धविगोशरा वाणी ॥ इतिच्छाया]
तदित्यं रसभावाद्यामयं कान्यात्मानामानन्त्यं सुप्रतिपादितम् ॥३॥
एतद्वैवोपपादयितुमुच्यते—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्था काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा ह्यवमान्ति मधुमास इव द्रुमा ॥४॥

तथा हि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव क्षम्यक्षकस्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यमकारसमाभ
येन नवत्वम् । यथा—
“परणीभारणायापुना त्वं क्षय” इत्यादिः,
सपो हिमगिरिस्तत्रैव महान्तो गुरवः स्थिराः ।
पक्षवहितमर्यादाश्चछन्ती विभ्रय मुक्ताम् ॥

इस विषयमें महाकवि [शाब्दिकाहम अथवा किसी अन्य] न गाथा भी
पतायी है—
जो उस [रमणीय] रूपमें [वस्तुतः] स्थित न होनेपाल [मुख भादि] पदार्थ
विशेषोंको भी उस [लोकोत्तरमणीय] रूपमें स्थित-सा हृदयमें जमा देती है । महा
कवियोंकी यह वाणी सर्वोत्कृष्ट है ।

इस प्रकार रस भाषादिके आभयन काव्याय अन्तत हा जात है यह बात
मठी प्रकार प्रतिपादित हा गयी ।
रसिका उपपादन करनके लिए कहत है—
यमन्त क्रानुमें शृङ्गोके समान काव्यमें रसका पाकर पूर्वदृष्ट सार पदार्थ भी
नये-स प्रतीत हान लगत है ।

उदाहरणके लिए विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके दृष्टान्तस्युद्भयरूप सङ्घस्यमन्-
व्यङ्ग्य भेदके आभयसे मधीनता [की प्रतीतिहा उदाहरण] लीस—
‘शृङ्गीके धारण करनके लिए अथ तुम ‘शय’ हा ।
इसकी व्याख्या पृ १५ पर हा चुकी है । परा धान्नागके माथ उभाकी उगमा शम्भु
स्फुट्ठव अश्वारज्जानिरूपमें व्यङ्ग्य है । उनके कारण पर श्गभमा इनी भावक प्रतिपदक अन्त
प्रतीत स्वककी भागा नचन प्रतीत होता है ।

शायनाय, हिमालय भाग मुम महान् [विपुल आकाशपाल तथा महस्वगाठी]
गुरु [भूमारसहस्रम भार प्रतिष्ठित] भार स्थिर [अथत तथा दृढमति] है । शृङ्गीके
मर्यादाका अतिभ्रमण न करत हुए, यलापमान [कम्पायमान भार सामाजिक मयादास
स्युत हानी हुई] शृङ्गीका धारण [तथा पालन] करत है ।

१ विभ्रते वा वि ।
२ किरियं वि शी० ।

इत्यादिषु सस्त्वपि ।

तस्यैवावशाक्तस्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यसमाभयेन नवत्वम्, यथा—

“एवंवादिनि देवर्षी” इत्यादि श्लोकस्य,

कृते वरक्यासापे कुमार्यैः पुलकोद्गमैः ।

सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लक्षप्रयावनताननाः ॥

इत्यादिषु सत्सु ।

अवशाक्तस्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य कविप्रौढोक्तिनिर्मितशरीरबन्धन नवत्वम्,

यथा—

“सम्बद्धं सुरहिमासो” इत्यादेः,

सुरभिसमये प्रपृच्छे सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः ।

रागवतासुस्कलिकाः सहैव सहकारकलिकाभिः ॥

इत्यादिषु सस्त्वप्यपूर्वत्वमेव ।

इत्यादिके होनेपर भी [पूर्वोक्त धरणीधारणायाद्युक्ता त्वं शय इत्यादि उदाहरणमें नूतनता प्रतीत होती है क्योंकि उसमें शम्भुदाफ्तस्युद्भव अलङ्कारध्वनिके कारण अभिनव आदृत्य आ गया है] ।

उन्नी [विवक्षिताम्यपरयाच्य] के अर्घ्यशक्तस्युद्भयरूप संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [भेद] के आभयसे मनीनता [का उदाहरण] जैसे—

‘एवंवादिनि देवर्षी’ इत्यादि [पृष्ठ १३२ पर दिये हुए श्लोक] की

बरकी अर्थात्के अयमरपर लब्धासे मुख नीचा किये हुए कुमारियों पुलकोके उद्गमसे ही आन्तरिक इच्छाको अभिव्यक्त करती हैं ।

इत्यादिके होनेपर भी [इन श्लोकमें लब्धा और स्पृहा पाठ्यरूपमें कथित होनेसे उतनी समत्कारजनक नहीं प्रतीत होती है । ‘एवंवादिनि’ इत्यादि श्लोकमें ये ही अर्घ्यशक्तस्युद्भवध्वनिरूप व्यङ्ग्यके सम्बन्धसे विशेष समत्कारजनक होनेसे अपूर्व प्रतीत होती है] ।

अर्घ्यशक्तस्युद्भव संलक्ष्यक्रमके कविप्रौढोक्तिसिद्ध भङ्गे मनीनता । जैसे—‘सम्बद्धं सुरहिमासा इत्यादि [पृष्ठ १३७ पर उद्धृत] श्लोककी—

वसन्त कर्तुके होनेपर आत्मजवरियोंके साथ ही प्रणयी अंतोकी रम्य उत्कण्ठार्थ सहसा आधिर्भूत होने लगती है ।

इत्यादिके होनेपर भी अपूर्वत्व ही होता है [यहाँ कविप्रौढोक्तिसिद्ध यस्तुन मदनपिडुम्भणरूप यस्तु व्यङ्ग्य वानके कारण मनीन आगता आ जाती है] ।

अर्धशतस्युद्गवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य कविनिबद्धवस्तुप्रौढोक्तिनिष्पन्नसरीरत्वे सवि,
नवरसं यथा—

“वापिअअ हृदिभन्वा” इत्यादि गाथासंज्ञस्य,
करिणी बेहृद्वमरो मह पुत्रो एकककाण्वविणिवाह ।
इभसोन्हाए वह कसो जह कण्डकरण्डअ बहउ ॥

[करिणीसंज्ञकरो मम पुत्र एककण्डविनिवाही ।
हृत्सुपया तथा ह्यो यथा कण्डकरण्डए वहमि ॥इतिच्छाया]

एवमादिष्वर्थेषु सस्त्वप्यनास्तीहृदयैव ।

यथा व्यङ्ग्यस्यमेवसमाभरणं भूतः काव्यार्थांतां नवस्वमुत्पद्यते, तथा व्यङ्ग्यक
मंदसमाभरणेषु । वस्तु मध्यविस्तरमयात्र तिष्ठते । एवमेव सङ्घर्षैर्युद्धम् ॥४॥

अर्धशतस्युद्गव संसह्यममव्यङ्ग्यके कविनिबद्धवस्तुप्रौढोक्तिसिद्धरूप दोनेपर
अभिनयस्य [धारताप्रतीतिना उदाहरण] जैसे—

‘वापिअअ हृदिभन्वा’ [पृष्ठ ११] पर उदाहरण] इत्यादि गाथाके अर्थकी—

[केवल] एक ही वाणके प्रयोगसे [मदमत्त हाथियोंका मारकर] इधमिधमोको
विधवा करनेवाले मेरे पुत्रको उस अमागिनी पुत्रवधूने [मिस्तर सम्भोग द्वारा] पंखा
[क्षीणधीरे] कर दिया है कि [अथ यह क्षाया] तूणीं खरू धूमता है ।

इत्यादि अर्थी [समानाद्यक स्त्रोक] के रहते हुए भी [‘वापिअअ हृदिभन्वा’
इत्यादि स्त्रोकमें कविनिबद्धवस्तुप्रौढोक्तिसिद्ध व्यङ्ग्यक प्रमापसे] नूतनता ही है ।

जैसे एकिके व्यङ्ग्यसमूहके आभयस काव्यार्थोंमें नूतनता आ जाती है जमी
प्रकार व्यङ्ग्यकमूहके आभयस भी [हो सकती है], मध्यविस्तारके मयस उसे नहीं
लिख रहे हैं । सङ्घर्ष [पाठक] उसका रूप ही समझ लें ।

निर्नदस्यगीम तथा हीर्षिता डीकावासे संस्वरसमें ‘वपिअअ’ इत्यादि उदाहरणके रूप निम्न
लिखित पाठ और सिद्ध है—

“साभरविहृद्वीणवहत्काममं समुज्जमन्तेरि ।

अमुद्गवागिन ममरस्त रिणं हृद यथेदि ॥

अस दि गागापस,

उदिसर कभाभेभा बह ज् नवभा विचरि वागनाम् ।

तद अडाकालो म् ममरो दिवभमाविसद ॥

[उदितरकभाभेगा यथा यथा मनका कर्षन्ते वागनाम् ।

तथा तथा लक्ष्यवान हव मन्मना हृदयमाविद्यति ॥ इतिच्छाया]

एतद्गागापेन न चोदरन्तम् ।

[साभर इत्यादि गागाकी छाया तथा व्याख्या पहिले पृष्ठ १३८ पर ही आ चुकी है ।] इस

गाथाके अर्थको—

अत्र च पुनः पुनरुक्तमपि सारतयेवमुच्यते—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विधिषे सम्भवत्यपि ।

रसादिमय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान् ॥७॥

अस्मिन्नर्थानन्त्यहेतौ व्यङ्ग्यपञ्चकभावे 'विधिषे शब्दानां' सम्भवत्यपि कविरपूर्वा र्थलाभार्थी^१ रसादिमय एकस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे अनादवदधीत । रसभावतयामासत्त्वे हि व्यङ्ग्यवद्वयस्यकेषु च यथानिर्दिष्टेषु वर्णपदवाक्यरचनाप्रवन्देष्ववहितमनसः कवेः सर्वमपूर्वं काव्यं सम्पद्यते । तथा च रामायणमहामारणादिषु सङ्ग्रामादयः पुनः पुनर मिहिता अपि नवनवाः प्रकाशन्ते ।

प्रकल्पे चाङ्गी रस एक एवोपनिबन्धमानोऽर्धविशेष्यम छायाविशयं च पुष्पाति । कस्मिन्निति चेत्, यथा रामायणे यथा वा महामारते । रामायणे हि कुरुणे रसः

“कथपाससे घोम्यमान बाह्यिकाभीके स्तन ज्ये-ज्यो मृते ई स्वे-स्यो भक्तरप्रात कामदेव हृदयमे प्रविष्ट हो जाता है ।”

इह गायके अर्धके शाब पुनरपि नहीं होती है । यहाँ द्वितीय श्लोकमें बाष्पाश्लेषा वायु नौवनारम्भमें बाह्यिकाभीके हृदयमें मदनके प्रवेशका बणन है । परन्तु प्रथम श्लोकमें बही अर्थ कवि निबन्धनसूत्रोक्ति-सिद्ध व्यङ्ग्यपञ्चके प्रतीत होनेसे अपिच चमत्कारजनक प्रतीत होता है । काशीके बाह्यिया टीकाजुक्त संस्करणमें 'सागर' इत्यादि और 'उदित्वर' इत्यादि दोनों उदाहरण नहीं मिले हैं । निगमसागरीय संस्करणमें उदित्वर 'क आगे कुछ पाठ पूछा हुआ है । शीघ्रितिकारने उच पाठके उदित्वर मानकर उच पूज कर दिया है । १४।

इस विषयमें धार-धार कहे हुए होनेपर भी साररूप होनेसे [फिर] यह कहते हैं—

इस व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावके नामा प्रकार सम्भव होनेपर भी कवि केवल एक रसादिमय मेदमें [ही] ध्यान लगाये १५।

अर्थोंकी अनन्तताके हेतु इस व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावके नामा रूप सम्भव होनेपर भी अपूर्व [छोकोत्तर चमत्कारपूर्ण काव्य] अर्थोंकी सिद्धिके लिए, कवि केवल एक रसादिमय व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावमें प्रयत्नपूर्वक ध्यान दे । रस भाव और तद्वामास [रसामास तथा भावामास] रूप व्यङ्ग्यव और उनके व्यञ्जक पूर्वोक्त वचन पद वाक्य, रचना तथा प्रबन्धमें साधधान कविके सारा ही काव्य अपूर्व बन जाता है । इसीलिए रामायण महामारत आदिमें संग्राम आदि अनेक पाठ धर्मित होनेपर भी [सप जगह] नये-नये-में प्रणीत होते हैं ।

प्रयत्न [काव्य] में एक ही प्रधान रस उपनिषद होकर अर्धविशेषकी सिद्धि तथा सौम्ययातिदायकी पुष्टि करता है । जैसे कहाँ ? यह पूछा तो [उत्तर यह है कि]

१ विधिषे वा वि ।

२ 'उच्यते' वा उचि ही में नहीं है ।

३ व्यभाषे वि ही ।

स्वयमादिकविना सूत्रितः "शोकः शुकलमागतः" इत्यंबवादिना । निर्व्यूहश्च स एव सीतात्वन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयत् ।

महाभारतेऽपि द्वाकदाभ्यरूपच्छायान्वयिनि कृष्णियाण्डविरसायसानवैमनस्यरायिनी समाप्तिमुपनिबन्धता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धपरय वर्धयत्वा मोक्षरक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः । एतच्चाद्येन विवृत मेवान्यैर्ध्यायविधाधिभिः । स्वयं चाद्रीर्षं तन्वशीषमहामोहमग्नमुग्रिहीपता शोकमतिविमलजानालोक्यायिना शोकनावेन—

यथा यथा विपर्येति शक्यं प्रससारयत् ।

तथा तथा विरगोऽत्र जायते नात्र संशयः ॥

इत्यादि बहुशः कथयता । तदश्च शान्ता रसां रसान्तरैः, मोक्षरक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षाविषय इति महाभारतवात्पर्यं मुख्यत्वमेवावभासते ।

अङ्गाङ्गिभावश्च यथा रसानां तथा प्रतिपादितमेव । पारमार्थिकान्वस्तस्त्वानुपभ्रया

जैसे 'रामायण'में अथवा जैसे महाभारतमें । रामायणमें 'शोकः शुकलमागतः' कहने वाले आदिकवि [वाल्मीकि] ने स्वयं ही करुणरस [का अस्तित्व, प्राधान्य] सूचित किया है और सीताके अत्यन्त वियोगपर्यन्त ही काव्यकी रचना करते वसुधा निषाद भी किया है ।

शास्त्र और काव्यरूप [द्वारों] की छायासंयुक्त 'महाभारत'में भी यादवों और पाण्डवोंके विरस पितादाके कारण वैमलम्यजनक समाप्तिकी स्थिति का महामुनि [व्यास] ने अपने काव्यके वैराग्योत्पादनरूप तात्पर्यके मुख्यतया प्रदर्शन करते हुए मोक्षरूप पुरुषार्थ तथा शान्तरस मुख्य रूपसे [इस 'महाभारत' काव्यका] विषयका विषय है यह सूचित किया है । अन्य व्याख्याकारोंमें भी किसी अंशमें यही व्याख्या की है । और उमड़ते हुए घोर अज्ञानाग्धकारमें निमग्न संसारका उद्धार करनेकी इच्छासे उज्यस शानरूप प्रकाशको प्रदान करनेवाले विश्वज्ञाता [व्यासदेव] ने स्वयं भी—

जैसे जैसे इस विश्वमयक्षत्रे असारता और मिथ्यारूपताकी प्रतीति होती जाती है, वैसे-वैसे इसके विषयमें वैराग्य होता जाता है इसमें कोर समुद्र नहीं है ।

अनेक स्थानोंपर इस प्रकार बहुरंजक प्रकृत किया है । इसलिये गुणीभूत अन्य रसोंमें अनुगत शान्तरस, तथा गुणीभूत अन्य पुरुषार्थों [धर्म अर्थ काम] में अनुगत मोक्षरूप पुरुषार्थ ही मुख्यतया यजनीय है यह 'महाभारत'के तात्पर्य स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है ।

[प्रधानरसके साथ अन्य] रसोंका अद्वाङ्गिमात्र जैसे होता है यह प्रतिपादन का ही शुभे है । वास्तविक आन्तरिक तस्य [आत्मा] की उपेक्षा करके [गीर्ण] गरीबके प्राधान्यके समान [महाभारत]में वास्तविक प्रधानभूत शान्तरस तथा मात्सर्य

शरीरस्थेवाङ्मूढस्य रसस्य च स्वप्राधान्येन वादत्वमप्यविरुद्धम् ।

अनु महाभारते पावाभ्यवशाधिपयः सोऽनुक्रमण्यं सर्वं एवानुक्रान्तो न चैतद्यत्र दृश्यते, प्रस्युत सर्वपुरुषार्थप्रबोधहेतुत्वं सर्वरसगमत्वं च महाभारतस्य तस्मिन्नुद्देशे स्वशब्दनिवेदितत्वेन प्रतीयते ।

अत्रोच्यते—सत्यं, शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं महाभारते, मोक्षस्य च सर्वपुरुषार्थेभ्यः प्राधान्यमित्येतन्न स्वशब्दामिभेयत्वेनानुक्रमण्यं दर्शितम्, दर्शितं तु व्यङ्ग्यत्वेन—

‘भगवान्वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।’

इत्यस्मिन् वाक्ये ।

अनेन द्वयमर्थो व्यङ्ग्यत्वेन विवक्षितो यत्र महाभारते पाण्डवाधिपरितं यस्कीर्त्यते ‘तस्सर्वमवसानधिरसमविद्याप्रपञ्चरूपश्च, परमार्थसत्स्वरूपस्तु भगवान् वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते । तस्मात् तस्मिन्नेव परमेश्वरे भगवति भवत भावितचेतसो, मा भूत विमूर्षिषु निःसारसु रागिणो गुणेषु वा नयविनयपटक्रमादिष्वमीषु केषुकेषु केषुचित्सर्वात्मना प्रतिनिविष्टभिः । तथा चामे—पश्यत निःसारतां संसारस्येत्यमुमेवार्थं द्योतयन्’ स्फुट-

पुरुषार्थकी अपेक्षा करके अन्य चीर भादि रस तथा धर्म भादि पुरुषार्थ] रस तथा पुरुषार्थके अपने प्राधान्यसे भी खाकत्व माननेमें भी कोई विरोध नहीं है [परन्तु पारमार्थिक रूपमें यह मूढ विचारके सहदा ही होगा] ।

[प्रश्न] ‘महाभारत’में जितना प्रतिपाद्य विषय है वह सब ही [इसकी] अनुक्रमणीमें क्रमसे [स्वयं ही] लिख लिया गया है । परन्तु यहाँ यह [शास्त्ररत्न तथा मोक्ष पुरुषार्थका प्राधान्य] दिखलाई नहीं देता है । इसके विपरीत ‘महाभारत’का सब पुरुषार्थोंके धानका हेतुत्व और सर्वरसयुक्तत्व उस स्थान [अनुक्रमणी] में स्वयं शब्दसे सूचित प्रतीत होता है ।

[उत्तर] इस विषयमें हम यह कहते हैं कि यह ठीक है ‘महाभारत’में शान्त रसका ही मुख्यत्व और [अर्थ] सब पुरुषार्थोंकी अपेक्षा मोक्षका प्राधान्य, ये [दोनों] अनुक्रमणीमें अपने धातक शब्दोंसे नहीं दिखलाये हैं, परन्तु व्यङ्ग्य रूपसे दिखलाये हैं ।

‘इस [‘महाभारत’] में गीत्य वासुदेव भगवान्की कीर्ति गायी गयी है ।

इस वाक्यमें ।

इस [वाक्य] में यह अर्थ व्यङ्ग्य रूपसे विवक्षित है कि इस ‘महाभारत’में पाण्डव भादिके चरित्रका वर्णन जो किया जा रहा है वह सब विरमाद्यमान और अधिद्याप्रपञ्चरूप है । परमार्थ स्वरूपरूप भगवान् वासुदेवकी ही यहाँ कीर्ति गायी गयी है । इसलिये उक्त परम ऐश्वर्यशाली भगवान्में ही अग्रता मत जगाओ । निःसार

१ ‘नमस्सर्वमवसानधिरसमविद्याप्रपञ्चरूपश्च, परमार्थसत्स्वरूपस्तु भगवान् वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते इत्यत्र वाद मि में नहीं है ।

२ इत् मि ।

३ द्योतयन् मि

मेवावभासते इत्युक्तप्रकरणानुगृहीतश्च शब्दः । एयत्रियमेवाथ गर्भीकृतं सन्दशापन्वोऽनन्तर
शब्दाका लक्ष्यन्त । 'स हि सत्यम्' इत्याद्याः ।

अथ च निगुरमणीयोऽर्थो महाभारतवाचसान हरिवंशवाचनेन समाप्तिं विदमवा
तेनेत्र ऋषिवेचसा कृष्णवैपायनेन सम्यक्स्फुटोक्तः । अनेन चार्थेन संसारतीवरे, तस्वान्तरे
मकस्यतिशयं प्रवर्तयता सकृत् एव सांसारिका व्ययहारः पूवपञ्चीकृतोऽप्यक्षेपे' प्रकाशते ।
देवतातीवतपःप्रभृतीना च प्रभावातिशयवर्णनं सत्यैव परब्रह्मणः प्राप्त्युपायत्वेन तद्विभूति
त्वेनेव देवताविशेषाणामन्यथा च । पाण्डवादिभरितवर्णनस्यापि वैराग्यजननतात्प्याद्वैरा

पिभूतिधर्मो भुरुरा मत् हा । अथवा मीति यिनय पगाक्रम भादि क्यल इन किर्ही
गुणोमे पूण रूपस अपन मनका मत् लगाभा । भार व्याग— संसारकी नि-सारताका
दका' इसी अथका व्यङ्ग्यव्यञ्जक शक्तिस् युक्त शब्द भूमिस्यक्त करने हुए प्रतीत
हाते हैं । इसी प्रकारके अन्तर्निहित अर्थका प्रकट करनेवाले भागके स हि सत्यं
इत्यादि श्लोक विशेषार हाते हैं ।

अनुक्रमणिकाके वे ल्यक भिन्न निदेश यहाँ किया गया है इन प्रकार हैं—
वेदं यागं सविज्ञानं गर्भोऽयः काम एव च ।
ब्रह्मसकामशास्त्राणि शास्त्राणि त्रिविधानि च ॥
साकृत्प्राप्तविज्ञानं च सम्भूतं ह्यहान् नार्थि ।
इतिहासा तत्रैवावस्था विधिषाः भूतवाच्यि च ।
इह सप्तमुज्ज्वलन्तमुक्तप्रमथस्य जगत्सु ॥

इत्यादिमें सर्वपुरुषार्थके प्रतिपादनका बचन है । वे प्रानकृताके अभिमत श्लोक हैं । उचर
पद्यकी ओरसे निर्दिष्ट श्लोक निम्नलिखित हैं—
मगशान् वागुरेवत्य कीवतः सनातन ।
न हि नपमृतं वीर पवित्रं पुण्यमेव च ॥
घारवतं ब्रह्म परमं मुकै व्याप्तिं सनातनम् ।
यद्यद्विष्मन्ति कामानि कश्चपन्ति मनीषिन ॥

इस निगूढ़ और रमणीय अर्थका 'महाभारत'के अन्तमें हरिवंशक वणजम समाप्ति
की रचना करते हुए उर्हीं कवि प्रजापति हृष्ण वैपायन [प्यान्] न ही मसी प्रकार
स्पष्ट कर दिया है । भार इस अर्थस साक्षात्तर जगत् तत्त्वमें प्रगाड प्रसिद्धा प्रपृष
करते हुए [महाकवि व्यास] न ममस्त सांसारिक व्ययहारका ही पूवपत्ररूप [वाचित
वियय] यमा दिया ह यह बात प्रत्यक्ष प्रतीत हाती है । व्ययता तीथ और तप भादिक
अतिशयके प्रभायका वणन उन्ही परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय ज्ञानस ही भार उमकी
पिभूतिरूप ज्ञानस अन्य व्ययताविशेषोंका वणन [महाभागमें किया गया] है । पाण्डव
भादिके चरित्रके वर्णनका भी वैराग्यारपादनमें तात्पर्य ज्ञानम भार धरात्यक मास हु

१ अक्षेपे वा मि ।

ग्यस्व च मोक्षमूखत्वान्मोक्षस्य च भगवत्प्राप्त्युपायत्वेन मुख्यतया गीतादिषु प्रदर्शितत्वात्
स्वरूपप्राप्त्युपायत्वमेव परम्परया ।

वासुदेवाविसंज्ञाभिधेयत्वेन चापरिमितशक्त्यास्पदं परं ब्रह्म गीतादिप्रदसान्तरेषु तत्र
मिथानत्वेन लक्ष्यप्रसिद्धिं माधुरप्रादुर्भावात्कृतसकलस्वरूपं विवक्षितं न तु माधुरप्रादु
भावात् एव, सनातनशत्रुविशेषितत्वात् । रामायणादिषु चानया संज्ञया भगवन्मूल्यन्तरे
व्यवहारदर्शनात् । निर्णीतश्र्वायमवः शम्भुत्वविविद्धिरेव ।

तत्रैवमुक्तमणीनिर्विष्टेन वाक्येन भगवद्दृढवसिरेकिजः सद्यस्याम्यस्यनित्यतां
प्रकाशयता मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्रनये, काव्यनये च वृष्णाक्षयसुख
परिपोषणक्षणः क्षान्तो रसा महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम् ।

अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यङ्ग्यत्वेनैव दर्शितो, न तु वाक्यत्वेन । सारभूता
इत्यः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव श्लोभाभाबहति । प्रसिद्धिश्र्वायमस्यैव

तथा माक्षके मुख्यतः परब्रह्मकी प्रासिका उपायरूपसे गीतादिमें प्रतिपादन होनेसे पर-
म्परया [पाण्डवादि चरितयत्नेन मी] परब्रह्मकी प्रासिके उपायरूपमें ही है ।

'वासुदेव' भादि इन संज्ञाओंका वाक्यार्थ, गीतादि अन्य स्थलोंमें इस नामसे
प्रसिद्ध अपरिमित शक्तियुक्त मधुरामें प्रादुर्भूत [कृष्णाद्यत्तार] द्वारा प्राण किये
[रामादि] समस्त रूपयुक्त परब्रह्म ही अभिप्रेत है । केवल मधुरामें प्रादुर्भूत
[वासुदेवके पुत्र कृष्ण] अंशमात्र नहीं । क्योंकि उसके साथ सनातन विशेषण दिया
हुआ है । और रामायण भादिमें इनी [वासुदेव] नामसे भगवान्के अन्य स्वरूपोंका
भी व्यवहार विलम्बार्ह होता है । शास्त्रत्वके विशेषणों [वैयाकरणों] ने इस विषयका
निर्णय मी कर दिया है ।

अथ'बहु'शब्दके अन्तर्गत् इति पाणिनिस्त्रके भाष्यपर 'महामा'के टीकाकार कैयने
लिखा है—

'कथं पुनर्विज्ञानां शब्दानामनित्याम्बुकादिबंधाभयमात्राकृपान मुम्यत ! अत्र समाधि ।
त्रिपुरयारुं नाम कुर्वांति म्भावेनान्वकादिबंधा अपि नित्या एव । अन्त्याऽनित्याभाभयेष्वपि नित्या
न्याम्पानं हस्यते । यथा शकाभवेण कारुत्व ।'

इनी रूपपर कायिकाकारने लिखा है कि—

शब्दा हि नित्या एव सन्तानन्तरं काकृतात्प्रेषणात् तथा सद्भूतिता ।'

इस प्रकार भगवान्को छोड़कर अन्य सब वस्तुओंकी अभिरथता प्रकाशित
करनेपास अनुब्रजमी निर्दिष्ट वाक्यस्य शास्त्रवदिति केवल मोक्षरूप परम पुरुषार्थ [ही
'महामा'का मुख्य पुरुषार्थ] और वाक्यवदिति वृष्णाके क्षयने अन्य सन्तापसुखके
परिपोषणरूप शास्त्ररस ही 'महामा'का प्रथम रस अभिप्रेत है यह भली प्रकार प्रति
पादन कर दिया गया ।

अथस्त साररूप ज्ञानने यह अर्थ ['महामा' में शास्त्ररस और मोक्ष पुरुषार्थका
प्राधान्य] व्यङ्ग्य [व्यति] रूपसे ही प्रदर्शित किया है, वाक्य रूपसे नहीं । सारभूत अर्थ

विद्मन्विद्वत्परिपत्सु यश्चिमिवतरं बस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेनेव । तस्मात्तिवतमेतत्—अङ्गीभूतरसासाधामयेण काव्ये क्लिपमाणे नवनवाधामो भवति न च पद्यधारा न महती सम्पद्यत इति ।
अथ एव न रसानुगुणाधिविशेषोपनिबन्धमलङ्कारान्तरविरुद्धेऽपि धावाविशाययोगि लक्ष्ये दृश्यते । यथा—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः ।
येनैकचुलके दृष्टो विभ्यो वी मत्स्यकच्छपो ॥

इत्यादौ । अत्र अद्भुतरसानुगुणमैकचुलके मत्स्यकच्छपदर्शनं धावाविशयं पुण्याति । तत्र एकचुलके सकलब्रह्मनिधिसन्निधानादपि दिव्यमत्स्यकच्छपदर्शनमश्रुण्णत्वाद्भुतरसानुगुणवत् । ह्युर्णं हि बस्तु लोकप्रसिद्धाद्भुतमपि नाभयैकारि भवति । न चाश्रुणं वस्तुपनिबन्धमानमद्भुतरसस्यैवानुगुणं यावत्प्रसान्तरस्यापि । यथा—

सिञ्ज् रोमसिञ्ज् इव इ रच्छानुसन्नपङ्किलनो ।
सोपासो अत्र वि' सुहृत् वीह लेभासि बोलीणो ॥
[स्तिपति रोमाश्च वि वेते रभ्यानुलाप्रप्रतिलग्न ।
त पान्त्रोऽप्यापि सुभग येवास्पतिक्रान्त ॥ इतिच्छाया]

अपने पाषक शब्दसे वाच्यरूपमें उपस्थित न होकर [व्यङ्ग्यरूपसे] प्रकाशित होता है तो अत्यन्त गामाको प्राप्त होता है । अतुर विद्वानोंकी मण्डलीमें यह प्रसिद्ध है ही कि अधिक भूमिगत वस्तु व्यङ्ग्यरूपसे ही प्रकाशित की जाती है साक्षात् वाच्यरूपसे नहीं । इसलिये यह सिद्ध हुआ कि प्रधानभूत रसके भावयस काव्यकी रचना करनेपर नवीन अर्थकी प्राप्ति होती है और रचनाका सौम्य वस्तु अधिक बढ़ जाता है । इसीलिये अन्य अलङ्कारोंके अभावमें भी रसके अनुरूप अर्थविवरणकी रचना काव्योंमें सौम्यपारिपदासिद्धिनी विमलार्थ देती है । जैसे—

योगिपदं महात्मा भगवस्य मुनि [की जय हो] सर्पोत्पट्ट है जिन्दान एक ही शुल्द्रमें वन विष्य मत्स्य और कच्छप [अपठारों] का दान कर लिया ।
इत्यादिमें । यहाँ अद्भुतरसके अनुकूल एक शुल्द्रमें एक कच्छपका दान कर लिया ।

द्वान [अद्भुतरसके] सौम्यका अत्यन्त बढ़ाता है । उनमें एक शुल्द्रमें सम्पूर्ण दानसे अद्भुतरसके अधिक अनुकूल है । लोकप्रसिद्धिमें अत्यन्त अद्भुत दानपर भी अनक पारकी देली हुए वस्तु भावयसोत्पादक नहीं होती । अपुय वस्तुका वणन न केवल अद्भुतरसके अपितु अन्य रसोंके भी अनुकूल होता है । जैसे—
दे सुभग उम सैकरी गलीमें [तुलामेण क्यकतानीयन], अक्स्मात् उम [मिरी छानी भायिका] के जिस पारदर्शसे अगहन तुम निकल गये थे वह पाप्य अथ भी म्येद युक्त रोमाश्चिन्त और कम्पित हो रहा है ।

। तर अतीरि ।

एतद् गाथार्थाद्भाष्यमानाया रसप्रतीतिर्भवति, सा त्वां दृष्ट्वा स्वियति रोमाञ्छते
बेषते इत्येवैविभाष्यात् प्रतीयमानान्मनागपि नो जायते ।

तदेवं ध्वनिप्रमेदसमाभयेण यथा काव्यार्थानां नवत्वं जायते तथा प्रतिपादितम् ।
गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि त्रिमेदव्यङ्ग्यवापेक्षया ये प्रकारस्तत्समाभयेनापि काव्यवस्तुनां
नवत्वं भवत्येव । एतद्वि विस्तारकारीति नोवाहृतं, सङ्ख्यैः स्वयमुत्प्रेक्षणीयम् ॥५॥

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाभयात् ।

न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥६॥

सत्त्वपि पुरातनकविप्रवचेषु यदि स्वात्प्रतिभागुणः । वस्मिस्त्वसति न किञ्चिदेव
कवेर्वैस्त्वसि । यच्चच्छायात्पर्वद्वयानुरूपशब्दसन्निवेशोऽर्थप्रतिभानामात्रे कथमुपपद्यते ।
अनपेक्षितार्थविशेषाद्भाररचनेव बन्धच्छायेति मेवं नेदीयः सङ्ख्ययानाम् । एवं हि सत्यार्थं

इस गाथाके अर्थकी भाषणा करनेसे जो रसकी प्रतीति होती है वह तुमको
वेखकर [स्यूटा पाठ भी है, झुंकर] वह [नायिका] स्वेदयुक्त पुरुषकित और कम्पित
होती है इस प्रकारके प्रतीयमान अर्थसे बिलकुल नहीं होती है । [त्वां दृष्ट्वा स्वियति
इत्यादि अर्थ विरपरिचित है और] उसके व्यङ्ग्य होनेपर भी उतना समझकर नहीं
प्रतीत होता [अितना ऊपरके श्लोकमें वर्णित नहीं कल्पनायुक्त अर्थके व्यङ्ग्य होनेपर
प्रतीत होता है] ।

इस प्रकार ध्वनिमेदोंके आश्रयसे जिस प्रकार काव्यार्थोंमें मधीनता आ जाती है
वह प्रतिपादन कर दिया । तीन प्रकारके व्यङ्ग्य [रसादि वस्तु तथा अलङ्कारकी]
दृष्टिसे गुणीभूतव्यङ्ग्यके भी जो मेद होते हैं उनके आश्रयसे भी काव्यवस्तुओंमें
मधीनता आ जाती है । यह [उदाहरण देनेपर] अस्यन्त विस्तारजनक है इसलिये
उसके उदाहरण नहीं किये हैं । सङ्ख्योंको स्पष्ट समझ लेना चाहिये ।५।

यदि [कथिमें] प्रतिभागुण हो तो इस प्रकार ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यके
आश्रयसे काव्यके [धर्मेतीय रमणीय] अर्थोंकी कमी समाप्ति ही नहीं हो सकती है ।६।

प्राचीन कथियोंके प्रपञ्चों [काव्यों] के रहते हुए भी, यदि [कथिमें] प्रतिभागुण
है [तो मधीन धर्मेतीय तत्त्वोंकी समाप्ति नहीं हो सकती है] और उस [प्रतिभा] के न
होनेपर तो कथिके [पास] कोई वस्तु नहीं है [जिससे यह अपूर्ण समझारयुक्त काव्यका
निर्माण कर सके] । दोनों अर्थों [ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य] के अनुरूप शब्दोंके
सन्धिदेशरूप रचनाका सौन्दर्य भी [आयश्यक] अर्थोंकी प्रतिभा [प्रतिमान, प्रतिभा] के
अभावमें कैसे आ सकता है ? [ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य] अर्थोंकी अपेक्षाके बिना ही
अलङ्कारकी रचनामात्र ही रचनाका सौन्दर्य [रचना सौन्दर्यजनक] है यह बात सङ्ख्योंके
[शब्दके] समीप नहीं पहुँच सकती । ऐसा होनेपर [ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्यके

१ प्रतीचमात्रात्मना हि ।

२ सन्धिदेशेऽर्थं वा वि ।

नपेक्षचतुरमधुरवधनरचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत । दाम्प्यार्थयोः साहित्येन
 काव्यत्वे कर्म तथाविधे विषये काव्यव्यवस्थेति चेत्, परोपनिवर्ण्यविरचने यथा
 तैस्काव्यव्यवहारस्तथा तथाविधानां काव्यसन्दर्भानाम् ॥६॥

न चार्थानन्तर्व्यङ्ग्य-व्याप्यैश्चैव, यावद्वाक्यार्थापेक्षयापीति प्रतिपादयितुमुच्यते—
 अथस्यापेक्षाकालादिविशेषैरपि जायत ।
 आनन्त्यमेव याच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभायत ॥७॥

शुद्धस्थानोपेक्षितव्यङ्ग्यस्यापि याच्यस्थानन्त्यमेव जायते स्वभावतः । स्वभावो
 ह्यर्थं वाक्यानां वेतनानामपेवनानां च यदवस्थामेदादेशमेदात्कालमेदात्कालस्यमेदात्
 नन्वता भवति तत्र तथा व्यवस्थितैः सङ्घः प्रसिद्धानेकस्वभावानुसरणरूपया स्वभावो
 क्त्वापि तावदुपनिवर्ण्यमानोतिरवधिः काव्याच्च सम्पद्यते । तथा ह्यवस्थामेदान्नवत्वं
 यथा—

विना भी अक्षररचनामात्रस रचनार्थं सीम्बर्य मानसत्) ता अर्थहीन [अभि गुणीभूत
 व्यङ्ग्य अर्थसे रहित] चतुर [समास भादि रूपसे सङ्घटित] और मधुर [मृदुकामल
 असर्पसे परिपूर्ण] रचनार्थं भी काव्यव्यवहार हान लगेगा । शब्द और अर्थ दोनोंके
 सहभाव [साहित्य] में ही काव्यत्व जाता है इसलिये उस प्रकारके [अर्थहीन चतुर, मधुर
 रचना] विषयमें काव्यत्वकी व्यवस्था कीसे होगी [अर्थात् काव्यव्यवहार प्राप्त नहीं
 होगा] यह कहें ता [उत्तर यह है कि] दूसरेके [मठमें] उपनिषद् [शास्त्रनिरपेक्ष उत्पन्न
 व्यनिरूप] अर्थ [से युक्त रचनार्थं जैसे [केवल अर्थके वीशिष्टपसे] काव्यव्यवहार
 [यह करता] है इसी प्रकार, इस तरहके [अर्थनिरपेक्ष शास्त्ररचनामात्र] काव्य
 सन्दर्भोंमें भी [काव्यव्यवहार] होम लगेगा [अतएव अर्थनिरपेक्ष अक्षररचनामात्र
 रचनासीम्बर्यका इतु नहीं है] । १।

केवल व्यङ्ग्य अर्थके कारण ही अर्थोंमें अनन्तता [विधित्रता नूतनता] नहीं
 आती है अपितु वाच्य अर्थ विदोषकी अपेक्षास भी [अधकी अनन्तता, नूतनता] हा
 सकता है । इसीको प्रतिपादन करनेके लिये कहते हैं—
 शुद्ध [व्यङ्ग्यनिरपेक्ष] वाच्य अर्थकी भी अपेक्षा द्वा काल भादिके वीशिष्ट-
 शुद्ध अर्थात् व्यङ्ग्यनिरपेक्ष वाच्य [अर्थ] का भी स्वभावतः आनन्त्य ही ही जाता
 है । घटन बार अन्ततम वाच्य अर्थोंका यह स्वभाव है कि अयस्वामद् इशमेद कात्ममद्
 और न्यरूपमेदस [उनकी] अनन्तता हा जाती है । उन [वाक्यार्थों] क उस प्रकार
 [अथव्यादि मद्मं नये-नय अर्थोंके प्रकाशनरूपमें] व्ययन्वित हानेपर अन्तक प्रकारके
 मनिद स्वभावोंके वर्णनरूप स्वभावाकिले भी [वाक्यार्थोंकी] रचना करनपर काव्यार्थ
 अनन्तरूप हा जाता है । इतमेंम अवस्थामद्क कारण मधीनता जैसे—

१ प्रवर्तते नि ।
 २ त-काव्यव्यवहार रचनारा नि ।
 ३ व नहीं है ही ।

मगवती पार्वती कुमारसम्भवे 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादिभिरुक्तिभिः प्रथममेव परिसमापितरूपवर्णनापि पुनर्भगवतः स्तम्भोर्ध्वनगोबरमायाम्नी 'वसन्तपुष्पा मरणं वहन्ती' मन्मथोपकरणभूतेन मङ्गलवन्तरेणोपवर्जिता । सैव च पुनर्नर्बोद्धाहसमये प्रसाम्यमाना 'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम्' इत्याद्युक्तिभिर्नर्बेनैव प्रकारेण निरूपित रूपसौष्ठवा ।

न च ते तस्य कवरेकत्रैवासकृत्कृता वर्णनप्रकारा अपुनरुक्तत्वेन वा नवनवार्थ निर्भरत्वेन वा प्रतिभासन्ते ।

'कुमारसम्भवे'में 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादि उक्तियोंमें पहिले [एक बार] मगवती पार्वतीके रूपवर्णनके समाप्त हो जानेपर भी फिर दाहुर मगधान्के सामने आती हुई पार्वतीको 'वसन्तपुष्पामरणं वहन्ती' इत्यादिसे कामदेवके साधनरूपमें प्रकाशित करनेसे फिर [दुबारा] वर्णन किया गया है । और फिर नवीन विवाहके समय [सती रूपमें धियाहके पात्र फिर दूसरे जन्ममें पार्वतीरूपमें शिवके साथ विवाह, नवीन विवाह शप्तस भूमिप्रेत हैं] अकृत्कृत की जाती हुई पार्वतीके सौम्यरूप 'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम्' इत्यादि उक्तियोंसे फिर [तीसरी बार] नये ङंगसे उसके सौम्यरूपका वर्णन किया गया है [अवस्थामेंसे किये ये सब वर्णन सुन्दर प्रतीत होते हैं] ।

परन्तु कविके एक ही जगह अनेक बार किये हुए ये [एक ही प्रकारके] वर्णन अपुनरुक्तरूप अथवा अभिनयार्थपरिपूर्णरूप नहीं प्रतीत होते हैं [उसका ध्यान रखना चाहिये] ।

"न च ते तस्य कवरेकत्रैवासकृत्कृता वर्णनप्रकारा अपुनरुक्तत्वेन वा नवनवार्थनिर्भरत्वेन प्रतिभासन्ते ।" यह पाठ आपाठक कुछ अल्पम-सा हीनता है । क्योंकि इसके पूर्व वाक्यमें यह दिसनाया है कि पार्वतीके रूपका तीन बार वर्णन करनेपर भी वह नवीन ही प्रकट होता है । इसी प्रकार हम वाक्यक बाहके मान्य द्वारा 'विपनबाणनीला'का जो श्लोक उद्धृत किया है वर भी इस प्रकारकी कविशास्त्रीकी अपुनरुक्ताका ही प्रतिपादन करता है । इतिहास सामान्यतः व वर्णन पुनरुक्त अथवा नवनवार्थप्रकट प्रतीत नहीं होते हैं । इस प्रकारके अभिप्रायको प्रकट करनेबाला वाक्य होना चाहिये । अर्थात् 'अपुनरुक्तत्वेन'के स्थानपर 'पुनरुक्तत्वेन' और 'नवनवार्थनिर्भरत्वेन'के स्थानपर 'नवनवार्थप्रकटत्वेन' ऐसा पाठ होना चाहिये या । तब इस वाक्यकी सङ्घट्टि ठीक लगती । परन्तु सभी संस्करणोंमें 'अपुनरुक्तत्वेन' और 'नवनवार्थनिर्भरत्वेन' यही पाठ पाया जाता है । अतएव 'निस्तस्य गतिरिवन्तनीया के अनुसार हमने हमकी व्याख्या करनेका प्रयत्न किया है ।

इस पाठके अनुसार इस वीरिका का यह है कि यद्यपि एक पदावका अनेक बार वर्णन होनेपर भी इसमें नवीनता आ जाती है, परन्तु व सब वर्णन एक स्थानपर नहीं अर्थात् अलग-अलग होने चाहिये एक ही स्थानपर किये हुए ऐसे वर्णनोंमें तो पुनरुक्ति ही होती है । वे अपुनरुक्त अथवा नवनवार्थनिर्भरत्वेन नहीं प्रतीत होय । अतएव कविको इस बातका ध्यान रखना चाहिये ।

१ (इत्यादि) कोडक मत कविके है नि ।

२. निरूपितकीहवा नि ।

दर्शितमेव चैतद्विषयमवाणसीलावाम्—

य अ ताण चड्ड ओही य अ ते दीसन्ति कइ वि पुनरुदा ।

अ विष्ममा पिजाणं अत्था वा सुकइवाणीजम् ॥

[य च तेषां घटनेऽपिर्न च ते हृत्पन्ने कथमपि पुनरुदा ।

ये विभ्रना मियाचामर्भा वा सुकविवाणीनाम् ॥ इतिष्काभा]

अयमपरआवस्थाभेदप्रकारा यद्वेदनानां सर्वेषां वेदनं द्वितीयं रूपमभिमानित्व प्रसिद्धं हिमवद्गङ्गादीनाम् । तच्छोभितवेदनविषयस्वरूपपोन्नपोपनिषद्यमानमन्येषु सम्पाद्यते । यथा कुमारसम्भव एव पर्यवस्वरूपस्य हिमवतो वणनं पुनः सप्तपिप्रियोत्तिपु वेदनतत्स्वरूपापन्नया प्रदर्शितं तदपूर्वमेव प्रतिभाति । प्रसिद्धायां सत्कवीनां मार्गः । इदं च प्रत्यानं कविभ्युत्पत्तये विषयमवाणसीलायां सम्पत्त्वं दर्शितम् ।

वेदनानां च वासवाद्यवस्थाभिरन्यत्वं सत्कवीनां प्रसिद्धमव । वेदनानामवस्थाभेदऽप्यवान्तरावस्थामेवाभ्यानाम् । यथा कुमारीणां कुसुमशरमिजह्वयानामन्यासां च । यत्रापि विनीतानामविनीताना च ।

यह एक विशेष पाठ बीचमें इस वाक्य द्वारा प्रतिपादन कर दी है । इसके बाद ओ 'विषय वाणसीला'का उदाहरण दिया है उसका सम्बन्ध इस वाक्यसे नहीं अपितु पूर्ववाक्यसे है, यह समझना चाहिये । तभी तबकी सद्दति ठीक होगी । एतद्विषय इमने उठे अन्त्या-अन्तग अनुच्छेदके रूपमें रखा है । बरिने अनुच्छेदके साथ मिलाकर पाठ नहीं रखा है ।

यह हम 'विषयमवाणसीला'में लिखला ही बुके हैं—

प्रियतमाओं [अथवा प्रियजनों] के जा हाथ-भाप और सुकवियोंकी याणीके जा अर्थ हैं इमकी न कोई सीमा ही बन सकती है और न य [किसी भी वशमें] पुनरुक्त प्रतीत होते हैं ।

अन्यथाभेदका यह और [दूसरा] प्रकार भी है कि हिमालय गङ्गा आदि सभी अन्ततम पर्वतीयका अभिमानी [अभिमानी दयता] रूपमें दूसरा अन्ततम भी प्रसिद्ध है । और यह उचित अन्तम विषयके स्वरूपपोजनाने उपनिषद [प्रथित] हाकर [अन्ततम रूपस भिन्न] कुछ और ही हा जाता है । जैसे 'कुमारसम्भव'में ही [आरम्भमें] पयत्क रूपस हिमालयका वणन [है], फिर सप्तपियोंके प्रिय वधनों [आट्टकियों]में उस [हिमालय]के अन्ततम स्वरूपकी दृष्टिस प्रदर्शित या [हिमालयका दुयारा किया हुआ वर्णन] अप्य-सा प्रतीत होता है । और सत्कवियोंमें यह माग [अन्ततमों व अन्ततम वधनका माग] प्रसिद्ध ही है । कवियोंकी स्युरपत्तिके लिए 'विषयमवाणसीला'में इस मागका इमन बिलारपूर्वक प्रदर्शित किया है ।

अन्तनोंका यान्य आदि अन्यथाभेदमें भद् सत्कवियोंमें प्रसिद्ध ही है । वेदनोंक अयस्थामद्क [वधन]में अयात्तर अन्यथाभेद भी भद् हा सकता है । जैसे वामन वाणम बिद्य हृदयवादी तथा अन्य [अन्य] कुमारियोंक [अयात्तर अयस्थामद्क] भद् होता है । उनमें भी यिनोत [मद्य] और उक्तदृष्ट [अन्याओं]का [अयात्तर अवस्था आदिवे मेदसे जानाव ही जाता है] ।

अचेतनानां च भावानामारम्भाद्यवस्थाभेदभिन्नानामेकैकशः स्वरूपमुपनिबन्धमानन्त्य
मेवोपयाति । यथा—

इंसानो नित्येषु ये क्वचित्तरासन्त्यते कूत्रता
मन्यः क्वेऽपि कपायकण्डकृटनादापयरो विभ्रमः ।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधून्ताङ्कुरस्वर्षिनो
निर्याताः कमलकरेषु बिसिनीकम्वाप्रिमप्रम्वयः ॥

एवमन्यत्रापि विशानयानुसत्तव्यम् ।

वेदाभेदाभानास्वमचेतनानां सावत्, यथा वायूनां नानादिश्लेषाचारिणामम्बेषामपि
सखिसङ्गमुमादीनां प्रसिद्धमेव । चेतनानामपि मानुषपक्षपक्षिप्रभृतीनां प्रामारण्यसखि
दिसमेधितानां परस्परं महान्विशेषः समुपलभ्यत एव । स च विविच्य यथायथमुपनि
बन्धमानस्वर्षैवानन्त्यमायाति । तथा हि—मानुषाणामेव तावदित्येक्षाविभिन्नानां ये
व्यवहारव्यापाद्यपि विधिप्रा विद्येपास्तपां केनाम्यः शक्यते गन्तुम्, विशेषतो
योपिताम् । उपनिबन्धते च तत्सर्वमेव सुकविमियथाप्रतिमम् ।

कालभेदाच्च नानात्वम् । यद्युभेदादित्योमसखिजरीनामचेतनानाम् । चेतनानां

आरम्भ आदि अवस्थामेवसे भिन्न अचेतन पदार्थोका स्वरूप [मी] अलग-अलग
व्यपनस अनन्तताको प्राप्त हो ही जाता है । जैसे—

जिनके ज्ञानसे कूत्रते हुए इंसानोंके निमात्रोंमें मधुर कण्ठके संयोगसे यद्यत् ध्वनि
युक्त हुआ गया ही [अपूर्व ही] विभ्रम उत्पन्न हो जाता है, करिणीके नये कोमल
वन्ताङ्गुलियोंसे स्पर्श करनेवाली मृणालकी ये नवीन प्रविधियाँ इस समय ताळाघोंमें बाहर
निकल आयी हैं ।

यहाँ मृणालकी नवीन प्रविधियोंके आरम्भका वर्णन होनेसे अवस्थाभेदमूलक परस्पर प्रतीत
होता है ।

इस प्रकार और जगह भी मार्गोका अनुसरण किया जाता चाहिये ।

वेदाभेदसं पहिल अन्तर्नाका मद् जैसे, [मलय आदि वृषा और दक्षिण दिशाओं]
विभिन्न दिशाओं आर स्थानोंमें सञ्चरण करनेवाले पक्षियोंका और अन्य जल तथा पुष्प
आदिका भी भेद प्रसिद्ध ही है । अतर्नामें भी प्राप्त अरण्य जल आदिमें पक्षे हुए
मनुष्य पशु पक्षी प्रभृतिमें परस्पर मद् दिलाया ही देता है । यह भी विचारपूर्वक ठीक
हंगम यणित ज्ञानपर उसी प्रकार अनन्त हो जाता है । जैसे माना दिग् वृक्ष आदिस
भिन्न मनुष्योंके ही व्यवहार आर व्यापार आदिमें जो नाना प्रकारके मद् पाये जाते हैं
उन सबका पार कौन पा सकता है ? विशेषकर द्विषोंके [विषयमें पार पाना असम्भव
ही है] । सुकवि लाग अपनी प्रतिभाके अनुसार उस सबका व्यपन करते ही हैं ।

कालभेदमे भी भेद [होता है] । जैसे क्रतुओंके भेदसे दिग् 'आकाश जल आदि
अचेतनका [भेद होता है] और काल [पसन्तादि] विशयके आभयसे चेतनोंके औरसुक्य

यौस्तुक्त्याद्यः कासविशेषाद्यिजः प्रसिद्धा एव । स्वात्मशुष्यप्रवेशात् सकृद्व्यग्रावृत्तानां वस्तुनां विनिवर्णनं प्रसिद्धमेव । तच्च यथावस्थितमपि तावदुपनिषत्प्रमाणमनन्ततामैव काश्चार्थस्वापाद्यति ।

अत्र कश्चिदावशीरन् । यथा सामान्यात्मना वस्तुनि वाच्यतां प्रतिपद्यन्ते, न विशेषेण । तानि हि स्वयमनुभूतानां मुक्तादीनां तन्निमित्तानां च स्वरूपमन्वत्रारोपयद्भिः स्वैरनुभूतरूपसामान्यमात्रात्प्रवेशोपनिषत्प्रमाणे कश्चिदिः । न हि वैरतीतमनागत वचमानं च परिधिच्छादित्वन्वयं योगिमिरिच प्रत्यक्षीक्रियते । तद्वानुभाष्यानुभवकसामान्यं सर्वं प्रतिपत्तुसाधारणं परिमितत्वात्पुरुषवचनानामेव गोचरीभूतम् । तस्य विषयत्वानुपपत्तेः । अत एव स प्रकारविशेषो वैरघटनैरभिनवत्वेन प्रतीयते तेषां भ्रममात्रमेव, भणितिकृतं वैशिष्ट्यमात्रमास्तीति ।

यत्रोच्यते । यच्छब्दं सामान्यमात्राभवेण काश्चिद्व्यवृत्तिः, तस्य च परिमितत्वेन प्रागेव गोचरीकृतत्वाभावि नवत्वं काश्चिद्वस्तुनामिति । तद्व्युत्पत्तम् । यतो यदि सामान्य

मात्रि प्रसिद्धा ही है । समस्त संसारकी यस्तुष्टोमें अपने स्वरूप [स्वात्मशुष्य] में देसे [काश्चिद्व्य] विशेष पवन प्रसिद्ध ही है । और यह [स्वरूप] सेना कुछ ही उसी रूपमें उपनिषद् होकर भी काश्चिद्व्य विषयकी अनन्तताका उत्पन्न करता है ।

[पूर्वपक्ष] यहाँ [स्वात्मशुष्यकृत में देके विषयमें] कुछ छद्म यह सङ्गते है कि— वस्तुमें सामान्य रूपस ही वाच्य होती है, विशेष रूपस नहीं । कपि छद्म उन स्वयं अनुभूत मुक्तादि वस्तुमें और उन [मुक्तादि]के साधनों [अर्क, चन्दन, यजिना आदि]के स्वरूपको मन्वत्र [मायकादिमें] आगपित करके अपने और दूसरों [मायकादि]के अनुभूत सामान्यमात्रके आधयस उन [मायकादिके मुक्तादि और उनमेंके साधनों]का वर्णन करते हैं । वे [कपि छद्म] योगियोंके समान भतीत अनागत, वर्तमान दूसरोंके विस [व्यक्तियों और उनमें रहनेवाले सुख-दुःख] आदिवा प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं । और समस्त दृग्नेपात्रोंको एक प्रमसे प्रतीत होनेवाले व अनुभाष्य [मुक्तादि] तथा अनुभाषक [उन मुक्तादिके साधन अर्क, चन्दन यजिनादि] सामान्य, परिमित होनेसे प्राचीनों [कपियों]का ही बात हो चुके हैं । अन्यथा वे [प्राचीनों] विषय ही नहीं हो सकते थे । इसलिये उस [स्वात्मशुष्यरूप] प्रकारविशेषका या आश्रयक होना अनिमय रूपमें अनुभव करते हैं, यह उनका अभिमानमात्र ही है । या केवल उक्ति वैशिष्ट्य ही है [यन्मुमें नयीमता नहीं है, उक्तिवैशिष्ट्यके कारण ही नयीमताका भ्रम या अनिमान होने लगा है । यह पूर्वपक्षका भाग्य है] ।

[उत्तरपक्ष] उन विषयमें हमारा कहना है कि [भाषण] या यह कहा है कि सामान्यमात्रके आधयसे काश्चिद्व्यमता दाती है और उन [सामान्य] का प्राण पहिल ही [कपियों]को हो चुका है अतएव काश्चिद्व्ययस्तुष्टोमें नयीमता नहीं हो सकती है । यह [कहना] उचित नहीं है । क्योंकि यदि सामान्यमात्रके आधयसे काश्चिद्व्यकी रचना

'इत्थं यथा यथा निरूप्यते तथा तथा न व्यस्यतेऽन्तः काव्यार्थानाम् ॥७॥

इवन्तुच्यते,

अवम्यादियिभिस्ताना वाचयानां विनियन्धनम् ।

यत्प्रवृत्तितं प्राक्,

मूर्धन्यैव हृदयते लक्ष्ये,

न तच्छब्दस्यमपोहितम् ।

तत्तु भाति रसाभयात् ॥८॥

तद्विद्यमत्र संक्षेपेणाभिधीयते सत्कवीनामुपदेशाय—

रसभावादिसम्पद्धा यथोचित्यानुसारिणी ।

अन्वीयते वस्तुगतिर्वेशकालादिभेदिनी ॥९॥

तत्का गणना कवीनामन्यथां परिमितशक्तीनाम् ।

वाचस्पतिसहस्राणा सहस्रैरपि यस्ततः ।

नियद्वापि क्षय नैति प्रकृतिर्जगतामिष ॥१०॥

इस प्रकार जितना ही जितना [इसपर] विचार करते हैं उतना-उतना ही काव्यार्थोंका अन्त नहीं मिलता है [उतनी ही काव्यार्थमें अनन्तता प्रतीत होती है] ॥७॥

[अथ] यह तो कहना है कि—

अवम्या आदिके भेदसे याव्यार्थोंकी रचना,

जा पहिले [यातवीं कारिकामें] कही जा चुकी है ।

काव्यों [लक्ष्य]में बहुतायतसे दिक्कलारी देती है

उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है ।

यह रसके आभयसे [ही] शामिल होती है ।

इसलिए सत्कवियों [सत्कवि यत्नके इच्छुक कवीम कवियों] के उपदेशके लिए इस विषयमें संक्षेपसे यह कहना है कि—

यदि भीषिरयके अनुसार रस भाव आदिस सम्बन्ध आर दशकाल आदिके मन्त्रस युक्त वस्तुत्वनाका अनुसरण किया जाय ॥९॥

ता परिमित शक्तियाळ अन्य [साधारण] कवियोंकी ता बात ही फया

वाचस्पति सहस्रांके सहस्र मी [हजारों, सानों पृष्ठस्पति मी मिलकर] यत्नपूर्वक

उमका वर्णन करें तो मी जगत्की प्रकृति [उपाशमकारण] के समान उमकी समाप्ति नहीं हो सकती है ॥१०॥

१ इत्थं पर नहीं है नि ।

२. नि संस्करणमें 'मूर्धन्यैव हृदयते लक्ष्ये व तच्छब्दस्यमपोहितम्'को कारिकाके उचरार्थका वाद रना है और 'तत्तु भाति रसाभयात्'को हृदि माना है ।

क्यादि अगस्त्यकृदिरतीतकल्पपरम्परायिर्मूर्तविभिन्नस्तुप्रपञ्चा सती पुनरिदानीं
परिशीयापरपञ्चार्थनिर्माणशक्तिरिति न हन्वतःप्रमिबाहुम् । तद्वदेवेभं काव्यशक्तिर
नन्तामिः क्विमविमिरुपमुष्यपि नेशानीं परीहीयते प्रत्युत नवनवामिर्ज्युत्पत्तिभिः
परिचपते ॥१०॥

इत्थं रिपतेऽपि,

संवादास्तु भवन्त्येव पाहुल्येन सुमेधसाम् ।

श्रितं ह्येतत् संवादिन्वै एव मेधाभिनां युद्धयः । किं तु,

नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥११॥

कथमिति चेत् ,

सवादो ध्वन्यसाहचय तत्पुन प्रतिधिम्यबत् ।

आलेखयाकारयत्तुल्यदेहिषथ शरीरिणाम् ॥१२॥

संवादो हि काव्यार्थस्योच्यते पदन्वयं काव्यवस्तुना साहचर्यम् । तत्पुनः
शरीरिणो प्रतिबिम्बवदालेखयाकारयत्तुल्यदेहिषथ त्रिधा व्यवस्थितम् । द्विभिवद्धि काव्य

जैसे विगत कल्प-कल्पान्तरोंमें विविध वस्तुमय प्रपञ्चकी रचना करनेवाली
अगस्त्यी प्रकृति [मूल कारण] होनेपर भी वह अन्य पदार्थोंके निर्माणमें शक्तिहीन हो
गयी है, यह नहीं कहा जा सकता है । इसी प्रकार यह काव्यशक्ति भगवत् [असंख्य]
कविबुद्धियोंसे अपमूल [वर्जित] होनेपर भी इन समय शक्तिहीन नहीं है अपितु
[उन कवियोंके वर्णनोंसे] नयी-नयी व्युत्पत्ति [प्राप्त करने]सं और वृद्धिका प्राप्त हो
रही है ॥१०॥

एसा [दिश, काल, अयस्था आदि] भेदने मानस्य] होनेपर भी,

प्रतिमाशानियोंमें संपाद् [समान शक्तियों] तो बहुलायतन होते ही हैं ।

यह तो सिद्ध ही है कि प्रतिमाशक्तियोंकी बुद्धियों एक-दूसरीस मिलनी दूर
होगी हैं ।

परन्तु

विद्वान् पुण्य उत सप [संवादों]का एक रूप न समेत ॥११॥

क्यों [न समेत] यह [प्रदान] हा ता [उत्तर यह है कि],

ध्वयके साथ साहचर्यका ही संपाद् कहते हैं । भार बह [साहचर्य] प्राणियोंके
प्रतिबिम्बके समान, चित्रके आकारके समान और दूसरे वदधारी [प्राणी]के समान
[नीन प्रकारका] होता है ॥११॥

दूसरी काव्यवस्तुके साथ काव्यायना साहचर्य ही संपाद् कहा जाता है । फिर
यह [साहचर्य] प्राणियोंके प्रतिबिम्बके समान, भयवा चित्रगत आकारके समान, भार

१ परिशीयापरपञ्चार्थनिर्माणशक्तिरिति वि० ।

२ संवादिन्वो मेधाभिनां वि ।

वस्तु वस्त्वन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्बकस्यम्, अन्यदालेक्यप्रक्यम्, अन्यतुल्येन शरीरिणा सदृशम् ॥१२॥

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम् ।

तृतीय तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्य एयजेत्कथिः ॥१३॥

तत्र पूर्व प्रतिबिम्बकस्य काव्यवस्तु परिहर्ष्यं सुमतिना । वतस्तदनन्यात्म, तास्विकशरीरशून्यम् । तदनन्तरमालेक्यप्रक्यमन्यसाम्यं शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तन्यम् । तृतीयन्तु 'विभिन्नकमनीयशरीरसद्भावे एति संसंवादमपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कथिना । न हि शरीरी शरीरिणान्येन सदृशोऽप्यत्र एषेति शक्यते वक्तुम् ॥१३॥

एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

'आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुपाप्यपि ।

वस्तु भातितरा तन्व्याः शशिच्छायमिधाननम् ॥१४॥

तुल्य वेदीके समान धीन प्रकारसे होता है । कोई काव्यवस्तु अन्य शरीर [काव्य वस्तु]के प्रतिबिम्बके सदृश [होती है], दूसरी चित्रके समान और तीसरी तुल्य वेदीके समान [दूसरी काव्यवस्तुके सदृश होती] है ॥१२॥

उनमेंसे पहिले [प्रतिबिम्बकस्य सादृश्यं पूषवर्णित स्वरूपसे मिथ] अपने अलग स्वरूपसे रहित है [अतः त्याग्य है] । उसके बादका [सूत्रग वित्राकारतुल्य सादृश्य] तुच्छ स्वरूप [होनेसे यह भी परित्याग्य] है । और तीसरा [तुल्यवेदिवत्] तो प्रसिद्ध स्वरूप है [अतः] अन्य वस्तुके साथ [इस तृतीय प्रकारके] साम्यको कथि परित्याग न करे ॥१३॥

उनमेंसे पहिले प्रतिबिम्बरूप काव्यवस्तुको बुझिमान्को छोड़ देना चाहिये । क्योंकि यह अनन्यात्म अर्थात् तास्विक स्वरूपसे रहित है । उसके बाद चित्रतुल्य साम्य शरीरान्तर [स्वरूपांतर]में युक्त होनेपर भी तुच्छ रूप होनेसे परित्याग्य ही है । [सदृश होनेपर भी] भिन्न [और] सुन्दर शरीरसे युक्त तीसरे [प्रकार]की काव्य वस्तु अन्यसे मिलती हुई होनेपर भी कथिको नहीं छोड़नी चाहिये । क्योंकि एक देह धारी [मनुष्य या प्राणी] दूसरे देहधारीके समान दानपर भी एक [अभिन्न] ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता है ॥१३॥

इसीका उपपादन करनेके लिए कहते हैं—

[प्रसिद्ध वाक्यादिसे बिलक्षण व्यङ्ग्य रमादि रूप] अन्य आत्माके दानेपर पूष भिति [प्राचीन कथियर्णित पदार्थों]का अनुसरण करनेवाली वस्तु भी चन्द्रमाकी आत्मा से युक्त कामिनीके मुखमण्डलके समान अधिक शोभित होती है ॥१४॥

१ 'विभिन्न वर ति सं गती है ।

२ तन्व्यान्तरं च ।

तत्त्वस्य सारभूतस्वामिनः सद्भावेऽप्यन्यस्य पूर्वस्मिरयनुवाच्यपि वस्तु भावित
रम् । पुराणरसमीषच्छायातुगृहीतं हि वस्तु शरीरवत्परं सोमां पुष्यति । न तु पुनरुक्त-
स्वेनाश्रयामते । तन्मयाः सशिष्यायमिबाननम् ॥१४॥

एवं वाच्यसंवादानां समुदायरूपाणां वाक्यार्थानां विभक्त्याः सीमानाः । पदार्थ-
रूपाणां च बह्वस्वरसदृशानां काव्यवस्तूनां नास्त्वं दोष इति प्रतिपादयित्वाप्युच्यते—

अक्षरादिरश्वनेव योज्यते यत्र वस्तुरश्वना पुरातनी ।

नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव स्वस्तु सा न दुष्यति ॥१५॥

न हि वाच्यविनाप्यश्वपि पशानि वा कानिचिदपूर्वाणि पठयितुं शक्यन्ते । तानि
तु वाच्येभ्योपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवर्ता विरुप्यन्ति । तथैव पदार्थरूपाणि उद्योतारि
मयाम्यवतस्त्वानि ॥१५॥

तस्मात्—

सार [रसादिकस्य व्यङ्ग्य] आत्मभूत अस्य तत्त्वे ज्ञानपर भी पूर्वस्थितिका
अनुसरण करनेवाली [प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित] वस्तु भी अभिक्त सामित होती है ।
पुरातन रमणीय छायासे युक्त [अस्य कवियों द्वारा पूर्ववर्णित] वस्तु [तुल्य] शरीरके
समान अत्यन्त प्रोभाका प्राप्त होती है । पुनरुक्त-सी प्रतीत नहीं होती । जैसे शशीकी
[पुरातन रमणीय] छायासे युक्त कामिनीका मुलमण्डल [पुनरुक्त-सा प्रतीत नहीं होता
अपितु अत्यन्त] सुन्दर लगता है [इस प्रकार वाच्यमें भी समझना चाहिये] ॥१४॥

इस प्रकार [अवगत] समुदायरूप [अथात्] वाक्यों द्वारा प्रतिपादित सादृश्य
युक्त [काव्यार्थ]की सीमाका विभाग किया गया । [अथ भागे] अस्य [पुरातन पदाय
रूप] वस्तुभास मिलती हुई 'पदार्थरूप' वाच्यवस्तुओं [की रचना] में कार दोष है
ही नहीं, इसका प्रतिपादन करनेके लिए कहते हैं—

अहां [जिस वाच्यमें] नवीन स्फुरण क्षणशले काव्याय [वाच्यवस्तु]में पुरानी
[प्राचीन कविनिबद्ध काव्य] यन्तु अक्षर भादि [भादि पदसं पदका ग्रहण] की [पुरा-
तनी] रचनाके समान निबद्ध की जाती है वह निदिद्यत रूपसं शृणित नहीं जाती यह
स्पष्ट ही है ॥१५॥

[व्यर्थ] वाच्यभाति भी नवीन अक्षर अथवा पदोंकी गन्ता नहीं कर सकते । भार
काव्य भादिमें पाठ-द्वार उन्हीं-उन्हींका उपनिषद करनेपर भी [जैसे व] नवीनताके
विशेष नहीं होता, इसी प्रकार पदार्थरूप या रूपवाच्यमेव अवगतत्व [भी नवीन नहीं
पनाय जा सकता है भार अक्षरादि पाठनाच समान उक्तो उपनिषद करनेसे नवीनता
का विरोध नहीं होता । अथात् नवीनता आ ही जाती है] ॥१५॥

इत्यपि—

१ वाच्यवेदानां वाक्यार्थानां विभक्त्याः सीमानाः नि ।

२ 'तु' नि में नहीं है ।

यद्यपि तद्यपि रम्य यत्र लोकस्य किञ्चित्,
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ।

'स्फुरजेयं काश्चित्ति सङ्ख्यानां चमत्कृतिरुत्पद्यते—

अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्,
सुकविम्पनिबन्धनसिन्धतां नोपयाति ॥१६॥

'तदनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक् तादृक् सुकविबिबन्धितकथङ्ग-यवाभ्याथं
मपणसमर्भशश्ररचनरूपया बन्धच्छाययोपनिबन्धनसिन्धतां नैव याति ॥१६॥

वदित्वं स्मितम्—

जहाँ [जिस वस्तुके विषयमें] लोगों [सङ्ख्याओं]का 'यह कोई नयी सूत्र [स्फुरणा]
इस प्रकारकी अनुमति होती है [नयी या पुरानी] जो भी हो, यही वस्तु रम्य [कह
जाती] है ।

जिसके विषयमें 'यह कोई नयी सूत्र [स्फुरणा] है' इस प्रकारकी चमत्कृति
सङ्ख्याओंको उत्पन्न होती है—

पूर्व [कवियोंके वर्णन] की छायामें युक्त होनेपर भी उस प्रकारकी वस्तुका
बन्धन करनेवाला कवि निम्नीयताको प्राप्त नहीं होता ।

पूर्व [कवियोंके वर्णित विषयोंकी] छयासे युक्त होनेपर भी उस प्रकारकी वस्तु-
का जिसमें व्यङ्ग्य विपश्चित हो वेने वाक्यार्थके समर्पणमें समर्थ, शश्ररचनारूप
सम्भियेन मीष्ठयसे उपनिबन्ध करनेवाला कवि कभी निम्नाको प्राप्त नहीं होता ।१६।

इस प्रकार यह निणय हुआ कि—

इस कारिकाके पूर्वाह्न और उत्तराह्नके बीचमें वृत्तिकी एक पंक्ति ऐसी कि हमने मूक पाठमें
ही है वाक्यिवाचाले संस्करणमें पायी जाती है परन्तु हीचिठि तथा नि सा संस्करणमें नहीं
पायी जाती । जोचनकरके 'इति कारिका लक्ष्मीकृत्य वृत्ती वृत्तिता' इस छेकके अनुसार दोषों
भागोंको जसग करनवाकी वह पंक्ति बीचमें होगी ही कहिये । हमकिपु हमने मूक पाठमें
रही है ।

इसी प्रकार इसी उद्योतकी जाठर्षी कारिकाके पूर्वाह्नके बाद 'बध्मवर्तिते माह' यह वृत्ति तथा
उत्तराह्नके दोषों बालोंके बीचमें न तच्छ्रवणं वषपीहिर्नुं वह वृत्तिरम्य है । जस संस्करणमें
हम पाठको अशुद्ध छया है । इसी प्रकार ग्यारहवीं कारिकाके पूर्वाह्न और उत्तराह्नके बीचमें
भी गद्यभाग वृत्तिका है । सोकराह्नी कारिकाके अन्तकी वृत्तिमें भी हीचिठि तथा नि सा
संस्करणका पाठ ज्ञेया कि टिप्पणीमें दिग्गताया है बहुत मित्र है । इसी प्रकार गगरी १० वीं
कारिकाके बीचमें भी एक पंक्ति वृत्तिरूपमें है । ये सब बीच-बीचके वृत्तिभाग मीचनमम्मन
होगये ही यहाँ मूकमें रने गय हैं ।

१. 'यद्यपि तद्यपि रम्य यत्र लोकस्य किञ्चित्स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते स्फुरजेयं
काश्चित्ति सङ्ख्यानां चमत्कृतिरुत्पद्यते इत्या पाठ कारवारममें अधिक है नि ।

२. जिने नि ।

प्रतापन्तां बाधो निमित्तविधिधार्थान्तरसा,
न सादः' कर्मण्यः कविभिरनबधो स्वविपये ।

सन्धि तथाः काव्यार्थाः, परोपनिषद्गार्थविरचने न कश्चित् कवेर्गुण इति
सावधिरथा—

परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः,
सरस्वत्येषैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥१७॥

परस्वादानेच्छाविरतमनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती क्वेष्टे घटयति वस्तु ।
येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाकज्ञेन प्रवृत्तित्वेषा परोपरविद्यार्थपरिमहनिः
स्युद्धानां स्वभ्यापारो न कश्चिदुपयुज्यते । सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमावि
र्भावयति । एतद्वेद्य हि महाकवित्व महाकवीनामित्योम् ।

[कविगण] विविध अर्थोंके अमृत रससे परिपूर्ण वाकियोंका प्रसार करें । अपने
[कल्पनासे प्रसृत] विषयमें कवियोंको किसी प्रकारका सङ्कोच या प्रमाद नहीं करना
चाहिये ।

मधीन काव्यार्थ हैं, दूसरोंके वर्णित अर्थोंकी रचनामें कविना कोर [प्रशंसा]
साम नहीं होता ऐसा सोचकर—

दूसरके अर्थका प्रहण करनेकी इच्छाने रहित सुकविके लिए सरस्वती ध्वी
स्वर्ण ही यथेष्ट वस्तु उपस्थित कर देती है ।१७।

दूसर [कवि] के अर्थको प्रहण करनेकी इच्छामें विरत मनधामे सुकविके लिए
यद्य भगवती सरस्वती यथेष्ट वस्तु सङ्कटित कर देती है । पूर्वजन्मोंके पुण्य और
अभ्यासके परिपाकवशा जिन सुकवियोंकी [काव्यनिर्माणमें] प्रवृत्ति होती है दूसरोंके
विरचित अर्थप्रहणमें निरस्युद्ध उन [सुकवियों]का [काव्यनिर्माणमें] अपना प्रयत्न
करनेकी कार्य आवश्यकता नहीं जाती । यही भगवती सरस्वती अभियाच्छिन अर्थका
स्वर्ण ही प्रकट कर देती है । यही महाकवियोंका महाकवित्व [महत्त्व] है ।

इत्योम्

यद् 'इत्योम्' शब्द इतिमन्त्रकी नमस्तिष्ठा शून्यक प्रतीक होता है । मन्त्र भागके उपांतरात्मक
बोनें छोड़ कारिकाप्रश्नके अंत समस्त कारिके, परन्तु उनका अर्थ स्पष्ट जानने उनपर कोर इति
विशेषकी आवश्यकता न समझकर ही इति नहीं लिया गया है और इतिभागकी वही समझ कर
रिया गया है । नयी संस्करणोंमें उनको इतिभागवाने शरभम छाया है । उन्ने परम्पराके अनुसार
हम भी उनको इतिवाने शरभमें द रहे हैं । इन ध्वाओंमें प्रथम निरव सम्भन्ध, प्रथमन भाँकिया
पुन प्रथम करते हुए प्रथमकार अने अर्थकी समाप्ति कर रहे हैं ।

'इत्यङ्घ्रिहरसामयोषितगुणान्कृत्वाऽशोभाशुतो',
 यस्मादस्तु समीहितं मुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते ॥
 काम्यास्येऽस्मिन्नसौख्यधाम्नि विभुचोद्याने ध्वनिर्वर्णितः
 सोऽयं कल्पतरुपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम् ॥

सत्काण्ठपतस्वनयवर्त्मभिरप्रसुप्त
 कल्पं मनस्सु परिपकधियां यदासीत् ।
 तद्वयाकरोत्सहृदयोदयलामहेतो
 रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः ॥
 इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोकके
 अनुर्थ उद्योतः ॥
 समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

इस प्रकार सुख [अपिच्छ] और रसके आश्रयसे उचित गुण तथा अलङ्कारोंकी शोभासे युक्त जिस [अविकल्प कल्पतरु] से सौभाग्यशास्त्री कविजन मनोवाञ्छित सब पस्तुर्प प्राप्त कर लेते हैं सर्वानन्दपरिपूरित विद्वज्जनोंके काव्य नामक उद्यानमें कल्प वृक्षके समान महिमावाला वह ध्वनि [हमन यहाँ] प्रदर्शित किया । वह [सौभाग्यशास्त्री] सहृदयोंके हिय [मोम्य] आनन्दवायक हो ।

उत्तम काव्य [रचना]का तत्त्व और नीतिका जो मार्ग परिपक युद्धियाले [सहृदय विद्वानों]के मनोमें धिरकालसे प्रसुप्तके समान [अभ्यक्त रूपमें] स्थित था, सहृदयोंकी अभिवृद्धि और कामके हिय, आनन्दवर्धन इस नामसे प्रसिद्ध मैं उसको प्रकाशित किया ।

श्री राजानक आनन्दवर्धनाचार्यविरचित ध्वन्यालोकमें
 अनुर्थ उद्योत समाप्त हुआ ।

प्रीत्यावकालामासाभ्यां द्विसहस्रेऽष्टकोत्तरे ॥

ध्वन्यालोकस्य व्याख्येयं प्रतिज्ञाकोट्यरीपिच्छा ॥

उत्तमप्रदेशस्य 'पीलीभीत' मण्डलान्तर्गत 'अकण्ठ' ग्रामनिवाहिनां

श्री शिवलालबस्त्रप्रदेशोदयानां अनुबन्धुण,

दृश्यावनस्त्वगुदबुद्धिविज्ञविद्याधवाधीठविषेन तत्रत्याचावपन्मपिठिदृशा,

एम ए इत्यनुपपदधारिणा, श्रीमहाचावविश्वेश्वरविद्वान्तद्विरोमणिना

विरनितायां 'आशोकरीपिच्छाभ्याम्' दिव्यीम्याभ्यायां

अनुप उद्योत समाप्तः ।

सम्यक्प्रचार्य ग्रन्थः ।

१ : विष्णुविक्रम मि ।

२ : शोभाशुतो नि ।

प्रथम परिशिष्ट

ध्वन्यालोककी फारिकासूची

परिघ	श्लोक	परिघ	श्लोक
अडाव एव विभक्तिः	२१३	असृष्टसुरितं काव्य	३३
अह्नाभित्वास्तकहारा	१४	आक्षिप्त एवास्कारः	११९
अक्षपादिरपनेव बोम्बते	३६१	आत्मनोऽप्यस्य सद्भावे	३६
अतिम्भातेरप्याम्भाते	५९	आनन्त्यमेव बाध्यत्व	२५१
अतो ह्यन्वतमेनापि	३३६	आश्लेषनाकारवपुम्ब	३५९
अनुपगमपि पूज्य्यायथा	३६२	आश्लेषनाकारवपुम्ब	३४
अनुस्वानोपमम्बह्वप	१३९	आश्लेषनाकारवपुम्ब	१००
अनुस्वानोपमात्मानि	१९६	इतिवृत्तवशायातां	३६४
अनेनानन्त्वभायाति	३३६	इत्यकिम्ब रथा	३३
अन्वीयते बह्वागवि	३५०	इत्युक्तकथयो य	६१
अदृप्यमाननिर्कस	१५	उन्त्यन्तेरपाठकत्वं नत्	१००
अर्थाद्यत्तेरकह्वार	१३९	उद्येरेवाप्यन्तरमीध	१००
अथघस्युद्भक्तस्त्वन्व	१३९	उद्दीपनप्रयमने	२३०
अथान्तरागतिः काका	१३१	एकाभयत्वे निर्दोष	२३
अर्थान्तरे सप्तमिध	२१०	एको रसोऽह्नीकर्तव्य	१०६
अर्थोऽपि द्विभिधा श्लेप	६९	एतद्यथोक्तमौचित्यं	३४
अस्कारान्तरव्यङ्ग्य	१३६	एवं ध्वनेः प्रमेदा	२४४
अस्कारान्तरस्यापि	१५	औचित्यवान् यस्या एताः	६७
अस्कारान्तराणां शक्यत्वपि	१४	कस्यचिद् ध्वनिमेवत्व	२३१
अश्लेषनाम्बमपिध्वनकि	१००	कार्यमैकं यथा म्यापि	१९
अश्वानातिव्यवधान्	३१	काशे य महत्वागो	१०१
अश्वम्यादिबिम्बिमानां	२४१	काव्यप्रमेदाभ्यस	२
अश्वस्यदेशकालादि	३५०	काम्यस्वारात्मा ध्वनिरिति सुपै	२९
अविरोधी विरोधी वा	३५१	काम्यस्वारात्मा स एवार्थ	२६४
अविबध्निष्ठवाध्यग्य ध्वने	२३२	काम्याभ्येऽस्ति	३९
अविबध्निष्ठवाप्यन्त परवानय	६९	काम्ये उभे ठवाऽप्यत्	३९
अव्युपगमरयनेर्वा	१५४	काव्ये हरिसकन्दकारः	५५
अव्युपगमरयनेर्वा	१५३	कृताद्विषयमावैरथ	१०
अव्युपगमरयनेर्वा	३३	केचिद् वाचां लिखतन्निपये	१०
अव्युपगमरयनेर्वा	७८	कमेव प्रतिमत्पारामा	११०
अव्युपगमरयनेर्वा	१६०	कौशान्दनिपोगोत्प	२९

कारिका	शुद्ध	कारिका	शुद्ध
गुणानाभिरव तिरुमती	१६९	न तु वेत्यस्या चाक्ष	१८८
गुणप्रधानमप्राम्ना	१ ९	विबद्धापि ह्ययं नैति	१५८
चाक्षुशोर्कार्यो ब्यङ्ग्य	१७	निर्मूर्खावपि चाङ्गमे	१ ९
चित्रं ध्वन्दापमेवेन	१ ९	निवर्तते हि रस्योः	२४
त एव तु निषेदस्ये	१६४	नूतने स्फुरति काम्यवस्तुनि	३६१
सत्परत्वं न बाध्यस्य	१४	नैकरूपमत्मा सर्वे	३५९
तत्र किञ्चिन्मन्त्रचित्रं	१ ९	नोपहन्त्वङ्गितां सोऽस्य	२३१
तत्र पूर्वमनन्ताम	३६	परत्वादानेष्वभिरतमनाः	३६३
तत्र बाध्यः प्रसिद्धो वा	१२	परिपोषं गतस्यापि	२१३
तत्रा बीभक्षमायेति	१६८	परिपोषं न नेतव्यः	२३२
तथा रक्तस्यापि विधी	२३१	प्रकारोऽस्यो गुणीभूत	३०२
रुन्मयस्वानुरजनरूप	१५४	प्रकारोऽस्य गुणीभूत	१७७
तदा सं बीभक्षन्नेव	१६४	प्रयापस्ता वाचो निमित्त	३६३
तदुपायतया तद्वा	३४	प्रतीवमान पुनरन्वदेव	१३
तद्वात्सल्यतया सोऽस्यः	३६	प्रतीवमानेष्वभयेरा	२ ७
तद्विस्मयसत्पर्यः	२४२	प्रधानेऽन्वय वाक्यार्थे	८१
रुन्मयिदेव ध्वन्दायो	९८	प्रकृतस्य रसादीना	१८८
रुन्मयं काम्यमाभिरव	९५	प्रकृते मुक्तक वापि	२१२
तद् व्याकरणं सद्भव	३६४	प्रमेदरत्वात्त्व विपयो	३
तमथमवकम्बन्त	९४	प्रसन्नगाम्यैरप्याः	२८९
रुन्माङ्गानां प्रमेदा ये	१ १	प्रसिद्धेऽपि प्रकृत्यानां	२३
शुचीवन्दु प्रसिद्धारम	३६	प्राप्तौव परं छायां	२९
तेऽन्वयारा परं छायां	१४९	प्रोदोकिमात्रनिपद्य	१३६
तेषामानन्त्यमन्योन्य	१ १	बहुधा व्याख्या सोऽस्यैः	१२
दिग्मात्रं त्प्यते येन	१ २	वाचानामहमार्थं वा	२१८
दृष्ट्वा अपि छायां	३४१	कुदियत्तावित्याकाका	१ २
पक्षे रगादिवात्यव	३ २	बुद्धौ तन्वायन्धिन्वा	३६
मुपं ध्वन्यङ्गता ताकां	१४९	मकस्या विमर्शि नैकत्वं	५७
ध्वनेरस्य प्रकृतेषु	१९६	भवत्परिमन् प्रमादो हि	२४१
ध्वनेरगमाङ्गमात्रेन	७५	भूमीव दृश्यते छन्दे	३५८
ध्वनेरित्थं गुणीभूत	३७०	मधुबमाद्रतां याति	९७
ध्वनेवः स गुणीभूत	३३३	मित्तोऽध्वनन्तत्वां प्राप्त	२४
ध्वन्यामन्नेव शृङ्गारे	१	मुद्यथा वृत्ति परित्वरय	६२
ध्वन्याममृते शृङ्गारे वमकादि	१ ३	मुप्या महाकविगिरि	२९७
ध्वन्याममृते शृङ्गारे वमीरुप	१ ८	पच्छमिडावपवातिरिक्तं	१३
न बाध्यावधिचमाऽक्ष	३५	यत्न कार्यं मुमठिना	२१९

प्रथम परिशिष्ट

क्र.सं.	ग्रन्थनाम	पृष्ठ
१	अरिक्क	२६७
२	यनत प्रथमिमेवी	१३
३	यत्र प्रतीपमानोऽय	१५१
४	यत्र म्हाभ्यान्वय वाच्य	२८७
५	यथार्थं श्रुत्या वा ठमय	१७
६	यथाविक्रिमतो त्वास्त्वा	१३४
७	यथा पश्याद्दारेण	३०
८	यथा भ्यापारनिगपत्तो	३६
९	यद्यपि तद्यपि रम्यं यत्र	३६२
१०	यद्युदित्स्य फलं तत्र	६२
११	यद्गम्यह्वयस्वाङ्गिभूतस्य	१६३
१२	यत्कारययैव यत्कर्म्यद्	१३१
१३	यत्कर्म्यह्वयकर्म्यह्वय	१३४
१४	यदिमन्त्रुकः शब्दन	११
१५	युस्याऽनयातुर्धर्म्य	३४
१६	यं यं तेषु प्रकारोऽर्थ	२८९
१७	योऽयः सङ्घटनस्याप्यः	११
१८	यचना विपवापेर्ध	३४
१९	यस्यभाषतशामास	२८९
२०	यस्यभाषादित्यस्यदा	११
२१	यस्यभ्योक्तमौचित्यं	१८६
२२	यस्यस्वारभ्यविभान्ते	७५
२३	यस्य स्याद् विरोधाय	३५८
२४	यथाहिततथा यस्य	१८६
२५	यथाहिततथा यस्य	१८८
२६	यथाहिततथा यस्य	२१३
२७	यथाहिततथा यस्य	१५
२८	यथाहिततथा यस्य	८५
२९	यथाहिततथा यस्य	३०४
३०	यथाहिततथा यस्य	२८५
३१	यथाहिततथा यस्य	२८७
३२	यथाहिततथा यस्य	२८७
३३	यथाहिततथा यस्य	२८७
३४	यथाहिततथा यस्य	२८७
३५	यथाहिततथा यस्य	२८७
३६	यथाहिततथा यस्य	२८७
३७	यथाहिततथा यस्य	२८७
३८	यथाहिततथा यस्य	२८७
३९	यथाहिततथा यस्य	२८७
४०	यथाहिततथा यस्य	२८७
४१	यथाहिततथा यस्य	२८७
४२	यथाहिततथा यस्य	२८७
४३	यथाहिततथा यस्य	२८७
४४	यथाहिततथा यस्य	२८७
४५	यथाहिततथा यस्य	२८७
४६	यथाहिततथा यस्य	२८७
४७	यथाहिततथा यस्य	२८७
४८	यथाहिततथा यस्य	२८७
४९	यथाहिततथा यस्य	२८७
५०	यथाहिततथा यस्य	२८७
५१	यथाहिततथा यस्य	२८७
५२	यथाहिततथा यस्य	२८७
५३	यथाहिततथा यस्य	२८७
५४	यथाहिततथा यस्य	२८७
५५	यथाहिततथा यस्य	२८७
५६	यथाहिततथा यस्य	२८७
५७	यथाहिततथा यस्य	२८७
५८	यथाहिततथा यस्य	२८७
५९	यथाहिततथा यस्य	२८७
६०	यथाहिततथा यस्य	२८७
६१	यथाहिततथा यस्य	२८७
६२	यथाहिततथा यस्य	२८७
६३	यथाहिततथा यस्य	२८७
६४	यथाहिततथा यस्य	२८७
६५	यथाहिततथा यस्य	२८७
६६	यथाहिततथा यस्य	२८७
६७	यथाहिततथा यस्य	२८७
६८	यथाहिततथा यस्य	२८७
६९	यथाहिततथा यस्य	२८७
७०	यथाहिततथा यस्य	२८७
७१	यथाहिततथा यस्य	२८७
७२	यथाहिततथा यस्य	२८७
७३	यथाहिततथा यस्य	२८७
७४	यथाहिततथा यस्य	२८७
७५	यथाहिततथा यस्य	२८७
७६	यथाहिततथा यस्य	२८७
७७	यथाहिततथा यस्य	२८७
७८	यथाहिततथा यस्य	२८७
७९	यथाहिततथा यस्य	२८७
८०	यथाहिततथा यस्य	२८७
८१	यथाहिततथा यस्य	२८७
८२	यथाहिततथा यस्य	२८७
८३	यथाहिततथा यस्य	२८७
८४	यथाहिततथा यस्य	२८७
८५	यथाहिततथा यस्य	२८७
८६	यथाहिततथा यस्य	२८७
८७	यथाहिततथा यस्य	२८७
८८	यथाहिततथा यस्य	२८७
८९	यथाहिततथा यस्य	२८७
९०	यथाहिततथा यस्य	२८७
९१	यथाहिततथा यस्य	२८७
९२	यथाहिततथा यस्य	२८७
९३	यथाहिततथा यस्य	२८७
९४	यथाहिततथा यस्य	२८७
९५	यथाहिततथा यस्य	२८७
९६	यथाहिततथा यस्य	२८७
९७	यथाहिततथा यस्य	२८७
९८	यथाहिततथा यस्य	२८७
९९	यथाहिततथा यस्य	२८७
१००	यथाहिततथा यस्य	२८७

कारिका	पृष्ठ	कारिका	पृष्ठ
शलावपि प्रमादित्वं	१ ३	सङ्करसंसृष्टिभ्यां	३१४
सम्पत्स्वाभवा काश्चित्	३३२	सत्काम्यं कर्तुं वा शक्तुं	३३
शब्दस्य स न्न न्नेया	१५३	सत्काम्यतत्त्वनाम	३६४
शब्दार्थशक्तिमूलत्वात्	११८	सम्भिसम्पन्नपठनम्	१८८
सम्पदाशक्त्याक्तिमाश्रयि	१३४	स प्रसादो गुणो ज्ञेयः	९९
सम्पदापशासनज्ञान	३२	समर्थकत्वं काम्यस्य	९९
सम्पदो व्यक्तकृता विभक्तु	६१	सरस्वती स्वातु तदर्शवस्तु	३१
दारीरीकरणं यथा	१४९	सत्रप्र गच्छन्नेऽपि	१८६
शरीरे सरेफलयागौ	१६४	सर्वे नवा इवाभासि	३४१
शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नात्	१ २	सर्वेष्वेव प्रभेदेषु	१ २, १५३
शृङ्गार एव मधुरः	९५	स विभिन्नाभवः कार्यः	२३७
शृङ्गारे विप्रकम्प्यस्त्रये	९७	स सर्वो सम्मानत्व	१३९
भुक्तिबुद्धदया दोगाः	१	सा व्यङ्ग्यत्व गुणीभाषे	२९८
संघपातुं विद्व्यभं	३३	मुक्तिवचनसम्बन्धैः	१९८
सबादास्तु मन्त्रस्यैव	३५९	सोऽप्यस्तु सम्पत्सामर्थ्यं	३३
सबादो ह्यन्वसादत्त्वं	३५९	स्वसामर्थ्यवशेनैव	३६
स गुणीभूतस्वङ्गयैः	३१४	स्वेष्याकेतरिणा स्वच्छ	१

द्वितीय परिशिष्ट

ध्वन्यालोककी उदाहरणादि सूची

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
वह्नुकुरित पद्मविता	१४८	उमठ मोक्षवधारः	१२५
अत्राय पदारो	१	उपोडरागेण [पाणिनि]	१९
अप्यथ वप्य	२३	उपरमभापे मयोदिनीपे	१८
अतद्विष्टि वि	१४१	एकन्तो वभान् पिभा	२३३
अठिन्द्रन्तमुन्वा काका	२१	एमेभ अयो तिस्ता	१५७
अथा एत्य [गाथा ७, ६७]	१५	एषंवादिनि [कुं सं]	१३२, १४२
अत्रान्तरे कुष्ठमयुग	१२५	एहि गच्छ पयोषिष्ठ [ध्याय]	२९४
अनप्यवसितावगाहन [पमं]	३०६	कच्छाच्छित्वाद्यमात्र	२३३
अनवत्तवनअलक्ष्य	१७१	कषाघरीरमुत्थाय [परि]	१९३
अनिश्चय धुतिवह्वत् [परि]	१६३	कपाल पत्रासी	११३
अनुरामकतो धन्व्या	४२	कमयाभरणं मधिभा	१६
अनौशियाघटे [आ व]	१९	करिपी बेहध्वमयं	१५१
अपारे काम्य [आ व]	३१२	कृता पूनच्छलानां [बेर्लीन]	१४३
अपी ये हस्तन्व [आ व]	१७	कस्त्वं म्ये कषायामि	३२४
अपशा घोरैःत्र इवा	१३५	कः छन्दे [मिप]	३८
अर्षं व राघ्नोत्कर्षी [मदा]	२२८	कस्य व व शोर [ग म]	१५५
अवमेकपदे तथा [किन्मये]	२३	काम्याप्यनि [संमहाः]	१७
अवसर रोठे विभ	२२	किमिह हि मज्जुपजां [शाकु]	३१४
अम्मुप्यधिहृद्यो [परि]	१७१	किं हारनेन न मे प्रवारयसि	१५५
अदिशभपभोभर	३१९	कुनिभाभो पत्न्याभो	८६
अदो क्याति स्वद [कुमार]	२६	इतो वरकषाभापे	६
अद्यान्त्या स्तनिने	११५	कोपात्कोम्म [अमर]	३४२
आम अघरभां भीरम	२१९	ममन्त्य अत्रकोम्लास्तुनि	११६, १२३
आहृतांनि वरापे	४४	धाकापे धाय [विरभे व]	२२१
एवसिन्धरणा [आ व]	३६४	धिता हस्यावन्त [अमरक]	२२२
एत्यन्तरप्रभा एव	२४६	नं येऽनुत्तरप्यन्ति	८७
एत्राकडतरस वि	१४७	एवगाशुभिभा देभर	१३
उपिन्वसु परिभ कुमुमं	१५२	गद्यर्णं व भक्तमेहं [सीहवरो]	३२१
उत्कग्निनी मव	१६५	गापा व पापनाना	७३
उदासांकिनिका [रत्ना]	१११	पनाभियातपगभाइवैव	२५१
			११०

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
पञ्चदशसुखप्रसिद्ध [सिगीसं]	१८	पाण्डुनामं वदनं	२२३
पञ्चनासक्तमुग्धा	१४६	परिष्कानं पीनस्तन [रुक्मा०]	५९
पञ्चमऊपरि निघा	१४	प्रमामहत्या [कु सं]	२९५
पञ्चमहिमगाण्ड	१२२	प्रमत्तस्यसुप्तरोबलिति	२५
पञ्चपादां दधि [शाकु]	१९	प्रातुं कनैरधिजनस्य	१५९
पुत्रिभरं सभादुपं	६	प्रातर्भरिप कस्मात्	१४१
पूज्यकुशवभंसं [हरिनिबन्ध]	१६	प्रवृत्तयोक्थैः कुसु [माप]	३१
पुत्र एव बहुरेते [गा स]	१४५	प्रिय कने नास्ति पुनरुद्धम्	२३७
प अ टाण पडर ओही	१५३	पूर्वे विपुलकर्मिणः [परि]	२१७
सं टाण विरिचो [वि वा]	१४३	मगवान् वासुदेवश्च [महा]	३४६
उद्गोई नलमिति	२९	मम भूमिभ [गा स ष]	१३
उन्मी मेपञ्चार्द्र [विश्रमो]	३	गावान्श्वेतनानसि श्वेतनवत्	३१२
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	मूर्णुगिरिभामवपारिजात	२४
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	भूमिभरिपकर्मिणः [परि]	१२१, २२३
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	मनुष्यत्वा समुपाचरन्तं	२५
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	मन्दारपुस्तुमरेणुपिञ्जरित	१७१
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	महमह इति मफ्त	३५७
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	मा फर्ष कन्धीभो [गा स ष]	२२
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	मा निपाद प्रतिष्ठा [वा यमा]	३
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	मुक्ता व्यापार [परि]	२१७
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	मुनिर्जयति योगिन्द्रा	३४९
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	मुद्रुरङ्गुकिर्षुषा [श्याकु]	२६
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	बभ्रुवर्णनिबन्धे द्व [संमह]	१८
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	या प्रथमः प्रथमः	३३८
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	यत्र न मातङ्ग [हप]	१२८
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	यत्र काममुखं कोफ	२३९
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	यथा यथा विपर्येति	३४५
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	यत्र चनादितमिति [मुग्धा]	२७
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	यत्रिभ्रानि न वलु [मनो]	७
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	यत्रिभ्रानि न वलु [मनो]	३१४
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	या निघा तवभूतानां [गीता]	१५७
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	या व्यापारकृती रतान्	३२७
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	ये श्रीवन्ति न मास्ति न	२०६
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	येन ध्वजामना [धम्न]	११९
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	यो यं धरत्रं [सिधी]	१८, १७१
उत्परावेन गम्दायी [परि]	५२	रक्तस्य नवपम्बने	११२

सूक्त

रम्भा इति प्रासवतीः [माघ]
 रविचन्द्रस्तस्यौमाम्य [बा]
 रसमावादिविषय
 रसमावादितात्पर्यं [घ]
 रसादियु विषभा श्रु
 रसवन्ति हि बहूनि [संप्रह]
 राजानमपि खेवन्ते
 रागमावाहभाष [समह]
 रामेष विषन्धीष्टिन श्रु
 लक्ष्मी दुहिता जाभाउभो
 लाकम्य क्रान्ति [अववधन]
 लावण्यदविषयवो न
 लवण्यविन्दुरपरेव
 लीलाकमपत्राणि [कु सं]
 लक्ष्य मह शिख [गा]
 लते मा गा विद्यार्द
 लन्तपुण्यामर्ष [कु सं]
 लिमभ इतिदन्त्या
 पीर कुडहोर्डीज
 लीक्षिन्नाथ [परि]
 वास्मीक्षिन्मिदिरित्तस्य
 लिप्थिच्छिद्योमि [परि]
 विमानपर्वद्वतये निरग्न्याः
 विनमरभो काचयि
 विमामौरया भ्रमयाभा
 वीघर्ष रमर मुनिज
 वृत्त-रिमन् महा [ह्य]
 श्रीशायगास्त [शार्ङ्ग प]
 वृद्धपत्यज्ज [परि]
 वृद्धपत्य वशा [परि]
 वृद्धपत्य प्रतभा [परि]
 वृद्धपत्य क्व तु नाम

द्वितीय परिशिष्ट

पृष्ठ	सूक्त	पृष्ठ
१४८	शून्य वासपार्थ [अम]	१३१
७३	शोणे हिमगिरित्थं [भामह]	१४१
१११	शोक-श्लोकम् [रामा]	१४५
८८	शुक्लारी येन कवि काम्य	११२
१११	श्यामास्वर्णं प्थित [मिष]	११६
१८	श्याम्वाशेषतयु	१११
१४	शङ्केतकालमनसं	१११
१८	शङ्गेहि मुपहिमालो	१११
१५६	शरकाम्पतलनव [आ व]	१५२
२१	शर्यं मनोरमा रामा	१५४
१४२	शरित सिद्धरसप्रख्या	२४३
१४	शर्यैताः समिष [भ्यास]	११४
२८७	समपिसममिनिवितेता	१५५
२६	सर्षकशरपमक्षयं	२८
१५	स वन्दुमलितान् शक-	११
११५	सविभ्रमरिमोदमेता	१०४
१५२	सद्यपितै कृष्यमुजां	११७
१६१	स हरिनाम्ना दवः	२८
१५२	साभरविश्वान्योभय	१११
११७	सिद्धर रामाश्रमह	११८
१६७	सिद्धिपिच्छकम्पकर	१४५
१६१	सुरमित्तमये प्रहृषे	११८ १६१
२४	सुबनपुण्यां शुषिषी	१४२
१५८	सैवा शर्वैव बनार्थिक [भामह]	५६
२१७	सिन्धुवत्साम्भ [महानाटक]	११
१४२	समरनवनदी पूर्याश	७१
१५	सिम्प्रे किञ्चिन्मुष	१६७
१६६	स्वनेक्रीतमहमा	११७
१८	स्वभ्या भवन्ति [बकी]	११८
५५	ईगानां निनदयु	२५८
५२	द्विभभट्टाविभमयुं	१५५

श्लोक	शुद्ध	श्लोक	शुद्ध
बन्धुप्रसन्नमिच्छा [विगीतं]	१८	पाण्डुधामं बरने	२२३
बन्धुनासक्तमुजग	१४६	परिष्कानं पीनस्तन [रत्ना]	५९
बन्धुमऊपरि मिश्रा	१४	प्रमामाहत्या [कु सं]	२९५
बन्धुहिममापस	१२२	प्रभस्वत्युत्तरोयतिथि	२ ५
बन्धुपाहा इति [धाकु]	१ ९	प्रातुं कनैर्पर्मिजनन्य	१५९
बुभुक्षुत् तभहुत्	६	प्रातभीरिय क्रमात्	१४१
बुभुक्षुत्कुराबभंत् [इतिविजय]	१६	प्रयच्छतोश्चैः कुष्ट [माप]	३ १
वा एव बभुरेसे [गा स]	१४५	पिय अने नाति पुनककम्	२६७
व अ एव बभुर मोही	३५३	पूर्वे विम्वृज्जुवगिरा [परि]	२१७
वं वाप विरियदा [वि वा]	१४३	मगान्वा वापुदेवपच [म्ना]	३४६
वदुरोई नतमिच्छि	२ ९	मम भूमिभ [गा स० घ]	१३
वन्धी मेपच्छात्रं [विम्वो०]	१३	मावानपैतगानमि वेतनवद्	३९३
वत्परावेन शब्दाभौ [परि]	५२	भूरेगुकिरिवाभतपारिवाय	२४
वमयककम्बन्ते [पत्न्या]	१७२	भूमिमपविमकसहृदयता	१२१, २२३
वद्वभूमहा [विम्वो]	१२	मनुष्यकृत्वा समुपाचरन्तं	२ ५
वत्या विनापि हारेण	१२०	मन्वारकुमुम्रेगुपिञ्जरित	१७१
वावा वाभन्ति गुप्ता [विपम]	७२	महमह इति मन्वत्	३५७
वासेः सिद्धवद्वन [मिप]	२ १	मा पन्वं कृषीभो [गा घ ष]	२ २
वेपां गोपबभूविम्वसतुद्धरा	११	मा निपाय प्रतिष्ठा [वा घमा]	३
वासाकुब्जः परिष्कान् [माप]	१४७	मुफ्फा म्पापार [परि]	२१०
दत्तानन्ता प्रबानां	१२७	मुनिव्यपति भोगीश्र	३४९
दन्तस्तानि करवेरन	३२९	सुदुरङ्गु किलहृता [धाकु]	२ ४
दीर्घीकुर्वन् पटु गल्कळ [मि]	३२८	यमकादिनिबन्धे ष [संमह]	१ ८
दुपराधा राधा सुमग	३ २	या प्रथम प्रथमः	३१८
दृष्ट्वा वेदनागदपरग	१२४	बभू च मावह [हर्य]	१२८
दे वा एषिभ शिष्यतु	१६	पच्य कागसुखं ध्येये	५३९
दग्धा पठमि पद्ये	१४४	बधा यथा विपर्येति	३४५
दानी धारणावा [ह्ये]	३५९, ३४१	वद्वदनादितमति [मुभा]	२ ७
दिश्रकैतविनः विपम्य	३३९	वदिमप्यति न बल्य [मनो०]	७
नीनाया शुक [भाकु]	२ ४	वदिमन् एतो वा [आ व]	३१४
नीरमन् प्रबन्धो न [परि]	२१७	वा निषा सवमूतानां [गीता]	१५७
नो कल्पपाव [नूर्य]	११४	वा म्पापारकती रमात्	३२७
नवकारो धापमेव मे [दतु]	१	ये वीचन्ति न मान्ति व	७ ६
नभुः धारधन्त्र [कु न]	३ १	यन ध्वलामनो [पद्य]	११९
नरानां म्पारक्येऽपि [परि]	१६३	या याः शम्भे [केली]	१८, १७१
नपथे याः दीर्घा [म घ]	६१ ३ ७	रत्नत्वं नवपत्तयेः	११२

इकोक
 रमा इति प्राप्तवती [माच]
 रविचन्द्रान्तवैमाम्य [वा]
 रसमावादिबिषय
 रसमावादितात्यर्थ [मं]
 रसादियु विषया इ
 रतवन्ति हि वस्तुनि [सप्रह]
 राजानमपि सेवन्ते
 रवामासा इवाम् [समह]
 रामेण मित्रजीवितेन इ
 कस्यै बुद्धिदा आभाउओ
 मायस्य कान्ति [अववर्धन]
 कावप्यत्रविषयभक्तो न
 कावप्यस्मिन्पुरपरेष
 लीलाकमलपत्राणि [कु सं]
 बन्ध मह भिन्न [गा]
 बाधे मा गा विपार्य
 बन्धतुपुष्पामरण [कु सं]
 बन्धिमम इतिपदन्ता
 बाधिर कुडङ्गोद्भूति
 बाध्मीकम्यास [परि]
 बाध्मीकम्यतिरिचस्य
 विच्छिद्यिष्मि [परि]
 विमानपर्यङ्कवते निराग्या
 विप्रमर्भो कापयि
 विमाम्भैत्या ममबाका
 वीरार्य रमर मुनि
 वृषेऽरिमन् मदा [हय]
 व्रीडाबागाभउ [छाद्रं प]
 वृष्यममङ्क [परि]
 व्यङ्गयस्य वक्त्रा [परि]
 व्यङ्गयस्य प्रतिम्य [परि]
 व्यङ्गयस्य वक्त्रं मु नाम

द्वितीय परिशिष्ट

पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
१४८	शुल्यं वासयह [अम]	१४४
७३	शेयो हिमगिरिस्वर्ष [भामह]	१४६
१११	शोक स्यकरक [रामा]	१४५
११	शङ्करी पेतु कवि काम्य	१४२
१११	श्यामस्वर्णं प्यकित [मिप]	११६
१८	श्याम्याद्येपतजु	१२१
१४	शङ्क्रेतकाकमनसं	१२१
१८	सज्जेहि सुरहिमाद्यो	१११
१५६	सत्काम्यतलनन [भा व]	११७, १४२
२१	शुल्यं मनोरमा रामाः	११४
१४२	सन्ति सिद्धरसप्रस्थाः	११४
१४	सन्तेषां समिध- [स्यास]	१५५
२८७	समनिधमनिधिसेवा	१८
२६	सर्वैकधारणमधर्ष	११
१५	स बन्धुमसिहान् शक	१४४
११५	सविभ्रमरिम्योद्भेदा	११७
१५२	सज्जालिनैः कल्पमुखा	१४
१६१	स हरिनाम्ना देव	१११
१५२	साभरविष्णुजोम्यन	११५
२१७	सिद्धर रोमाद्यमर	१४
१७७	सिद्धिपिच्छकल्पऊर	१४, १११
१६१	सुरभिमय प्रारुषे	१८
२४	सुषमपुष्पां शुबिनी	५
१५८	सेवा सर्वैक वन्यकिः [भयम्]	५
२१७	सिन्धुपायस्य [महान्तरक]	५
१८२	समनवननी पूर्योग	५
१५	सिन्धु किङ्किमुष्य	५
१६६	स्वतन्त्रप्रीतमहिम	५
१८	स्वभ्या भवन्ति [बन्धे]	५
७५	इंसानां निनरेयु	५
७२	इंसानां निनरेयु	५
५६	दिभभद्राविमणु	५

श्लोक	पृष्ठ	श्लोक	पृष्ठ
शब्दसुखप्रमित [बिषय]	१८	पाण्डुस्यार्थं वदनं	२२३
चन्द्रनासकसुखग	१४६	परिष्कारं पीनस्तन [रत्ना]	५९
चन्द्रमऊर्षदि गिता	१४	प्रमामहत्या [कु सं]	२९६
चमदियमापस	१२२	प्रमम्यसुत्तरोमत्विति	२५
चलापाङ्गा इति [शाङ्]	१९	प्रातुं कनीरुधिचनन्य	१५९
सुमित्रश्च सभद्रुत्तं	६	प्राप्तभरिय कस्मात्	१४१
सूक्ष्मकुटावर्धसं [हरिधिय]	१६	प्रथच्छोच्यैः कुतु [माप]	३१
वा एव कगुरेसे [गा स]	१४५	प्रिय बने नास्ति पुनरुक्तम्	२६७
व व ताव पङ्क मोही	३५३	पूर्वे विष्टङ्गवगिरः [परि]	२७७
तं ताप सिरिसरो [वि वा]	१४३	भगवान् वासुदेवश्च [भङ्गा]	३४६
तद्गोई नतमिधि	२९	भम भमिम [गा स घ]	१३
तन्वी मेपञ्चमार्द्रं [विक्रमो]	९३	भगवान्चेतनानरि भेतनम्	३१२
तत्परावेष शब्दादीं [परि]	५२	भूरेशुक्तिभाभ्रवपारिजात	२४
तमपवकम्बन्ते [ध्वन्या]	१७२	भूमिमरुतिमलसद्दयस्तां	१२१, २२३
तरङ्गभ्रूमाहा [विक्रमे]	९२	मनुष्यहृत्वा समुद्रावरत्	२५
तस्या विनापि हारेण	१२	मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरित	१७१
तावत्वा भवति गुणा [विषय]	७२	महम् इति मयस्त	३५७
तामैः विष्टङ्गवच्य [मेप]	२१	मा पथं कृषीमो [गा स घ]	२२
तेषां गोपकभूषिकासमुद्भवा	९३	मा निपाद प्रतिष्ठा [वा रभा]	३
त्रासासुखः परिपठन् [माप]	१४७	मुस्या व्द्यापार [परि०]	२१७
दत्तानन्दाः प्रथानां	१२७	मुनिर्भवति योगिन्द्रो	३४९
दन्तश्यामि करजैरव	३२९	सुदुरङ्गु निर्यंशुता [शाङ्]	२४
दीर्घाकुर्वन् प म्दकच्छे [मे]	३२८	यमकादिनिबन्धे [संभार]	१८
दुराराभा राभा सुमग	३२	यः प्रथमं प्रथमं	३३८
हस्या चेद्राशयापराग	१२४	यश्च म्भतङ्ग [हरि]	१९८
रे भा पमिम विवचमु	१६	बन्व कामसुखं सोऽप	२३९
देव्या प्तमि पत्ने	१४४	यथा यथा विवर्षेति	३४५
धरणी धारणाया [हरि]	१५९, ३४१	यद्यन्नाहितमिति [मुम]	२०७
निश्चायैतनिनः विषय	३३९	बस्मिन्मनि न बल्य [मनो]	७
नीलायाः शुक् [शाङ्]	२८	यस्मिन् रसा वा [आ व]	३१४
नीलकण्ठ प्रकण्ठो य [परि]	२१७	या निष्ठा लक्ष्मणानां [नीला]	१७७
नी कण्ठापाय [शुक्]	११४	वा स्वापारकृती रमान्	३२७
म्यकण्ठो ह्यपमेव मे [हत]	१	ये श्वेति न नास्ति व	३६
फनुः शिरभ्रम् [कु ल]	३१	वेन ध्यातमनो [चन्द्र]	११
परातो ह्यारकलादीं [परि]	१६३	वो या शम्भु [बिपी]	१८, १७१
पराये य पीडा [म घ]	३१, ३७	रक्तत्वं नकण्ठवै	११२

स्तोत्र
 रमा इति प्राप्तकृती [माघ]
 रविचन्द्रस्तौभ्याम् [वा]
 रत्नपारिविषय
 रत्नपारिवारस्तं [स]
 रत्नपु विवद्या वृ
 रत्नवि हि वस्तुनि [संग्रह]
 रत्नानमपि सेकन्ते
 रत्नाभावाद्भयम् [संग्रह]
 एतेन प्रियबीजितेन वृ
 ल्पडी बुद्धिवा आभाउभो
 धारण फलित [जनवर्धन]
 धारणप्रतिबन्धनो न
 धारणप्रतिबन्धनुरेव
 धर्मकर्मणामि [कु सं]
 धन मर विवज [गा]
 धने मा गा विगाव
 धनपुण्यामरत्नं [कु सं]
 धर्ममत्र हरिचदस्ता
 धर्मैर कुटुम्बोद्दीय
 धार्मिकिष्माठ [परि]
 धार्मिकिष्मतिरिक्तम्
 दिष्टिचिद्येभि [परि]
 ध्याननरवृत्तले निपन्नाः
 धृष्टद्वयो कावलि
 ध्यायित्वा मन्मथात्रा
 धौराधं रमा पुनित्र
 धृष्टरिम्न मरा [हरि]
 धौशागतघत [शा प]
 धामपत्रक [परि]
 धामपत्र कत्रा [परि]
 धामपत्र प्रतिमा [परि]
 धामपत्र कत्र सु नाम

द्वितीय परिशिष्ट

पृष्ठ	स्तोत्र		पृष्ठ
१४८	धृन्वं वाद्यपय [अम]		१७४
७३	धेयो द्विगिरिस्तवं [मामह]		११९
३११	धोकः द्योक्त्व [रामा]		१४१
८८	धृष्टापी येत् कवि काम्य		१४५
३११	ध्यामास्वङ्गं चक्रिष [मिष]		११२
१८	ध्याम्नाद्येपतु		११६
३४	धृष्टकालमनस		१२१
१८	धृष्टेहि सुप्रदिभायो		१२३
१५३	धृष्टाभ्यतल्पना [आ व]	१३७ १३१	१४२
२९	धृष्टं मनोरमा रामा		१६४
१४२	धृष्टि सिद्धरत्नप्रस्ता		२४३
३४	धृष्टैताः धर्मिषु [ध्याव]		१९४
२८७	धर्मिषुमन्त्रितेसा		१५५
२६	धर्मैकपरयमधुवं		२८
१५	ध वस्तुमक्षिकान् शस		११
१३५	धर्मिभ्रमरिमतोद्भेदा		१४४
३५२	धृष्टान्ति कर्ममुखा		३३७
१६१	ध हरिनाम्ना दवाः		२४
१५२	धाभरविहण्याजोन्मथ		११३
२१७	धृष्टद्वयो रोमधृष्टद्व		१३८
३८७	धृष्टिचिद्येककर्मकर		१४९
१६३	धृष्टिसमये धृष्टे	१३८ १६१	१४२
२४	धृष्टपुण्या धृष्टि		५६
१८८	धेया धर्मैः करोति [भ्रामह]		२९१
२९७	धृष्टाभ्यामत्र [महानाटक]		७१
१४२	धृष्टनवनरी पूरेणोवा		१७७
१५०	धृष्टं क्रिष्टिन्मुधं		३३७
१६६	धृष्टाभ्यामत्रोद्भेदा		३३८
३८	धृष्ट्या धर्मनि [वेणी]		२९८
५२	धृष्टानां निवसेषु		३५४
५६	धृष्टाभ्यामत्रोद्भेदा		१४५